॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१०७

श्रीमल्लघु-अनन्तवीर्यविरचिता

प्रमेयरत्नमाला

(श्रीमन्माणिक्यनन्दिप्रणीत-परीक्षामुखसूत्राणां लघुवृत्तिः)

प्राचीनटिप्पणसमन्वित 'चिन्तामणि' हिन्दीव्याख्योपेता

हिन्दीव्याख्याकार तथा सम्पादक

पण्डित श्री हीरालाल जैन

सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

प्रस्तावना-लेखक

श्री उदयचन्द्र जैन, एम० ए०

सर्वदर्शन-बौद्धदर्शनाचार्य

प्राध्यापक-बौद्धदर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२०

मूल्य : १५-००

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
107

PRAMEYARATNAMĀLĀ

OF

LAGHU ANANTAVĪRYA

A Commentary on

PARĪKṢĀMUKHA SŪTRA

OF

MĀṆIKYANANDĪ

Edited with
Chintamani Hindi Commentary and Ancient Sanskrit notes
BY
PANDIT HIRA LAL JAIN
Siddhanta Shastri, Nyayatirtha
With An Introduction
By
Udaya Chandra Jain M. A.
Sarvadarshanacharya, Bauddhadarshanacharya, etc.
Prof. of Bauddha Darshana, B. H. U.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1964

प्रस्तावना

दर्शन का अर्थ

मनुष्य विचारशील प्राणी है (Man is rational animal)। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। इसी विचार-शक्ति को विवेक कहते हैं। मनुष्य और पशुओं में भेद यही है कि पशुओं की प्रवृत्ति अविवेकपूर्वक होती है और मनुष्य की प्रवृत्ति विवेकपूर्वक होती है। यदि कोई मनुष्य अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो उसे केवल नाम से ही मनुष्य कहा जा सकता है, वास्तव में नहीं। अतः मनुष्य में जो स्वाभाविक विचारशक्ति है उसी का नाम दर्शन है।

जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाय वह दर्शन[1] है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार—यह संसार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करनेवाला कोई है या नहीं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनर्जन्म होता है या यह इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाती है ? ईश्वर की सत्ता है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। शास्त्र[2] शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है—शास् (आज्ञा करना) तथा शंस् (वर्णन करना)। शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए किया जाता है। शंसक शास्त्र (बोधक शास्त्र) वह है जिसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जाय। धर्मशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रतिपादन करने के कारण पुरुष-परतन्त्र है। किन्तु दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से वस्तु-परतन्त्र है।

'सत्' की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना विषयी (आत्मा) की ओर। आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था। इसीलिए 'आत्मा को जानो' (आत्मानं विद्धि) यह भारतीय दर्शन का मूलमन्त्र रहा है। यही कारण है कि प्रायः समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं और धर्म

---

१. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।

२ शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।

तथा दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध भी प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन-जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उनको 'दर्शन' शब्द के द्वारा कहा गया। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है तो फिर विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक भेद का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न किया और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया है। अतः यदि हम दर्शन शब्द के अर्थ को भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करें तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है। क्योंकि विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप को जानकर उसी का बार-बार चिन्तन और मनन किया, तथा इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी-अपनी भावना के अनुसार वस्तु के स्वरूप का दर्शन हुआ।

दर्शन का प्रयोजन

समस्त भारतीय दर्शनों का लक्ष्य इस संसार के दुःखों से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष पाना है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है। अतः उक्त दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। अतः दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों को खोजकर साधारण जन के लिए उनका प्रतिपादन करना दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगनिदान, आरोग्य और औषधि इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन आवश्यक है उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करना आवश्यक है[1]।

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।—सांख्यकारिका, का० १
यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद् यथा—संसारः संसारहेतुः मोक्षः मोक्षोपाय इति। —व्यासभाष्य २।१५

भारतीय दर्शनों का श्रेणी-विभाग

भारतीय दर्शन को आस्तिक और नास्तिक के भेद से दो भागों में विभक्त किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक और जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन को नास्तिक कहा जाता है। लेकिन भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक इन दो विभागों में विभक्त करने वाला कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। अतः यदि हम भारतीय दर्शनों का विभाग वैदिक और अवैदिक दर्शनों के रूप में करें तो अधिक उपयुक्त होगा। वेद की परम्परा में विश्वास रखनेवाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छह वैदिक दर्शन हैं। तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीन अवैदिक दर्शन हैं।

भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास

भारतीय दर्शनकाल को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—सूत्रकाल और वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। सूत्रों की रचना से यह तात्पर्य नहीं है कि उसी समय से उस दर्शन का आरम्भ होता है, अपि तु ये सूत्र अनेक शताब्दियों के चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं। ये सूत्र परस्पर में परिचित हैं। वेदान्त सूत्रों में मीमांसा का उल्लेख है। न्यायसूत्र वैशेषिकसूत्रों से परिचित है। सांख्यसूत्र में अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों का रचनाकाल ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व तक स्वीकार किया जाता है। सूत्र संक्षिप्त एवं गूढार्थ होते हैं। अतः उनके अर्थ को सरल करने के लिए भाष्य, वार्तिक तथा टीकाग्रन्थों की रचना हुई। यह काल वृत्तिकाल कहलाता है। शबर, कुमारिल, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शङ्कर, रामानुज, वाचस्पति और उदयन आदि आचार्य इसी युग में हुए हैं। वृत्तिकाल २०० विक्रम से १५०० विक्रम तक माना जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषदों में समग्र भारतीय दर्शन के बीज पाये जाते हैं और उपनिषदों के अनन्तर भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास हुआ है। उपनिषदों का प्रधान मन्त्र था 'तत्त्वमसि'। उस समय सबके सामने यह प्रश्न था कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय। कुछ लोगों ने कहा कि प्रकृति और पुरुष (भौतिक जगत् तथा जीव) के विभिन्न गुणों

को न जानने के कारण ही यह संसार है और उनके यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर त्वं (जीव) तत् (ब्रह्म) स्वरूप हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस ज्ञान का नाम सांख्य हुआ। किन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चल सकता था। अतः उस तत्त्व को व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए ध्यान, धारणा आदि अष्टाङ्ग योग की उत्पत्ति हुई। बाद में प्रकृति और पुरुष (आत्मा और अनात्मा) के विभिन्न गुणों के निर्धारण एवं विवेचन के लिए वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति हुई और इस विवेचन की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय का आविर्भाव हुआ। न्याय के शुष्क तर्क के द्वारा आत्मतत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार न देखकर दार्शनिकों ने पुनः वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा (विवेचना) का प्रारम्भ कर दिया। यह मीमांसादर्शन कहलाया। अन्त में कर्मकाण्ड से आध्यात्मिक तृप्ति प्राप्त न होने के कारण पुनः ज्ञानकाण्ड की मीमांसा होने लगी जिसका फल वेदान्त निकला। इस प्रकार वैदिक-दर्शनों में सांख्य दर्शन सब से प्राचीन है और उसके बाद अन्य दर्शनों की क्रमशः उत्पत्ति और विकास हुआ है।

अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन ही सब से प्राचीन माना जाता है। उपनिषद् काल में भी चार्वाकों के सिद्धान्तों का प्रचार दृष्टिगोचर होता है। उस समय कुछ लोग मरण के अनन्तर आत्मा का अभाव मानते थे[1]। चार्वाक-मत के संस्थापक बृहस्पति नामक आचार्य के सूत्रों का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य, गीता की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मिलता है।

वैदिक दर्शन की परम्परा में परिस्थितिवश उत्पन्न होनेवाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारक के रूप में महात्मा बुद्ध के बाद बौद्ध दर्शन का आविर्भाव हुआ। अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का उद्देश्य न था, किन्तु दुःखमय संसार से प्राणियों का उद्धार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। बुद्ध ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओं में उलझकर ऐहिक जीवन की समस्याओं को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए बुद्ध ने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टाङ्गमार्ग (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया और आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं या अभिन्न ? लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? इत्यादि प्रश्नों को अव्याकृत (अकथनीय)

---

१. न प्रेत्य संज्ञास्ति। —बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१३

बतलाया। इस प्रकार बुद्ध ने जिन बातों को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, बाद में बौद्ध दार्शनिकों ने उन्हीं बातों पर विशेष ऊहापोह कर के बौद्ध दर्शन को प्रतिष्ठित किया। बौद्ध दर्शन के विकास में वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, नागार्जुन आदि आचार्यों का प्रमुख स्थान है। इन आचार्यों ने इतर दर्शनों के सिद्धान्तों के निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्तों का व्यापक रूप से समर्थन किया है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैन धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो लोग जैन दर्शन को अनादि नहीं मानना चाहते हैं उन्हें कम से कम जैन दर्शन को उतना प्राचीन तो मानना ही पड़ेगा कि जितना प्राचीन और कोई दूसरा दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन अकलङ्क, हरिभद्र विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने जैन दर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ लोग जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन की शाखा के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण-परम्परा के अनुयायी उक्त दोनों धर्मों और दर्शनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

उक्त दर्शनों के जिन विशेष सिद्धान्तों का परीक्षामुख और प्रमेयरत्नमाला में प्रतिपादन किया गया है, पाठकों की और विशेष रूप से विद्यार्थियों की जानकारी के लिए उनका यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जाता है।

चार्वाक दर्शन

वैदिककाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्या के आचरण पर विशेष बल दिया जाता था। ऐहिक बातों की अपेक्षा पारलौकिक बातों की चिन्ता मनुष्यों को विशेष थी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप चार्वाक दर्शन का उदय हुआ। इस दर्शन का सब से प्राचीन नाम लोकायत है। साधारण लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों का 'लोकायत' यह नाम पड़ा। चारु (सुन्दर) वाक् (बातों) को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बातों को कहने के कारण, अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण (भक्षण) कर जाने के कारण इनका नाम चार्वाक हुआ। बृहस्पति चार्वाक दर्शन के संस्थापक माने जाते हैं। अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक लोगों को प्रिय लगने वाली बातें इस प्रकार कहते थे—जब तक जिओ सुख से जिओ, ऋण लेकर घृत, दूध आदि पिओ। ऋण चुकाने की चिन्ता भी मत करो, क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः आगमन (जन्म) नहीं होता है।[1]

चार्वाकों का सिद्धान्त है कि पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतों का संघात ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है, परलोक नहीं है, इत्यादि। बाह्यदृष्टि प्रधान होने से चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, अनुमान आदि को नहीं। अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों से जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। चार्वाकों का प्रमुख सिद्धान्त है देहात्मवाद। उनका कहना है कि जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थों के गलन और अन्य वस्तुओं के संमिश्रण से मदिरा बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर की उत्पत्ति के साथ चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है। चार्वाकों का यह देहात्मवाद का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संसार में सजातीय कारण से सजातीय कार्य की ही उत्पत्ति देखी जाती है, विजातीय की नहीं। जब भूतचतुष्टय स्वयं अचेतन है तो वह चैतन्य की उत्पत्ति में कारण कैसे हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि चैतन्यशक्ति शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि पूर्वभव की स्मृति, तत्कालजात बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति, भूत-प्रेत आदि के दर्शन और जातिस्मरण आदि से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

इसी प्रकार चार्वाक का केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि केवल प्रत्यक्ष से परोक्ष अर्थों का ज्ञान सम्भव नहीं। और अनुमान के माने बिना स्वयं चार्वाक का भी काम नहीं चलता, क्योंकि अनुमान के अभाव में वह प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था, दूसरे पुरुष की बुद्धि का ज्ञान और परलोक आदि का निषेध कैसे कर सकेगा।

बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध ने विशेष रूप से धर्म का ही उपदेश दिया है, दर्शन का नहीं। फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध के वचनों के आधार से दार्शनिक

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ —सर्वदर्शनसंग्रह

तत्त्वों को खोज निकाला। बौद्धधर्म के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं—१ सर्वमनित्यम्—सब कुछ अनित्य है। २ सर्वमनात्मम्—सब पदार्थ आत्मा (स्वभाव) से रहित हैं। और ३ निर्वाणं शान्तम्—निर्वाण ही शान्त है। बौद्ध दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से पदार्थों की उत्पत्ति। इसी को सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं[1]।

बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त हैं[2]—१ वैभाषिक—बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद, २ सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद, ३ योगाचार—विज्ञानवाद और ४ माध्यमिक—शून्यवाद।

प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का वर्णन देखने को मिलता है। बौद्धों ने अविसंवादि तथा अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है और कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है[3]। वस्तु में नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना कल्पना है[4]। दूसरे शब्दों में शब्दसंसर्ग के योग्य प्रतिभासवाली प्रतीति को कल्पना कहते हैं[5]। पूर्वापर के अनुसन्धान (एकत्व) पूर्वक शब्दसंयुक्ताकार अथवा अन्तर्जल्पाकार प्रतीति को भी कल्पना माना गया है[6]। प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित अर्थात्

---

१. हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।

—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ. ७

२. मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥—मानमेयोदय पृ. ३००

३. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। —न्यायबिन्दु

४. नामजात्यादियोजना कल्पना। ५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना। —न्यायबिन्दु।

६. पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा प्रतीतिरन्तर्जल्पाकारा वा कल्पना। —तर्कभाषा

निर्विकल्पक होता है। तिमिर (आँख का रोग) आशुभ्रमण आदि के द्वारा ज्ञान में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। प्रत्यक्ष को भ्रम से भी रहित होना चाहिए[1]।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। मनोविज्ञान[2] (मानसप्रत्यक्ष) की उत्पत्ति इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियज्ञान के अनन्तर (द्वितीयक्षणवर्ती) विषय के द्वारा होती है। मानसप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियज्ञान उपादान कारण होता है और इन्द्रियज्ञान का अनन्तर विषय सहकारी कारण होता है। सब चित्त और चैत्तों का जो आत्म-संवेदन होता है वह स्वसंवेदन[3] है। सामान्यज्ञान को चित्त कहते हैं और विशेष ज्ञान को चैत्त कहते हैं[4]। भूतार्थ (प्रमाणप्रतिपन्न अर्थ) की भावना के प्रकर्ष के पर्यन्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगि-प्रत्यक्ष[5] कहलाता है। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्य सत्य भूतार्थ हैं। उनकी भावना (बार-बार चिन्तवन) करते-करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है। यही योगिप्रत्यक्ष है। यह चारों प्रकार का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) है। सूत्रकार (माणिक्य-नन्दी) ने प्रमाण के लक्षण में जो व्यवसायात्मक पद दिया है वह बौद्धों के द्वारा माने गए इन प्रत्यक्षों में प्रमाणता के निराकरण के लिए है, क्योंकि जो अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण नहीं हो सकता है। प्रमाण को व्यवसायात्मक होना आवश्यक है।

चार प्रकार के दार्शनिकों में से वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ की सत्ता मानते हैं। दोनों में भेद इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं और सौत्रान्तिक उसको अनुमेय (अनुमानगम्य) मानते हैं।

---

१. तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।
—न्यायबिन्दु

२. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। —न्यायबिन्दु

३. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्। —न्यायबिन्दु

४. चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम्। चित्तेभवाश्चैत्ताः वस्तुनो विशेषरूपग्राहकाः सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः। —तर्कभाषा

५. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।

योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानाद्वैतवादी है, क्योंकि इनके मत में विज्ञान-मात्र ही तत्त्व है, अर्थ की सत्ता बिलकुल भी नहीं है। इसी प्रकार माध्यमिकों को शून्यैकान्तवादी या शून्यवादी कहते हैं, क्योंकि इनके यहाँ शून्य ही तत्त्व है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि माध्यमिकों का शून्य तत्त्व वैसा नहीं है जैसा इतर मत वालों ने समझ रक्खा है। प्रत्येक पदार्थ के विषय में चार कोटियों से विचार किया जा सकता है, जैसे सत्, असत्, उभय और अनुभय। माध्यमिकों का कहना है कि तत्त्व चतुष्कोटि से रहित है[1] और ऐसे तत्त्व को शून्य शब्द से कहा गया है। दूसरे प्रकार से उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्य कहा है[2]।

इन विज्ञानाद्वैतवादियों और शून्यैकान्तवादियों के मत का निराकरण करने के लिए प्रमाण के लक्षण में अर्थ पद दिया गया है। प्रमाण को अर्थ का ग्राहक होना चाहिए, न कि ज्ञान का अथवा शून्य का।

बौद्धों ने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ को कारण माना है तथा ज्ञान में अर्थाकारता भी मानी है। इस अर्थाकारता के द्वारा ही वे ज्ञान के प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करते हैं। सूत्रकार ने उनकी इस मान्यता का खण्डन किया है। अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे केशोण्डुकज्ञान। केशोण्डुकज्ञान क्या है इस विषय में किसी भी टीकाकार ने कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ केशों मे उण्डुक (कीड़ों अथवा मच्छरों) का ज्ञान करते हैं। किन्तु मेरी समझ से केशोण्डुकज्ञान केशरूप अर्थ के सद्भाव में नहीं होता है अपितु अर्थाभाव में ही होता है। सूत्रकार ने अर्थ के साथ ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव बतलाया है। यदि केशों के सद्भाव में केशोण्डुक ज्ञान माना जायगा तब तो अर्थ के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध ही हो जायगा। यहाँ कोई कह सकता है कि केशोण्डुकज्ञान में केश मिथ्याज्ञान के कारण होते हैं न कि सम्यग्ज्ञान के। इसका उत्तर यह है कि यदि केशरूप अर्थ कहीं मिथ्याज्ञान का कारण हो सकता है तो अन्यत्र सम्यग्ज्ञान का भी कारण हो सकता है। सूत्रकार का भी अभिप्राय यही

---

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥—माध्यमिककारिका १।७

२. यश्च प्रतीत्यभावो भावानां शून्यतेति सा ह्युक्ता।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि तस्यास्वभावत्वम् ॥
—विग्रहव्यावर्तिनी श्लो० २२

है कि अर्थ ज्ञानमात्र का कारण नहीं है, न कि सम्यग्ज्ञान का। सूत्रकार ने तदुत्पत्ति और तदाकारता के द्वारा प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था का भी खण्डन किया है, क्योंकि ज्ञान में तदुत्पत्ति और तदाकारता के मानने पर भी विषय के प्रतिनियम में व्यभिचार आता है। अतः ज्ञान अपने अपने ज्ञानावरण की क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ही प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करता है।

बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं। अनुमान तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति) वाले हेतु से उत्पन्न होता है। हेतु तीन हैं—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। और ये तीनों ही हेतु तीन रूपवाले हैं। उन्होंने हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना है। वृत्तिकार (अनन्तवीर्य) ने त्रैरूप्य का निरास करके अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण सिद्ध किया है। बौद्धों के यहाँ हेतु और दृष्टान्त ये दो ही अनुमान के अवयव हैं। वे पक्ष आदि के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं किन्तु हेतु के समर्थन को आवश्यक मानते हैं। सूत्रकार ने उनकी इस मान्यता का भी खण्डन किया है। जब बौद्ध त्रिरूप हेतु के कथन के बाद उसका समर्थन आवश्यक मानते हैं तो फिर पक्ष का प्रयोग भी क्यों आवश्यक नहीं है। अन्यथा समर्थन को ही अनुमान का एक मात्र अवयव मान लेना चाहिए, हेतु को नहीं।

अर्थ की सत्ता मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं—एक असाधारण और दूसरा साधारण। वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण[1] है। स्वलक्षण को हम विशेष भी कह सकते हैं। स्वलक्षण सन्निधान (सामीप्य) और असन्निधान (दूरी) के द्वारा ज्ञान में प्रतिभास भेद कराता है अर्थात् पास से उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और दूर से अस्पष्ट[2]।

---

१. स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। —न्यायबिन्दु पृ० १५

२. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्। —न्यायबिन्दु पृ० १६

स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालाकारनियतम्। घटादिरुदकाद्याहरणसमर्थोऽर्थो देशकालाकारनियतः पुरा प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मोदासीनः प्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः। —तर्कभाषा पृ० ११

यह स्वलक्षण सजातीय और विजातीय दोनों से व्यावृत्त होता है। और जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्यलक्षण[1] है। प्रत्येक गोव्यक्ति गोस्वलक्षण है और अनेक गायों में जो गोत्वरूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्यलक्षण है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धों ने सामान्य को मिथ्या माना है और उसको विषय करने वाले अनुमान को प्रमाण माना है। किन्तु मिथ्या सामान्य को विषय करने के कारण अनुमान भी भ्रान्त होना चाहिए, फिर उसमें प्रमाणता कैसे? बौद्धों ने इसका उत्तर यह दिया है कि अनुमान परम्परा से वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति में कारण होने से प्रमाण है। जैसे एक व्यक्ति को मणिप्रभा में मणिबुद्धि हुई और दूसरे पुरुष को प्रदीपप्रभा में मणिबुद्धि हुई। ये दोनों ज्ञान मिथ्या हैं, फिर भी मणिप्रभा में होने वाली मणिबुद्धि को मणि की प्राप्ति में कारण होने से प्रमाण ही मानना चाहिए। उसी प्रकार अनुमान-बुद्धि भी वस्तु की प्राप्ति में परम्परा से कारण होने से प्रमाण है। मणिप्रभा में मणिबुद्धि इस प्रकार होती है[2]—एक कमरे के अन्दर आले में एक मणि रक्खा हुआ है। रात्रि का समय है। कमरे का दरवाजा बन्द है। दरवाजे में एक छिद्र है और मणि की प्रभा उस छिद्र में व्याप्त हो रही है। दरवाजे के सामने कुछ दूर पर खड़ा हुआ व्यक्ति उस छिद्र में व्याप्त मणिप्रभा को ही मणि समझ लेता है। किन्तु जब वह मणि को उठाने के लिए जाता है तब वहाँ मणि को न पाकर दरवाजा खोलकर अन्दर चला जाता है, और इस प्रकार मिथ्याज्ञान से भी वस्तु (मणि) को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार अनुमान के द्वारा सामान्य को जानकर व्यक्ति सामान्य ज्ञान के अनन्तर स्वलक्षण को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुमानबुद्धि परम्परा से स्वलक्षण की प्राप्ति में कारण होती है। वृत्तिकार ने बौद्धों की उक्त मान्यता का खण्डन किया है। जब सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है तब उसको विषय करने वाला अनुमान परम्परा से भी वस्तु की प्राप्ति नहीं करा सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय विशेष (स्वलक्षण) ही है, सामान्य नहीं, उनकी ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि बौद्धों ने जिस प्रकार के विनाशशील,

---

१. अन्यत् सामान्यलक्षणम्। —न्यायबिन्दु पृ० १७

२. मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥ —प्रमाणवार्तिक २।५७

अनित्य, परस्पर में असम्बद्ध और निरंश परमाणुरूप विशेषों की कल्पना की है उनकी सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सामान्य और विशेषरूप अर्थ की ही प्रतीति होती है, न कि केवल विशेषरूप अथवा सामान्यरूप की।

बौद्धों ने अवयवों से भिन्न अवयवी नहीं माना है। किन्तु अवयवों के समुदाय का नाम ही अवयवी है। आतान-वितान-विशिष्ट तन्तुओं के समुदाय का नाम ही पट है। तन्तु समुदाय को छोड़कर पट कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यदि पट की तन्तुओं से पृथक् सत्ता है तो एक सेर सूत से बने हुए वस्त्र का भार सवा सेर होना चाहिए, क्योंकि उसमें अवयवी का भार भी सम्मिलित है। इसी प्रकार परमाणुओं को परस्पर में असम्बद्ध माना है, क्योंकि निरंश होने से एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं से सम्बन्ध न तो एकदेश से बनता है और न सर्वदेश से।

बौद्धों के यहाँ विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है अर्थात् पदार्थ प्रतिक्षण स्वभाव से ही विनष्ट होता रहता है। घट उत्पत्ति के समय से ही विनाशस्वभाव वाला है, अतएव वह अपने विनाश के लिए मुद्गरादि कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है। किन्तु स्वत एव प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है। दूसरी बात यह है कि बौद्धों के यहाँ विनाश निरन्वय माना गया है, अर्थात् विनष्ट क्षण का उत्पन्न क्षण से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रथम क्षणवर्ती घट का सर्वथा विनाश हो जाने पर द्वितीय क्षण में एक नवीन ही घट उत्पन्न होता है और सदृश अपर अपर क्षणों की उत्पत्ति होने से तथा उनमें काल का व्यवधान न होने से भ्रमवश 'यह वही घट है' ऐसी एकत्व की प्रतीति हो जाती है। विनाश को पदार्थ का स्वभाव मानने के कारण बौद्धों ने प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक माना है और 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमान से सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि की है। अर्थक्रियाकारिता का नाम सत् है। जो पदार्थ कोई अर्थक्रिया करे वही सत्[1] कहलाता है। यह अर्थक्रिया नित्य पदार्थ में नहीं बनती है, क्योंकि वह न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। इस प्रकार अर्थक्रिया के अभाव में नित्यपदार्थ असत् सिद्ध होता है। वृत्तिकार ने बौद्धों की उक्त मान्यताओं का विस्तार से खण्डन किया है।

---

१. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। तदेव च परमार्थसत्। —न्यायबिन्दु

बौद्धों की एक मान्यता यह भी है कि शब्द का वाच्य अर्थ नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके अनुसार शब्द का वाच्य अपोह या अन्यापोह है। अन्यापोह का अर्थ है विवक्षित वस्तु से अन्य का अपोह (निषेध)। जैसे गोशब्द का वाच्य गोव्यक्ति न होकर अगोव्यावृत्ति है। गौ से भिन्न अन्य समस्त पदार्थ अगौ हैं। गोशब्द गाय में अगो की व्यावृत्ति करता है। अर्थात् यह हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मनुष्य नहीं है, इत्यादि प्रकार से अगो का निषेध करता है और अगो का निषेध होने पर जो शेष बचता है उसका ज्ञान स्वतः (शब्द के बिना) ही हो जाता है। इसी प्रकार बौद्ध शब्द को वक्ता के अभिप्राय का सूचक भी मानते हैं, क्योंकि घटशब्द में ऐसी कोई स्वाभाविक योग्यता नहीं है जिससे वह जलधारणसमर्थ घटरूप अर्थ को ही कहे। वह (घटशब्द) वक्ता की इच्छानुसार अश्व में घटशब्द का संकेत करके अश्व को भी कह सकता है। यदि कोई व्यक्ति घटशब्द के द्वारा अश्व को कहना चाहता है तो वह वैसा संकेत करके वैसा कह सकता है। इसमें कोई भी बाधा नहीं है[1]।

सूत्रकार ने आगम प्रमाण के लक्षण में जो अर्थज्ञान पद दिया है उसके द्वारा अन्यापोह और अभिप्रायसूचन का निरास किया गया है। शब्द का वाच्य अन्यापोह या अभिप्रायसूचन नहीं है किन्तु अर्थ है। अन्यापोह को शब्द का वाच्य मानने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ आती हैं। जो इस प्रकार हैं—

गोशब्द के सुनने पर उसी समय सामने स्थित गायरूप अर्थ में प्रवृत्ति होती है। यदि गोशब्द का वाच्य गाय न होकर अगोव्यावृत्ति हो तब तो गोशब्द के सुनने पर कुछ देर बाद गाय का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि अगोव्यावृत्ति करने में कुछ समय तो लगेगा ही। दूसरी बात यह है कि अगोव्यावृत्ति करते समय भी गो का ज्ञान आवश्यक है। गौ के ज्ञान के बिना अगो का ज्ञान कैसे होगा और अगो का ज्ञान न होने पर उसकी व्यावृत्ति भी कैसे होगी। अतः द्रविड प्राणायाम को छोड़कर गोशब्द का वाच्य सीधा गायरूप अर्थ ही मानना युक्तिसंगत है। इसी प्रकार अभिप्रायसूचन को भी शब्द का वाच्य मानना

---

१. यदि घट इत्ययं शब्दः स्वभावादेव कम्बुग्रीवाकारं जलधारणसमर्थं पदार्थमभिदधाति तत्कथं संकेतान्तरमपेक्ष्य पुरुषेच्छया तुरगादिकमभिदध्यात्।......वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः शब्दाः। —तर्कभाषा

नान्तरीयकताऽभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः॥ —प्रमाणवार्तिक १।२१५

ठीक नहीं है। यदि किसी शब्द से किसी के अभिप्राय का पता चल भी गया तो उससे क्या लाभ होगा। और अभिप्राय को जानने के बाद भी तो अर्थ का ज्ञान मानना ही पड़ेगा। अतः प्रारंभ में ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान मानना अनुभवसिद्ध है।

सूत्रकार ने 'भाव्यतीतयोः मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्' (परीक्षामुख ३।६२) इस सूत्र के द्वारा बौद्ध दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त के भाविकारणवाद और अतीतकारणवाद की समालोचना की है। प्रज्ञाकर गुप्त ने भावी मरण को अरिष्ट का और अतीत जागृत्बोध को उद्बोध का कारण माना है। किन्तु काल के व्यवधान में कार्यकारणभाव संभव नहीं है। तथा यह तो और भी विचित्र बात है कि कार्य आज हो चुका है और उसका कारण छह महीने बाद हो।[1]

बौद्ध प्रमाण और फल में अभेद मानते हैं। उनके यहाँ वही ज्ञान प्रमाण है और वही फल। प्रत्येक ज्ञान में दो बातें पाई जाती हैं—विषयाकारता और विषयबोध। विषयाकारता का नाम प्रमाण है और विषयबोध का नाम फल है। एक ही ज्ञान में इन दो बातों की व्यवस्था भी वे व्यावृत्ति के द्वारा करते हैं। घटज्ञान घटाकार और घटबोधरूप है। वह अघटाकार से व्यावृत्त होने के कारण प्रमाण तथा अघटबोध से व्यावृत्त होने के कारण फल माना गया है। सूत्रकार ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि बौद्ध जिस प्रकार अफल (अघटबोध) की व्यावृत्ति से फल की कल्पना करते हैं उसी प्रकार अन्य सजातीय फल की व्यावृत्ति से उसे अफल क्यों न माना जाय। एक घटज्ञान

---

१. अविद्यमानस्य कारणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथैव भाव्यपेक्षयापि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्य कारणत्वात्।
गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।
—प्रमाणवार्तिकालङ्कार पृ. १७६

में दूसरे घटज्ञान की व्यावृत्ति भी तो है, अतः उसे अफल भी मानना चाहिए। इसी प्रकार अप्रमाण की व्यावृत्ति से किसी ज्ञान को प्रमाण मानने पर उसमें दूसरे प्रमाण की व्यावृत्ति होने से अप्रमाण का प्रसङ्ग भी प्राप्त होता है। अर्थात् यदि अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाय तो उसमें अनुमान प्रमाण को व्यावृत्ति होने से अप्रमाण भी मानना चाहिए[1]।

सांख्यदर्शन

सांख्यदर्शन वैदिकदर्शनों में अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। तत्त्वों की संख्या (गिनती) के कारण इसका नाम सांख्य पड़ा ऐसा कहा जाता है। किन्तु संख्या का एक दूसरा भी अर्थ है—विवेकज्ञान। इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान पर बल दिया गया है, इसलिए इसे सांख्य कहते हैं। इस अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग अधिक युक्तिसंगत है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मौलिक मानता है। प्रकृति से महान् आदि २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्यदर्शन में सब मिलाकर २५ तत्त्व माने गए हैं। सांख्यों ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (आगम) इन तीन प्रमाणों को माना है। आप्तवचन का तात्पर्य आप्त (विश्वस्त) पुरुष और श्रुति (वेद) दोनों से है। अतः आगम में पौरुषेय और अपौरुषेय दोनों प्रकार के ग्रन्थों का समावेश किया गया है। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि प्राचीन सांख्यों ने ईश्वर को नहीं माना है, इसलिए उनके मत से वेद ईश्वर की रचना न होने से अपौरुषेय हैं। किन्तु कालान्तर में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार कर ली गई। अतः सांख्य के निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य ऐसे दो भेद हो गए। सेश्वर सांख्य को ही योगदर्शन के नाम से कहते हैं। ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अङ्गों के प्रतिपादन करने में ही योगदर्शन की विशेषता है[2]।

वृत्तिकार ने सांख्यों के सामान्य रूप तत्त्व प्रधान या प्रकृति की विस्तार से विवेचना की है। प्रधान से २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। कारणरूप प्रधान

---

१. इह नीलादेरर्थात् ज्ञानं द्विरूपमुपपद्यते-नीलाकारं नीलबोधस्वरूपं च। तत्रानीलाकारव्यावृत्त्या नीलाकारं ज्ञानं प्रमाणम्। अनीलबोधव्यावृत्त्या नीलबोधस्वरूपं प्रमितिः। सैव फलम्। —तर्कभाषा

२. आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु। —सांख्यकारिका

'अव्यक्त' कहलाता है और कार्यरूप 'व्यक्त'। इनमें से व्यक्त हेतुमान्, अनेक, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिङ्ग (प्रलय काल में लीन होने वाला सावयव और परतन्त्र है।[1] लेकिन अव्यक्त में उक्त बातों का विपर्यय पाया जाता है। अर्थात् वह अहेतुमान्, एक, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है। ऊपर व्यक्त और अव्यक्त में वैधर्म्य बतलाया गया है। किन्तु व्यक्त और अव्यक्त में कुछ बातों की अपेक्षा साधर्म्य भी है। ये दोनों ही त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम गुण वाले), अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी (उत्पत्ति करने रूप धर्म वाले) हैं। परन्तु पुरुष में त्रिगुण आदि का विपर्यय पाया जाता है। अर्थात् वह त्रिगुणातीत, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है। यद्यपि पुरुष प्रधान से इन बातों में असमान है, किन्तु अहेतुमान्, व्यापक, निष्क्रिय आदि बातों में प्रधान के समान भी है[2]। जिस प्रकार कुछ बातों की अपेक्षा से व्यक्त और अव्यक्त में साधर्म्य है तथा दूसरी बातों की अपेक्षा से उनमें वैधर्म्य है, उसी प्रकार कुछ बातों की अपेक्षा से प्रधान और पुरुष में साधर्म्य तथा दूसरी बातों की अपेक्षा से उनमें वैधर्म्य है।

प्रकृति से पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, इसे महान् कहते हैं। महान् से मैं सुन्दर हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। अहङ्कार से चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, तथा मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें, इस प्रकार कुल सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। पुनः पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है[3]। इस प्रकार प्रकृति से सब मिलाकर २३ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रकृति कारण ही है, कार्य नहीं। महान्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रायें कार्य और कारण दोनों हैं, शेष सोलह (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच

---

१. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ —सांख्यकारिका

२. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ —सांख्यकारिका

३. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ —सांख्यकारिका

महाभूत) केवल कार्य हैं, कारण नहीं। पुरुष न किसी का कारण है और न कार्य।[1]

सांख्यों का मत है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का अन्वय देखा जाता है, इसलिए सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। सब पदार्थों में परिमाण भी देखा जाता है। उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ परिमित हैं, अतः उनका एक अपरिमित कारण मानना आवश्यक है। और जो अपरिमित कारण है वही प्रकृति है। इत्यादि हेतुओं से वे प्रकृति की सिद्धि करते हैं।[2]

सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते हैं किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं। उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति के पहले ही कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है और कारण उसे केवल व्यक्त कर देते हैं। जैसे अन्धकार में पहले से स्थित घटादि पदार्थों को दीपक व्यक्त कर देता है। इसी का नाम आविर्भाव है। इसी प्रकार घट के नाश का अभिप्राय यह है कि वह अपने कारण मिट्टी में छिप गया, न कि सर्वथा नष्ट हो गया। इसका नाम तिरोभाव है। अतः कारण में कार्य की सत्ता मानने के कारण सांख्य को सत्कार्यवादी कहा जाता है।

सत्कार्यवाद की सिद्धि उन्होंने निम्न पाँच हेतुओं से की है—१ असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है, २ प्रतिनियत कार्य के लिए प्रतिनियत कारण का ग्रहण किया जाता है, ३ सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, ४ समर्थकारण ही शक्यकार्य को करता है, अशक्य को नहीं और ५ पदार्थों में कार्य कारण भाव देखा जाता है।[3]

सांख्यों के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। प्रकृति के समस्त कार्य पुरुष के लिए होते हैं, पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है, इत्यादि

---

१. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ —सांख्यकारिका

२. भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ॥
कारणमस्त्यव्यक्तम् । —सांख्यकारिका

३. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —सांख्यकारिका

कारणों से पुरुष की सिद्धि की गई है। जन्म, मरण और इन्द्रियों का प्रतिनियम देखा जाता है और सबकी एक कार्य में एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः पुरुष अनेक हैं[1]।

यद्यपि अचेतन होने से प्रकृति अन्धी है और निष्क्रिय होने से पुरुष लँगड़ा है, फिर भी अन्धे और लँगड़े पुरुषों के संयोग की भाँति प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति कार्य करने में समर्थ हो जाती है।

वृत्तिकार ने सांख्य की उक्त मान्यताओं में से कुछ का प्रत्यक्षरूप से और कुछ का अप्रत्यक्षरूप से खण्डन किया है। पहिली बात तो यही है कि उक्त प्रकार के प्रधान की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है। घटादि पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इन गुणों का अन्वय भी नहीं पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिवी आदि की उत्पत्ति एक कारण से कैसे हो सकती है। यदि किसी कारण से विजातीय कार्य की भी उत्पत्ति मानी जाय तो अचेतन भूतों से चेतन की उत्पत्ति भी मानना चाहिए[2]।

सांख्यों का ज्ञान प्रकृति का परिणाम होने से अचेतन है और अचेतन होने के कारण अस्वसंवेदी है। सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में जो 'स्व' पद दिया है उससे सांख्यों के अस्वसंवेदी ज्ञान में प्रमाणता का निरास हो जाता है।

यौग (न्याय-वैशेषिक) दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का यौग नाम से उल्लेख किया गया है। सूत्रकार या वृत्तिकार ने कहीं भी न्याय या वैशेषिक का उल्लेख नहीं किया है। संभव है कि यौगों का कोई पृथक् ग्रन्थ रहा हो, किन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। यौग के नाम से जो कुछ कहा गया है वह सब न्याय और वैशेषिक दर्शनों में मिलता है। कुछ बातों को छोड़कर न्याय और

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ —सांख्यकारिका

१. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ —सांख्यकारिका

२. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ —सांख्यकारिका

वैशेषिक दर्शनों में समानता भी पाई जाती है। शिवादित्य (११ वीं शताब्दी) के 'सप्तपदार्थी' में उक्त दोनों दर्शनों का समन्वय किया गया है। मालूम पड़ता है कि दोनों के योग (जोड़ी) को यौग नाम दे दिया गया और, इसीलिए सूत्रकार और वृत्तिकार ने दोनों का 'यौग' इस नाम से उल्लेख किया है।

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन करना है। न्याय का अर्थ है विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना[1]। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से इस दर्शन को न्यायदर्शन कहते हैं। इसका नाम वादविद्या भी है, क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं, इन्हीं का नाम अक्षपाद है। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक हुआ, ऐसा माना जाता है।

नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने हैं। तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य माने हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं, किन्तु वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं। नैयायिकों ने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख और अपवर्ग (मुक्ति) ये बारह प्रमेय माने हैं।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही सन्निकर्ष को प्रमाण माना है। इसलिए सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में अज्ञानरूप सन्निकर्ष में प्रमाणता के निराकरण के लिए 'ज्ञान' पद दिया है। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ दोनों ही अचेतन हैं, अतः उनका सम्बन्ध सन्निकर्ष भी अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा। फिर वह प्रमाण कैसे हो सकता है। सन्निकर्ष के संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय आदि छह भेद माने हैं। सूत्रकार ने बतलाया है कि जिस प्रकार चक्षु और रस में संयुक्त-समवायरूप सन्निकर्ष होने पर भी वह प्रमा को उत्पन्न नहीं करता है, उसी

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। —वात्स्यायन न्यायभाष्य १।१।१

प्रकार चक्षु और रूप का संयुक्तसमवायरूप सन्निकर्ष भी प्रमा की उत्पत्ति का कारण नहीं है। अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानना ठीक नहीं है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर की सत्ता मानकर उसके द्वारा संसार की सृष्टि मानते हैं। पृथिवी, पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। इस अनुमान के द्वारा वे पृथिवी आदि कार्यों का एक ऐसा कर्ता सिद्ध करते हैं जो व्यापक, सर्वज्ञ और समर्थ है। ऐसा जो कर्ता है वही ईश्वर है। कारण को समवायि, असमवायि और निमित्त के भेद से तीन प्रकार का माना गया है। कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हो वह समवायि कारण है। पट तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, अतः तन्तु पट के समवायि कारण हैं। समवायि कारण को हम उपादान कारण भी कह सकते हैं। समवायि कारण द्रव्य ही होता है। तन्तु-संयोग पट का असमवायि कारण है। असमवायि कारण संयोगरूप गुण ही होता है। इनकी असमवायि कारण की कल्पना एक विशिष्ट कल्पना है। इन दोनों कारणों के अतिरिक्त जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि पट के निमित्त कारण हैं। ईश्वर भी पृथिवी आदि कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। वृत्तिकार ने कार्यत्व हेतु में अनेक प्रकार से दूषण देकर न्याय-वैशेषिकाभिमत सृष्टिकर्तृत्व का विशेषरूप से खण्डन किया है।

न्याय-वैशेषिक दोनों ही आत्मा को व्यापक मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को अणुपरिमाण (वटकणिकामात्र) मानते हैं। वृत्तिकार ने उक्त दोनों मान्यताओं का युक्तिपूर्वक निराकरण करके आत्मा को स्वदेहपरिमाण सिद्ध किया है।

वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों को स्वयं असत् मानकर भी सत्ता नामक सामान्य के सम्बन्ध से सत् माना है। वृत्तिकार ने उनकी इस मान्यता का निराकरण करते हुए कहा है कि जब द्रव्यादि स्वयं असत् हैं तो सत्ता के संबंध से भी सत् नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य, गुणत्व के सम्बन्ध से गुण और कर्मत्व के सम्बन्ध से कर्म की मान्यता भी नहीं बनती है। इस प्रकार वैशेषिकों का विशेष (द्रव्य, गुण और कर्म) तथा सामान्य को परस्पर में स्वतंत्र मानना ठीक नहीं है। विशेष और सामान्य स्वतंत्ररूप से प्रमाण के विषय नहीं हैं, किन्तु उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है।

वैशेषिकों का विशेष पदार्थ एक सरीखे पदार्थों में भेद कराता है। यह विशेष नित्य द्रव्यों—पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में तथा

आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन में रहता है। अयुतसिद्ध (अपृथक् सिद्ध) पदार्थों में अर्थात् अवयव-अवयवी में, गुण-गुणी में, क्रिया-क्रियावान् में, सामान्य-सामान्यवान् में और विशेष-विशेषवान् में जो सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही हेतु के पाँच रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व) माने हैं। तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव माने हैं। वृत्तिकार ने हेतु के पाञ्चरूप्य का निराकरण करके साध्य के साथ अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण सिद्ध किया है। और सूत्रकार ने पाँच अवयवों की मान्यता का खण्डन करके बाद में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव सिद्ध किये हैं। किन्तु अल्पज्ञों को बोध कराने के लिए यथावश्यक उदाहरणादिक के प्रयोग को भी स्वीकार किया है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही प्रमाण को अस्वसंवेदी माना है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद के द्वारा अस्वसंवेदी ज्ञान में प्रमाणता का निराकरण किया है। जो ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता है वह अर्थ को कैसे जान सकता है। गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान में प्रमाणता के निराकरण के लिए प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' विशेषण दिया गया है। सूत्रकार ने अस्वसंवेदी और गृहीतार्थ इन दोनों ज्ञानों को प्रमाणाभास बतलाया है।

न्याय और वैशेषिक दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। सूत्रकारने उनकी इस मान्यता का निराकरण करते हुए बतलाया है कि ज्ञान का अर्थ और प्रकाश के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से वे ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रमाण से फल को सर्वथा भिन्न मानकर समवाय सम्बन्ध से 'इस प्रमाण का यह फल है' ऐसी प्रमाण और फल की जो व्यवस्था की गई है उसका निराकरण करके सूत्रकार ने सिद्ध किया है कि प्रमाण से फल कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न, न कि सर्वथा भिन्न।

मीमांसादर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा के दो भेद हैं-कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञों की विधि तथा

अनुष्ठान का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है। जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। किन्तु वर्तमान में कर्ममीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है और ज्ञानमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल भट्ट का युग सुवर्णयुग के नाम से कहा जाता है। भट्ट के अनुयायी भाट्ट कहलाते हैं। मीमांसा के आचार्यों में प्रभाकर मिश्र की भी बड़ी प्रसिद्धि है। प्रभाकर के अनुयायी प्राभाकर कहे जाते हैं। इस प्रकार मीमांसा में भाट्ट और प्राभाकर ये दो पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं।' सूत्रकार ने मीमांसक, प्राभाकर और जैमिनीय इन तीन नामों से इस दर्शन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर पदार्थों की संख्या ८ मानते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। भाट्टों के अनुसार पदार्थ ५ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। वैशेषिक द्रव्य नौ ही मानते हैं किन्तु भाट्ट अन्धकार और शब्द ये दो द्रव्य अधिक मानते हैं। प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है और न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अत एव वह परोक्ष है। मीमांसकों के इस परोक्षज्ञान में प्रमाणता का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने प्रमाण के लक्षण में 'स्व' पद किया है।

ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे आती है इस विषय में विवाद है। न्याय-वैशेषिक दोनों को परतः, सांख्य दोनों को स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। वृत्तिकार ने 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च' इस सूत्र की व्याख्या में विशेषरूप से मीमांसकों की मान्यता का निराकरण किया है।

मीमांसकों का कहना है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारण की प्रमाणता की उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं होती है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है। बाद में यदि कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता हटा दी

जाय तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारणदोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय का उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही हैं। इसलिए ज्ञान में प्रमाणता स्वतः ही आती है। किन्तु अप्रामाण्य में ऐसी बात नहीं है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि उसमें ज्ञान के कारणों के अतिरिक्त दोषरूप सामग्री की अपेक्षा होती है। वृत्तिकार ने मीमांसकों की उक्त मान्यता का सप्रमाण खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि प्रामाण्य अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः गृहीत होता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में सर्वथा एकान्त पक्ष का आश्रय लेना ठीक नहीं है, किन्तु अनेकान्त पक्ष ही श्रेयान् है।

मीमांसक कहते हैं कि कोई पुरुष सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता है, क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीतरागता का पूर्ण विकास संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध किया है। वृत्तिकार ने उक्त मान्यता का निराकरण करते हुए 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध-संभवात्' इस सूत्र की व्याख्या में प्रबल एवं निर्दोष अनुमान प्रमाण से विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है कि कोई पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी है, क्योंकि उसका स्वभाव उनको जानने का है तथा उसमें प्रतिबन्ध के कारण नष्ट हो गए हैं।

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रिय धर्म का प्रतिपादक है और अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है। अतः धर्म में वेद ही प्रमाण है। मीमांसकों ने वेद को दोषों से मुक्त रखने के लिए एक नये ही उपाय का आविष्कार किया है कि जब वक्ता ही न माना जाय तब दोषों की संभावना रह ही नहीं सकती। क्योंकि वक्ता के अभाव में दोष निराश्रय रह नहीं सकते। इस प्रकार वेद को स्वतः प्रमाण माना गया है। और वेद को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसकों को शब्दमात्र को नित्य मानना पड़ा, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता, जो कि अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों ने गकारादि प्रत्येक शब्द को नित्य, एक और व्यापक मानकर वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है।

वृत्तिकार ने 'आप्तवचनादिनिबन्धमर्थज्ञानमागमः' इस सूत्र की व्याख्या में मीमांसकों की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए विस्तार से यह सिद्ध किया

है कि शब्द अनित्य, अनेक और अव्यापक है, तथा महाभारत आदि की भाँति पुरुष कर्तृक होने से वेद पौरुषेय है।

वेदान्तदर्शन

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त (वेद का अन्त—उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है। ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास हैं। शंकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। मीमांसकों की भाँति वेदान्ती भी छह प्रमाण मानते हैं।

वेदान्तदर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। इस संसार में जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है वह सब मायिक (माया–अविद्या-जनित) है। एक ही तत्त्व की सत्ता स्वीकार करने के कारण यह दर्शन अद्वैतवादी है।

वेदान्तियों ने मुख्यरूप से 'यह सब ब्रह्म है, इस जगत् में नाना कुछ भी नहीं है, सब उसी के पर्यायों को देखते हैं, उसको कोई भी नहीं देखता'; ऐसी श्रुति (वेद) के आधार से ब्रह्म की सिद्धि की है। तथा उक्त श्रुति के समर्थन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी दी है। किन्तु वृत्तिकार ने अनेक युक्तियों के आधार से विस्तारपूर्वक अद्वैत ब्रह्म का निराकरण करके सप्रमाण द्वैत अथवा अनेकत्व की सिद्धि की है।

जैनदर्शन का महत्त्व

भारतीयदर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से वस्तु तत्त्व को जैसा देखा उसीको दर्शन के नाम से कहा। किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्त-दृष्टि है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्तदर्शन के नाम से कहा है। जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। विचार जगत् का अनेकान्त सिद्धान्त ही नैतिक जगत् में अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। अतः भारतीयदर्शन के विकास को समझने के लिये जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है।

जैनन्याय का क्रमिक विकास

आचार्य उमास्वामी का 'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का प्रमुख सूत्रग्रन्थ है। उमास्वामी ने सम्यग्ज्ञान के भेदों को बतलाकर 'तत्प्रमाणे' (त० सू० १।११) सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है। तदनन्तर आचार्य समन्तभद्र के द्वारा जैनन्याय का वास्तविक प्रारम्भ होता है। समन्तभद्र के समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक एकान्तों का प्राबल्य था। समन्तभद्र ने इन समस्त एकान्तों का स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय किया है।[1] साथ ही उन्होंने प्रमाण और स्याद्वाद का लक्षण; सप्तभङ्गी, सुनय और दुर्नय की व्याख्या; अनेकान्त में भी अनेकान्त की प्रक्रिया; तथा अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा को फल बतलाया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने नय और अनेकान्त का विशद विवेचन करने के साथ ही प्रमाण के लक्षण में बाधवर्जित विशेषण देकर उसे समृद्ध किया है। तथा प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किए हैं[2]। अनुमान और हेतु का लक्षण बतलाकर प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परार्थ भेद बतलाए हैं। जब दिग्नाग ने हेतु का लक्षण त्रिरूप सिद्ध किया तब पात्रकेसरी स्वामी ने हेतु का अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण स्थापित किया।

आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई० ७ वीं सदी) ने सर्वप्रथम लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था, व्यवहार प्रत्यक्ष के नाम के कहा है।[3] इसके बाद अकलङ्क ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद करके पुनः प्रत्यक्ष के मुख्यप्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) ये दो भेद किए हैं। तथा परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रकार न्यायशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा अकलङ्क से प्रारम्भ होती है। वास्तव में अकलङ्क जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं।

आगम में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष बतलाया गया है तथा मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को

---

१. देखो आप्तमीमांसा।

२. देखो न्यायावतार।

३. देखो विशेषावश्यक भाष्य।

मतिज्ञान का पर्याय कहा है। किन्तु लोकव्यवहार में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। अतः लोकव्यवहार में सामंजस्य सिद्ध करने के लिए मतिज्ञान के एक अंश, मति (इन्द्रियजन्य ज्ञान) को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर शेष स्मृति आदि को परोक्ष कहा गया है। क्योंकि स्मृति आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं। अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष ज्ञान के पाँच भेद हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम अकलङ्क ने ही परोक्ष प्रमाण की एक सुनिश्चित सीमा निश्चित की है। अकलङ्क ने ही अनुमान, साध्य, साधन आदि के लक्षणों का स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया है। अकलङ्क के न्याय विनिश्चय में एक श्लोक मिलता है जिसके द्वारा अविनाभाव को हेतु का एक-मात्र लक्षण बतलाया गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका[1] के अनुसार वह श्लोक पात्र-केसरी स्वामी का है।

अकलङ्क के बाद विद्यानन्दी ने जैनन्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख की रचना करके जैनन्याय के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया है। बौद्ध हेतु के तीन ही भेद मानते हैं—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। किन्तु माणिक्यनन्दी ने हेतु के सर्वप्रथम उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद करके पुनः दोनों के अविरुद्ध और विरुद्ध के भेद से दो-दो भेद किए हैं। इन दोनों के भी कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि के भेद से कई भेद किए हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ बौद्धों ने अनुपलब्धि को ही प्रतिषेध साधक माना है वहाँ माणिक्यनन्दी ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों को ही विधि और प्रतिषेध साधक बतलाया है।

अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है—दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि। घट की अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है, क्योंकि घट दृश्य है। परमाणु की अनुप-लब्धि अदृश्यानुपलब्धि है, क्योंकि परमाणु अदृश्य है। बौद्धों ने दृश्यानुपलब्धि को ही अभाव साधक माना है, अदृश्यानुपलब्धि को नहीं। किन्तु अकलङ्क ने बतलाया है कि अदृश्यानुपलब्धि से भी अभाव की सिद्धि होती है। क्योंकि दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व नहीं है, अपितु उसका अर्थ है प्रमाणविषयत्व। हम मृत प्राणी

---

१. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥ —न्यायविनिश्चय श्लो० ३२३

में चैतन्य के अभाव की सिद्धि अदृश्यानुपलब्धि से ही करते हैं, क्योंकि चैतन्य अदृश्य है[1]।

माणिक्यनन्दी के बाद प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए न्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन एवं प्रतिष्ठापन किया है।

इस प्रकार जैनन्याय में उपमान का प्रत्यभिज्ञान में, अर्थापत्तिका अनुमान में, और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण की द्वित्व संख्या का समर्थन किया गया है। साथ ही व्याप्ति को ग्रहण करने वाले 'तर्क' नामक एक ऐसे प्रमाण को प्रतिष्ठित किया गया है जिसको अन्य किसी दर्शन ने प्रमाण नहीं माना है।

प्रमाण मीमांसा

[2]प्रमाण शब्द की निरुक्ति के अनुसार—जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने इसी निरुक्ति का आश्रय लेकर प्रमा के करण[3] अर्थात् साधकतम कारण को प्रमाण कहा है। प्रमा नाम वस्तु के यथार्थ ज्ञान का है[4], उसकी उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है, वह करण कहलाता है।[5] प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में विवाद न होने पर भी प्रमा के करण के विषय में विवाद है।

बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को प्रमिति का करण मानते हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को, यौग (नैयायिक-वैशेषिक) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को, प्राभाकर ज्ञाता के व्यापार को और मीमांसक इन्द्रिय को प्रमा का करण मानते हैं। किन्तु जैन लोग ज्ञान को ही प्रमा का करण कहते हैं।

बौद्धदर्शन में अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण माना गया है।[6]

---

१. अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः।
—अष्टशती–अष्टसहस्री पृ. ५२

२. प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्।

३. प्रमाकरणं प्रमाणम्।

४. यथार्थानुभवः प्रमा। —तर्कभाषा केशवमि०

५. साधकतमं कारणं करणम्।

६. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्। —प्रमाणसमुच्चय टीका पृ. ११

दिग्नाग ने विषयाकार को प्रमाण, तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।[1]

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादि' पद को जोड़कर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण का ही समर्थन किया है।[2] तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित ने सारूप्य और योग्यता को प्रमाण माना है, तथा विषयाधिगति और स्वसंवित्ति को फल माना है।[3] मोक्षाकर गुप्त ने अपनी तर्कभाषा में भी अपूर्व अर्थ के विषय करनेवाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है।[4] इस प्रकार बौद्धों ने अज्ञातार्थ-प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण माना है।

बौद्धों के यहाँ प्रमाण और फल में अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञानरूप ही है, तथापि विषयाकारता को ही उन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञानगत सारूप्य ज्ञानस्वरूप ही है, फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है: क्योंकि अमूर्त्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थ के आकार होना सम्भव नहीं है। विषयाकारता को प्रमाण मानने से संशय और विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा; क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार होते हैं।

सांख्यों ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) को प्रमाण माना है।[5] किन्तु इन्द्रिय वृत्ति को प्रमाण मानना युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा। अतः अज्ञानरूप व्यापार प्रमा का साधकतम कारण नहीं हो सकता।

न्यायदर्शन में न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने उपलब्धि-साधन को प्रमाण माना है।[6] उद्योतकर ने भी उपलब्धि के साधन को ही प्रमाण स्वीकार

---

१. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थे निश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥ —प्रमाणसमुच्चय० २. १०

२. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशो वा। —प्रमाणवार्त्तिक

३. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यताऽपि वा ॥
—तत्त्वसंग्रहकारिका १३४४

४ प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। —तर्कभाषा मोक्षाकर गुप्त पृ० १।

५. इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्। —योगदर्शन व्यासभाष्य पृ. २७

६. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि। —न्यायभाष्य० पृ. १८

किया है।[1] जयन्त भट्ट ने प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।[2] उदयन ने यथार्थानुभव को प्रमाण माना है।[3] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उदयन के पहले न्याय-वैशेषिक दर्शन में अनुभव पद दृष्टिगोचर नहीं होता।

वैशेषिक-दर्शन में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण के सामान्य लक्षण का निर्देश किया है। उन्होंने दोष-रहित ज्ञान को विद्या (प्रमाण) कहा है।[4] कणाद के बाद वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने प्रमा के करण को ही प्रमाण माना है।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण माना गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष और ज्ञान।[5]

किन्तु इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानना उचित नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष अज्ञानरूप हैं, अतः वे अज्ञान की निवृत्तिरूप प्रमा के करण कैसे हो सकते हैं? अज्ञान-निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है। जैसे कि अन्धकार की निवृत्ति में उसका विरोधी प्रकाश ही करण होता है। सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में एक दोष यह भी है कि क्वचित् सन्निकर्ष के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है और क्वचित् सन्निकर्ष के नहीं रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

वृद्ध नैयायिकों ने ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों ही प्रकार की सामग्री को प्रमा का करण माना है[6]। अतः वे कारक-साकल्य अर्थात् इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणों की समग्रता को प्रमाण मानते हैं। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थ की उपलब्धि में साधकतम कारण तो ज्ञान ही है और कारक-साकल्य की सार्थकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने में है,

---

१. उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। न्यायवार्तिक, पृ. ५
२. प्रमाकरणं प्रमाणम्। —न्यायमञ्जरी पृ. २५
३. यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते। —न्यायकुसुमा० ४, १
४. अदुष्टं विद्या। —वैशेषिक सूत्र ९, २, १२
५. तस्याः करणं त्रिविधम्। कदाचिदिन्द्रियम्, कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्। —तर्कभाषा पृ. १३
६. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। —न्यायमञ्जरी पृ. १२

क्योंकि ज्ञान को उत्पन्न किये बिना कारक-साकल्य अर्थ की उपलब्धि नहीं करा सकता है। इसलिए प्रमा का करण ज्ञान ही हो सकता है; अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। यतः प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ होता है, अतः वह प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है।

मीमांसादर्शन में प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं। उनमें से प्राभाकरों ने अनुभूति को प्रमाण का लक्षण माना है[1] और ज्ञातृ-व्यापार को भी[2]। किन्तु एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिए केवल अनुभूति को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ज्ञातृ-व्यापार को प्रमाण मानने में उनकी युक्ति यह है कि अर्थ का प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता है, अतः ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञातृ-व्यापार को प्रमाण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाता के व्यापार को अर्थ-प्रकाशन में या उसके जानने में प्रमाण तभी माना जा सकता है, जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु-बोध में कारण हो। जहाँ पर यह यथार्थ वस्तु-बोध में कारण नहीं है, प्रत्युत विपरीत ही अर्थ-बोध करा रहा है, वहाँ उसे कैसे प्रमाण माना जा सकता है।

भाट्टों ने अनधिगत (अज्ञात) यथावस्थित अर्थ के जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहा है[3]। किन्तु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, कारण कि उन्होंने स्वयं गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है। मीमांसकों ने प्रमाण का एक और भी विस्तृत, विशद एवं व्यापक लक्षण कहा है—

जो अपूर्व अर्थ को जाननेवाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और लोक-सम्मत हो, वह प्रमाण कहलाता है[4]।

---

१. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्। —बृहती १, १, ५

२. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः॥
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्।
—मीमांसा श्लो० पृ. १५२

३. अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्। —शास्त्रदी० पृ. १२३

४. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥
—उद्धृत प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २१

उक्त प्रमाणलक्षण मे यद्यपि आपत्ति-जनक कोई बात प्रतीत नहीं होती है, फिर भी अन्य दार्शनिकों ने इस लक्षण की आलोचना की है। मेरे विचार से प्रमाण का उक्त लक्षण उचित प्रतीत होता है। किन्तु मीमांसकों ने ज्ञान को जो परोक्ष माना है, वही सबसे बड़ी आपत्ति की बात है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से जनित अर्थापत्ति से ज्ञान गृहीत होता है[१]। उनकी यह मान्यता युक्ति-सङ्गत नहीं है, क्योंकि जो स्वयं परोक्ष है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है? अतः मीमांसक का प्रमाणरूप ज्ञान को परोक्ष मानना प्रतीति-विरुद्ध है।

जैनदर्शन में सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है[२]। आचार्य सिद्धसेन ने स्वपरावभासक तथा बाधवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है[३]। इसके अनन्तर अकलङ्क ने प्रमाण के लक्षण में व्यवसायात्मक पद जोड़कर अपने और अर्थ को ग्रहण करनेवाले व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है[४]। पुनः अकलङ्क ने ही प्रमाण के लक्षण में अविसंवादी और अनधिगत विशेषणों को जोड़ा है[५]।

विद्यानन्दी ने पहले सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण का लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है[६]। इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण

---

१. ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते।

—तर्कभाषा केशवमिश्र, पृ. ४२

२. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।

—स्वयम्भू० श्लो० ६३

३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।

—न्यायावतार श्लो० १

४. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। —लघीयस्त्रय का० ६०

५. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।

—अष्टशती का० ३६

६ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। —प्रमाणपरीक्षा पृ. ५१

स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।

—प्रमाणपरीक्षा

है[1]। किन्तु माणिक्यनन्दी ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण का लक्षण सिद्ध किया है[2]।

परीक्षामुख

यह जैनन्याय का आद्य सूत्रग्रन्थ है। आचार्य उमास्वामी (वि० सं० की पहली श०) का 'तत्त्वार्थसूत्र' जैन दर्शन का आद्य सूत्रग्रन्थ है। सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमांसासूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि इतर दर्शनों के सूत्रग्रन्थों की रचना भी विक्रम पूर्व में हो चुकी थी। फिर भी न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदि की तरह जैनन्याय को सूत्रबद्ध करने वाला ग्रन्थ विक्रम की दशवीं शताब्दी तक नहीं बन पाया था। अतः माणिक्यनन्दी ने इस ग्रन्थ को लिख कर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति ही नहीं की किन्तु आगे के सूत्रग्रन्थों के लिए एक आदर्श भी उपस्थित किया है। बौद्धदर्शन में हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थ पाये जाते थे। माणिक्यनन्दी ने भी अपने सूत्रग्रन्थ का नाम मुखान्त रखकर पूर्वग्रंथों के नामों का अनुकरण किया है।

परीक्षामुख में प्रमाण और प्रमाणाभास की परीक्षा की गई है। किसी विषय में विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने के लिए जो विचार किया जाता है वह परीक्षा कहलाता है[3]। जिस प्रकार हम दर्पण में अपने मुख को स्पष्ट देखते हैं उसी प्रकार परीक्षामुखरूपी दर्पण में प्रमाण और प्रमाणाभास को स्पष्टरूप से देखा जा सकता है। यह छह समुद्देशों में विभक्त है तथा इसकी सूत्रसंख्या २०८ (?) है।

परीक्षामुख का उद्गम अकलङ्क के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धि-विनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों के आधार से हुआ है। इस विषय में वृत्तिकार आचार्य अनन्तवीर्य ने लिखा है—

---

१. तत्त्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥ — तत्त्वार्थ श्लो०
गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥ तत्त्वार्थ श्लो० १।१०।७८

२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। —परीक्षामु० १।१

३. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। —न्यायदीपिका
लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। —तर्कसंग्रह पदकृ०

"जिस बुद्धिमान् ने अकलङ्क के वचनरूपी सागर का मन्थन करके न्याय-विद्यारूपी अमृत को निकाला उस माणिक्यनन्दी को नमस्कार हो।"[1]

परीक्षामुख पर अकलङ्क के ग्रंथों का प्रभाव तो है ही, साथ ही दिग्नाग के न्यायप्रवेश और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उत्तरकालवर्ती आचार्यों में वादिदेव सूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक और हेम-चन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर परीक्षामुख अपना अमिट प्रभाव रखता है।

भाषा और शैली

इस ग्रंथ की शैली न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि की तरह सूत्रा-त्मक है। सूत्र वह है जो अल्प अक्षरों वाला, असन्दिग्ध, सारवान्, गूढ निर्णय वाला, निर्दोष, युक्तिमान् और तथ्य स्वरूप वाला हो[2]। सूत्र का यह लक्षण परीक्षामुख में पूर्ण रूप से पाया जाता है। इसकी भाषा प्राञ्जल एवं सुबोध है। इसके सूत्र सरल, सरस तथा गंभीर अर्थ वाले हैं। सरल संस्कृत में प्रत्येक बात को संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से समझाया गया है। यद्यपि न्याय-ग्रंथों की भाषा दुर्बोध, जटिल एवं गंभीर होती है, किन्तु माणिक्यनन्दी ने सरस, सरल एवं प्राञ्जल भाषा को अपनाया है क्योंकि उनका उद्देश्य न्यायशास्त्र में मन्द बुद्धि वाले बालकों के लिए न्यायशास्त्र का ज्ञान कराना था।

प्रतिपाद्य विषय

परीक्षामुख का मुख्य विषय प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रतिपादन करना है।

प्रथम समुद्देश—इसमें प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के विशेषणों की सार्थ-कता, दीपक के दृष्टान्त से ज्ञान में स्व और पर की व्यवसायात्मकता की सिद्धि तथा प्रमाण की प्रमाणता को कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश—इसमें प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन, अर्थ और आलोक में ज्ञान के प्रति

---

१. अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुदध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥ —प्रमेयरत्नमाला पृ० ४

२. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ —प्रमेयरत्नमाला टि० पृ० ५

कारणता का निरास, ज्ञान में तदुत्पत्ति (पदार्थ से उत्पत्ति) का खण्डन, स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता से ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत विषय की व्यवस्था, ज्ञान के कारण को ज्ञान का विषय मानने में व्यभिचार का प्रतिपादन और निरावरण एवं अतीन्द्रियस्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया गया है।

तृतीय समुद्देश—इसमें परोक्ष का लक्षण, परोक्ष के पाँच भेद, उदाहरणपूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का लक्षण, हेतु और अविनाभाव का स्वरूप, साध्य का लक्षण, साध्य के विशेषणों की सार्थकता, धर्मी (पक्ष) का प्रतिपादन, धर्मी की सिद्धि के प्रकार, पक्षप्रयोग की आवश्यकता, अनुमान के दो अङ्गों का प्रतिपादन, उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान के अङ्ग मानने में दोषोद्भावन, शास्त्र में उदाहरणादि के भी अनुमान के अवयव होने की स्वीकृति, अनुमान के दो भेद, उनका लक्षण, सोदाहरण हेतु के २२ भेदों का विशद वर्णन, बौद्धों के प्रति कारणहेतु की सिद्धि, आगमप्रमाण का लक्षण और शब्द में वस्तु प्रतिपादन की शक्ति का वर्णन है।

चतुर्थ समुद्देश—इसमें प्रमाण के सामान्य-विशेष उभयरूप विषय की सिद्धि करते हुए सामान्य और विशेष के दो दो भेदों का उदाहरणसहित प्रतिपादन किया गया है।

पञ्चम समुद्देश—इसमें प्रमाण के फल को बतलाकर प्रमाण से फल में कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता सिद्ध की गई है।

षष्ठ समुद्देश—इसमें प्रमाणाभासों का विशद वर्णन है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभास, के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेदों का उदाहरणसहित वर्णन, दृष्टान्ताभास, दृष्टान्ताभास के भेद, बालप्रयोगाभास, आगमाभास, संख्याभास, विषयाभास, फलाभास तथा वादी और प्रतिवादी की जयपराजय की कसौटी का प्रतिपादन किया गया है।

परीक्षामुख की टीकाएँ

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड

आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर १२ हजार श्लोकप्रमाण प्रमेयकमलमार्तण्ड नाम की बृहत् टीका लिखी है। यह जैनन्यायशास्त्र का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका नाम ही इस बात को ख्यापित करता है कि यह

ग्रन्थ प्रमेयरूपी कमलों के लिए मार्तण्ड (सूर्य) के समान है। इसे लघु अनन्तवीर्य ने उदार चन्द्रिका (चाँदनी) की उपमा दी है और अपनी रचना प्रमेयरत्नमाला को प्रमेयकमलमार्तण्ड के सामने खद्योत (जुगुनू) के समान बतलाया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड कितना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अकेले प्रमेयकमलमार्तण्ड के अध्ययन से समस्त भारतीय दर्शनों का विशद ज्ञान हो सकता है।

२ प्रमेयरत्नमाला

लघु अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर प्रसन्नरचना-शैली में प्रमेयरत्नमाला नाम की लघु टीका लिखी है। अनन्तवीर्य के सामने यद्यपि प्रभाचन्द्र की विशाल रचना (प्रमेयकमलमार्तण्ड) विद्यमान थी, फिर भी इस न्याय के अथाह सागर में से, नदी में से एक घट में भरे हुए जल की तरह, उन्हीं के वचनों को संक्षेप में अपूर्व रचना से अलंकृत करके इस ढङ्ग से रक्खा है कि वे न्याय-जिज्ञासुओं के चित्त को आकर्षित करने लगे हैं। संभवतः इसका नाम पहले लघुवृत्ति रहा है, बाद में इसके महत्त्व के कारण इसका नाम प्रमेयरत्नमाला हो गया हो। वास्तव में यह प्रमेयरूपी रत्नों की माला ही है। स्वयं अनन्तवीर्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी लिखी जानेवाली टीका को 'परीक्षामुख-पञ्जिका' के नाम से निर्देश किया है[2] और प्रत्येक समुद्देश के अन्त में जो ऐसे पुष्पिका-वाक्य मिलते हैं जिनके अनन्तवीर्य-लिखित होने की ही अधिक सम्भावना है उनमें उन्होंने अपनी टीका को परीक्षामुख लघुवृत्ति कहा है[3]।

इसमे समस्त दर्शनों के विशिष्ट प्रमेयों का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि परीक्षामुख की तरह प्रमेयरत्नमाला का विषय भी प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रतिपादन ही है, किन्तु प्रमेयों के प्रतिपादन के विना प्रमाण की चर्चा अधूरी ही रह जाती है। अतः प्रमाण के विभिन्न अङ्गों की चर्चा के समय प्रकरणप्राप्त विभिन्न प्रमेयों का वर्णन उचित ही है। प्रमेयकमलमार्तण्ड में जिन विषयों का विस्तार से वर्णन है उन्हीं का संक्षेप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करना प्रमेयरत्नमाला की विशेषता है।

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति ।
माहृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ —प्रमेयरत्नमाला

२. देखो प्रस्तुत संस्करण का पृ० ५

३ देखो प्रमेयरत्नमाला के प्रत्येक समुद्देश की अन्तिम पुष्पिकाएँ।

३ प्रमेयरत्नालङ्कार

यह टीका भट्टारक चारुकीर्ति द्वारा परीक्षामुख के सूत्रों पर लिखी गई[1] है। परीक्षामुख के समान इसके भी छह परिच्छेद हैं। यह आकार में प्रमेयरत्नमाला से भी बड़ी है और इसमें कुछ ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है जो प्रमेयरत्नमाला में उपलब्ध नहीं हैं। यह रचना प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के मध्य का एक ऐसा सोपान है जिसके द्वारा न्यायशास्त्र के भवन पर आसानी से चढ़ा जा सकता है। इसकी हस्तलिखित प्रति जैन-सिद्धान्तभवन आरा में उपलब्ध है।

४ प्रमेयकण्ठिका

इसकी हस्तलिखित प्रति भी उक्त भवन में ही पाई जाती है। इसे परीक्षामुख की टीका तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह परीक्षामुख के प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' पर श्री शान्तिवर्णी द्वारा लिखी गई एक स्वतंत्र कृति है[2]। यह ग्रन्थ पाँच स्तबकों में विभक्त है और इसमें प्रमेयरत्नमालान्तर्गत कुछ विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यह अप्रकाशित है।

प्रमेयरत्नमाला का प्रतिपाद्य विषय--

प्रथम समुद्देश—सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन, इष्टदेव को नमस्कार की सिद्धि, प्रमाण के लक्षण में प्रदत्त प्रत्येक विशेषण की सार्थकता बतलाकर 'प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है' मीमांसकों की ऐसी मान्यता का निराकरण करके अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।

द्वितीय समुद्देश—चार्वाकाभिमत प्रत्यैक्षकप्रमाणता का निरास करके अनुमान में प्रामाण्य बतलाते हुए, 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं' बौद्धों की ऐसी मान्यता का निराकरणपूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान

---

१. श्रीचारुकीर्तिधुर्यस्सन्तनुते पण्डितार्यमुनिवर्यः।
व्याख्यां प्रमेयरत्नालङ्काराख्यां मुनीन्द्रसूत्राणाम् ॥

२. परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्याथ विवृण्महे।
इति श्रीशान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां ......स्तबकः।

और तर्क की प्रामाणिकता का विस्तार से विवेचन किया गया है। सांव्य-वहारिक प्रत्यक्ष के वर्णन में मतिज्ञान के ३३६ भेदों का प्रतिपादन किया गया है। 'कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है' इस विषय में मीमांसकों के पूर्वपक्ष का विवेचन करते हुए युक्ति और प्रमाणपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। 'ईश्वर सृष्टिकर्ता है' नैयायिक-वैशेषिक के इस सिद्धान्त का पूर्वपक्ष बतलाकर उनके द्वारा प्रयुक्त कार्यत्व हेतु में अनेक विकल्पों का उद्भावन और उनमें दोषोद्भावन करके सप्रमाण सृष्टिकर्तृत्व का निराकरण किया गया है। और अन्त में 'एकमात्र ब्रह्म ही तत्त्व है' इस विषय में मीमांसकों के पूर्वपक्ष का प्रदर्शनपूर्वक उनकी उक्त मान्यता का सप्रमाण निरास किया गया है।

तृतीय समुद्देश—परोक्ष प्रमाण के स्मृति आदि भेदों का स्वरूप बतलाते हुए, नैयायिकादि के द्वारा माने गए उपमान का प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करके हेतु लक्षण के प्रकरण में बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाञ्चरूप्य का निराकरण किया गया है। आगम प्रमाण के लक्षण के प्रकरण में 'प्रत्येक गकारादि वर्ण नित्य, एक और व्यापक हैं तथा वेद अपौरुषेय है' मीमांसकों की इस मान्यता के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का विवेचन करते हुए उत्तरपक्ष में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि गकारादिवर्ण अनित्य, अनेक और अव्यापक हैं तथा आगम या वेद पौरुषेय है। और अन्त में बौद्धाभिमत अन्यापोह का निराकरण करते हुए शब्द में अर्थ की वाचकता को सिद्ध किया गया है।

चतुर्थ समुद्देश—सांख्यों ने प्रधान को सामान्यरूप मानकर इससे सृष्टि का क्रम माना है। वृत्तिकार ने सांख्यों की इस मान्यता का निराकरण करके सिद्ध किया है कि प्रधान से सृष्टि की उत्पत्ति संभव नहीं है। बौद्धों का सिद्धान्त है कि विशेष (स्वलक्षण) ही तत्त्व है। ये विशेष परस्पर-असम्बद्ध, क्षणिक एवं निरन्वय हैं। बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण करते हुए अवयवी की सिद्धि तथा क्षणिकत्व के निराकरणपूर्वक निरन्वय विनाश का खण्डन किया गया है। वैशेषिकों ने माना है कि सामान्य और विशेष दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। इस मान्यता का निराकरण करके जीवादि पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध किया गया है। वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक मानने में नैयायिक-वैशेषिक द्वारा दिए गए विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, सङ्कर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों का निराकरण

किया गया है। तथा समवाय नामक पृथक् पदार्थ का खण्डन किया गया है। पर्याय नामक विशेष के निरूपण में 'आत्मा व्यापक है अथवा अणु परिमाण है' इन दोनों मान्यताओं का निराकरण करके आत्माको स्वदेह परिमाण सिद्ध किया गया है। और अन्त में 'पृथिवी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है' चार्वाक की इस मान्यता का निराकरण करके आत्मा को अनादि सिद्ध किया गया है।

षष्ठ समुद्देश—सूत्रोक्त प्रमाणाभासों का यथास्थान आवश्यक विवेचन करते हुए अन्त में संक्षेप से सात नयों का स्वरूप बतलाकर वादलक्षण और पत्रलक्षण के स्वरूप की भी चर्चा की गई है।

सूत्रकार माणिक्यनन्दी

व्यक्तित्व और कार्य

आचार्य माणिक्यनन्दी जैनन्याय के आद्य सूत्रकार हैं। ये नंदिसंघ के प्रमुख आचार्य थे। धारा नगरी इनका निवासस्थल रही है ऐसा टिप्पणकार ने अपनी उत्थानिका में स्पष्ट उल्लेख किया है। माणिक्यनंदी ने अकलङ्क के ग्रंथरूपी समुद्र का मंथन तो किया ही था और इसी का फल न्यायविद्यारूपी अमृत (परीक्षामुख) है। साथ ही परीक्षामुखसूत्रों में लौकायतिक (चार्वाक), बौद्ध, सांख्य, यौग (न्याय-वैशेषिक), प्राभाकर, जैमिनीय, और मीमांसकों के नामोल्लेखपूर्वक उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन से इतर दर्शनों के विशिष्ट ज्ञान का भी पता चलता है।

शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके के शिलालेख नं० ६४ के एक श्लोक में माणिक्यनन्दी को जिनराज लिखा है[१]।

न्यायदीपिका में इनका भगवान् के रूप मे उल्लेख किया गया है[२]। प्रभाचन्द्र ने इनको गुरु के रूप मे स्मरण किया है तथा इनके पदपङ्कज के प्रसाद से ही प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना करने का संकेत दिया है। इससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का आभास मिलता है। वास्तव में माणिक्य-

---

१. माणिक्यनन्दीजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपि ॥

२. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः। —न्यायदीपिका

नन्दी जैनन्याय के भण्डार में अपने परीक्षामुखरूपी माणिक्य को जमा करके सदा के लिए अमर हो गए हैं।

इनकी एकमात्र कृति परीक्षामुख है। किन्तु यह एक असाधारण और अपूर्व कृति है। माणिक्यनन्दी की यह एक मात्र रचना न्याय के सूत्रग्रन्थों में अपना असाधारण स्थान एवं महत्त्व रखती है। यह अकलङ्क के वचनरूपी समुद्र से निकला हुआ न्यायविद्यामृत है।

समय

प्रमेयरत्नमालाकार के उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दी अकलङ्क के उत्तरवर्ती हैं। अकलङ्क का समय ७२० से ७८० ई० सिद्ध किया गया है तथा प्रज्ञाकरगुप्त (७२५ ई०), प्रभाकर (८ वीं श०) आदि के सिद्धान्तों का खण्डन परीक्षामुख में है। अतः माणिक्यनन्दी की पूर्वावधि ८०० ई० निर्बाध सिद्ध होती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक टीका लिखी है। प्रभाचन्द्र का समय ईसा की दशवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। अतः माणिक्यनन्दी की उत्तरावधि ईसा की दशवीं शताब्दी सिद्ध होती है।

आ० माणिक्यनन्दी के समय-निर्धारण में सहायक उक्त सर्व अनुमानों के पश्चात् उनके समय का जो सब से अधिक निश्चित आधार मिला है, उसके अनुसार उनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

आ० नयनन्दी ने अपने सुदर्शनचरित को वि० सं० ११०० में धारानरेश भोजदेव के समय में पूर्ण किया है। उन्होंने अपने को आ० माणिक्यनन्दी का जगद्विख्यात प्रथम शिष्य बतलाया है। आ० नयनन्दी की उक्त प्रशस्ति का वह अंश इस प्रकार है—

> जिणिदागमब्भासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाइ लद्धाइजुत्तो।
> णरिंदामरिंदाहिवाणंदवंदी हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी॥
> असेसाण गंथंमि पारंमि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
> गुणायासभूवो सुल्लोक्कणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी॥
> पढम सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदी अणिंदियउ।
> चरिउं सुदंसणणाहहो तेण अवाहृ हो विरइउं बुह अहिणंदिउ॥

× × ×

णिव विक्कमकालहो ववगएसु एयारह संवच्छरसएसु ।
तहिं केवलिचरिउं अमरच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण ॥

उक्त प्रशस्ति का भाव यह है कि आ० कुन्द-कुन्द की सन्तान में जिनेन्द्र-आगम के विशिष्ट अभ्यासी, तपस्वी गणी रामनन्दी हुए। उनके शिष्य महा-पण्डित माणिक्यनन्दी हुए—जो कि सर्व ग्रन्थों के पारगामी थे। उनके प्रथम शिष्य नयनन्दी ने वि० सं० ११०० में सुदर्शनचरित को रचा।

आ० माणिक्यनन्दी के प्रथम शिष्य ने जब अपनी रचना वि० सं० ११०० में पूर्ण की, तब उनसे उनके गुरु को कम से कम २५ वर्ष वय में अधिक होना ही चाहिए। इस प्रकार उनका समय निर्बाधरूप से विक्रम की ११वीं शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है। प्रमेयकमलमार्तण्डकार आ० प्रभाचन्द्र ने अपने को जो 'माणिक्यनन्दी के पद में रत'[1] कहा है, वह उनके साक्षात् शिष्यत्व को प्रकट करता है। साथ ही उससे यह भी ज्ञात होता है कि आ० प्रभाचन्द्र अपनी प्रमुख रचनाएँ अपने गुरु श्रीमाणिक्यनन्दी के सामने ही कर चुके थे।

परीक्षामुख के सूत्रों की तुलना

सूत्रकार आ० माणिक्यनन्दी के सम्मुख जो विशाल दार्शनिक सूत्र-साहित्य उपलब्ध था, उसे देखते हुए उनके हृदय में भी जैनन्याय पर इसी प्रकार के एक सूत्र-ग्रन्थ की रचना का भाव उदित हुआ और उन्होंने आ० अकलङ्क-देव के दार्शनिक प्रकरणों का मन्थन कर अपने सूत्रग्रन्थ परीक्षामुख की रचना की। यद्यपि उसकी रचना का प्रधान आधार समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलङ्क के ही ग्रन्थ हैं, तथापि सूत्र-रचना में—खास कर हेतु के भेद-प्रभेदों के बतलाने में—उन्होंने अपने पूर्व-वर्त्ती बौद्ध ग्रन्थ न्याय-बिन्दु का भी

---

१. गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दिताद्दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥ ३ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरो जीयाद् रत्ननन्दिपदे रतः ॥ ४ ॥
—प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रशस्ति

भर-पूर उपयोग किया है। यह बात नीचे की गई तुलना से पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

न्यायबिन्दु	परीक्षामुख
१ नात्र शीतस्पर्शो धूमात् (द्वि. प.)	नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ३।७३
२ नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः (द्वि. प)	नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ३।७२
३ नात्र शिंशपा वृक्षाभावात् (द्वि. प.)	नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ३।८०
४ नात्र धूमोऽग्न्यभावात् (द्वि प.)	नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ३।८२
५ नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात्। (द्वि. प)	नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः। ३।८१
६ स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति (तृ प.)	इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ३।२०
७ यथा वाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः (तृ. प)	तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ६।२६
८ यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः (तृ. प)	शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिति ६।३३
९ नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति (तृ. प.)	अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ६।४१
१० वैधर्म्येणापि परमाणुवत् कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः (तृ. प.)	व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ६।४४

इसी प्रकार आ० माणिक्यनन्दी से पीछे होने वाले श्वेताम्बर आचार्य देवसूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोक की रचना परीक्षामुख को सामने रख कर की है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अधिकांश सूत्रों का अनुवाद पर्यायवाची शब्दों के द्वारा ही किया है। और परीक्षामुख के अन्तिम सूत्र से जिस नय, वाद आदि के जानने की सूचना आ० माणिक्यनन्दी ने की थी, उसके लिए दो स्वतन्त्र परिच्छेद बनाकर अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है।

आ० हेमचन्द्र तो देवसूरि के भी पीछे हुए हैं। उन्होंने प्रमाणमीमांसा के सूत्रों की रचना भी परीक्षामुख के सूत्रों को लक्ष्य में रख कर की है। यद्यपि आज वह पूरी उपलब्ध नहीं है फिर भी जितना अंश प्राप्त है उससे मिलान करने पर परीक्षामुख के अनुकरण की बात हृदय पर अङ्कित होती ही है। यहाँ पर परीक्षामुख के सूत्रों के साथ उक्त दोनों ग्रन्थों के कुछ सूत्रों की तुलना की जा रही है। पूरे ग्रन्थ के सूत्रों की तुलना के लिए पाठक परिशिष्ट देखें।

परीक्षामुखसूत्राणि	विभिन्नग्रन्थसूत्राणि
१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् (१।१)	स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् (प्र. न. त १।२) सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् (प्रमा. मी. १।१।२)
२ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च (१।१३)	तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च (प्र न. त. १।१९) प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा (प्रमा मी. १।१।८)
३ विशदं प्रत्यक्षम्। (२।३)	स्पष्टं प्रत्यक्षम् (प्र न. त २।२) विशदः प्रत्यक्षम् (प्रमा. मी. १।१।१३)
४ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् (२।११)	सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्। (प्र न त २।२३) तत्सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् (प्रमा. मी १।१।१५)
५ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः (३।३)	तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं अनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् (प्र. न त. ३।३) वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः (प्रमा मी १।२।३)

परीक्षामुखसूत्राणि	विभिन्नग्रन्थसूत्राणि
६ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् (३।२०)	अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् । (प्र. न. त. ३।१४) सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः (प्रमा. मी. १।२।१३)
७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् (३।३७)	पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् (प्र. न त. ३।२८) न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् (प्रमा. मी. १।२।१८)
८ हेतोरुपसंहार उपनयः (३।५०)	हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः (प्र. न. त. ३।४९) धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः (प्रमा. मी. २।१।१४)
९ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् (५।१)	तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् । पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् । शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः (प्र. न. त ६।३,४,५) अज्ञाननिवृत्तिर्वा । हानादिबुद्धयो वा (प्रमा. मी १।१।३८,४०)
१० अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् (६।४१)	तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वात् दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः । तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः । कलशवदित्युभयधर्मविकलः । (प्र. न. त. ६।६०,६१,६२) अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाणुघटाः साध्यसाधनोभय विकलाः । (प्रमा. मी. २।१।२३)

वृत्तिकार अनन्तवीर्य

व्यक्तित्व और कार्य

जैनन्याय के साहित्य में दो अनन्तवीर्य का नाम मिलता है। इनमें से एक अनन्तवीर्य ने अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' की टीका लिखी है। प्रभाचन्द्र ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' में इनका स्मरण किया है और 'प्रमेयरत्नमाला' में अनन्तवीर्य ने प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि दोनों अनन्तवीर्य भिन्न हैं। उत्तरकालवर्ती होने से प्रमेयरत्नमाला के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य के नाम से भी कहा जाता है। अपने टिप्पण के प्रारम्भ में टिप्पणकार ने इनका लघु अनन्तवीर्यदेव के नाम से ही उल्लेख किया है। इन्होंने परीक्षामुख के सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु विशद व्याख्या की है। साथ ही चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्तदर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन एवं निराकरण किया है। इससे इनके गम्भीर पाण्डित्य का पता चलता है।

इनकी एक मात्र कृति प्रमेयरत्नमाला है। किन्तु यह एक ऐसी माला है जो कभी टूटने वाली नहीं है। यद्यपि इसकी रचना व्यक्तिविशेष के निमित्त से की गई है, तथापि यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को सर्वदा न्यायशास्त्र का बोध कराता रहेगा। इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी टीका को 'परीक्षामुख-पञ्जिका' कहा है और प्रत्येक समुद्देश के अन्त में दी गई पुष्पिकाओं में इसे 'परीक्षामुख-लघुवृत्ति' कहा है।

प्रमेयरत्नमाला की रचना में निमित्त

आचार्य अनन्तवीर्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा अन्तिम प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि इन्होंने इस टीका की रचना वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिषेण के पठनार्थ की है। प्रशस्ति में वैजेय के ग्रामादि का कोई निर्देश नहीं है, पर उन्हें बदरीपाल वंश या जाति का ओजस्वी सूर्य कहा है। उनकी पत्नी का नाम नाणाम्बा था, जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण रेवती, प्रभावती आदि नामों से उस समय संसार में प्रसिद्ध थीं। उनके दानवीर हीरप नामक पुत्र हुआ जो सम्यक्त्वरूप आभरण से भूषित था और जो लोकहितकारी कार्यों को करने के लिए प्रसिद्ध था। उनके आग्रह से संभवतः उन्हीं के पुत्र शान्तिषेण के पढ़ने के लिए इस लघुवृत्ति की रचना की गई है। और उनके

निमित्त से की गई यह रचना आज जैनन्याय का अध्ययन करने के लिए सर्व-साधारण की पाठ्यपुस्तक के रूप में आदरणीय एवं पठनीय हो रही है।

समय—

यह निश्चित है कि प्रमेयरत्नमाला की रचना प्रमेयकमलमार्तण्ड के बाद हुई है। इसका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्य ने किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इधर आचार्य हेमचन्द्र (वि० ११४५ से १२३०) की प्रमाणमीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से प्रमेयरत्नमाला का पूरा पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथा प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का प्रभाव प्रमेयरत्न-माला पर है।[1] अतः अनन्तवीर्य का समय प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र के बीच का सिद्ध होता है। इस प्रकार अनन्तवीर्य का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य के समय का यही अनुमान किया है जो उचित प्रतीत होता है। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य के समय का यही अनुमान किया है।

प्रमेयरत्नमाला का टिप्पण

परीक्षामुख की इस लघुवृत्ति की रचना संक्षिप्त होने के कारण अनेक स्थलों पर दुरूह है और कितने ही विषयों का तो केवल नाम-निर्देश ही किया गया है। उन सब स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए एक टिप्पण ग्रन्थ की आवश्य-कता थी। संभवतः इसीलिए टिप्पणकार ने प्रत्येक कठिन और संक्षिप्त स्थल पर सरल और विस्तृत टिप्पण देकर इस वृत्ति को सर्व प्रकार से सुबोध बनाने का प्रयास किया है। यही कारण है कि प्रमेयरत्नमाला के परिमाण के बराबर ही इस टिप्पण का भी परिमाण हो गया है। यदि यह टिप्पण न रचा गया होता तो प्रमेयरत्नमाला के कितने ही स्थलों का अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती।

---

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
माहशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ ३ ॥
—प्रमेयरत्नमाला पृ० ४

प्रमेयरत्नमाला की विभिन्न प्रतियों में अनेक प्रकार के टिप्पण पाये जाते हैं। पर प्रस्तुत संस्करण में जो टिप्पण मुद्रित है वह सबसे प्राचीन, विस्तृत एवं स्पष्ट है। परिमाण में भी यह अन्य टिप्पणों से अधिक है अतः इसे ही प्रस्तुत संस्करण में दिया गया है[1]।

टिप्पणकार

यद्यपि इस टिप्पण के रचयिता ने इसके आदि या अन्त में कहीं पर भी अपने नाम आदि का कोई संकेत नहीं दिया है पर जब हम अष्टसहस्री के टिप्पण के साथ इस टिप्पण की तुलना करते हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि जो लघु समन्तभद्र अष्टसहस्री के टिप्पणकार हैं वे ही इस प्रमेयरत्नमाला के भी टिप्पणकार हैं। अपने कथन की पुष्टि में हम नीचे कुछ अवतरण दे रहे हैं जिससे कि पाठक स्वयं ही दोनों के एककर्तृत्व को स्वीकार करने में सहमत हो सकेंगे।

(१) अष्टसहस्री में टिप्पण प्रारंभ करते हुए जो उत्थानिका दी गई है वह इस प्रकार है—

इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नतः स्याद्वादविद्यागुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत्। तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादभासितसत्यवाक्यगिरां चातुरीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः 'श्रीवर्धमानमित्यादि' (अष्टसहस्री० पृ० १ टि०)

---

१. इसकी एक मात्र प्रति ललितपुर (उ० प्र०) के दि० जैन बड़ा मन्दिर के शास्त्रभण्डार में आज से ४० वर्ष पूर्व तक उपलब्ध थी। दुःख है कि किसी भले आदमी ने उसे ले जाकर वापिस नहीं लौटाया है। यदि किसी महानुभाव के पास यह प्रति हो तो वे उसे उक्त मन्दिर को वापिस लौटाने की कृपा करें।

—सम्पादक

अब ऊपर के सन्दर्भ का प्रमेयरत्नमाला के इस निम्न सन्दर्भ से मिलान कीजिए—

इह हि पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलि-सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वन्तोऽमन्दतो निरवद्यस्याद्वादविद्यानर्तकीनाट्याचार्यैकप्रवीणाः सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणाः कविगमकवादिवाग्मित्वलक्षणचतुर्विधपाण्डित्यजिज्ञासापिपासाजिहासया विनय-विनतविनेयजनसहितनिजानुभवाः श्रीमदकलङ्कदेवाः प्रादुरासन् । तैश्च सप्त प्रकरणानि विरचितानि । × × × तेषामतिविषमत्वान्मन्दधियामवगन्तुमशक्य-त्वात् तद्-बुद्ध्युत्पादनार्थं तदर्थमुद्धृत्य धारानगरीवासनिवासवासिनः श्रीमन्मा-णिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षामुखाख्यं प्रकरणमारचयाम्बभूवुः ।

—प्रमेयरत्नमाला पृ० १ टि०

दोनों सन्दर्भों के रेखाङ्कित वाक्य शब्दशः समान हैं । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य समताएँ भी द्रष्टव्य हैं—

(२) 'विवर्त' शब्द की परिभाषा देते हुए अष्टसहस्री पृ० ११ टिप्पणाङ्क ४२ पर यह श्लोक पाया जाता है—

पूर्वाकारापरित्यागादुत्तरः प्रतिभाति चेत् ।
विवर्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥

ठीक यही श्लोक प्रमेयरत्नमाला के पृ० १२३ के टिप्पणाङ्क ११ में दिया हुआ है ।

(३) अष्टसहस्री पृ० १९ टिप्पणाङ्क १६ पर 'भावना' की परिभाषा में यह श्लोक कोष्ठकादि पाठ के साथ पाया जाता है—

तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रष्टव्यादेः) ।
प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥

ठीक इसी प्रकार से यही श्लोक प्रमेयरत्नमाला पृ० २२३ के टिप्पणाङ्क २ में भी पाया जाता है ।

(४) जिस प्रकार से अष्टसहस्री के टिप्पण में 'सौगतमतमाशङ्क्य' इत्यादि उत्थानिका वाक्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार से प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणों में भी इस प्रकार के वाक्य स्थल-स्थल पर देखने में आते हैं ।

(५) जिस प्रकार से अष्टसहस्री के टिप्पण के आदि या अन्त में कहीं भी टिप्पणकार ने अपने नाम आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है, उसी प्रकार

से प्रमेयरत्नमाला के इस प्रस्तुत टिप्पण में नाम आदि का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता।

इन सब कारणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों के टिप्पणकार एक ही व्यक्ति हैं। प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणकार 'अष्टसहस्री' से भलीभाँति परिचित थे, यह उनके पृ० १२७ पर आये हुए 'देवागमालङ्कारे' पद पर टिप्पणी में 'अष्टसहस्री' के नामोल्लेख से ही सिद्ध है।

प्रमेयरत्नमाला के प्रस्तुत टिप्पण पर आद्योपान्त एक दृष्टि डालने पर टिप्पणकार की जो विशेषताएँ विशेष रूप से चित्त पर अङ्कित होती हैं, उनसे उनके अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है। वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं---

१. प्रमेयरत्नमाला में आये हुए प्रायः सभी अनुमान प्रयोगों या लक्षणों के प्रत्येक पद की सार्थकता को बतलाना।

२. प्रायः नाम मात्र से सूचित पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ देना।

३. सूत्र या वृत्तिगत प्रत्येक वस्तु तत्त्व का अर्थ प्रकट करना।

४. अपने कथन की पुष्टि में शास्त्रीय प्रमाणों का उल्लेख करना।

टिप्पणकार कौन ?

टिप्पण-सम्बन्धी उक्त विशेषताओं के जान लेने के पश्चात् स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसके रचयिता कौन आचार्य हैं ? प्रयत्न करने पर भी इसका कोई लिखित प्रमाण हमें नहीं मिल सका। किन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है यतः अष्टसहस्री के टिप्पण के साथ प्रस्तुत टिप्पण का अतीव साम्य दृष्टिगोचर होता है–अतः यही अनुमान होता है कि अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघु समन्तभद्र ही इसके भी रचयिता हैं। पूना के गवर्नमेन्ट पुस्तकालय में अष्टसहस्री की जो प्राचीन प्रति उपलब्ध है उसमें टिप्पणकार के रूप में 'लघु समन्तभद्र' का नाम दिया हुआ है। ये कर्णाटिक प्रान्त के निवासी थे, यह बात प्रमेयरत्नमाला के पृ० ९४ के टिप्पणाङ्क १० में दिये गये 'कर्णाटक भाषायां मारि' वाक्य से सिद्ध है। इनके टिप्पण को देखते हुए यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि टिप्पणकार सभी मत-मतान्तरों के विशिष्ट अभ्यासी थे।

हिन्दी वचनिका

प्रमेयरत्नमाला की हिन्दी वचनिका ढूँढारी (राजस्थानी) भाषा में आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व श्रीमान् पं० जयचन्द्र जी छावड़ा ने की थी जो कि आज से

लगभग ४० वर्ष पूर्व श्रीअनन्तकीर्त्तिग्रन्थमाला बम्बई की ओर से मुद्रित हो चुकी है। पं० जी की उक्त वचनिका को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनके सामने भी यही टिप्पण था जो कि प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित है। इसका प्रमाण यह है कि जो उत्थानिका इस टिप्पण के प्रारम्भ में दी गई है उसी के अनुवाद रूप में उन्होंने भी अपनी वचनिका प्रारम्भ की है। तथा स्थान-स्थान पर जो उन्होंने भावार्थ दिये हैं उससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। पं० जी जैनसिद्धान्त और न्याय के मर्मज्ञों में थे। अन्य वचनिकाओं के समान उनकी यह वचनिका भी ग्रन्थ के मर्म को प्रकट करती है। इसकी रचना उन्होंने वि० सं० १८६३ के आषाढ़ सुदी चतुर्थी को पूर्ण की है यह बात उनकी अन्तिम प्रशस्ति से प्रकट है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
दीपावली-श्रीवीरनिर्वाण
सम्वत् २४९०

उदयचन्द्र जैन

सम्पादकीय

आज से ४५ वर्ष पूर्व जब मैं पढ़ रहा था, उसी समय मेरे पूज्य गुरुवर श्री पं० घनश्याम दास जी न्यायतीर्थ को दि० जैन बड़ा मन्दिर, ललितपुर से १५वीं शताब्दी की अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित 'प्रमेयरत्नमाला' की शुद्ध प्रति प्राप्त हुई थी, जिस पर अज्ञातनामा विद्वान् की एक सुविस्तृत टिप्पणी भी लिखी थी। पूज्य गुरुवर उसी शुद्ध प्रति से हमलोगों को प्रमेय-रत्नमाला पढ़ाते थे। अध्ययन काल में ही मैंने अपनी मुद्रित पुस्तक को उस हस्तलिखित प्रति से शुद्ध कर लिया था और उसकी टिप्पणी को भी यथावत् प्रतिलिपि कर के रख लिया था, जो आज पाठक के समक्ष छप कर प्रस्तुत है।

आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन तथा उनके संकलन, संवर्धन, संपादन, अनुवाद आदि करने में पूज्य गुरुजी विशेष रुचि रखते थे। उस समय गुरुजी के पद्म-पुराण' का अनुवाद समाप्त हो रहा था। तदनु वे 'अष्टसहस्री'[1] का अनुवाद करने का विचार कर रहे थे। गुरुजी की कृपा विशेष मेरे ऊपर रहती थी। 'प्रमेयरत्नमाला' के कथा-प्रसंग में एक दिन गुरुजी ने कहा— 'देखो हीरा, 'अष्टसहस्री' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अनुवाद में अधिक समय लग सकता है, मैं स्थविर हो चुका हूं, अतः इस अनुवाद की चर्चा अभी लोगों में मत करना?' यह सुनकर मैंने कहा—'तो गुरुजी प्रमेयरत्नमाला का ही अनुवाद कर दीजिए। इससे तो हमलोगों को भी पठन-पाठन में सुविधा होगी।' यह सुनते ही गुरुजी बोल उठे—'अरे, इसका अनुवाद हम क्या करें—इसे तो अब तू ही पूरा करेगा।'

मैं नजर नीची करके आनन्द से गद्गद हो कर चुप रह गया और मन में कहा—'सत्यं भवतु त्वद्वचः।'

---

१. 'अष्टसहस्री' आचार्य विद्यानन्दिरचित जैनन्याय का महत्त्वपूर्ण क्लिष्ट ग्रंथ है। राष्ट्रपति डॉ० सर राधाकृष्णन् महोदय ने इस ग्रन्थ को दार्शनिक ग्रन्थों में मूर्धन्य माना है। कहा भी है :—

'श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥'

यहां यह लिखते हुए नेत्र अश्रु-सिक्त हो रहे हैं—कि मेरे, पठन-कालके समाप्त होने के कुछ समय बाद ही पूज्य गुरुजी का स्वर्गवास हो गया और उनका प्रारम्भ किया हुआ अष्टसहस्री का अनुवाद पूरा नहीं हो सका।

सन् १९२४ में जब मैं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी का धर्माध्यापक था—तो मैंने दीपावली के शुभ अवसर पर प्रमेयरत्नमाला को टिप्पणी-सहित प्रकाशित करने का विचार किया था, किन्तु उसी समय १३ नवम्बर को मेरे ज्येष्ठ मझले भाई का अचानक स्वर्गवास होगया और मेरे सभी अरमानों पर पानी पड़ गया। प्रमेयरत्नमाला का कार्य जहां का तहां रह गया।

सन् २८२९ में जब मैं भा० व० दि० जैन महाविद्यालय ब्यावर में धर्माध्यापक और श्वे० जैन संस्था में न्यायाध्यापक नियुक्त हुआ तब मुझे आ० हेमचन्द्र-रचित प्रमाणमीमांसा को पढ़ाते हुए प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद करने का भाव उदित हुआ। इसका कारण यह था कि प्रमाणमीमांसा के मूल सूत्रों की रचना परीक्षामुख के सूत्रों को[1] सामने रखकर और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रमेयरत्नमाला को पल्लवित करते हुए शब्द-परिवर्तन के द्वारा की गई है फिर भी उस ग्रन्थ को आ० हेमचन्द्र पूरा नहीं कर सके या किया भी होगा तो वह आज कहीं भी पूरा उपलब्ध नहीं है। प्रारम्भ का डेढ़ अध्याय मात्र ही उपलब्ध एवं मुद्रित है। यतः अभ्यासियों को संक्षेपरूप में अधिक परिचय प्रमेयरत्नमाला से ही प्राप्त होता है, अतः मैंने भी श्वे० संस्था में इसकी उपयोगिता बतलाई। वहा के अधिकारी श्री पूनमचन्द्रजी ने कहा—पहले आप न्याय के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोक[2] का अनुवाद कर दीजिए। मैंने तभी उसका अनुवाद करके संस्था को दे दिया और वर्षों तक उस संस्था में उसी हस्त-लिखित कापी से पठन-पाठन होता रहा।

उसके कुछ दिनों पश्चात् दि० जैन महाविद्यालय में न्याय का एक पाठ पढ़ाने को मुझे दिया गया और तब मैंने प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद का कार्य प्रारंभ कर दिया। परन्तु शायद यह कार्य तब दैव को स्वीकार नहीं था और

---

१. इन दोनों ग्रन्थों के कुछ सूत्रों की तुलना प्रस्तावना में की गई है और विस्तृत तुलना परिशिष्ट में की गई है।

२. इसकी रचना भी परीक्षामुख के सूत्रों का शब्द-परिवर्तन के साथ श्वे० आ० वादिदेव सूरि ने की है। इसकी भी तुलना प्रस्तावना और परिशिष्ट में की गई है।

अकस्मात् ही मैंने स्थान-परिवर्तन कर लिया और वह कार्य तथैव रह गया।

इसके पश्चात् सिद्धान्त के महान् ग्रन्थराज धवल-जयधवल के सम्पादन, प्रकाशन आदि कार्यों में मैं इतना व्यस्त होगया और गार्हस्थिक विकट संकटों से ऐसा जूझ गया कि पूरे ३० वर्ष तक मैं प्रमेयरत्नमाला के अनुवाद को आगे बढ़ा नहीं सका – वह ज्यों का त्यों पड़ा रह गया।

वीर-सेवा मन्दिर में रहते समय जब उसके संस्थापक ने मेरे अन्यतम प्रिय शिष्य श्री दरबारीलाल जी कोठिया, न्यायाचार्य को उत्तराधिकारी बनाया तब मैंने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—लोग श्री कोठिया जी का स्वागत पुष्पमालाओं से कर रहे हैं—पर मैं उन्हें 'प्रमेयरत्नमाला' से सम्मानित करता हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी चिर-अभिलषित वस्तु उनके द्वारा शीघ्र प्रकाश में आवेगी। मेरी हार्दिक भावना थी कि यह कार्य उनके ही द्वारा सम्पन्न हो, पर योगायोग से वैसा नहीं हो सका इसका मुझे खेद है।

इस बीच प्रमेयरत्नमाला अप्राप्य हो गई और परीक्षा के पाठ्यक्रम में निहित होने के कारण उसकी चारों ओर से मांग होने लगी। मेरे जिन परमस्नेही अन्तरङ्ग मित्रों को मेरे पास टिप्पण होने आदि की बात ज्ञात थी और जब मैं अध्यापनादि कार्यों से विमुक्त होकर अपनी जन्मभूमि में रहते हुए भविष्य के निर्माण में संलग्न था बार-बार प्रेरणा के पत्र पहुँचने लगे कि आप सानुवाद प्रमेयरत्नमाला को प्रकाशित कर दीजिए, तब मैं प्रमेयरत्नमाला की पाण्डुलिपि लेकर काशी आया और चौखम्बा-संस्कृत सीरीज के अधिकारियों से मिला और यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि उन्होंने बड़े हर्ष और उल्लास के साथ अपने चौखम्बा विद्याभवन में संस्कृत ग्रन्थमाला से प्रकाशन की स्वीकृति दे दी और फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है।

जब ग्रंथ छप कर समाप्ति पर आया तो प्रस्तावना लिखाने की चिन्ता हुई। एक दिन मैंने श्री उदयचन्द्रजी जैन के पास पहुँच कर प्रस्तावना लिखने का निवेदन किया। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। आप इतने सरल और मिलन-सार हैं कि मेरी अस्वस्थता में भी चारपाई के पास बैठकर प्रमेयरत्नमाला के कई स्थलों के संशोधन और परिशिष्ट-निर्माण का कार्य कराते रहे हैं। आप के विषय में और कुछ न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आप सर्व-दर्शनों के विशाल गगन मे अपने नाम के अनुरूप उदीयमान चन्द्र ही हैं और एक दिन आयगा जब दार्शनिक जगत् को अपकी अनुपम कृतियों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा।

इस प्रमेयरत्नमाला को प्रकाश में लाने के लिए जिन अन्तरंग मित्रों की वर्षों से प्रेरणा रही है, वे मुझे कृतज्ञताज्ञापनार्थ अपना नाम भी देने का प्रबल विरोध कर रहे हैं। अतः मैं नामोल्लेख के विना ही उन सभी बन्धुओं का हार्दिक आभार मानता हूँ।

श्री पं० अमृतलाल जी जैन प्राध्यापक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में आवश्यक सभी ग्रन्थों का समायोग जोड़ा, समय-समय पर आवश्यक सुझाव दिये, हर प्रकार से मेरी सहायता करते रहे और अपनी अमृतमयी वाणी से सदा सन्तुष्ट करते रहे—उनका तथा श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, आचार्य-स्याद्वाद महाविद्यालय और उनके परिकर के सभी विद्वानों से समय-समय पर सुझाव मिलते रहे और वहां के सरस्वती भवन का भी भरपूर उपयोग किया गया है। इसलिए मैं उक्त सभी विद्वानों का बहुत-बहुत आभारी हूँ।

अपने अनुवाद के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है— दार्शनिक ग्रन्थों का हिन्दी मे अनुवाद करना कितना कठिन होता है यह सभी जानते हैं, फिर भी मैंने अनुवाद को सरल भाषा में लिखने का भरसक प्रयत्न किया है। मूल का वृत्तिगत सभी संक्षिप्त विषयों|को विशेषार्थों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि प्रस्तुत टिप्पण की महत्ता पर प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है, तथापि इतना और बताना उचित समझता हूँ कि यदि यह विस्तृत टिप्पण सामने न होता, तो अधिकांश विशेषार्थों का लिखा जाना सम्भव भी न होता। मैं अपने कार्य में कितना सफल हुआ हूँ यह बताना मेरा काम नहीं है। फिर भी विविध दर्शनों की चर्चा से भरपूर इस संक्षिप्त और अति गूढ़ ग्रन्थ के हार्दस्पष्टीकरण मे दृष्टिदोष से यदि कुछ अन्यथा लिखा गया हो तो मैं विद्वानों से प्रार्थना करूंगा कि वे समुचित संशोधन सुझावें—जिन्हें कि आगामी संस्करण में सुधारा जा सके। यदि दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों को इससे कुछ साहाय्य प्राप्त होगा तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्व० स्वनामधन्य पं० जयचन्द्र जी छावड़ा (जयपुर) ने प्रमेयरत्नमाला की एक हिन्दी वचनिका ढूंढारी भाषा में लिखी थी जो मुनि अनन्त कीर्तिग्रन्थमाला (बम्बई) से प्रकाशित हुई थी और आज वह अप्राप्य है। उनकी उस वचनिका से ग्रन्थ के कितने ही मार्मिक स्थलों को समझने में मुझे बहुत सहायता मिली है, इसलिए मैं उन स्वर्गीय आत्मा के प्रति अपनी

हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। सारा ही जैन समाज उनके द्वारा किये गये जैनसिद्धान्त के महान ग्रन्थों की भाषा टीका के लिए 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' ऋणी रहेगा।

यहां एक बात मूलग्रन्थ की सूत्र-संख्या के लिए कह देना आवश्यक है—अभी तक जो परीक्षामुख और उसकी संस्कृत टीकाएँ छपी हैं, उन सब में तीसरे समुद्देश की सूत्र-संख्या १०१ है। पर मुझे सूत्रकार की पूर्वापर रचना-शैली से वह कुछ कम जंचती थी। सूत्रकार ने प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप और भेद एक ही सूत्राङ्क ५ में कहे—पर उनके उदाहरण उससे आगे ४ सूत्रों में मुद्रित मिलते हैं। जो सूत्राङ्क ५ की रचना को देखते हुए उनके भेदों के उदाहरण उसके आगे के एक ही छटे सूत्र में होना चाहिए। उसकी पुष्टि भी पं० जयचन्द्रजी की हिन्दी वचनिका से ही हुई है।

अन्त में मैं चौखम्बा संस्कृत सीरीज, तथा चौखम्बा विद्या भवन के उदीयमान संचालक, बन्धुद्वय श्री मोहनदास जी गुप्त तथा श्री विट्ठलदास जी गुप्त का बहुत-बहुत आभारी हूँ कि जिनके असीम सौजन्य से वर्षों से पड़ा हुआ यह ग्रन्थ कुछ दिनों में ही प्रकाश में आ गया है और आज ४५ वर्ष पूर्व में दिया गया गुरु का आशीर्वाद मूर्तरूप धारण करके पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। श्रीमान् पं० रामचन्द्र जी झा व्याकरणाचार्य और उनके सह-योगी सभी विद्वानों का ग्रन्थ के प्रकाशन-काल में मेरे साथ बहुत ही प्रेममय व्यवहार रहा है और समय-समय पर उनके आवश्यक संशोधन और सुझाव मिलते रहे हैं, इसके लिए मैं उन सब विद्वानों का बहुत आभारी हूँ।

कार्त्तिक कृष्ण १२
वि० सं० २०२०

—हीरालाल शास्त्री

विषय-सूची

तृतीय समुद्देश १३३-२४१

प्रमापक ग्रन्थसूची

अष्टशती : अकलङ्क देव

अष्टसहस्री : विद्यानन्दी

आप्तमीमांसा : समन्तभद्र

जैन दर्शन : डा० महेन्द्रकुमार

तत्त्वार्थ श्लोक-वार्तिक : विद्यानन्दी

तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति

तत्त्वसंग्रह : शान्तरक्षित

तर्कभाषा : केशव मिश्र

तर्कभाषा : मोक्षाकरगुप्त

तर्कसंग्रह : अन्नं भट्ट

दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन

न्यायकुसुमाञ्जलि : उदयन

न्यायदीपिका : धर्मभूषण

न्यायबिन्दु : धर्मकीर्ति

न्यायभाष्य : वात्स्यायन

न्यायसूत्र : गौतम

न्यायमञ्जरी : जयन्त भट्ट

न्यायवार्तिक : उद्योतकर

न्यायविनिश्चय : अकलङ्क

न्यायावतार : सिद्धसेन

प्रमाणनय-तत्त्वालोक : देवसूरि

प्रमाणपरीक्षा : विद्यानन्दी

प्रमाणमीमांसा : हेमचन्द्र

प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति

प्रमाणवार्तिकालङ्कार : प्रज्ञाकर गुप्त

प्रमाणसमुच्चय : दिग्नाग

प्रमेयकमलमार्तण्ड : प्रभाचन्द्र

बृहती : प्रभाकर

बृहदारण्यक उपनिषद्

भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय

माध्यमिक कारिका : नागार्जुन

मीमांसा श्लोक-वार्तिक : कुमारिल

योगदर्शन व्यास-भाष्य : व्यास

लघीयस्त्रय : अकलङ्क

विग्रहव्यावर्तिनी : नागार्जुन

विशेषावश्यकभाष्य : जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण

वैशेषिक सूत्र : कणाद

शास्त्रदीपिका : पार्थसारथी

सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य

सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्र

॥ श्रीः ॥

प्रमेयरत्नमाला

'चिन्तामणि' हिन्दीव्याख्योपेता
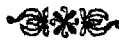
[1]नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे ।[2]
नमो जिनाय[3] दुर्वारमारवीरमदच्छिदे[4] ॥१॥

श्लोकार्थ—नम्रीभूत चतुर्निकाय देवोंके मुकुटोंमें लगे हुए मणियोंकी प्रभासे जिनके चरण-कमलोंके नखोंकी कान्ति देदीप्यमान हो रही है, और जो दुर्निवार पराक्रमवाले कामदेवके मदको छेदनेवाले हैं; ऐसे श्रीजिनदेवको हमारा नमस्कार हो ॥ १ ॥

उत्थानिका—इसी भारतवर्षमें सैकड़ों वर्ष पूर्व श्रीमदकलङ्कदेव पैदा हुए हैं, जो अपने निर्दोष ज्ञान और संयमरूप सम्पदासे प्रत्येकबुद्ध, श्रुत-केवली और सूत्रकार महर्षियोंकी महिमाको धारण करनेवाले थे; निरवद्य स्याद्वाद विद्यारूप नर्त्तकीके नर्त्तन करानेमें प्रवीण आचार्योंमें अद्वितीय थे; बड़े-बड़े तार्किकचक्रचूड़ामणि भी जिनके चरणोंकी सेवामें निरन्तर उपस्थित रहते थे; कवित्व (कविता करना), गमकत्व (सूत्रके रहस्यका उद्घाटन करना), वादित्व (शास्त्रार्थमें वादियोंको पराजित करना) और वाग्मित्व (वक्तृत्व-

---

(२,३,४ नं० की टिप्पणी पृ० २ में देखें)

१. इह हि पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिसूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वन्तोऽमन्दतो निरवद्यस्याद्वादविद्यानर्त्तकीनाट्याचार्यैकप्रवीणाः सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणाः, कवि-गमक-वादि-वाग्मित्वलक्षणचतुर्विधपाण्डित्यजिज्ञासापिपासाजिहासया, विनयविनतविनेयजनसहितनिजानुभवाः श्रीमदकलङ्कदेवाः प्रादुरासन् । तैश्च सप्तप्रकरणानि विरचितानि । कानि तानीति चेदुच्यते—बृहत्त्रयं, लघुत्रयं चूलिकाप्रकरणं चेति । तेषामतिविषमत्वान्मन्दधियामवगन्तुमशक्यत्वात् तद्बुद्ध्युत्पादनार्थं तदर्थमुद्धृत्य धारानगरीवासनिवासवासिनः श्रीमन्माणिक्यनन्दिभट्टारकदेवाः परीक्षामुखाख्यं प्रकरणमारचयाम्बभूवुः । तद्विवरीतुमिच्छवः श्रीमल्लघ्वनन्तवीर्य-

कलाकी कुशलता) रूप चार प्रकारके पाण्डित्यको प्राप्त करनेके इच्छुक विनयावनत शिष्योंको जिज्ञासारूप पिपासाके शान्त करनेवाले थे। उन्होंने न्यायशास्त्रके परम गम्भीर बृहत्त्रय, लघुत्रय और चूलिका नामक सात प्रकरण रचे। वे अति विषम एवं गहन थे, सर्वसाधारण एवं मन्द-बुद्धि जनोंके लिए उनमें प्रवेश पाना कठिन था, अतएव उनके गम्भीर अर्थका उद्धार करके न्यायशास्त्रमें सर्वसाधारणके व्युत्पादनार्थ धारानगरी-निवासी श्रीमाणिक्य-नन्दिदेवने "परीक्षामुख" नामका एक सूत्रग्रन्थ रचा। उसे सुगम शब्दोंमें विवरण करनेके इच्छुक श्रीमान् लघुअनन्तवीर्यदेवने नास्तिकता-परिहार, शिष्टाचार-परिपालन, पुण्य-सम्प्राप्ति और निर्विघ्न शास्त्र-व्युत्पत्ति, परिसमाप्ति आदिरूप चतुर्विध फलकी अभिलाषासे मङ्गलाचरण करते हुए 'नतामर'-इत्यादि श्लोककी रचना की।

देवाः तदादौ नास्तिकतापरिहार-शिष्टाचारपरिपालन-पुण्यावाप्ति-निष्प्रत्यूहशास्त्रव्युत्पत्त्यादि-लक्षणं चतुर्विधफलमभिलषन्तो नतामरेत्यादिश्लोकमेकं रचयन्ति स्म। तत्रैव प्रत्यवयवार्थप्रति-पत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति मनसि कृत्वा तदवयवार्थघटना प्रथमं प्रतिपत्तव्या। अनन्तरं समुदायार्थप्रवृत्तिर्विधातव्या। ततश्च तात्पर्यार्थः परामर्शनीयः। तत्कथमिति चेदु च्यते—नमस्कारानमस्काराभ्यां विप्रतिपन्नो जिनो धर्मी, स एव नमस्कारार्हो भवति इति साध्यो धर्मः, दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विट्त्वात्। यो नमस्कारार्हो न भवति स दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विडपि न भवति, यथा रथ्यापुरुषः। दुर्वारमारवीरमदच्छित्त्वे सति नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोत-नखत्विट् चायम्, तस्मात् स एवायं नमस्कारार्हो भवतीति निश्चितं नश्चेतः।

मङ्गलं द्विविधं मुख्यममुख्यं चेति। मुख्यमङ्गलं जिनेन्द्रगुणस्तोत्रम्, अमुख्यमङ्गलं दध्यक्षतादि। तत्र मुख्यमङ्गलं द्वेधा—निबद्धमनिबद्धं चेति, तत्र निबद्धं स्वेन कृतं, परकृतं त्वनिबद्धम्। तदपि द्विविधं—परापरभेदात्। आप्तनमस्कारः परमङ्गलम्, गुरुपरम्परानम-स्कारोऽपरमङ्गलम्।

२. प्रणतचतुर्णिकायदेवमानवपरिवृढचटुलमुकुटघटितमणिगणकिर्मीरितपदनखमरीचये। ३. जिनाय समस्तभगवदर्हत्परमेश्वरनिकुरम्बाय नमो भूयात्। बहुविधविषमभवगहनभ्रमण-कारणं दुष्कृतगणं जयतीति जिनः, त्रिकालगोचरपरमजिन इत्यर्थस्तस्मै। ४. दुर्वारमारवीर-मदच्छिदे—मां लक्ष्मीं रातीति मारः—लक्ष्मी-दायकः, मोक्षमार्गस्य नेतेति यावत्। विशे-षेण ईर्ते सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षीकरोतीति वीरः, विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति यावत्। मारश्चा-सौ वीरश्च मारवीरः। मदं मानकषायं छिनत्ति विदारयति इति मदच्छित्। उपलक्षणमिदं कर्मभूभृतां भेत्तेति यावत्। मारवीरश्चासौ मदच्छिच्च, मारवीरमदच्छित्। दुर्वारो वादिभिर-

'अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे[2] येन[3] धीमता[4] ।

विशेषार्थ—इस मङ्गलश्लोकमें पठित 'नतामरशिरोरत्न'-इत्यादि प्रथम पदके द्वारा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंसे सतत वन्दित त्रिकालवर्ती अरिहन्तोंकी सूचना की गई है। 'जिन' इस द्वितीय पदसे तीनों कालोंमें होनेवाले जिन-समुदायका अभिप्राय है। 'दुर्निवार' इत्यादि अन्तिम पदके द्वारा वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी या मोक्षमार्गके नेतारूप आप्तके तीन विशेषणोंको सूचित किया गया है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—'मां लक्ष्मीं राति ददातीति मारः' इस प्रकारकी निरुक्तिके अनुसार मारपदसे मुक्तिरूप लक्ष्मीके प्रदाता या मोक्षमार्गके प्रणेता नामक प्रथम आप्तगुणको प्रकट किया गया है। 'विशेषेण ईर्ते सकलपदार्थजातं प्रत्यक्षीकरोतीति वीरः' इस प्रकारकी निरुक्तिके द्वारा सर्वपदार्थोंके प्रत्यक्ष करने या साक्षात् जाननेरूप सर्वज्ञताको वीर पदसे ध्वनित किया गया है। 'मद' यह पद मानकषायके अविनाभावी सभी कषायों और विकार भावोंका सूचक है। उसके छेत्ता या भेत्ता होनेसे कर्मभूभृत्-भेतृत्वरूप वीतरागताकी सूचना की गई है। इस प्रकारसे पूरे श्लोकका समुदायार्थ यह हुआ कि जो सर्व सुर-असुर देवोंसे वन्दित हैं, अविनाशी मोक्षलक्ष्मीके प्रदर्शक या प्रणेता हैं; अप्रतिहत ज्ञानके धारक अर्थात् सर्वज्ञ हैं, और सर्व प्रकारके राग, द्वेष, मदादि विकारी भावोंके भेत्ता होनेसे वीतराग हैं, ऐसे उन समस्त भूत-भविष्यत् और वर्तमानकालवर्ती जिनेन्द्रोंको हमारा नमस्कार हो।

अब टीकाकार मूलग्रन्थके कर्त्ताको नमस्कार करते हैं—

जिस बुद्धिमान्ने अकलङ्कदेवके वचनरूप समुद्रसे न्यायविद्यारूप

जयोऽप्रतिहतशक्तिरिति यावत्। दुर्वारश्चासौ मारवीरमदच्छिच्च दुर्वारमारवीरमदच्छित्तस्मै। अथवा—मा प्रमेयपरिच्छेदकं केवलज्ञानमेव रविः, अशेषप्रकाशकत्वात्। इरा मृदुमधुरगम्भीरनिरुपमहितदिव्यध्वनिः, मारविश्च इरा च मारवीरे, दुर्वारे, कुहेतुदृष्टान्तैर्निवारयितुमशक्ये मारवीरे यस्य स तथोक्तः। मदेनोपलक्षिता रागादयः, तेन मदच्छिद् रागाद्यशेषदोषच्छिदिति निश्चीयते। उक्तार्थस्यैव विवरणम्—मदच्छिदे कर्मभूभृतां भेत्रे दुर्वारमारवये विश्वतत्त्वानां ज्ञात्रे दुर्वारेराय मोक्षमार्गस्य प्रणेत्रे जिनाय नमः।

१. अकलङ्को भट्टाकलङ्कस्वामी। अथवा न विद्यते अज्ञानादि-कलङ्को यस्यासौ अकलङ्को जिनदेवः। अथवा अकलङ्कश्च तद्वचश्च इति अकलङ्कवचो-दिव्यध्वनिरित्यर्थः।
२. प्रकटीकृतम्। ३. माणिक्यनन्दिना कर्त्रा ४. प्रशस्तविशालातिशयितज्ञानवता।

[1]न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥२॥
प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः[2] क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः[3] ॥३॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥४॥

अमृतका उद्धार किया, उस माणिक्यनन्दी नामक आचार्यके लिए हमारा नमस्कार हो ॥ २ ॥

विशेषार्थ—लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि विष्णुने क्षीरसागरको मथकर अमृतको निकाला था। इसी लोकोक्तिको दृष्टिमें रखकर टीकाकार अलङ्कार-रूपसे वर्णन करते हैं कि माणिक्यनन्दी आचार्यने भी अकलङ्क अर्थात् कर्म-मल रूप कलङ्कसे रहित ऐसे वीतराग सर्वज्ञके दिव्यध्वनिरूप वचन-समुद्रको मथकर न्यायविद्यारूप अमृतको निकाला। अथवा प्रसिद्ध तार्किक अकलङ्कदेव नामके आचार्यके विशाल एवं गहन तर्कशास्त्रके ग्रन्थोंका अवगाहन करके परीक्षामुख नामक न्यायशास्त्रके ग्रन्थरूप अमृतका जिसने उद्धार किया, उस माणिक्यनन्दीको हमारा नमस्कार हो।

अब टीकाकार मूलग्रन्थकी प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक बड़ी टीकाके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्रकी महिमा और अपनी लघुताका वर्णन करते हुए अपनी नवीन रचनाकी सार्थकता दो श्लोकों-द्वारा दिखलाते हैं—

प्रभाचन्द्र नामक आचार्यके वचनरूप उदार चन्द्रिकाके प्रसार होते हुए खद्योत-सदृश हम सरीखे मन्द बुद्धिरूप ज्योतिके धारक लोगोंकी क्या गणना संभव है ? अर्थात् नहीं। तथापि जिस प्रकार नदीका नवीन घटमें भरा हुआ मधुर जल सज्जनोंके चित्तका हरण करनेवाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्रके वचन ही इस मेरी कृतिरूप नवीन रचनामें भरे जानेपर सज्जनों-के मनको हरण करेंगे ॥ ३-४ ॥

अब टीकाकार अपनी टीका बननेके निमित्तरूप व्यक्तिका उल्लेख करते हैं—

---

१. प्रत्यक्षादिप्रमाणं न्यायः। अथवा नय-प्रमाणात्मिका युक्तिर्न्यायः। निपूर्वादिण्गतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्ययः, तेन न्यायशब्दसिद्धिः। नितराम्-इयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः। २. अहमिव दृश्यन्ते-इति मादृशाः। ३. खद्योतसदृशाः।

वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः ।
[1]शान्तिषेणार्थमारब्धा [2]परीक्षामुख[3]पञ्जिका ॥५॥

[4]श्रीमन्न्या[5]यावारपारस्यामेयप्रमेयरत्नसारस्या[6]वगाहनमव्युत्पन्नैः[7] कर्तुं न पार्यते

वैजेयके प्रिय पुत्र हीरपके अनुरोधसे शान्तिषेण नामक शिष्यके लिए यह परीक्षामुख-पञ्जिका प्रारम्भ की गई है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—मूल सूत्रात्मक ग्रन्थका नाम परीक्षामुख है। परीक्षा नाम वस्तु-स्वरूपके विचार करनेका है। विवक्षित वस्तुका स्वरूप इस प्रकार है कि नहीं, अथवा अन्य प्रकार है; इस प्रकारसे निर्णय करनेको परीक्षा कहते हैं। इस प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रमाणके स्वरूप आदिकी परीक्षा की गई है; और इसके द्वारा ही समस्त वस्तुओंकी परीक्षा की जाती है, इसलिए इस ग्रन्थका नाम 'परीक्षामुख' रखा गया है। श्रीलघु अनन्तवीर्य आचार्यने अपनी इस टीकाका नाम 'परीक्षामुख-पञ्जिका' रखा है; क्योंकि इसमें सूत्रके भिन्न-भिन्न पदोंका पृथक्-पृथक् अर्थ किया गया है। इसीका दूसरा नाम प्रमेयरत्नमाला है। प्रमाणके विषयभूत पदार्थको प्रमेय कहते हैं। इसमें विभिन्न प्रमेयरूप रत्न एक सूत्र (सूत-धागा)में पिरोये गये हैं, अर्थात् ग्रथित या निबद्ध किये गये हैं, इसलिए इसका प्रमेयरत्नमाला नाम भी सार्थक है।

अब आगे पञ्जिकाकार मूलग्रन्थके आदि सूत्रकी उत्थानिका कहते हैं—

पूर्वापर विरोधसे रहित अतएव अबाधित और श्रद्धानादि गुणोंको

---

१. शान्तिषेणपठनार्थम्। २. लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। अथवा स्वरूपं तदाभासः, संख्या तदाभासः, विषयस्तदाभासः, फलं तदाभासः; एतेषां विचारः परीक्षा। अथवा विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। ३. कारिका स्वल्पवृत्तिस्तु सूत्रं सूचनकं स्मृतम्। टीका निरन्तरं व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका ॥ १ ॥ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ २ ॥ सूत्रं द्विविधम्—आगमप्रमाणं, अनुमानप्रमाणञ्च। तदुक्तं श्लोकवार्तिकालङ्कारे—प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः। लौकिकं चाविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयात् ॥ १ ॥ ४. निर्बाधकत्वलक्षणा श्रद्धानादिगुणोत्पन्नलक्षणा वा श्रीः। पूर्वापरविरोधरहितत्वलक्षणा श्रीः ५. प्रमाणनयात्मिका युक्तिर्न्यायः। प्रमाणशास्त्रक्षीरसमुद्रस्य श्रीमदित्यादिनियमेन कथञ्चित्सावधारणत्वेन प्रमेयस्वरूपमीयते गम्यते येन स न्यायः। नयप्रमाणरूपा युक्तिः तत्प्रतिपादकत्वात् युक्तिशास्त्रमपि न्यायः। श्रीमांश्चासौ न्यायश्चेति श्रीमन्न्यायः। ६. प्रमाणगोचराः जीवादिपदार्थाः प्रमेयानि, प्रमेयान्येव रत्नानि प्रमेयरत्नानि। प्रमेयरत्नैः सार उत्कृष्ट इति तत्पुरुषो वा ७. युक्तिशास्त्रसंस्काररहितैः पुरुषैः।

इति तदवगाहनाय पोतप्राय[1]मिदं प्रकरणमाचार्यः[2] प्राह। तत्प्रकरणस्य[3] च [4]सम्बन्धादित्रयापरिज्ञाने सति प्रेक्षावतां[5] प्रवृत्तिर्न स्यादिति तत्त्रयानुवादपुरस्सरं[6] वस्तुनिर्देशपरं[7] प्रतिज्ञाश्लोकमाह[8]—

[9]प्रमाणादर्थ[10]संसिद्धिस्तदाभासा[11]द्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म [12]सिद्धमल्पं[13] लघीयसः[14] ॥१॥

उत्पन्न करना ही है लक्षण जिसका ऐसी श्री (लक्ष्मी)से युक्त ऐसा जो प्रमाण-नयात्मक न्यायशास्त्ररूप अपार पारावार (समुद्र) है, और जिसमें अप्रमेय (अगणित) रत्नोंका सार या समुदाय भरा हुआ है, उसके अवगाहन करनेके लिए न्यायशास्त्रके अभ्याससे रहित जो अव्युत्पन्न पुरुष हैं, वे असमर्थ हैं, ऐसा विचार करके श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यने इस न्यायरूप समुद्रमें अवगाहन करनेके लिए पोत (जहाज)के तुल्य इस परीक्षामुख नामके प्रकरणग्रन्थकी रचना की है। इस परीक्षामुखप्रकरणके सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान-इष्ट प्रयोजन इन तीनके जाने बिना विचारशील पुरुषोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव आचार्य उन तीनोंके अनुवाद-पूर्वक प्रमाण और प्रमाणाभासरूप वस्तुका निर्देश करनेवाले प्रतिज्ञाश्लोकको कहते हैं—

श्लोकार्थ—प्रमाणसे अर्थात् सम्यक् ज्ञानसे अभीष्ट अर्थकी सम्यक् प्रकार सिद्धि होती है और प्रमाणाभास अर्थात् मिथ्याज्ञानसे इष्ट वस्तुकी संसिद्धि नहीं होती है, इसलिए मैं प्रमाण और प्रमाणाभासका पूर्वाचार्य-प्रसिद्ध एवं पूर्वापर-दोषसे रहित संक्षिप्त लक्षण लघुजनों (मन्द-बुद्धियों)के हितार्थ कहूँगा ॥ १ ॥

---

१. प्रायो भूम्नोपमातर्क्यप्रभृत्यन्ननिवृत्तिषु। २. माणिक्यनन्दिदेवः ३. परीक्षामुखस्य। ४. आदिशब्देनाभिधेयं शक्यानुष्ठानमिष्टप्रयोजनं च। ५. विचारचतुरचेतसाम्। ६. उक्तस्यार्थस्य पुनर्वचनमनुवादः। ७. प्रमाणतदाभासलक्षणाभिधेयकथनपरम्, ८. वर्तमानस्याङ्गीकारः प्रतिज्ञा। ९. सम्यग्ज्ञानात्, अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृ-करण-भावसाधनः। तत्र प्रतिबन्धविगमविशेषवशात् स्वपरप्रमेयस्वरूपं प्रमीयते यथावज्जानातीति प्रमाणमात्मा। साधकतमत्वादिति विवक्षायां तु प्रमीयते येन तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। प्रतिबन्धापाये प्रादुर्भूतज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात्प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत्। १०. अर्थः स्याद्विषये मोक्षे शब्दवाच्ये प्रयोजने। व्यवहारे धने शास्त्रे वस्तुहेतुनिवृत्तिषु ॥ १ ॥ अर्यते गम्यते ज्ञायतेऽयः सोऽर्थः। ११. तन्न भवति-इति तथापि तदिवाभासते प्रतिभातीति तदाभासः। १२. स्वरुचि-विरचितत्वदूषणपरिहारार्थं सिद्धमित्युच्यते। १३. पिष्टपेषणपरिहारार्थमल्पमित्युच्यते। १४. कनिष्ठान्मन्दमतीनिति यावत्।

अस्यार्थः—अहं वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये। किं तत्? लक्ष्म लक्षणम्[1]। किंविशिष्टं लक्ष्म? सिद्धम्, पूर्वाचार्यप्रसिद्धत्वात्। पुनरपि कथम्भूतम्? अल्पम्, अल्पग्रन्थवाच्यत्वात्। ग्रन्थतोऽल्पमर्थतस्तु महदित्यर्थः। कान्? लघीयसो विनेयान्[2] उद्दिश्य[3]। लाघवं[4] मतिकृतमिह गृह्यते, न परिमाणकृतं नापि कालकृतम्, तस्य प्रतिपाद्यत्व[5]व्यभिचारात्[6]। कयोस्तल्लक्ष्म? तयोः प्रमाण-तदाभासयोः। कुतः? यतोऽर्थस्य परिच्छेद्यस्य संसिद्धिः सम्प्राप्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवति। कस्मात्? प्रमाणात्। न केवलं प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, विपर्ययो भवति—अर्थसंसिद्ध्यभावो भवति। कस्मात्। तदाभासात् प्रमाणाभासात्। इतिशब्दो[7]

मैं ग्रन्थकार माणिक्यनन्दी प्रमाण और प्रमाणाभासके लक्षणको कहूँगा। वह लक्षण कैसा है? सिद्ध है अर्थात् पूर्वाचार्योंसे प्रसिद्ध है, स्वरुचि-विरचित नहीं है। पुनः कैसा है वह लक्षण? अल्प है, अर्थात् संक्षिप्त शब्दोंसे रचे गये ग्रन्थके द्वारा कहा गया है। यद्यपि वह लक्षण ग्रन्थकी अपेक्षा अल्प (संक्षिप्त) है, तथापि वह अर्थकी दृष्टिसे महान् है। यह लक्षण किसके उद्देश्य से कहा जा रहा है? लघीयस शिष्योंके उद्देश्यसे कहा जा रहा है। लाघव तीन प्रकारका होता है—बुद्धिकृत, कालकृत और शरीर-परिमाणकृत। इनमें-से यहाँपर बुद्धिकृत लाघव ग्रहण करना चाहिए, शरीर-परिमाणकृत और कालकृत लाघव नहीं; क्योंकि उन दोनोंका प्रतिपाद्य जो शिष्य उनके साथ व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् कितने ही अल्प वयके धारक बालक भी विशाल ज्ञानके धारक दृष्टिगोचर होते हैं, अतः यहाँपर कालकृत लाघव अभीष्ट नहीं। तथा कितने ही बौने व्यक्ति भी महान् ज्ञानी दिखाई देते हैं, अतः शरीरकृत लाघव भी अभीष्ट नहीं है। किन्तु जो बुद्धिसे लघु हैं—मन्दबुद्धि हैं, वे ही प्रकृतमें विवक्षित हैं, भले ही वे वयमें वृद्ध हों और शरीरमें लम्बे-चौड़े हों।

यहाँपर प्रमाण और प्रमाणाभासका लक्षण कहा जायगा; क्योंकि प्रमाण-से जानने योग्य पदार्थकी संसिद्धि अर्थात् संप्राप्ति या ज्ञप्ति होती है और प्रमाणाभाससे पदार्थकी संसिद्धि नहीं होती है। श्लोक-पठित इति शब्द हेतुके

१. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्। २. शिष्यान्। ३. अनुलक्ष्यीकृत्य। ४. लाघवं त्रिविधम्—मतिकृतं कालकृतं कायपरिमाणकृतं चेति। तत्रान्त्यद्वयमत्र न ग्राह्यं व्यभिचारात्। तथाहि—वीतः व्युत्पाद्यः, कालकृतलाघवात्, इत्यत्र गर्भाष्टमवर्षजातज्ञानसम्पन्नेन संयतेन व्यभिचारात्। विमतः प्रतिपाद्यः, कायकृतलाघवात् इत्युक्ते विदितशास्त्रेण कुब्जादिनाऽनैकान्तात्, तयोः व्युत्पादकत्वाभावात्। ५. शिष्यत्व। ६. साध्याभावे प्रवर्तमानो हेतुर्व्यभिचारी भवति। ७. इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु।

हेत्वर्थे, इति हेतोः। अयमत्र समुदायार्थः[1]—यतः कारणात्प्रमाणादर्थसंसिद्धिर्भवति, यस्माच्च तदाभासाद्विपर्ययो भवति; इति हेतोस्तयोः प्रमाण–तदाभासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये इति।

ननु [2]सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि भवन्ति। [3]तत्रास्य प्रकरणस्य यावदभिधेयं सम्बन्धो वा नाभिधीयते, न तावदस्योपादेयत्वं भवितुमर्हति; [4]एष वन्ध्यासुतो यातीत्यादिवाक्यवत्, [5]दश दाडिमादिवाक्यवच्च। तथा शक्यानुष्ठानेष्टप्रयो-

---

अर्थमें है। इस प्रकार श्लोकका यह समुदायार्थ है—यतः प्रमाणसे अर्थकी संसिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे नहीं, अतः उन दोनोंका मैं आचार्य-परम्परागत संक्षिप्त लक्षण कहूँगा।

शङ्का—सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान-इष्टप्रयोजनवाले शास्त्र होते हैं। जब तक इस प्रकरणका पूर्वापर सम्बन्ध और अभिधेय (वाच्य अर्थ) नहीं कहा जायगा, तब तक यह बुद्धिमानोंके लिए उपादेय (ग्राह्य) नहीं होगा। जैसे—"यह आकाश-कुसुमोंकी मालाको धारण किये हुए तथा मृग-मरीचिकारूप जलमें स्नान करके शश-शृङ्गके धनुषको लिए हुए बन्ध्या स्त्रीका पुत्र जा रहा है" यह वाक्य उपादेय नहीं है। इस वाक्यमें पूर्वापरसम्बन्ध तो है, परन्तु अभिधेय (वाच्य) रूप पदार्थ कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई कहे "दश दाडिम (अनार) हैं, छः पूवा हैं, यह बकरेका चमड़ा है" इन वाक्योंमें अभिधेयपना होते हुए भी पूर्वापर-सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, प्रत्युत उन्मत्तके प्रलाप जैसे वचन हैं, अतः वे भी उपादेय नहीं हैं। इसी प्रकार शास्त्रके आदिमें शक्यानुष्ठान-इष्ट प्रयोजन भी अवश्य ही कहना चाहिए।

---

१. अवयवार्थमुक्त्वा समुदायार्थः प्रतिपाद्यते; अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायात्। २. सम्बन्धशब्दस्याल्पाच्तरात्पूर्वनिपातोऽन्यथाऽभिधेयपूर्वकत्वात्सम्बन्धशब्दस्य पूर्वनिपातत्वं नोपपद्यते। प्रकृतस्यार्थस्यानुरोधेनोत्तरोत्तरस्य विधानं सम्बन्धः। सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ १ ॥ व्याख्यासुद्धिस्त्रिधा शास्त्रे स्थानमार्गप्रमेयतः। स्थानं त्रिधा द्विधा मार्गः प्रमेयं च त्रिधा विदुः ॥ २ ॥ श्लोकस्यास्य व्याख्यानं–तत्र पातनिकस्थानं समर्थनस्थानं विवरणस्थानं चेति त्रिधा स्थानम्। पातनिकस्थानं द्विविधं—सूत्रपातनिका, ग्रन्थपातनिकेति। अन्वयमार्गो व्यतिरेकमार्ग इति मार्गो द्विधा। प्रकृतप्रमेयं प्रासङ्गिकप्रमेयं आनुषङ्गिकप्रमेयमिति त्रिधा प्रमेयम्। ३. एवं सति त्रिषु। ४. एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः। मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ १ ॥ अत्र सम्बन्धो वर्तते परन्त्वभिधेयत्वं नास्ति। ५. दश दाडिमानि, षड्-अपूपाः कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः। अथ

वचनमपि शास्त्रादाववश्यं वक्तव्यमेव, 'अशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनस्य[1] सर्वज्वरहरतक्षक[2]चूडारत्ना-लङ्कारोपदेशस्येव प्रेक्षावद्भिरनादरणीयत्वात्। तथा शक्यानुष्ठानस्याप्यनिष्टप्रयोजनस्य विद्वद्भिरवधीरणा[3]न्मातृविवाहादिप्रदर्शक[4]वाक्यवदिति। सत्यम्[5], प्रमाण-तदाभासपदो-पादानादभिधेयमभिहित[6]मेव, प्रमाण-तदाभासयोरनेन प्रकरणेनाभिधानात्। सम्बन्ध-श्चार्थायातः प्रकरण-तदभिधेययोर्वाच्य[7]-वाचक[8]भावलक्षणः प्रतीयत एव। तथा प्रयोजनं चोक्तलक्षणमादिश्लोकेनैव संलक्ष्यते। प्रयोजनं हि द्विधा भिद्यते—साक्षात्परम्परयेति। तत्र

क्योंकि जो बात इष्ट प्रयोजनवाली होते हुए भी अशक्यानुष्ठान हो अर्थात् जिसका करना शक्य या सम्भव न हो, वह भी बुद्धिमानोंके द्वारा आदरणीय नहीं होती है। जैसे किसी जीर्णज्वरवाले पुरुषके लिए कहना कि—'मणिहारे सर्पके मस्तकके मणिसे सर्व प्रकारका ज्वर दूर हो जाता है।' उसका यह उपदेश इष्ट प्रयोजनवाला होते हुए भी शक्यानुष्ठान नहीं है अर्थात् सर्पके मस्तकपरसे मणिका लाना शक्य (सम्भव) नहीं, किन्तु अशक्य है। इसी प्रकार जो बात शक्यानुष्ठान होते हुए भी अनिष्ट प्रयोजनवाली होती है, वह भी विद्वज्जनोंके द्वारा अनादरणीय होती है। जैसे किसी पुत्राभिलाषी पुरुषको अपनी माताके साथ विवाह करनेका उपदेश देना। माताके साथ विवाह करना शक्य कार्य तो है, किन्तु वह किसी भी बुद्धिमान्के लिए अभीष्ट नहीं है। अतः वही उपदेश ग्राह्य होता है, जो शक्यानुष्ठान-इष्टप्रयोजन हो।

समाधान—आपका कथन सत्य है, श्लोक-पठित 'प्रमाण-तदाभास' इन दो पदोंके देनेसे अभिधेयका कथन किया ही गया है, क्योंकि इस प्रकरण-ग्रन्थके द्वारा प्रमाण और प्रमाणाभासका स्वरूप कहा गया है। सम्बन्ध स्वयं ही अर्थ-प्राप्त है, क्योंकि इस प्रकरण-ग्रन्थमें और उसके द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले प्रमाण-प्रमाणाभासमें वाच्य-वाचक भावस्वरूप लक्षणवाला सम्बन्ध स्पष्टतः प्रतीत हो ही रहा है। इसी प्रकार शक्यानुष्ठान लक्षणवाला इष्ट प्रयोजन भी इसी आदिम श्लोकसे संलक्षित हो रहा है। प्रयोजन दो प्रकारका होता है-

---

गैरुकमेतदहो स्फायीकृतस्यापि तां प्रति शोषः। इत्यमुना सूचितोऽसम्बन्धः। १. शाक्यादौ शक्यानुष्ठानं मास्तु, इष्टप्रयोजनमस्त्विति शङ्कानिवारणार्थम्। २. तक्षको नागभेदे स्याद्वर्धकि-द्रुमभेदयोरित्यनेकार्थः। तत्र पन्नगार्थोऽत्र ग्राह्यः। ३. अनादरणीयत्वात्।

४. यजुर्वेदप्रवृत्तिलक्षणे मातरमपि विवृणीयात् पुत्रकाम इति श्रुतिः। ५. अर्धाङ्गीकारे। ६. कथितमेव। ७. वाच्यमभिधेयम्। ८. वाचकं प्रकरणम्।

साक्षात्प्रयोजनं 'वक्ष्ये' इत्यनेनाभिधीयते, प्रथमं शास्त्र[1]व्युत्पत्तेरेव विनेयैरन्वेषणात्[2]। पारम्पर्येण तु प्रयोजनमर्थसंसिद्धिरित्यनेनोच्यते, शास्त्रव्युत्पत्त्यनन्तरभावित्वादर्थसंसिद्धेरिति। ननु निःशेषविघ्नोपशमनायेष्टदेवतानमस्कारः शास्त्रकृता[4] कथं न कृत इति न वाच्यम्; तस्य[5] मनःकायाभ्यामपि सम्भवात्। अथवा वाचनिकोऽपि नमस्कारोऽनेनैवादि[6]वाक्येनाभिहितो वेदितव्यः; केषाञ्चिद्वाक्यानामुभयार्थप्रतिपादनपरत्वेनापि दृश्यमानत्वात्। यथा श्वेतो धावतीत्युक्ते 'श्वा इतो धावति, श्वेतगुणयुक्तो धावति' इत्यर्थद्वयप्रतीतिः। तत्रादिवाक्यस्य नमस्कारपरताऽभिधीयते—अर्थस्य हेयोपादेयलक्षणस्य संसिद्धिर्ज्ञप्तिर्भवति। कस्मात्? प्रमाणात्। अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्तरङ्गलक्षणा, समवसरणादिस्वभावा बहिरङ्गलक्षणा लक्ष्मीर्मा इत्युच्यते। अणनमाणः[7] शब्दः, मा च आणश्च माणौ। प्रकृष्टौ माणौ

साक्षात् प्रयोजन और परम्परा प्रयोजन। श्लोक पठित 'वक्ष्ये' इस पदके द्वारा साक्षात् प्रयोजन कहा गया है, क्योंकि जिज्ञासु शिष्यजन सर्व-प्रथम शास्त्रकी व्युत्पत्तिका अन्वेषण करते हैं। अतः शास्त्रमें व्युत्पन्न होना साक्षात् प्रयोजन है। तथा श्लोकमें दिये गये 'अर्थ-संसिद्धि' पदसे परम्परा प्रयोजन भी कह दिया गया है; क्योंकि शास्त्रकी व्युत्पत्ति हो जानेके पश्चात् ही पदार्थकी सम्यक् प्रकारसे सिद्धि होती है।

शङ्का—शास्त्रकारने सर्व प्रकारके विघ्नोंको दूर करनेके लिए इष्टदेवताको नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इष्ट देवताको नमस्कार मनसे और कायसे भी किया जाना सम्भव है। कहनेका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकारने सम्भव है कि इष्टदेवताको नमस्कार वचन-निबद्ध न करके मनसे ही कर लिया हो। अथवा कायसे साष्टाङ्ग नमस्कार कर लिया हो। अथवा वाचनिक अर्थात् वचन-द्वारा नमस्कार इसी आदि वाक्यसे किया हुआ जानना चाहिए; क्योंकि कितने ही वाक्य उभयार्थक अर्थात् दो-दो अर्थके प्रतिपादन करनेवाले देखे जाते हैं। जैसे 'श्वेतो धावति' ऐसा कहनेपर 'श्वा (कुत्ता) इधर दौड़ता है' और 'श्वेत गुण-युक्त व्यक्ति दौड़ता है,' इन दो अर्थोंकी प्रतीति होती है। सो इस आदि वाक्यमें इष्ट देवताको नमस्काररूप अर्थ भी निहित है, वही कहते हैं—हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) रूप पदार्थकी संसिद्धि कहिए ज्ञान प्रमाणसे होता है। 'प्रमाण' इस पदमें तीन

---

१. शास्त्रव्युत्पत्तिः साक्षात्प्रयोजनम्। २. मतेर्विशेषेण संशयादिव्यवच्छेदनोत्पत्तिः व्युत्पत्तिरिति व्युत्पत्तेर्लक्षणम्। ३. शोधनात्। ४. माणिक्यनन्दिविभुना। ५. नमस्कारस्य। ६. प्रमाणादर्थसंसिद्धिरित्यनेनैव। ७. अण्यते शब्द्यते येनासावाणः,

यस्यासौ प्रमाणः। हरि-हराद्यसम्भविविभूतियुक्तो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्[1] च भगवानर्हन्नेवाभिधीयत इत्यसाधारणगुणोपदर्शनमेव भगवतः संस्तवनमभिधीयते। तस्मात्[2] प्रमाणादवधिभूता[3]दर्थसंसिद्धिर्भवति, तदाभासाच्च हरि-हरादेरर्थसंसिद्धिर्न भवति; इति हेतोः सर्वज्ञ-तदाभासयोर्लक्ष्म लक्षणमहं वक्ष्ये—'सामग्रीविशेषेत्यादिना'।

अथेदानीमुपक्षिप्तप्रमाणतत्त्वे स्वरूप-सङ्ख्या-विषय-फललक्षणासु[4] चतसृषु विप्रतिपत्तिषु मध्ये स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—

शब्द है—प्र + मा + आण = प्रमाण। मा नाम लक्ष्मीका है। वह दो प्रकार की होती है—अन्तरङ्गलक्ष्मी और बहिरङ्गलक्ष्मी। इष्टदेव जो अरिहन्त परमेष्ठी हैं, उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, यह अनन्त चतुष्टयस्वरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी पाई जाती है और समवशरण, अष्ट प्रातिहार्य आदि स्वभाववाली बहिरङ्गलक्ष्मी देखी जाती है। 'अणनं आणः' इस निरुक्ति और 'अण्यते शब्द्यते येनासौ आणो दिव्यध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आण शब्दका अर्थ दिव्यध्वनि अर्थात् दिव्यवचन होता है। मा और आणका द्वन्द्वसमास करनेपर माण शब्द बनता है और 'प्र' कहिए प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम, 'माण' कहिए अन्तरङ्ग-बहिरङ्गलक्ष्मी और दिव्यध्वनि जिसके पायी जावे, ऐसा बहुव्रीहि समास करनेपर 'प्रमाण' इस पदका अर्थ अरिहन्त परमेष्ठी होता है इस प्रकार 'प्रमाण' 'पदसे' हरि (विष्णु) हर (महेश) आदिमें असम्भव ऐसी विभूतिसे युक्त, तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध वचनवाले भगवान् अरहन्त देव ही कहे गये समझना चाहिए। और भगवान्के असाधारण गुणोंको प्रकट करना ही भगवानका संस्तवन कहलाता है। इस प्रकार इस आदि श्लोकसे इष्ट देवताको नमस्कार किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

अर्थ-संसिद्धिके प्रधान कारणभूत प्रमाणसे अर्थात् भगवान् अरहन्तदेवसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है और प्रमाणाभाससे अर्थात् हरि-हरादिसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसलिए सर्वज्ञ और सर्वज्ञाभासका लक्षण मैं 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरण' इत्यादि वक्ष्यमाण सूत्रके द्वारा कहूँगा। इस प्रकार यह आदिका श्लोक द्व्यर्थक जानना चाहिए।

अब आगे जिसका कथन प्रारम्भ किया है, उस प्रमाणतत्त्वके विषयमें

दिव्यध्वनिरित्यर्थः। १. प्रत्यक्षे परोक्षे च अविरुद्धवाक् यस्य सः। २. अर्थद्वारेण साधित-भगवतोऽर्हत्सकाशात् सर्वज्ञात्। ३. अर्थसंसिद्धेः प्रथमकारणभूतात्।

४. स्वरूपसंख्याविषयफललक्षणाश्चतस्रो विप्रतिपत्तयः। सम्प्रति तासां मध्ये

विभिन्न वादियोंकी चार प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ हैं—स्वरूपविप्रतिपत्ति, संख्याविप्रतिपत्ति, विषयविप्रतिपत्ति और फलविप्रतिपत्ति। इन चारोंमें-से पहले ग्रन्थकार स्वरूपविप्रतिपत्तिके निराकरण करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

विशेषार्थ—विप्रतिपत्ति नाम विवादका अर्थात् अन्यथा जाननेका है। प्रायः सभी मतावलम्बी लोग प्रमाणका स्वरूप, उसकी संख्या, प्रमाणका विषय और उसका फल भिन्न-भिन्न प्रकारसे मानते हैं। न्यायशास्त्रके अभ्यासियोंको उनका जानना आवश्यक है, अतः यहाँपर उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—अर्हन्मतानुयायी जैन लोग स्व और अपूर्व अर्थके निश्चय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। कपिलमतानुसारी सांख्य लोग इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर प्रमाताके व्यापारको प्रमाण मानते हैं। भाट्ट नहीं जाने हुए पदार्थके जाननेको प्रमाण कहते हैं। बौद्ध अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। यौग प्रमा (प्रमिति)के करणको प्रमाण कहते हैं। वृद्ध नैयायिक कारकसाकल्यको प्रमाण कहते हैं और नवीन या लघु नैयायिक सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपके विषयमें विवाद है, इसीका नाम स्वरूपविप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार प्रमाणकी संख्याके विषयमें भी विवाद है—चार्वाक एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमानको प्रमाण मानते हैं। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। नैयायिक उक्त तीनके साथ उपमानको मिलाकर चार प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर उक्त चारके साथ अर्थापत्तिको मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग इनके अतिरिक्त सम्भव ऐतिह्य आदिको भी प्रमाण मानते हैं। जैन लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही

स्वरूपविप्रतिपत्तिर्यथा—स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमित्यार्हताः। इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमिति कापिलाः। प्रमातृव्यापारः प्रमाणमिति प्राभाकराः। अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणमिति भाट्टाः। अविसंवादिविज्ञानं प्रमाणमिति सौगताः। प्रमाकरणं प्रमाणमिति यौगाः। कारकसाकल्यं प्रमाणमिति जयन्ताः। इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः, कारकाणां समूहः कारकसाकल्यम्। लघुनैयायिकानां सन्निकर्षः प्रमाणम्। जरन्नैयायिकानां कारकसाकल्यं प्रमाणमिति। संख्याविप्रतिपत्तिर्यथा—प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसौगताः पुनः। अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शब्दं च ते अपि ॥ १ ॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च तेन च। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥ २ ॥ अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः ॥ ३ ॥ एतत्सर्वं युक्तं

[1]स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं[2] ज्ञानं[3] प्रमाणम्[4] ॥१॥

प्रमाणके भेद मानते हैं। इस प्रकारसे प्रमाणकी संख्याके विषयमें सभीका विवाद है, इसीका नाम संख्याविप्रतिपत्ति है। प्रमाणके विषयमें भी इसी प्रकारका विवाद है—कापिल और पुरुषाद्वैतवादी सामान्यतत्त्वको ही प्रमाणका विषय मानते हैं। बौद्ध विशेषतत्त्वको ही प्रमाणका विषय मानते हैं। यौग स्वतन्त्र सामान्य और स्वतन्त्र विशेष दोनोंको प्रमाणका विषय मानते हैं। मीमांसक अभेदरूपसे सामान्य और विशेषको प्रमाणका विषय मानते हैं। जैन लोग कथञ्चित् सामान्य-विशेषात्मक पदार्थको प्रमाणका विषय मानते हैं। यह प्रमाणकी विषय-विप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार प्रमाणके फलके विषयमें भी विवाद है—कापिल और यौग प्रमाणसे प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। बौद्ध प्रमाणसे फलको अभिन्न ही मानते हैं। जैन लोग प्रमाणसे फलको कथञ्चित् भिन्न और अभिन्न मानते हैं। यह प्रमाणकी फल-विप्रतिपत्ति हैं। इनमेंसे ग्रन्थकार सबसे पहले प्रमाणकी स्वरूप-विप्रतिपत्तिका निराकरण करते हैं। शेष तीनों विप्रतिपत्तियोंका आगे यथास्थान निराकरण किया जायगा।

सूत्रार्थ—स्व अर्थात् अपने आपके और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाणसे जाना नहीं है, ऐसे पदार्थके निश्चय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं ॥ १ ॥

न सम्भवति। प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विविधं प्रमाणमिति जैनाः वदन्ति। विषयविप्रतिपत्तिर्यथा—प्रमाणतन्त्रस्य सामान्यमेव विषयो न पुनः विशेष इति कापिलाः, पुरुषाद्वैतवादिनश्च। विशेषमेव विषयो न पुनः सामान्यमिति बौद्धाः। सामान्यं विशेषश्च द्वयमपि स्वतन्त्रभावेन विषय इति यौगाः। सामान्यं विशेषश्च भेदेन विषय इति मीमांसकाः। उभावपि कथञ्चिद्भेदाभेदाभ्यां विषय इति जैनाः। फलविप्रतिपत्तिर्यथा—फलं प्रमाणाद्भिन्नमिति कापिलाः यौगाश्च। प्रमाणादभिन्नमिति सौगताः। प्रमाणात्फलं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं चेति जैनाः।

१. सूत्रं द्विविधम्। तद्यथा—आगमप्रमाणमनुमानप्रमाणञ्च। तदुक्तं श्लोकवार्तिकालङ्कारे—प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः। लैङ्गिकं चाविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयात् ॥ तथेदं सूत्रमनुमानप्रमाणं भवति, अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थसूचकत्वात्सूत्रत्वम्। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं न्यायवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१॥

२. स्वस्यात्मनोऽपूर्वार्थस्यानिश्चितस्य बाह्यस्य पदार्थस्येति स्वापूर्वार्थयोर्निश्चयस्वरूपकम्।

(३-४ नं० की टिप्पणी पृ० १४ में देखें)

प्रकर्षेण [1]संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्। तस्य च ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरूपस्य [2]सन्निकर्षादेर्नैयायिकादिपरिकल्पितस्य प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम्। तथा ज्ञानस्यापि [3]स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितम्, तन्निरासार्थं [4]व्यवसायात्मकग्रहणम्। तथा बहिरर्थापह्नोतॄणां[5] विज्ञानाद्वैतवादिनां पुरुषाद्वैतवादिनां पश्यतोहराणां[6] शून्यैकान्तवादिनाञ्च [7]विपर्यासव्युदासार्थमर्थग्रहणम्। अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीतग्राहिधारावाहिज्ञानस्य

जिसके द्वारा प्रकर्षसे अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसायके व्यवच्छेद (निराकरण) से वस्तु-तत्त्व जाना जाय, वह प्रमाण कहलाता है। सूत्रमें ऐसे प्रमाणके लिए जो ज्ञान विशेषण दिया गया है, वह नैयायिकादि मतावलम्बियोंके द्वारा परिकल्पित अज्ञानरूप सन्निकर्षादिकी प्रमाणताके निराकरणके लिए दिया गया है। बौद्ध लोग यद्यपि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, तथापि वे प्रत्यक्ष प्रमाणके स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ऐसे चार भेद मान करके भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं अर्थात् उनके मतानुसार प्रत्यक्षप्रमाण वस्तुका निश्चायक नहीं है। उनके इस सिद्धान्तके निरासके लिए सूत्रमें 'व्यवसायात्मक' पदका ग्रहण किया गया है। तथा बाह्य पदार्थका अपलाप (लोप) करनेवाले विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी लोगोंके और प्रत्यक्ष दिखनेवाले पदार्थोंका भी लोप करनेवाले शून्यै-

३. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति सम्यग्ज्ञानानां सामान्यज्ञानपदेन संग्रहात् हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थं ज्ञानमिति पृथक् पदम्। ज्ञानं प्रमाणं भवितुमर्हति; स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। अत्र ज्ञानमिति विशेषणेनाव्याप्तिपरिहारः। व्यवसायात्मकमिति विशेषणेनातिव्याप्तिपरिहारः। स्वपदेनासम्भवदोषनिराकरणम्।
४. प्रमेयप्रमितेराभिमुख्येन चेतनात्मकः। यः प्रमातुः प्रयत्नः स्यात्तत्प्रमाणं जिनैर्मतम्॥

१. सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः। आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसायौ ग्राह्यौ। २. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। कारकाणां समूहः कारकसाकल्यम्। लघुनैयायिकानां सन्निकर्षो जरन्नैयायिकानां कारकसाकल्यम्, कापिलानामिन्द्रियवृत्तिः प्राभाकराणां ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि। ३. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसमनन्तरमवभिन्द्रियप्रत्यक्षम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिकारणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनःप्रत्यक्षम्। क्षणिकभावनापरमप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षं योगाचारवेदान्तिकमाध्यमिकानाम्। सर्वं माध्यमिके शून्यं योगाचारेऽबहिर्गतम्। सौत्रान्तिकेऽनुमेयं स्यात्सर्वं वैभाषिके स्फुटम्॥ ४. निश्चयात्मकम्। ५. अपलापिनाम्। ६. पश्यन्तमनादृत्य हर्तॄणाम्। ७. विपर्ययनिराकरणार्थम्।

प्रमाणतापरिहारार्थमुक्तम् । तथा 'परोक्षज्ञानवादिनां[1] मीमांसकानामस्वसंवेदनज्ञानवादिनां[2] सांख्यानां ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां[3] यौगानाञ्च[4] मतमपाकर्तुं स्वपदोपादानम् । इत्यव्या-[5]प्त्यतिव्याप्त्य[6]सम्भव[7]दोषपरिहारात् सुव्यवस्थितमेव प्रमाणलक्षणम् । अस्य च प्रमाणस्य यथोक्तलक्षणत्वे साध्ये प्रमाणत्वादिति हेतुरत्रैव द्रष्टव्यः, [8]प्रथमान्तस्यापि हेतुपरत्वेन निर्देशोपपत्तेः; प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' इत्यादिवत् ।

कान्त वादियोंके विपरीत मतोंके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'अर्थ' पदका ग्रहण किया गया है । अर्थपदके साथ जो 'अपूर्व' विशेषण दिया गया है वह गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञानकी प्रमाणताके परिहार करनेके लिए दिया है । तथा परोक्षज्ञानवादी मीमांसकों, अस्वसंवेदनज्ञानवादी सांख्यों और ज्ञानान्तर-प्रत्यक्षज्ञानवादी यौगोंके मतोंका निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'स्व' पदका उपादान (ग्रहण) किया गया है । इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव नामक लक्षणके जो तीन दोष न्यायशास्त्रमें माने गये हैं, उनके परिहार हो जानेसे प्रमाणका सूत्रोक्त लक्षण सुव्यवस्थित सिद्ध होता है ।

इस प्रमाणके यथोक्त लक्षणत्वको साध्य माननेपर प्रमाणत्व हेतु भी यहीं कहा गया जानना चाहिए ।

भावार्थ—इस वाक्यमें अनुमान-प्रयोगके द्वारा प्रमाणकी प्रमाणताका निरूपण किया गया है । यथा—स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, प्रमाणता होनेसे । इस वाक्य-प्रयोगमें प्रमाण पद धर्मी (पक्ष) है, स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान साध्य है और प्रमाणत्व हेतु है ।

शङ्का—हेतुमें पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग किया जाता है, किन्तु सूत्रमें प्रमाण पदके तो प्रथमा विभक्तिका ही प्रयोग किया गया है, अतः वह प्रमाण पद हेतुरूपसे कैसे समझा जाय ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि कितने ही स्थलोंपर प्रथमा-विभक्त्यन्त पदका भी हेतुरूपसे निर्देश किया गया है । जैसे 'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है' यहांपर प्रत्यक्ष धर्मी है, विशद ज्ञान साध्य है और प्रत्यक्षत्व हेतु है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

---

१. परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानं ज्ञानमात्मा प्रभाकृतः । ज्ञानं फलं च भट्टस्य शेषं प्रत्यक्ष-मिष्यते ॥ २. ज्ञानमस्वसंविदितमचेतनत्वात्, ज्ञानमचेतनं प्रधानपरिणामित्वादिति वादिनाम् । ३. एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानं न स्वसंवेदितमित्यर्थः । ४. नैया-यिकवैशेषिकाणाम् । ५. लक्षणत्वेनाभिमतेषु वस्तुषु क्वचित्प्रवर्तनं क्वचिच्चाप्रवर्तनमव्याप्तिः ६. लक्ष्येऽलक्ष्ये च वर्तनमतिव्याप्तिः । ७. यत्र लक्ष्ये क्वाप्यवर्तनमसम्भवः । ८. पञ्चम्यन्तस्यैव

तथाहि—प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं भवति, प्रमाणत्वात्। यत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं न भवति, न तत्प्रमाणम्, यथा [1]संशयादिर्[2]घटादिश्च। प्रमाणञ्च विवादापन्नम्[3]। [4]तस्मात्स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमेव भवतीति। न च प्रमाणत्वमसिद्धम्; सर्वप्रमाणस्वरूपवादिनां प्रमाणसामान्ये[5] विप्रतिपत्त्यभावात्, [6]अन्यथा स्वेष्टानिष्टसाधन-दूषणायोगात्[7]।

अथ धर्मिण एव हेतुत्वे [8]प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः स्यादिति चेन्न; विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषाभावात्।

अब उक्त प्रयोगका खुलासा करते हैं—स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणता उसीमें पाई जाती है। जो स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, वह प्रमाण भी नहीं है। जैसे-संशयादिक स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, अतः प्रमाण नहीं। तथा जैसे घट-पटादिक स्वार्थपूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं, अतः वे भी प्रमाण नहीं है। यतः प्रमाण स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक होता है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है। यहां प्रमाणत्वरूप हेतुका कथन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि प्रमाणका स्वरूप माननेवाले किसी भी वादी को प्रमाणसामान्यके माननेमें कोई भी विवाद नहीं है। यदि प्रमाणको न माना जाय तो अपने इष्ट तत्त्वका साधन और अनिष्ट तत्त्वका दूषण नहीं बन सकता है।

शङ्का—ऊपर अनुमानका प्रयोग करते हुए प्रमाणरूप धर्मीका ही हेतु-रूपसे प्रयोग किया गया है, अतः वह हेतु न रह कर प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका हेत्वाभास हो गया है और हेत्वाभाससे अभीष्ट साध्यकी सिद्धि होती नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमाणविशेषको धर्मी मानकर प्रमाणसामान्यको हेतुरूपसे प्रयोग करनेपर कोई दोष नहीं है।

हेतुत्वात्-प्रथमान्तस्य कथं हेतुत्वमिति शङ्कायामाह—प्रथमान्तस्येति। यथा—गुरवो राजमाषा न भक्षणीया इत्यत्र प्रथमान्तोऽपि गुरुत्वादिति हेतुः। प्रत्यक्षं धर्मी विशदं ज्ञानं भवितुमर्हति; प्रत्यक्षत्वात्।

१. बौद्धान् प्रति दृष्टान्तः। २. नैयायिकान् प्रति दृष्टान्तः। ३. निगमनम्। ४. प्रमाणत्वात्। ५. सर्वेषु प्रमाणेषु प्रमाणत्वसम्भवात् विवादाभावात् सामान्येनैककथनात्। ६. प्रमाणाभावे। ७. शून्यवादिनाम्।

८. धर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा हेतुश्चेत् प्रमाणत्वस्य स्वरूपासिद्धत्वं माभूत्, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वं स्यादित्याशङ्कयते।

एतेन[1]ापक्षधर्मत्व[2]मपि प्रत्युक्तम्[3], सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वात् । न च पक्षधर्मताबलेन हेतोर्गमकत्वम्, अपि त्वन्यथानुपपत्ति[4]बलेनेति । सा चात्र नियमवती[5] विपक्षे[6] बाधकप्रमाणबलान्निश्चितैव । एतेन[7] विरुद्धत्व[8]मनैकान्तिकत्वञ्च[9] निरस्तं बोद्धव्यम् । विरुद्धस्य व्यभिचारिणश्चाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणत्वायोगात् । अतो[10] भवत्येव साध्यसिद्धिरिति केवलव्यतिरेकिणोऽपि हेतोर्गमकत्वात्, सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्वादितिवत्[11] ।

इस पूर्वोक्त कथनसे अर्थात् हेतुके अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयके समर्थनसे हेतुकी अपक्षधर्मताका भी निराकरण किया गया समझना चाहिए; क्योंकि सामान्य अपने समस्त विशेषोंमें व्याप्त होकर रहता है। तथा पक्षधर्मताके बलसे हेतुकी साध्यके प्रति गमकता नहीं है; अपितु अन्यथानुपपत्तिके बलसे ही साध्यके प्रति गमकता है। साध्यके विना साधनके नहीं होनेको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। वह अन्यथानुपपत्ति यहां प्रकृतमें प्रमाणत्व हेतुकी स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानरूप साध्यके साथ नियमवती है, अर्थात् नियमसे पाई जाती है, इसलिए वह विपक्ष जो संशयादिक उनमें बाधक-प्रमाणके बलसे निश्चित ही है। इसी कथनसे हेतुके विरुद्धपने और अनैकान्तिकपनेका भी निराकरण किया गया समझना चाहिए; क्योंकि विरुद्ध हेतुके और व्यभिचारी (अनैकान्तिक) हेतुके अविनाभावरूप नियमके निश्चयस्वरूप लक्षणपनेका अभाव है। अतः प्रमाणत्व हेतुसे यथोक्त साध्यकी सिद्धि होती ही है; क्योंकि केवलव्यतिरेकी हेतुको भी गमकपना माना गया है। जैसे कि जीता हुआ शरीर आत्मा-सहित है; क्योंकि वह प्राणादिमान् है। जो आत्म-सहित नहीं होता, वह प्राणादिमान् भी नहीं होता; जैसे श्वासोच्छ्वासादिसे रहित मृतक शरीर। यहांपर प्राणादिमत्व यह हेतु केवलव्यतिरेकी है, क्योंकि इसके अन्वयव्याप्तिरूप दृष्टान्तका अभाव है।

---

१. हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयसमर्थनेन। २. विवादाध्यासितं तथा चेदं प्रमाणं न भवतीति। ३. निरस्तम्। ४. साध्याभावे साधनाभावः। साध्यं विना हेतोरभवनमविनाभावो यतः—अतएव उदेष्यति शकटं कृतिकोदयादित्यादौ कृतिकोदयः शकटधर्मो न भवति, साध्यमन्तरेण हेतोरभवनं न विद्यते। ५. अविनाभाववती। ६. प्रमाणत्वस्य हेतोः सन्निकर्षादावप्रवर्तकत्वात्। ७. साध्यसाधनेन। ८. साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः। ९. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। १०. हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषत्रयाभावः समर्थितो यतः। ११. यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद् दृष्टं यथा मृतकशरीरम्।

अथेदानीं[1] स्वोक्तप्रमाणलक्षणस्य ज्ञानमिति विशेषणं समर्थयमानः[2] आह—

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥

हितं सुखं तत्कारणञ्च[3]। अहितं दुःखं तत्कारणञ्च[4]। हितं चाहितं च हिताहिते। तयोः प्राप्तिश्च परिहारश्च, तत्र समर्थम्[5]। 'हि' शब्दो यस्मादर्थे। तेनायमर्थः[6] सम्पादितो भवति—यस्माद्धिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रमाणम्, ततस्तत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं[7] वस्तु[8] ज्ञानमेव भवितुमर्हति, नाज्ञानरूपं सन्निकर्षादिः। तथा च प्रयोगः[9]—प्रमाणं ज्ञानमेव, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्। यत्तु न ज्ञानं तन्न हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थम्, यथा घटादि। [10]हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थञ्च विवादापन्नम्[11], [12]तस्माज्ज्ञानमेव भवतीति[13]। न[14] चैतदसिद्धम्, हितप्राप्तयेऽहितपरिहाराय च प्रमाणमन्वेषयन्ति[15] प्रेक्षापूर्वकारिणो न व्यसनितया[16]; सकलप्रमाणवादिभिरभिमतत्वात्।

अब आगे अपने कहे गये प्रमाणके लक्षणमें जो ज्ञान यह विशेषण दिया है, उसका समर्थन करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—यतः प्रमाण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादिक नहीं ॥२॥

सुख और सुखके कारणको हित कहते हैं। दुःख और दुःखके कारणको अहित कहते हैं। पहले इन दोनोंका द्वन्द्वसमास करना, पुनः प्राप्ति और परिहारका द्वन्द्वसमास करना। 'हि' शब्द हेतुके अर्थमें है। तब यथाक्रमसे दोनोंको मिलानेपर यह अर्थ सम्पादित होता है—यतः हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें समर्थ प्रमाण है, अतः वह प्रमाणस्वरूपसे स्वीकृत वस्तु ज्ञान ही होनेके योग्य है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादिक नहीं। सूत्रोक्त कथनका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—प्रमाण ज्ञान ही है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें समर्थ है (हेतु)। जो वस्तु ज्ञानरूप नहीं है, वह हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें समर्थ भी नहीं है; जैसे घटादिक (उदाहरण)। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें समर्थ विवादापन्न प्रमाण है (उपनय), अतः वह ज्ञान ही हो सकता है (निगमन)। इसप्रकार

---

१. असाधारणप्रमाणस्वरूपकथनानन्तरम्। २. सूत्रसामान्यस्वरूपं प्रतिपाद्य। ३. स्रग्वस्त्रादि, सम्यग्दर्शनादि। ४. कण्टकादि, मिथ्यात्वादि। ५. शक्तियुक्तम्। ६. वक्ष्यमाणार्थः। ७. अङ्गीकृतम्। ८. प्रमाणम्। ९. अनुमानम्। १०. उपनयस्तथा चेदम्। ११. ज्ञानमज्ञानं चेति विप्रतिपन्नं प्रमाणं भवति। १२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्। १३. निगमनम्। १४. एतत्साध्यसाधनमसिद्धमित्युक्ते नेत्याह। १५. विचारयन्ति। १६. कार्यं विना प्रवृत्तिर्व्यसनम्।

अत्राह सौगतः—भवतु नाम सन्निकर्षादिव्यवच्छेदेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्[१], न तदस्माभिर्निषिध्यते। तत्तु व्यवसायात्मकमेवेत्यत्र न युक्तिमुत्पश्यामः। अनुमानस्यैव व्यवसायात्मनः[२] प्रामाण्याभ्युपगमात्[३]। [४]प्रत्यक्षस्य तु निर्विकल्पकत्वे[५]ऽप्यविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेरिति तत्राह—

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥

तत्प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं [६]वस्त्विति धर्मिनिर्देशः। [७]व्यवसायात्मकमिति साध्यम्। [८]समारोपविरुद्धत्वादिति हेतुः। [१०]अनुमानवदिति दृष्टान्तः इति। अयमभिप्रायः—

सूत्रोक्त अर्थका यह पञ्च अवयवरूप अनुमान-प्रयोग है। इसमें प्रयुक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचारपूर्वक कार्य करनेवाले बुद्धिमान् लोग हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारके लिए प्रमाणका अन्वेषण करते हैं, व्यसनरूपसे नहीं; यह बात सभी प्रमाणवादियोंने स्वीकार की है।

यहां पर बौद्ध लोग कहते हैं कि सन्निकर्षादिकी प्रमाणताका निराकरण करके ज्ञानके ही प्रमाणता भले ही रही आवे, उसका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह ज्ञान व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ही हो, इसमें हम कोई युक्ति नहीं देखते हैं। हम लोगोंने तो व्यवसयात्मक अनुमानकी ही प्रमाणता स्वीकार की है। प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, अतः व्यवसायात्मक नहीं है, तथापि अविसंवादी होने से उसकी प्रमाणता बन जाती है। इस प्रकार कहनेवाले बौद्धोंको लक्ष्य करके आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह ज्ञान निश्चयात्मक है; क्योंकि वह समारोपका विरोधी है। जैसे अनुमान ॥ ३ ॥

सूत्रोक्त 'तत्' पदके द्वारा प्रमाणरूपसे स्वीकृत ज्ञानरूप वस्तु विवक्षित है, इस प्रकार धर्मीका निर्देश किया। व्यवसायात्मक यह साध्य है। समारोप-विरोधित्व हेतु है और अनुमान यह दृष्टान्त है। इसका यह अभिप्राय है—

---

१. उपादेयभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वात्। २. निश्चयात्मनः। ३. अङ्गीकारात्। ४. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। ५. अव्यवसायात्मकत्वेऽपि।

६. प्रमाणभूतं ज्ञानम्। ७. निश्चयात्मकम्। ८. संशयविपर्ययानध्यवसायलक्षणसमारोपः, तत्प्रतिपक्षत्वात्। प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमविसंवादित्वेन, तदपि अर्थक्रियास्थितत्वेन, तदप्यर्थप्रापकत्वेन, तदपि प्रवर्तकत्वेन, तदपि स्वविषयोपदर्शकत्वेन, तदपि निश्चयोत्पादकत्वेन, तदपि गृहीतार्थाव्यभिचारत्वेन। ९. अन्धकारप्रकाशयोरहिनकुलयोः, रूपरसयोः सहानवस्थान-वध्यघातक-परस्पर-परिहारस्थितिलक्षणेषु विरोधेष्वत्र सहानवस्थानलक्षणविरोधो ग्राह्यः। १०. अनुमानप्रमाणवत्। अनुमानपुरःसरेण साधनान्तरेण

संशयविपर्यासानध्यवसायस्वभावसमारोपविरोधिग्रहणलक्षणव्यवसायात्मकत्वे सत्येवाविसंवादित्व[1]मुपपद्यते। अविसंवादित्वे[2] च प्रमाणत्वमिति चतुर्विधस्यापि समक्षस्य[3] प्रमाणत्वमभ्युपगच्छता[4] समारोपविरोधिग्रहणलक्षणं[5] निश्चयात्मकमभ्युपगन्तव्यम्। ननु[6] तथापि समारोपविरोधिव्यवसायात्मकत्वयोः समानार्थकत्वात्[7] कथं साध्य-साधनभाव इति न मन्तव्यम्, ज्ञानस्वभावतया [8]तयोरभेदेऽपि व्याप्य[10]-व्यापकत्व[11]धर्माधारतया भेदोपपत्तेः शिंशपात्ववृक्षत्ववत्।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसायके स्वभावरूप जो समारोप है उसके विरोधी पदार्थको ग्रहण करना अर्थात् जानना ही जिसका लक्षण है, इस प्रकारके व्यवसायात्मकपनाके होने पर ही अविसंवादीपना बन सकता है और अविसंवादीपनाके होनेपर ही ज्ञानकी प्रमाणता हो सकती है। इसलिए पूर्वोक्त चारों प्रकारके प्रत्यक्षोंको प्रमाणता स्वीकार करनेवाले बौद्धोंको चाहिए कि वे उसे (प्रत्यक्षको) समारोपका जो विरोधी कहिए जानना है लक्षण जिसका ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानको ही प्रमाणरूपसे स्वीकार करें।

शङ्का—आपके कथनानुसार तो समारोपका विरोधी होना और व्यवसायात्मक होना ये दोनों समानार्थक हैं, तब उनमें साध्य-साधन-भाव कैसे बन सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञानस्वभावरूपसे उन दोनोंमें अभेद होनेपर भी व्याप्य-व्यापकरूप धर्मोंके आधारकी अपेक्षा भेद बन जाता है। जैसे शिंशपात्व और वृक्षत्वमें।

विशेषार्थ—जो सबमें रहे वह व्यापक और अल्पमें रहे वह व्याप्य कहलाता है। जैसे वृक्षपना व्यापक है, क्योंकि वह आम, नीम, शीशम

व्यवस्थापयतीति जैनः। १. निश्चयो ग्रहणं अस्ति तत्रासत्येऽपि सत्यवत्। ज्ञाने यत्तु समारोपविरोधित्वं सत्यमेव तत्॥ २. इदमपि व्यापकत्वं प्रमाणत्वस्य। ३. स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य। ४. प्रत्यक्षस्य। ५. अङ्गीकुर्वता सौगतेन। ६. ज्ञानम्। ७. बौद्ध आह। ८. साध्यसमोऽयं हेतुः। ९. समारोपविरोधिव्यवसायात्मकत्वयोः। १०. तदभाववदवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्। ११. तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं व्यापकत्वम्। व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च। व्याप्यं गमकमादिष्टं व्यापकं गम्यमिष्यते॥ अत्र व्यापकं व्यवसायात्मकं तत्तु विपर्ययज्ञानेऽपि विद्यते। समारोपविरोधित्वं व्याप्यं तत्तु व्यवसाये एव, न तु विपर्यये तस्माद्भेदः।

आदि सभी जातिके वृक्षोंमें रहता है, और शीशमपना व्याप्य है, क्योंकि वह केवल शीशम जातिके वृक्षोंमें ही रहता है। अतः व्यापक गम्य और व्याप्यको गमक कहा जाता है। जैसे शीशम कहनेसे वृक्षत्वका बोध स्वयं हो जाता है, अतः व्याप्य शीशम तो गमक है और व्यापक वृक्ष गम्य है। इसी प्रकार प्रकृतमें व्यवसायात्मक ज्ञान तो व्यापक है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयात्मक प्रमाणरूप ज्ञानमें भी रहता है और अन्यथा-निश्चयात्मक विपर्ययज्ञानमें भी रहता है। समारोपका विरोधीपना तो यथार्थ-निश्चयात्मक ज्ञानमें ही रहता है, विपर्ययज्ञानमें नहीं, इसलिए वह व्याप्य है। इस प्रकार दोनोंमें भेद कहा गया है। अर्थात् समारोपविरोधीपना साधन होनेसे व्याप्य है और निश्चयात्मकपना साध्य है अतः व्यापक है। इसप्रकार समारोपविरोधित्व और व्यवसायात्मकत्वमें साध्य-साधनभाव तथा व्याप्य-व्यापकभाव बन जाता है। बौद्ध लोग प्रमाण तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों ज्ञानोंको मानते हैं, किन्तु व्यवसायात्मक केवल अनुमानको ही मानते हैं, प्रत्यक्षको नहीं। इतने पर भी प्रत्यक्षका लक्षण कल्पनासे रहित, अभ्रान्त और अविसंवादी कहते हैं, इसीसे उसे अर्थक्रिया-स्थित, वस्तुका प्राप्त करनेवाला, प्रवर्तक, स्वविषयोपदर्शक, निश्चयोत्पादक और गृहीतार्थ-अव्यभिचारी कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्षके ये सर्व विशेषण तो उसे व्यवसायात्मक मानने पर ही सम्भव हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए यह कहा गया है कि जैसे बौद्ध अनुमान-प्रमाणको अर्थका निश्चायक मानते हैं, उसी प्रकार उन्हें प्रत्यक्ष-प्रमाणको भी निश्चयात्मक मानना चाहिए। इसी सूत्रमें प्रमाणको समारोपका विरोधी कहा है। सो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञानको समारोप कहते हैं। सन्देहात्मक ज्ञानको संशय, विपरीत ज्ञानको विपर्यय और अनिश्चयरूप ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं। विरोध तीन प्रकारका माना गया है—सहानवस्थानलक्षण, परस्परपरिहारलक्षण और वध्यघातकलक्षण। अन्धकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते, अतः उनमें सहानवस्थानलक्षण विरोध है। रूप और रस एक साथ रहते हैं, फिर भी उन दोनोंका लक्षण परस्पर भिन्न है, अतः रूप-रसमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध माना जाता है। सर्प और नकुलमें वध्यघातक विरोध है क्योंकि नकुल सर्पका घातक है और सर्प नकुलका वध्य। प्रकृतमें यहाँपर समारोप और यथार्थ व्यवसायात्मकपनेके सहानवस्थानलक्षण विरोध है; क्योंकि जहाँ वस्तुका यथार्थ निश्चय हो वहां संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप समारोपका रहना सम्भव नहीं है।

[1]अथेदानीं [2]सविशेषणमर्थग्रहणं समर्थयमानस्तदेव स्पष्टीकुर्वन्नाह—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥

यः प्रमाणान्तरेण[3] संशयादिव्य[4]वच्छेदेनानध्यवसितः[5] सोऽपूर्वार्थः। तेनेहादि[6]-ज्ञानविषयस्यावग्रहादिगृहीतत्वेऽपि न पूर्वार्थत्वम्। अवग्रहादिनेहादिविषयभूतावान्तर-विशेषनिश्चयाभावात्।

अब आगे प्रमाणके लक्षणमें अर्थपदको जो अपूर्व विशेषण दिया है उसका समर्थन करते हुए आचार्य उसके अर्थका स्पष्टीकरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिस पदार्थका पहले किसी प्रमाणसे निश्चय नहीं किया गया है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं ॥ ४ ॥

जिस वस्तुका संशयादिके व्यवच्छेद करनेवाले किसी अन्य प्रमाणसे पहले निश्चय नहीं हुआ है, अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थग्राही प्रमाणसे अभी तक जानी नहीं गई है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं। जो वस्तु किसी प्रमाणके द्वारा पहले जानी जा चुकी है, उसका पुनः किसी ज्ञानके द्वारा जानना व्यर्थ है, इस बातके दिखानेके लिए ही अपूर्व विशेषण पहले सूत्रमें दिया गया है। इसलिए यहाँपर ईहा आदि ज्ञानोंका विषयभूत पदार्थ अवग्रहादि ज्ञानोंके द्वारा गृहीत या ज्ञात होनेपर भी पूर्वार्थ नहीं, अपितु अपूर्वार्थ ही रहता है; क्योंकि अवग्रहादिके द्वारा ईहादिज्ञानके विषयभूत अवान्तरविशेषका निश्चय नहीं होता है।

विशेषार्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप जो मतिज्ञानके चार भेद जैन आगममें बतलाये गये हैं, उनकी व्यवस्था यह है कि जिस पदार्थको

---

१. प्रत्यक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वसमर्थनानन्तरम्। २. व्यवसायात्मकं भवतु, अर्थविशेषणं माऽस्तु, इति विज्ञानाद्वैतवादिनाम् 'अपूर्व' इति विशेषणेन सह वर्तमानम्।

३. प्रकृतात्प्रमाणादन्यत्प्रमाणान्तरम्, तेन येन केनचित्प्रमाणान्तरेण। ४. त्यागेन। ५. अनिश्चितः। ६. अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहावायो विनिश्चयः। धारणा स्मृतिहेतुः स्यान्मतिज्ञानं चतुर्विधम्॥ विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति। तत्पश्चादर्थरूप-ग्रहणमवग्रह उच्यते। यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः। अवग्रहेण गृहीतार्थस्य विशेषपरिज्ञानाकाङ्क्षणमीहा कथ्यते। यथा शुक्लं रूपं मया दृष्टं तद्बलाका आहोस्वित्पताका वेति विशेषाकाङ्क्षणमीहा। तदनन्तरमेषोत्पतति निपतति पक्षविक्षेपादिकं करोति, तेन ज्ञायतेऽनया बलाकया भवितव्यम्। एवं याथात्म्यावगमनं वस्तुरूपनिर्धारणमवाय इति। अवायस्य सम्यक्परिज्ञानस्य यत्कालान्तराविस्मरणकारणं सा धारणा।

अथोक्तप्रकार एवापूर्वार्थः, किमन्योऽप्यस्तीत्याह—

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥

दृष्टोऽपि गृहीतोऽपि, न केवलमनिश्चित एवेत्यपि'शब्दार्थः। 'तादृगपूर्वार्थो भवति। समारोपादिति हेतुः। एतदुक्तं भवति—गृहीतमपि ध्यामलिताकारतया[3] यन्निर्णेतुं न शक्यते, तदपि वस्त्वपूर्वमिति व्यपदिश्यते; प्रवृत्तसमारोपाव्यवच्छेदात्।

अवग्रह विषय करता है, ईहाके द्वारा उसीके विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा होती है, अवायके द्वारा उसीका निश्चय किया जाता है और धारणाके द्वारा वही वस्तु कालान्तर तक हृदयमें धारण की जाती है। ये चारों ही ज्ञान उक्त व्यवस्थाके अनुसार यतः गृहीत-ग्राही हैं, अतः उत्तर-उत्तर ज्ञानका विषयभूत पदार्थ अपूर्व नहीं माना जा सकता। और इसीलिए उन्हें प्रमाण भी नहीं मानना चाहिए, ऐसी आशङ्का किसी जिज्ञासुने की। उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि यद्यपि अवग्रहसे जाने हुए पदार्थको ही ईहा और ईहासे जाने हुए पदार्थको ही अवाय विषय करता है, तथापि उनके विषयभूत पदार्थमें अपूर्वता बनी रहती है; क्योंकि उन ज्ञानोंका विषय उत्तरोत्तर अवान्तर विशेषताओंको जानना है। अवग्रह जहाँ मनुष्य सामान्य को जानता है, वहाँ ईहाके द्वारा उसके दक्षिणी या उत्तरी होनेके रूपमें एक विशेषताकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है और अवायके द्वारा उसके रहन-सहन और बोल-चालके द्वारा उत्तरी या दक्षिणी होनेका निश्चय किया जाता है। इसलिए उन सब ज्ञानोंके विषयभूत अर्थ अपूर्व ही रहते हैं।

अपूर्वार्थ क्या उक्त प्रकारका ही है, अथवा अन्य प्रकारका भी है, ऐसी शङ्काका समाधान करनेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—दृष्ट अर्थात् किसी अन्य प्रमाणसे ज्ञात भी पदार्थ समारोप हो जानेसे तादृक् अर्थात् अपूर्वार्थ हो जाता है॥ ५॥

सूत्र-पठित अपि शब्दका यह अर्थ है कि केवल अनिश्चित ही पदार्थ अपूर्वार्थ नहीं, अपि तु प्रमाणान्तरसे निश्चित या गृहीत भी पदार्थमें यदि संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आदि हो जाय, तो वह भी अपूर्वार्थ ही जानना चाहिए। यहाँ समारोप होनेसे यह हेतु है। इस प्रकार सूत्रका यह अर्थ हुआ—

---

१. संशयादिव्यवच्छेदेनोत्पन्नेन प्रथमज्ञानेन गृहीतोऽर्थः द्वितीयज्ञानस्यापूर्वार्थः, मध्योत्पन्नसंशयादीनां प्रथमज्ञानेन व्यवच्छेदाभावात्। २. विस्मृतपदार्थवत्। ३ अव्यक्ताकारतया।

ननु[1] भवतु नामापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वं विज्ञानस्य; स्वव्यवसाये तु न विद्म इत्यत्राह—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं[2] स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

स्वस्योन्मुखता स्वोन्मुखता, तया स्वोन्मुखतया स्वानुभवतया[3] प्रतिभासनं[4] स्वस्य व्यवसायः।

अत्र दृष्टान्तमाह—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥७॥

तच्छब्देनार्थोऽभिधीयते। यथाऽर्थोन्मुखतया प्रतिभासनमर्थव्यवसायस्तथा स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायो भवति।

कि किसी ज्ञानके द्वारा विषयरूपसे गृहीत भी वस्तु यदि धूमिल आकार हो जानेसे निर्णय न की जासके तो वह भी अपूर्व नामसे ही कही जायगी; क्योंकि उसके विषयमें जो समारोप उत्पन्न हो गया है, उसका निराकरण नहीं हुआ अर्थात् वह बना हुआ है।

जो लोग ज्ञानको स्वव्यवसायी नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि ज्ञानको अपूर्वार्थका निश्चायक भले ही माना जाय। किन्तु उसको स्वव्यवसायी हम नहीं मानते हैं, आचार्य उन लोगोंको लक्ष्य करके उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वोन्मुखरूपसे अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय है ॥६॥

अपने आपको जाननेके अभिमुख होनेको स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभवरूपसे जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश—अपने आपको जाननेका नाम स्वव्यवसाय है।

उक्त अर्थको आचार्य दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे अर्थके उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय है ॥७॥

सूत्रमें कहे गये 'तत्' शब्दसे अर्थ (पदार्थ) का ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार पदार्थके अभिमुख होकर उसके जाननेको अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसीप्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने-आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्म-प्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

---

१. यौगः प्राह। २. आत्माभिमुखतया प्रतीतिः प्रतिभासनम्। ३. स्वस्य परिज्ञानतया। ४. ज्ञानस्य आत्मानं स्वं जानातीति प्रतीतिः प्रतिभासनम्।

अत्रोल्लेख[1]माह—

[2]घटमहमात्मना[3] वेद्मि[4] ॥८॥

ननु ज्ञानमर्थमेवाध्यवस्यति,[5] न[6] स्वात्मानम्[7]। आत्मानं [8]फलं वेति केचित्[9]। [10]कर्तृ कर्मणोरेव प्रतीतिरित्यपरे[11]। कर्तृ कर्म-क्रियाणामेव प्रतीतिरित्यन्ये[12]। तेषां मतमखिलमपि प्रतीतिबाधितमिति दर्शयन्नाह—

कर्मवत्[13]कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः[14] ॥९॥

ज्ञानविषयभूतं[15] वस्तु कर्माभिधीयते, तस्यैव ज्ञप्तिक्रियया व्याप्यत्वात्, तस्येव

अब आचार्य उक्त कथनको एक उल्लेखके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

सूत्रार्थ—मैं घटको अपने आपके द्वारा जानता हूं ॥ ८ ॥

यहाँपर 'अहं' 'पद कर्त्ता है, 'घट' कर्म है, 'आत्मना' पद करण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जाननेवाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

यहाँपर नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान केवल पदार्थको ही जानता है, अपने आपको नहीं जानता है। कितने ही लोग कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको और फलको ही जानता है। भाट्ट कहते हैं कि कर्त्ता और कर्मकी ही प्रतीति होती है, शेषकी नहीं। जैमिनीय कहते हैं कि कर्त्ता, कर्म और क्रियाकी ही प्रतीति होती है, करणकी नहीं। उक्त वादियोंके ये सभी मत प्रतीतिबाधित हैं, यह बात दिखलानेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—कर्मके समान कर्त्ता, करण और क्रियाकी भी प्रतीति होती है ॥ ९ ॥

ज्ञानकी विषयभूत वस्तु कर्म कहलाती है; क्योंकि उसका ही ज्ञप्तिक्रियाके

---

१. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुदाहरणमुल्लेखः। २. प्रमेय-प्रमातृ-प्रमाण-प्रमितयो यथासङ्ख्येन गृह्यन्ते। ३. आत्मना ज्ञानस्वरूपेण। ४. स्वपरावभासो दर्शितः। ५. प्रत्यक्षीकरोति, निश्चिनोति। ६. ज्ञानस्वरूपं न निश्चिनोति। ७. स्वरूपं पुरुषकर्त्तारं न प्रत्यक्षीकरोति। ८. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। ९. नैयायिकाः। १०. कर्मक्रिययोरेव प्रतीतिरिति वृत्तावनुक्तमुपलक्षणीयमिति प्राभाकराः। ११. भाट्टाः। परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानं ज्ञानमात्मा प्रभाकृतः। ज्ञानं फलं च भट्टस्य शेषं प्रत्यक्षमिष्यते॥ १२. जैमिनीयाः। १३. तस्येति सूत्रेणेवार्थे षष्ठ्यन्तात्कर्मशब्दाद्वत्प्रत्ययः प्रकरणबलाज्ज्ञेयम्। १४ प्रमातृप्रमाणप्रमितिक्रियाणां प्रतिभासनात्। १५. ज्ञानविषयभूतं कर्म कथं

सद्वत् । कर्त्ता आत्मा । करणं प्रमाणम् । क्रिया प्रमितिः । कर्त्ता[1] च करणं[2] च क्रिया[3] च तासां प्रतीतिः;[4] तस्याः । इति हेतौ[5] का[6] । प्रागुक्तानुभवोल्लेखे यथाक्रमं तत्प्रतीतिर्द्रष्टव्या ।

ननु[7] शब्दपरामर्शसचिवेयं प्रतीतिर्न[8] वस्तुबलोपजातेत्यत्राह—

साथ व्याप्यपना पाया जाता है । जैसेकि ज्ञप्तिक्रियाका कर्मके साथ । जानने-रूप क्रियाको ज्ञप्ति कहते हैं; ज्ञप्तिरूप क्रियाके द्वारा जो कुछ जाना जाता है, उसे कर्म कहते हैं । किसी भी वस्तुको जाननेवाला आत्मा कर्त्ता कहलाता है । जिसके द्वारा वह जानता है, ऐसा प्रमाणरूप ज्ञान करण कहलाता है और प्रमिति क्रिया है । प्रमाणके फलको प्रमिति कहते हैं । इसप्रकार कर्त्ता, करण और क्रियाका पहले द्वन्द्वसमास करके पीछे प्रतीति शब्दके साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिए । प्रतीति पदके अन्तमें पञ्चमी विभक्तिका निर्देश हेतुके अर्थमें किया गया है । जैनेन्द्रव्याकरणमें पञ्चमी विभक्तिकी संज्ञा 'का' है । इस प्रकार पहले कहे गये अनुभवके उल्लेखमें कर्म-कर्त्तादिककी यथाक्रमसे प्रतीति जाननी चाहिए । अर्थात् पूर्वसूत्रमें निर्दिष्ट 'घट' कर्म है, 'अहं' कर्त्ता है, 'आत्मना' करण है और 'वेद्मि' क्रिया है ।

भावार्थ—जैसे ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थको जानता है, उसी प्रकार वह कर्त्ता, करण और क्रियाको भी जानता है । यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि एक ही ज्ञानमें कर्त्ता, करणादि अनेक कारकरूप प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, क्योंकि अवस्था-भेदकी विवक्षासे एकमें भी अनेक कारकों की प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध अनेकान्तवादियोंके नहीं आता । वह तो सर्वथा एकान्तवादियोंके ही मतमें सम्भव है ।

यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि यह कर्त्ता-कर्मादिककी प्रतीति तो शब्दका उच्चारणमात्र ही है, वस्तुके स्वरूपबलसे उत्पन्न नहीं हुई है अर्थात् वास्तविक नहीं है । उसका आचार्य उत्तर देते हैं—

भवति ? 'क्रियाव्याप्यं कर्म, इति सूत्रसद्भावाद् दूषणं न भवत्येकार्थत्वात् । १. प्रमाता । २. प्रमाणम् । ३. प्रमितिः । ४. फलज्ञानम् । ५. हेतौ गुणे स्त्रियामिति निषेधात्कथं पञ्चमीति नाशङ्कनीयम् ; 'स्थाने कर्माधारे' इति सूत्रेण पञ्चमी भवति, इत्युक्तत्वात् अप्रयुक्तेऽपि यस्यार्थः प्रतीयते स स्थानी स्यादिति । प्रतीतिमवलम्ब्येत्यर्थः । ६. पञ्चमी ।

७. शब्दविकल्पप्रधानानां तेषां कर्मादीनाम् । ८. शब्दविकल्पप्रधानो विचारः ।

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥

यथाः घटादिशब्दानुच्चारणेऽपि घटाद्यनुभवस्तथाऽहमहमिकया योऽयमन्तर्मुखाकारतया[1]ऽवभासः स शब्दानुच्चारणेऽपि स्वयमनुभूयत इत्यर्थः।

अमुमेवार्थमुपपत्तिपूर्वकं परं प्रति सोल्लुण्ठमाचष्टे[2]—

को वा तत्प्रतिभासिन[3]मर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥

को वा लौकिकः परीक्षको वा। तेन ज्ञानेन प्रतिभासितुं शीलं[4] यस्य स तथोक्तस्तं प्रत्यक्षविषय[5]मिच्छन् विषयिधर्मस्य विषये उपचारात्[6] तदेव ज्ञानमेव तथा प्रत्यक्षत्वेन नेच्छेत्? अपि त्विच्छेदेव। अन्यथा अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः।

सूत्रार्थ—पदार्थके समान शब्दका उच्चारण नहीं करनेपर भी अपने आपका अनुभव होता है ॥ १० ॥

जैसे घट आदि शब्दके उच्चारण नहीं करनेपर भी घट आदिका अनुभव होता है, उसी प्रकार बाहरमें शब्दका उच्चारण नहीं करनेपर भी 'अहं' 'अहं' इसप्रकारके अन्तर्मुखाकाररूपसे अपने आपका स्वयं अनुभव होता ही रहता है। कहनेका भाव यह है कि जैसे घटादिको देखनेपर घटादि शब्दके बोले विना ही उसका बोध होता है, उसी प्रकार 'अहं' इत्यादि शब्दके विना कहे ही अपने आपका भी बोध होता है, अतः कर्त्ता-कर्मादिककी प्रतीतिको केवल शाब्दिक नहीं, किन्तु वास्तविक मानना चाहिए।

आगे आचार्य इसी ही अर्थको युक्तिपूर्वक परका उपहास करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञानसे प्रतिभासित हुए पदार्थको प्रत्यक्ष मानता हुआ भी स्वयं ज्ञानको ही प्रत्यक्ष न माने ॥ ११ ॥

कौन ऐसा लौकिक या परीक्षक पुरुष है, जो उस ज्ञानसे प्रतिभासनशील पदार्थको प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय मानते हुए भी उसी ज्ञानको प्रत्यक्षरूपसे स्वीकार न करे, अपितु वह करेगा ही। यहाँपर विषयी ज्ञानके प्रत्यक्षपनेरूप धर्मका विषयभूत पदार्थमें उपचार करके उक्त प्रकारका निर्देश किया गया है, अन्यथा अप्रामाणिकपनेका प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

---

१. अन्तर्जल्पाकारतया, अन्तःपरिच्छेद्यतया। २. उपहास-सहितम्। ३. अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासिनं ज्ञानमेव। ४. ज्ञानस्य ग्राहकशक्तिशीलत्वमर्थस्य ज्ञेयशक्तिशीलत्वम्। ५. मुख्यतयार्थः प्रत्यक्षरूपो नास्ति, किन्तूपचारात्प्रत्यक्षव्यवहारः। तत्र निमित्तं विषयविषयिसन्निपातः। ६. ज्ञानधर्मः प्रत्यक्षत्वं घटाद्यर्थे उपचारः, 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते' इति वचनात्।

अत्रोदाहरणमाह—

प्रदीपवत् ॥१२॥

इदमत्र तात्पर्यम्—ज्ञानं स्वावभासने स्वातिरिक्तसजातीयार्थान्तरानपेक्षं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सति अदृष्टानुयायिकरणत्वात्[2], प्रदीपभासुराकारवत्[3]।

भावार्थ—मुख्य वस्तुके अभावमें प्रयोजन और निमित्तके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है। प्रकृतमें प्रत्यक्षपना तो ज्ञानका मुख्य धर्म है, पदार्थका नहीं। किन्तु पदार्थ ज्ञानका विषय है, अतः उसमें व्यवहारके प्रयोजनसे प्रत्यक्षपनेका उपचार किया गया है। यहाँ निमित्त ज्ञान और पदार्थमें विषय-विषयीभावरूप सम्बन्धका है। यदि ऐसा न माना जाय, तो लोकका व्यवहार अप्रामाणिक हो जायगा।

अब आगे उक्त अर्थके दृढ़ करनेके लिए आचार्य उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—दीपकके समान ॥ १२ ॥

जिसप्रकार दीपककी प्रकाशता और प्रत्यक्षताको स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थकी प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञानकी भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थकी भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपकके समान ज्ञानकी भी स्वयंप्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिए।

---

१. यथैव हि प्रदीपस्य स्वप्रकाशतां प्रत्यक्षतां वा विना तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रकाशता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते, तथा प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोऽर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यात्। २. अर्थान्तरानपेक्षमित्येतावति साध्ये घटादिभिः सिद्धसाध्यता स्यात्, तत उक्तम्—सजातीयेति। तस्मिन्नप्युच्यमाने पुरुषान्तरविज्ञानेन सिद्धसाध्यता स्यात्, तन्निषेधार्थं स्वातिरिक्तग्रहणम्। तथापि परार्थानुभवनेन सिद्धसाध्यता स्यात्, अतस्तत्परिहारार्थं स्वावभासनग्रहणम्। साध्यं प्रति करणत्वादित्येतावति साधनेऽदृष्टेन व्यभिचारः, अत उक्तम्—अदृष्टानुयायीति। तथापि कुठारादिना व्यभिचारः अत उक्तम्—गुणत्वे सतीति। तथापि सन्निकर्षेण व्यभिचारः, अत उक्तम्—प्रत्यक्षार्थेति। पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यभिचारवारणायोच्यते—करणत्वादिति साधने सति कुठारादिभिर्व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सतीत्युच्यते। तावत्युच्यमानेऽदृष्टेन शक्तिना व्यभिचारः, अतस्तत्परिहारार्थम्—अदृष्टानुयायिकरणत्वादित्युच्यते। अस्मिन्नप्युच्यमाने चक्षुरादिना व्यभिचारः, अतस्तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षार्थगुणत्वे सतीत्युच्यते। ३. प्रदीपवदित्युक्ते प्रदीपस्य द्रव्यत्वेनागुणत्वात्साधनविकलोऽयं दृष्टान्तः, अत उक्तम्—भासुराकारवत्।

अथ भवतु नामोक्तलक्षणलक्षितं प्रमाणम्, तथापि तत्प्रामाण्यं[1] स्वतः परतो वा? न तावत्स्वतः, अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्[2]। नापि परतः, अनवस्थाप्रसङ्गात्[3] इति मतद्वयमाशङ्क्य तन्निराकरणेन स्वमतमवस्थापयन्नाह—

यहाँ यह तात्पर्य है—ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जाननेमें अपनेसे अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे रहित है; क्योंकि पदार्थको प्रत्यक्ष करनेके गुणसे युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करणवाला है, जैसे कि दीपकका भासुराकार।

भावार्थ—ज्ञान अपने आपके जाननेमें अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु स्वयं ही अपने आपको जानता है, क्योंकि ज्ञान आत्माका ही गुण है। जब वह जाननेकी शक्तिरूप अदृष्टके विना व्यक्तिरूप अनुयायी करणपनेको अवस्थाको प्राप्त होता है, तब वह किसी अन्यकी अपेक्षाके विना ही अपने विषयभूत पदार्थको जानता है। जैसे दीपककी प्रकाशरूप लौ अपने आपको प्रकाश करनेमें किसी दूसरी प्रकाशमान वस्तुकी अपेक्षा नहीं करती, स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करती है।

यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि प्रमाणका जो लक्षण पहले कह आये हैं, वही रहा आवे। तथापि प्रमाणकी प्रमाणता 'स्वतः' कहिए अपने आप ही होती है, अथवा 'परतः' अर्थात् अन्यसे होती है। स्वतः तो मानी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः हो, तो फिर उसके विषयमें किसीको विवाद नहीं होना चाहिए। प्रमाणकी प्रमाणता परतः भी नहीं मान सकते, क्योंकि परसे प्रमाणता माननेपर उसकी भी प्रमाणता परसे माननी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्थादोषका प्रसङ्ग आता है। इन दो मतोंकी आशङ्का करके उनके निराकरण-पूर्वक अपने मतकी स्थापना करते हुए आचार्य उत्तर

---

१. किन्नाम प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? प्रतिभातविषयाऽव्यभिचारित्वम्। तत्प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परतः; इति मीमांसकाः सङ्गिरन्ते। अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं तु परत इति ताथागताः कथयन्ति। उभयं स्वत इति सांख्याः। उभयमपि परत इति नैयायिकाः। उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परत इति स्याद्वादिनो जैनाः प्रथयन्ति। इत्येवं बहुवादिविप्रतिपत्तेः सद्भावात्संशयः स्यात्। तन्निराकरणार्थं प्रामाण्यं निरूपणीयमिति। २. प्रामाण्यं सर्वथा स्वतश्चेदविप्रतिपत्तिप्रसङ्गोऽस्तु, तथा नास्ति। ३. जलज्ञानं प्रमाणं स्नानपानक्रियान्यथानुपपत्तेः। तदनुमानस्य प्रामाण्यं कुतः? अन्यस्मात्। एवमनवस्थाचमूरिका परतः प्रामाण्यवादचमूं चञ्चमीति। किमनवस्था नाम? अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था नाम।

तत्प्रामाण्यं[1] स्वतः परतश्च ॥१३॥

सोपस्काराणि[2] हि वाक्यानि भवन्ति। तत इदं प्रतिपत्तव्यम्—अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां च परत इति। तेन[3] प्रागुक्तैकान्तद्वयनिरासः। न चानभ्यासदशायां परतः प्रामाण्येऽप्यनवस्था समाना[4], ज्ञानान्तरस्याभ्यस्तविषयस्य[5] स्वतः[6] प्रमाणभूतस्याङ्गीकरणात्। अथवा[7] प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, विशिष्ट-

---

सूत्र कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि मीमांसक तो प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः मानते हैं और अप्रमाणता परतः। सांख्य प्रमाणता परतः और अप्रमाणता स्वतः मानते हैं। नैयायिक प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों ही परतः मानते हैं। प्रमाणतासे अभिप्राय उसकी यथार्थतारूप सत्यतासे है और अप्रमाणतासे अभिप्राय उसकी अयथार्थतारूप असत्यतासे है। आचार्य इस विषयमें अपना निर्णय देते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाणकी वह प्रमाणता अभ्यासदशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें परतः होती है॥ १३ ॥

सूत्रवाक्य उपस्कार-सहित होते हैं अर्थात् उनका ठीक अर्थ जाननेकेलिए तत्संबद्ध और तत्सूचित अर्थका ऊपरसे अध्याहार करना पड़ता है, इसलिए यहाँपर इस सूत्रका यह अर्थ जानना चाहिए कि वह प्रमाणता अभ्यासदशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें परतः होती है। इस कारण पूर्वमें कहे गये दोनों एकान्तवादोंका निराकरण हो जाता है। अनभ्यासदशामें परतः प्रामाण्य मानने पर भी एकान्तपक्षके समान अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अभ्यस्त विषयस्वरूप अन्य ज्ञानकी हमने प्रमाणता स्वतः स्वीकार की है। अथवा प्रमाणकी प्रमाणता प्रथम बार उत्पत्तिकी अपेक्षा तो परतः ही होती है, क्योंकि विशिष्ट कार्यकी उत्पत्ति विशिष्ट कारणसे ही होती है।

---

१. तस्य प्रमाणस्य (ज्ञानस्य) प्रामाण्यमिति तत्प्रामाण्यं प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वमिति।

२. शब्देन शब्दान्तरमेलनमुपस्कारः, तेन सहितानि सोपस्काराणि। ३. कारणेन। ४. जैनानां न समाना। कुतो न समाना ? इति चेदाह—। ५. अभ्यस्तविषयो येन ज्ञानान्तरेण। ६. स्वतः प्रमाणभूतस्य अन्तरङ्गात् (क्षयोपशमाद्) उत्पन्नस्य घटचेटिकापेटक-दर्दुराराव-सरोजगन्धाद्यन्यथानुपपत्तिबलेन स्वतो निश्चितप्रामाण्यस्यानुमानस्याभ्युपगमात्। ७. अथवा—उत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च द्वेधाऽत्र विशेषः।

कारणप्रभवत्वाद्विशिष्टकार्यस्येति । विषयपरिच्छित्तिलक्षणे[1] प्रवृत्तिलक्षणे वा [2]स्वकार्ये अभ्यासेतरदशापेक्षया कश्चित्स्वतः परतश्चेति निश्चीयते ।[3] नन्वुत्पत्तौ विज्ञानकारणातिरिक्त-कारणान्तर[4]सव्यपेक्षत्वमसिद्धम्[5] प्रामाण्यस्य [6]तदितरस्यैवाभावात् । [7]गुणास्त्यमस्तीति

किन्तु विषयपरिच्छित्तिलक्षण अर्थात् विषयके जाननेरूप और प्रवृत्तिलक्षण-अर्थात् विषयमें प्रवर्तनरूप जो प्रमाणका कार्य है उसमें अभ्यासदशाकी अपेक्षा प्रमाणता स्वतः और अनभ्यासदशाकी अपेक्षा परतः होती है, ऐसा निश्चय जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—परिचित अवस्थाको अभ्यासदशा और अपरिचित अवस्था-को अनभ्यासदशा कहते हैं । हमें अपने गांवके जलाशय, नदी, बावड़ी आदि परिचित हैं, अतः उनकी ओर जानेपर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी प्रमाणता तो स्वतः ही होती है, । किन्तु अन्य अपरिचित ग्रामादिकमें जानेपर 'यहां जल होना चाहिए' इस प्रकार जो जलज्ञान होगा, वह शीतल वायुके स्पर्शसे, कमलोंकी सुगन्धिसे या पानी भरकर आते हुए व्यक्तियोंके देखने आदि पर निमित्तोंसे ही होगा, अतः उस जलज्ञानकी प्रमाणता अनभ्यासदशामें परतः मानी जायगी । उत्पत्तिमें परतः प्रमाणता कहनेका तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग कारण ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर भी बाह्यकारण इन्द्रियादिक-के निर्दोष होनेपर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं । अतः उत्पत्तिमें परतः प्रमाणता स्वीकार की गई है । तथा विषयके जानने रूप और प्रवृत्तिरूप प्रमाणके कार्यमें अभ्यासदशाकी अपेक्षा तो प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः अर्थात् बाह्यकारणोंके बिना अपने आप ही होती है और अनभ्यास-दशामें परतः अर्थात् बाह्यकारणोंके मिलनेपर ही होती है ।

शङ्का—प्रमाणताकी उत्पत्तिमें विज्ञानके कारण जो निर्दोष नेत्रादिक, उनसे भिन्न अन्य कारणोंकी अपेक्षा असिद्ध है अर्थात् अन्य कारण नहीं है । अतः प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः ही होती है; क्योंकि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कारणका अभाव है । यदि कहा जाय कि अन्य कारण नेत्रादिककी निर्मलता

१. जलज्ञाननिवृत्तिलक्षणे । २. स्वस्य ज्ञानस्य कार्ये प्रामाण्यं तस्मिन् । ३. प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञानकारणातिरिक्तकारणान्तरसव्यपेक्षत्वात्प्रदीप-वदित्युच्यमाने मीमांसकः प्राह—। ४. चक्षुरादेर्नैर्मल्यं—। ५ यतो ज्ञानेनैव पुरुषा अनभ्य-स्तप्रमाणकार्येऽपि प्रवर्तन्ते, ततः ज्ञानातिरिक्तकारणान्तरसव्यपेक्षत्वमसिद्धमिति । ६. ज्ञाना-तिरिक्तकारणान्तरस्यैव । ७. नयने गुणाः सन्ति, यथार्थोपलब्धेः प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति ।

वाङ्मात्रम्, विधिमुखेन[1] कार्यमुखेन[2] वा गुणानामप्रतीतेः[3]। नाप्यप्रामाण्यं स्वत एव, प्रामाण्यं तु परत एवेति विपर्ययः शक्यते कल्पयितुम्[4]; अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि त्रिरूपा-ल्लिङ्गा[5]देव केवलात्[7] प्रामाण्यमुत्पद्यमानं दृष्टम्। प्रत्यक्षादिष्वपि तथैव प्रतिपत्तव्यम्[8], नान्यथेति। तत[9] एवाऽऽप्तोक्तत्वगुणसद्भावेऽपि न तत्कृतमागमस्य प्रामाण्यम्। तत्र[10] हि गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावाच्च संशय-विपर्यासलक्षणाप्रामाण्यद्वयासत्त्वेऽपि प्रामाण्य-

---

आदि गुण पाये जाते हैं, सो यह कहना वचन-मात्र ही है, वास्तविक नहीं; क्योंकि विधिमुखसे अर्थात् प्रत्यक्षसे और कार्यमुखसे अर्थात् अनुमानसे गुणोंकी प्रतीति नहीं होती है। प्रत्यक्ष तो गुणोंके जाननेमें समर्थ है नहीं, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षकी अतीन्द्रिय अर्थमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उससे गुणोंकी प्रतीति माननेमें विरोध आता है। और अनुमान भी गुणोंके जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्ध-बलसे ही अनुमान प्रवृत्त होता है। गुणोंका कोई लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि साध्यरूप गुणोंका अनुमान किया जा सके। तथा प्रमाणमें अप्रमाणता स्वतः होती है और प्रमाणता परतः होती है, ऐसी विपरीत कल्पना करना भी शक्य नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानादिक प्रमाणोंमें प्रमाणता स्वतः प्रतिपादित की गई है। अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा त्रिरूप लिङ्गसे अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्व्यावृत्तिरूप केवल हेतुसे प्रमाणता उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। तथा 'यह जल है' इत्यादि प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानमें उसके स्वकारणसे ही प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। तथा आगमसे भी गुणोंका सद्भाव नहीं जाना जाता। यद्यपि आगममें आप्तके द्वारा कहा जाना यह गुण विद्यमान हैं, तथापि आगममें प्रमाणता उस गुणके कारण नहीं है। किन्तु आगममें गुणोंसे दोषोंका अभाव है और दोषोंके अभावसे संशय-विपर्यय-

---

१. प्रत्यक्षेण। २. अनुमानेन। ३. न खलु प्रत्यक्षं गुणान् प्रत्येतुं समर्थम्, तस्या-तीन्द्रियार्थाप्रवृत्तेर्न गुणानां तेन प्रतीतिः, विरोधात्। नाप्यनुमानम्, तस्य प्रतिबन्धबलेनो-त्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिबन्धश्चेन्द्रियगुणैः सह लिङ्गस्य, स च प्रत्यक्षेण गृह्यतेऽनुमानेन वा। न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य तत्सम्बन्धग्रहणविरोधात्। नाप्य नुमानेन, तस्यापि गृहीतसम्बन्ध-लिङ्गप्रभवत्वात्। तत्राप्यनुमानान्तरेण तत्सम्बन्धग्रहणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। ४. यतः प्रत्यक्षा-नुमानादौ स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादिति। ५. पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वपक्षव्यावृत्तिरूपात्। ६. नयने गुणाः सन्ति, यथार्थोपलब्धेः। ७. गुणनिरपेक्षात्। ८. इदं जलमिति प्रत्यक्षज्ञाने तत्कारणादेव प्रामाण्यमुत्पद्यते, इति प्रतिपत्तव्यम्; न भिन्नकारणेन। ९. प्रत्यक्षानुमानादौ स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादेव। १०. आगमे।

औत्सर्गिक[1]मनपोदित[2]मास्त एवेति। ततः[3] स्थितम्—प्रामाण्यमुत्पत्तौ न सामग्र्यन्तर[4]सापेक्षमिति। [5]नापि विषयपरिच्छित्तिलक्षणे[6] स्वकार्ये[7] स्वग्रहणसापेक्षम्[8], अगृहीतप्रामाण्यादेव ज्ञानाद्विषयपरिच्छित्तिलक्षणकार्यदर्शनात्।

[9]ननु न परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यम्, तस्य मिथ्याज्ञानेऽपि सद्भावात्। परिच्छित्तिविशेषं तु नागृहीतप्रामाण्यं विज्ञानं जनयतीति? [10]तदपि बालविलसितम्; न[11] हि प्रामाण्यग्रहणोत्तरकालमुत्पत्त्यवस्थातः आरभ्य परिच्छित्तेर्विशेषोऽवभासते, अगृहीतप्रामाण्यादपि विज्ञानान्निर्विशेषविषयपरिच्छेदोपलब्धेः[12]। ननु[13] परिच्छित्तिमात्रस्य शुक्ति-

---

रूप जो दो अप्रमाण ज्ञान उनका अभाव है, अतएव आगमकी प्रमाणता स्वाभाविकरूपसे अबाधित सिद्ध हो जाती है। इसलिए यह बात स्थित हुई कि प्रमाणकी प्रमाणता उत्पत्तिमें अन्य सामग्रीकी अपेक्षा नहीं रखती है। और न विषयपरिच्छित्तिलक्षण स्वकार्यमें ही अपने ग्रहणकी अपेक्षा रखती है; क्योंकि जिसकी प्रमाणता गृहीत नहीं है अर्थात् जानी नहीं गई है ऐसे ज्ञानसे विषयकी परिच्छित्ति-स्वरूप कार्य देखा जाता है।

यहां पर नैयायिक मीमांसकोंसे पूछते हैं कि प्रमाणका कार्य जाननामात्र है, या ज्ञान-विशेषरूप है? इनमेंसे जाननामात्र तो प्रमाणका कार्य माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह मिथ्याज्ञानमें भी पाया जाता है। यदि ज्ञानविशेष माना जाय, तो उसे अगृहीत प्रमाणतावाला विज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है। नैयायिकके इस आक्षेपका उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि आपका यह कथन बालकके वचन-विलास-समान है; क्योंकि प्रमाणकी प्रमाणता ग्रहण करनेके उत्तर कालमें उत्पत्ति-अवस्थासे लेकर जाननेरूप क्रियाकी कुछ भी विशेषता प्रतिभासित नहीं होती है। प्रत्युत अगृहीत प्रमाणतावाले भी विज्ञानसे विशेषता-रहित सामान्य विषयका ज्ञान पाया जाता है। इसपर नैयायिक कहते हैं कि जाननामात्र सामान्य ज्ञान तो सीपमें जो चांदीका ज्ञान

---

१. स्वाभाविकम्। २. अबाधितमनिराकृतमिति। ३. विज्ञानकारणादेव प्रामाण्यमुत्पद्यमानं प्रतिभासते यतः। ४. विज्ञानातिरिक्तकारणान्तरापेक्षम्। ५. ज्ञप्तिपक्षोऽयम्। ६. अज्ञानस्य निवृत्तिलक्षणे। ७. ज्ञानकार्ये। ८. नात्मग्रहणसापेक्षम्। कोऽर्थः? पूर्वमात्मनैव ज्ञानं (कर्तृ) प्रामाण्यं गृह्णातीत्ययमभिप्रायोऽस्य। ९. मीमांसकं प्रति नैयायिकः प्राह—प्रमाणकार्यं परिच्छित्तिमात्रं वा परिच्छित्तिविशेषो वेति विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयन्ति जैनाः। १०. चेष्टितम्। ११. मीमांसकः प्राह—। १२. पूर्वं यद्रजतादि वस्तु दृष्टं तदिहायान्यत्सुवर्णादिकं न दृश्यते, इति निर्विशेषविषयपरिच्छेदोपलब्धिः। १३. मीमांसकं प्रति नैयायिकः प्राह—।

कायां रजतज्ञानेऽपि सद्भावात्तस्यापि प्रमाणकार्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्—भवेदेवम्[1], यद्यर्था-न्यथात्व[2]प्रत्ययस्वहेतूत्थदोष[3]ज्ञानाभ्यां तन्नापोह्येत[4]। तस्माद्यत्र[5] कारणदोषज्ञानं बाधक-प्रत्ययो[6] वा नोदेति, तत्र स्वत[7] एव प्रामाण्यमिति। न चैव[8]मप्रामाण्येऽप्याशङ्कनीयम्[9], तस्य विज्ञानकारणातिरिक्तदोषस्वभावसामग्रीसव्यपेक्षतयोत्पत्तेः; निवृत्तिलक्षणे[10] च स्वकार्ये [11]स्वग्रहणसापेक्षत्वात्। [12]तद्धि यावन्न ज्ञातं न तावत् [13]स्वविषयात्पुरुषं निवर्तयतीति।

होता है, उसमें भी पाया जाता है, इसलिए उसे भी प्रमाणका कार्य माना जायगा? इसका उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि ऐसा तब हो, जब यदि पदार्थके अन्यथापनेकी प्रतीति और अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए दोषका ज्ञान इन दोनोंके द्वारा उसका निराकरण न किया जावे। कहनेका भाव यह कि सीपमें चांदीका जो विपरीत ज्ञान होता है, वह उसके पश्चात् उक्त दोनों कारणोंसे दूर हो जाता है। इसलिए जहाँ पर कारणके दोषका ज्ञान और बाधक प्रत्ययका उदय नहीं होता, वहांपर स्वतः ही प्रमाणता होती है। और अप्रामाण्यके विषयमें भी ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। अर्थात् अप्रमाणता स्वतः होती है, ऐसा नहीं मानना, क्योंकि विज्ञानके कारणोंसे अतिरिक्त जो दोषस्वभावरूप सामग्री है, उसकी अपेक्षासे अप्रमाणता उत्पन्न होती है। अप्रमाणता-निवृत्तिस्वरूप जो स्वकार्य है, उसमें अपने अप्रमाणतारूप स्वरूपके ग्रहणकी अपेक्षा है सो वह जब तक ज्ञात नहीं है, तब तक वह अपने अन्यथा प्रतीतिरूप विषयसे पुरुषको निवृत्त नहीं करती है। अर्थात् जब अप्रमाणताकी प्रतीति होती है, तभी उससे निवृत्ति होती है। इस प्रकार मीमांसकोंने यह

---

१. मीमांसकः प्राह—प्रथमं सर्वज्ञानं प्रमाणमेवोत्पद्यते, तस्माच्छुक्तिकायां रजत-ज्ञानमपि प्रथमं प्रमाणं भवेत्। २. अर्थो रजतलक्षणस्तस्यान्यथात्वं नेदं रजतं शुक्तिकेयं नीलपृष्ठत्रिकोणदर्शनादित्यनेन ज्ञानेन। ३. चक्षुरादिगतकाचकामलादिदोषज्ञानेन। ४. न निराक्रियेत। ५. वस्तुनि। ६. शुक्तिकेयमित्यादि बाधकज्ञानम्। ७. केवलं विज्ञान-कारणचक्षुराद्यपेक्षयैव प्रामाण्यं परतः प्रतिपद्यते, न तु गुणापेक्षया। उक्तञ्च—स्वतः सर्व-प्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते॥ ८. उत्पद्यमानस्यापीति शेषः। ९. भोः जैन, अप्रामाण्यं स्वत इति नाशङ्कनीयम्। यथा प्रमाणं प्रथममुत्पन्नं तथा सर्वेषु पदार्थेषु अप्रमाणमेव ज्ञानं जायते इति नेत्यर्थः। केवलं चक्षुराद्युत्पत्तौ प्रामाण्यं परत एवेति प्रतिपद्यते। १०. यदि शुक्तिकायां रजतज्ञानेऽपि विज्ञानकारणातिरिक्तदोषाद्यपेक्ष्यस्तर्हि तन्निवृत्तिलक्षणे स्वग्रहणं कथमिति तन्निरूपयति। ११. आत्मग्रहणमिति। १२. यदा शुक्तिकायां रजतज्ञानं भवति, तदा तन्निवृत्तिलक्षणे कार्ये न रजतम्; किन्तु शुक्तिकेयमिति ज्ञानसेऽप्रामाण्यं परत एवेति प्रदर्श्यते। १३. रजतात्।

'तदेतत्सर्व[1]मनल्पतमोविलसितम्। तथाहि—न तावत्प्रामाण्यस्योत्पत्तौ सामग्र्यन्त[2]-रापेक्षत्वमसिद्धम्, आप्तप्रणीतत्वलक्षणगुणसन्निधाने सत्येवाऽऽप्तप्रणीतवचनेषु प्रामाण्य-दर्शनात्। यद्भावाभावाभ्यां[3] यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारणकमिति लोकेऽपि सुप्रसिद्ध-त्वात्। यदुक्तं—'विधिमुखेन कार्यमुखेन वा गुणानामप्रतीतिरिति' तत्र तावदाप्तप्रणीत-शब्दे न प्रतीतिर्गुणानामित्ययुक्तम्, आप्तप्रणीतत्वहानिप्रसङ्गात्। [4]अथ चक्षुरादौ [5]गुणा-नामप्रतीतिरित्युच्यते, तदप्ययुक्तम्, नैर्मल्यादिगुणानामबलाबालादिभिरप्युपलब्धेः। अथ नैर्मल्यं स्वरूपमेव[6], न गुणः; [7]तर्हि हेतोरविनाभाववैकल्यमपि स्वरूपविकलतैव, न दोष इति समानम्[8]। अथ तद्वैकल्यमेव दोषः, तर्हि लिङ्गस्य[9] चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेव

सिद्ध किया कि प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः होती है।

मीमांसकोंके उक्त कथनका परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं—आपका यह सभी कथन महान् अज्ञानरूप अन्धकारके विलास-समान है। आगे यही स्पष्ट करते हैं—आपने जो प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें अन्य सामग्रीकी अपेक्षाका होना असिद्ध कहा, सो ठीक नहीं है; क्योंकि आगमके आप्तप्रणीतत्व-लक्षण गुणके सन्निधान (सामीप्य) होने पर ही आप्त-प्रणीत वचनोंमें प्रमाणता देखी जाती है। जिसके सद्भावमें जिस कार्यकी उत्पत्ति हो और जिसके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति न हो, वह पदार्थ उस कार्यका कारण होता है, यह बात लोकमें भी सुप्रसिद्ध है। अतः आगमकी प्रमाणता सत्यार्थ आप्तके प्रणीत होनेसे है, अन्यथा नहीं, ऐसा जानना चाहिए। और जो आपने कहा कि विधिमुख (प्रत्यक्ष) से अथवा कार्यमुख (अनुमान) से गुणोंकी प्रतीति नहीं होती है, सो आप्त-प्रणीत शब्दमें गुणोंकी प्रतीति नहीं होती, यह कहना ही अयुक्त है; क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो आगमकी आप्त-प्रणीतताकी हानिका प्रसङ्ग आता है, अर्थात् फिर आगम अनाप्त पुरुषके वचन-समान ठहरेगा। और जो आपका यह कहना है कि चक्षु आदि इन्द्रियोंमें गुणोंकी प्रतीति नहीं होती, सो आपका यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि नेत्रादिकमें निर्मलता आदि गुणोंकी उपलब्धि स्त्रियों और बालकों आदिको भी होती है। यदि आप कहें कि निर्मलता नेत्रादिकका स्वरूप ही है, गुण नहीं, तो हेतुके अविना-

---

१. जैनः प्राह। २. नैर्मल्यादिगुण-। ३. यत्सदसद्भ्याम्। ४. मीमांसकः प्राह। ५. गुणानां प्रतीतिः सर्वथा नास्तीति वदति मीमांसकः। तस्मात् कुत्रचित्स्थले गुणाः सन्तीति दर्शयित्वाऽग्रे तन्मतं खण्डयति। ६. गुण-गुणिनोरभेदात्। ७. अतो दोषोऽपि न भिन्नः। ८. यथा नैर्मल्यादिगुणाभावे स्वतः प्रामाण्यं जैनानां समायाति, तथा दोषाभावे स्वतोऽप्रामाण्यं मीमांसकानामपि स्यादित्यर्थः। ९. कारणस्य।

गुणः कथं न भवेत्? [1]आप्तोक्तेऽपि शब्दे[2] मोहादिल[3]क्षणस्य दोषस्याभावमेव यथार्थ-ज्ञानादि[4]लक्षणगुणसद्भावमभ्युपगच्छन्नन्यत्र[5] तथा[6] नेच्छतीति कथमनुन्मत्तः[7]? यथोक्त[8]-मेव—शब्दे[9] गुणाः[10] सन्तोऽपि[11] न प्रामाण्योत्पत्तौ व्याप्रियन्ते, किन्तु दोषाभाव एवेति। सत्यमुक्तम्, किन्तु न युक्तमेतत्; प्रतिज्ञामात्रेण[12] साध्यसिद्धेरयोगात्। न हि गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यत्र[13] किञ्चिन्निबन्धनमुत्पश्यामोऽन्यत्र महामोहात्[14]। अथानुमानेऽपि त्रिरूपलिङ्गमात्रजनितप्रामाण्योपलब्धिरेव तत्र[15] हेतुरिति[16] चेन्न, उक्तोत्तर[17]त्वात्।

भावकी विकलता भी स्वरूपकी विकलता ही है, दोष नहीं; यह भी समान है। सारांश यह कि इस प्रकार गुणका निषेध और दोषका निषेध दोनों समान कोटिमें आते हैं। यदि कहा जाय कि स्वरूपकी विकलता तो दोष है, तो फिर हेतुके और नेत्रादिके अपने स्वरूपकी सकलता (सम्पन्नता) को ही गुण क्यों न माना जावे? इसी प्रकार आप्तके कहे आगममें भी मोह, राग, द्वेषादि लक्षणवाले दोषके अभावको ही यथार्थ ज्ञान, वैराग्य, क्षमा आदि लक्षणवाले गुणके सद्भावको स्वीकार करते हुए भी मीमांसक अन्यत्र निर्मलता आदिमें गुणके सद्भावको नहीं मानते हैं, अतः वे उन्मत्तता-रहित कैसे माने जायें? अर्थात् उन्हें उन्मत्त ही कहना चाहिये।

और जो आपने कहा है कि आगममें पूर्वापर विरोध-रहितपना आदि गुण तो हैं, पर वे प्रमाणताकी उत्पत्तिमें व्यापार नहीं करते हैं, किन्तु दोषका अभाव ही प्रमाणताकी उत्पत्तिमें व्यापार करता है, सो आपका यह कथन यद्यपि सत्य है, किन्तु युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि प्रतिज्ञामात्रसे अर्थात् केवल कह देनेसे ही साध्यकी सिद्धि नहीं हो जाती है। 'गुणोंसे दोषोंका अभाव होता है' इस कथनमें आपके महामोहको छोड़कर हम अन्य कुछ भी कारण नहीं देखते हैं। यदि आप कहें कि अनुमानमें भी त्रिरूप लिङ्गमात्रसे उत्पन्न प्रमाणताकी उपलब्धि ही दोषके अभावमें कारण है सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। हेतुमें त्रिरूपताका होना

---

१. न केवलमपौरुषेये वेद इत्यपि शब्दार्थः। २. आगमे। ३. आदिशब्देन रागद्वेषौ गृह्येते। ४. आदिशब्देन वैराग्यक्षमे गृह्येते। ५. प्रत्यक्षाद्युत्पत्तिसामग्रीविशेषे चक्षुरादिनैर्मल्यादौ। ६. गुणसद्भावम्। ७. काकुः। ८. तत एवाऽऽप्तोक्तत्वगुण-सद्भावेत्यादिग्रन्थेन पूर्वमुक्तमेवेति भावः। ९. आप्तोक्तगुणसद्भावेऽपि। १०. पूर्वा-परविरोधरहितत्वादयः। ११. अनुमानादपि गुणाः प्रतीयन्ते, न केवलं प्रत्यक्षादित्यपि शब्दार्थः। १२. वाङ्मात्रेण। १३. वचने। १४. महामोहं वर्जयित्वा। १५ दोषाभावे। १६. कारणम्। १७. तर्हि लिङ्गस्य चक्षुरादेर्वा तत्स्वरूपसाकल्यमेव गुण इत्यादिप्रकारेण।

तत्र[1] हि त्रैरूप्यमेव गुणो[2] यथा तद्वैकल्यं दोष इति नासम्मतो[3] हेतुः। अपि चाप्रामाण्येऽप्येवं[4] वक्तुं शक्यत एव। तत्र हि दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावाच्च प्रामाण्यासत्त्वेऽप्रामाण्यमौत्सर्गिकमस्ति इत्यप्रामाण्यं स्वत[5] एवेति तस्य भिन्नकारणप्रभवत्ववर्णनमुन्मत्त-भाषितमेव स्यात्। किञ्च[6] गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यभिदधता[7] गुणेभ्यो गुणा एवेत्यभिहितं स्यात्; [8]भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य[9]। ततोऽप्रामाण्यासत्त्वं प्रामाण्यमेवेति नैतावता परपक्ष-प्रतिक्षेपः[10]; अविरोधकत्वात्[11]। तथा[12] अनुमानतोऽपि[13] गुणाः प्रतीयन्त[14] एव। तथा हि—प्रामाण्यं विज्ञानकारणातिरिक्तकारण[15]प्रभवम्, विज्ञानान्यत्वे सति [16]कार्यत्वादप्रामाण्य-

ही गुण है, जैसे कि उसकी विकलता अर्थात् त्रिरूपताका न होना दोष है, इस प्रकार हेतु असम्मत नहीं है अर्थात् भले प्रकारसे माना हुआ है। दूसरी बात यह है कि अप्रमाणताके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है कि दोषोंसे गुणोंका अभाव होता है, और उनके अभावसे प्रमाणताके अभावमें अप्रमाणता स्वभावतः सिद्ध होती है, इस प्रकार अप्रमाणताके स्वतः सिद्ध होने पर उसकी भिन्न कारणोंसे उत्पत्तिका वर्णन उन्मत्त-भाषित ही सिद्ध होता है।

भावार्थ—मीमांसक ज्ञानमें प्रमाणता तो स्वतः मानते हैं, किन्तु अप्रमाणता परतः मानते हैं। किन्तु ऊपरके कथनानुसार दोनों ही स्वतः सिद्ध होते हैं अतः उनकी उक्त मान्यता खण्डित हो जाती है।

और एक बात यह भी है कि 'गुणोंसे दोषोंका अभाव होता है' ऐसा कहनेवाले मीमांसकोंके द्वारा गुणोंसे गुण होते हैं, यही कहा गया है; क्योंकि अभाव भी भावान्तर-स्वभाववाला होता है, तुच्छाभावरूप नहीं। इसलिए अप्रामाण्यका अभाव ही प्रामाण्य है, सो इतने कहने मात्रसे पर-पक्षका निराकरण नहीं हो जाता है, क्योंकि यह कथन पर-पक्षका विरोधी नहीं है। तथा अनुमानसे भी गुण प्रतीत होते ही हैं। आचार्य स्वयं ही उसे कहते हैं—प्रामाण्य विज्ञानके कारणोंसे अतिरिक्त अन्य कारणोंसे उत्पन्न होता है, क्योंकि

१. हेतौ। २. अविनाभावित्व गुणस्तद्वैकल्यमेव दोषः। ३. कथं न सम्मतो हेतुः, गुणयुक्तत्वात्। ४. गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यादिप्रकारेण। ५. एवं च सति प्रामाण्य परत एव जायते, गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यादिना। ६. प्रकारान्तरेण वदति। ७. त्वया मीमांसकेन। ८. भावान्तरस्वभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया, घटाभावस्य कपालस्वभाववत्। ९. प्रध्वंसाभावस्य। १०. जैनपक्षनिराकरणम्। ११. अप्रतिषेध-कत्वात्। १२. प्रत्यक्षप्रकारेणोक्तम्। १३. अनुमानतोऽपि गुणाः प्रतीयन्ते एव, न केवलं प्रत्यक्षादित्यपि शब्दार्थः। १४. प्रामाण्योत्पत्तौ गुणा व्याप्रियन्ते, अनुमानात् प्रतीतिविषयाः क्रियन्ते। १५. विशदादिगुणाख्यं वा। १६. कार्यत्वादित्युक्ते

वत्[1]। तथा[2] प्रमाणप्रामाण्ये[3] भिन्नकारणजन्ये, भिन्नकार्यत्वात्; घटवस्त्रवदिति च। ततः स्थितं प्रामाण्यमुत्पत्तौ [4]परापेक्षमिति। तथा[5] विषयपरिच्छित्तिलक्षणे वा [6]स्वकार्ये स्वग्रहणं[7] नापेक्षत इति नैकान्तः, क्वचिदभ्यस्तविषय[8] एव परानपेक्षत्वव्यवस्थानात्[9]। अनभ्यस्ते तु जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानं [10]परापेक्षमेव। सत्यमिदं जलम्, विशिष्टाकारधारित्वात्, घटचेटिकापेटक-दर्दुराराव-सरोजगन्धवत्त्वाच्च; परिदृष्टजलवदित्यनुमानज्ञानादर्थ[11]क्रियाज्ञानाच्च स्वतः[12]सिद्धप्रामाण्यात्[13] प्राचीनज्ञानस्य [14]यथार्थत्वमा-

वह विज्ञानसे भिन्न होकर कार्य है; जैसे कि अप्रामाण्य। तथा अन्य अनुमान-प्रयोग करते हैं—प्रमाण और प्रामाण्य ये दोनों भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं। जैसे घट और वस्त्र भिन्न-भिन्न कार्य हैं, सो वे मिट्टी और सूत इन भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह स्थित (सिद्ध) हुआ कि प्रमाणता उत्पत्तिमें पर की अपेक्षा रखती है अर्थात् परतः उत्पन्न होती है। तथा प्रमाणका कार्य जो अपने विषयको जानना और उनमें प्रवृत्ति करना है, उसमें भी वह अपने ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कोई एकान्त नहीं है; क्योंकि क्वचित् किसी अभ्यस्त (परिचित) प्रदेशमें ही परकी अपेक्षा नहीं होती, ऐसी व्यवस्था है। किन्तु अनभ्यस्त (अपरिचित) ऐसे जल और मरीचिकावाले साधारण प्रदेशमें जलज्ञान परकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होता है। इसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—इस स्थलपर हमें जो जलज्ञान हुआ है, वह सत्य है; क्योंकि वह विशिष्ट आकारका धारक है। तथा यहाँ पर घटचेटिकाओं (पानी भरनेवाली स्त्रियां) का समूह है, मेंढकोंका शब्द सुनाई दे रहा है, कमलोंकी सुगन्धि आ रही है, इन सब कारणोंसे सिद्ध है कि हमारा जलज्ञान सत्य है। जैसे कि प्रत्यक्ष देखे हुए जलका ज्ञान सत्य होता है। इस प्रकारके स्वतः सिद्ध प्रमाणतावाले अनुमान ज्ञानसे और जलकी स्नान-पानादिरूप अर्थ-क्रियाके ज्ञानसे पूर्वमें

विज्ञानेन व्यभिचारः, यतस्तत्कार्यम्; परन्तु तत्र साध्यत्वं नास्ति। ततो हेतोः साध्यविरुद्धव्याप्तत्वाद् व्यभिचारित्वम्, अतो विज्ञानान्यत्वे सतीत्युक्तम्। एवं सति नित्यत्वादात्मना व्यभिचारो यतोऽसौ विज्ञानादन्यो भवति; कारणप्रभवो न भवति, तस्य नित्यत्वात्। ततः सर्वं साधनविधानम्। १. भेदे प्रामाण्याप्रामाण्यसाधारणी प्रतीतिः। २. अनुमानान्तरम्। ३. चक्षुरादिधर्मिणि। ४. अनुमानापेक्षम्। ५. गुणापेक्षम् यथोत्पत्तौ प्रमाणस्य परानपेक्षत्वं न घटते। ६. प्रमाणकार्ये। ७. प्रमाणग्रहणम्। ८. प्रदेशे। ९. समर्थनात्। १०. अनुमानादि। ११. स्नानपानादि। १२. प्रत्यक्षानुमानलक्षणज्ञानात्। १३. पूर्वजलज्ञानस्य। १४. परमार्थत्वम्। अनुमानसापेक्षं प्रामाण्यम्।

'कल्पमवकल्प्यत[1]' [2]एव । यदप्यभिमतम्[3]—'प्रामाण्यग्रहणोत्तरकालमुत्पत्त्यवस्थातः परिच्छित्ति-विशेषो[4] नावभासत इति' । तत्र[5] यद्यभ्यस्तविषये नावभासत इत्युच्यते, तदा तदिष्यत[6] एव । तत्र प्रथममेव निःसंशयं विषयपरिच्छित्तिविशेषाभ्युपगमात् । अनभ्यस्तविषये तु [7]तद्ग्रहणोत्तरकाल[8]मस्त्येव विषयावधारणस्वभावपरिच्छित्तिविशेषः[9], पूर्वं[10] प्रमाणा-प्रमाणसाधारण्या[11] एव परिच्छित्तेरुत्पत्तेः । ननु[12] प्रामाण्य-परिच्छित्त्योरभेदात्कथं पौर्वा-पर्यमिति ? नैवम्, न हि सर्वाऽपि परिच्छित्तिः प्रामाण्यात्मिका; प्रामाण्यं तु परिच्छित्त्या-

---

उत्पन्न हुए जलज्ञानकी सत्यतारूप यथार्थता कल्पकाल पर्यन्त निश्चित होती है ।

और आपने जो यह कहा था—कि प्रमाणताके ग्रहण करनेके उत्तर काल में उत्पत्ति-अवस्थामें लेकर परिच्छित्तिका विशेष प्रतिभासित नहीं होता; सो यदि अभ्यस्त विषयमें नहीं प्रतिभासित होता, ऐसा आप कहते हैं, तो यह हम भी मानते हैं; क्योंकि वहाँपर प्रथम ही निःसन्देह रूपसे विषयकी परिच्छित्ति-विशेषता स्वीकार की गई है । अनभ्यस्त विषयमें तो प्रमाणता ग्रहण करनेके उत्तर कालमें विषयके निश्चय करनेरूप स्वभाववाली परिच्छित्ति-की विशेता प्रतिभासित होती ही हैं; क्योंकि अनभ्यस्त विषयमें पहले प्रमाण और अप्रमाणमें समानरूपसे रहनेवाली ही परिच्छित्ति उत्पन्न होती है ।

शङ्का—प्रमाणता और परिच्छित्तिमें कोई भेद नहीं है, अतः उनमें पौर्वापर्य (आगे-पीछे होना) कैसे सम्भव है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि सभी परिच्छित्तियाँ प्रामाण्यात्मक ही नहीं होती, किन्तु प्रामाण्य परिच्छित्त्यात्मक ही होता है । इसलिए कोई दोष नहीं है ।

भावार्थ—प्रमाणकी प्रमाणता तो सदा ही वस्तुको यथार्थ जाननेवाली होती है, किन्तु वस्तुके जाननेवाली सभी क्रियाएँ प्रमाणतावाली नहीं होतीं, उनमेंसे कितनी ही उत्तरकालमें अप्रामाणिक सिद्ध होती हैं । अतः प्रमाणता और परिच्छित्तिमें अन्तर है, इसीलिए उनमें पूर्वापरता बन जाती है ।

---

१. कल्पपर्यन्तम् । २. निश्चीयते । ३. त्वया मीमांसकेन । ४. अनुमानसापेक्षं परिच्छित्तिविशेषः । ५. विकल्पद्वयं कृत्वोच्यते । ६. मयापि तदिष्यते यदतीतानागत-वर्तमानेषु त्रिषु कालेषु दूषणं नास्तीत्यर्थः । ७. प्रमाणग्रहण—। ८ सतम्यर्थेऽकर्मकधातु-भिरित्यादिना द्वितीया । ९. नियमेन सत्यमेव जलमित्यादिपरिच्छित्तिविशेषः । १०. अनभ्यस्तविषय एव । ११. तावदुभयत्र समानायाः । १२. मीमांसकः प्राह ।

त्मकमेवेति न दोषः[1]। यदप्युक्तम्—'बाधककारण[2]-दोषज्ञानाभ्यां [3]प्रामाण्यमपोद्यत[4] इति' तदपि फल्गु-भाषितमेव; अप्रामाण्येऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। तथा हि—प्रथम[5]मप्रमाणमेव ज्ञानमुत्पद्यते, पश्चाद्बाधबोध[6]-गुण[7]ज्ञानोत्तरकालं तदपोद्यत[8] इति। तस्मात्प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा [9]स्वकार्ये क्वचिदभ्यासानभ्यासापेक्षया स्वतः परतश्चेति निर्णतव्यमिति[10]।

और जो आपने कहा है कि 'बाधक कारण और दोष-ज्ञानसे प्रमाणता निराकरण कर दी जाती है। सो आपका यह कथन भी निःसार है; क्योंकि अप्रामाण्यके विषयमें भी हम ऐसा ही कह सकते हैं—कि सर्वप्रथम अप्रमाण ज्ञान ही उत्पन्न होता है, पश्चात् बाधा-रहित ज्ञान और गुणका ज्ञान उत्पन्न होता है। पुनः उसके उत्तर कालमें उस अप्रमाणरूप ज्ञानका निराकरण होता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि प्रमाणता और अप्रमाणता अर्थकी परिच्छित्तिरूप स्वकार्यमें क्वचित् अभ्यासदशाकी अपेक्षा स्वतः उत्पन्न होती है और क्वचित् अनभ्यासदशाकी अपेक्षा परतः उत्पन्न होती है। अतः यही निर्णय करना चाहिए।

उपसंहार—बौद्ध लोग प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः मानते हैं, नैयायिक प्रमाणकी प्रमाणता परतः ही मानते हैं। मीमांसक उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही अवस्थाओंमें प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः मानते हैं। सांख्य प्रमाणता तो परतः मानते हैं किन्तु अप्रमाणता स्वतः मानते हैं। विभिन्न मतावलम्बियोंके उक्त कथनोंका आचार्यने भली प्रकार निराकरण और दोषापादन करते हुए अन्तमें सूत्रोक्त बातको सप्रमाण सिद्ध किया है कि परिचित अवस्थामें प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः और अपरिचित दशामें परतः होती है। यही बात अप्रमाणताके विषयमें भी जानना चाहिए।

---

१. इति न विरोधः। २. ज्ञानावरणादि बाधकम्, कान्तकामलादि दोषः। बाधकं च कारणदोषज्ञानं च ताभ्याम्। ३. परिच्छित्त्यात्मकम्। ४. निराक्रियते। ५. शुक्तिकायां रजतज्ञानम्। ६. परिच्छित्तिः। ७. वस्तुयाथात्म्यज्ञानम्। ८. निराक्रियते। अन्धकूपवत्, यथाऽन्धकूपे जलं नास्तीति निश्चितं वर्तते, तदा कश्चिदागत्य प्रतिपादयति यदन्धकूपे जलमस्तीति। तदैव स्वत एवेत्यप्रामाण्यमवधार्यतेऽनभ्यस्तत्वात्। अनभ्यस्तदशायामप्रामाण्यं परत एव। ९. अर्थपरिच्छित्तिलक्षणे। १०. स्वतो बुद्धोऽन्यतो योगा शब्युत्पत्त्योर्द्वयं स्वतः। प्रामाण्यं परतोऽन्यच्च जैमिनिः कपिलोऽन्यथा ॥१॥

देवस्य सम्मतमपास्तसमस्तदोषं
वीक्ष्य प्रपञ्चरुचिरं रचितं समस्य ।
माणिक्यनन्दिविभुना शिशुबोधहेतो-
र्मानस्वरूपममुना[1] स्फुटमभ्यधायि ॥६॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणस्य स्वरूपोद्देशः ॥ १ ॥

अकलङ्कदेवके द्वारा सम्मत, समस्त दोषोंसे रहित, विस्तृत और सुन्दर प्रमाणके स्वरूपको माणिक्यनन्दी स्वामीने देख करके अर्थात् स्वयं जान करके शिशुजनोंके बोधके लिए उसे परीक्षामुख नामक ग्रन्थमें संक्षेपसे रचा अर्थात् कहा। उसीको इस अनन्तवीर्यने स्पष्ट रूपसे यहाँपर कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें प्रमाणके स्वरूपका वर्णन करनेवाला
प्रथम समुद्देश समाप्त हुआ ।

---

१. अदस्तु विप्रकृष्टं दूरतरं तेन, अनन्तवीर्येण मया ।

द्वितीयः समुद्देशः

अथ प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्तिं निरस्येदानीं सङ्ख्याविप्रतिपत्तिं प्रतिक्षिपन्[1] सकलप्रमाणभेदसन्दर्भसङ्ग्रहपरं[2] प्रमाणेयत्ता[3]-प्रतिपादकं वाक्य[4]माह—

[5]तद् द्वेधा ॥१॥

तच्छब्देन प्रमाणं परामृश्यते। तत्प्रमाणं स्वरूपेणावगतं द्वेधा द्विप्रकारमेव[6], सकलप्रमाणभेदाना[7]मत्रै[8]वान्तर्भावात्[9]।

तद्द्वित्वमध्यक्षानुमानप्रकारेणापि सम्भवतीति तदाशङ्कानिराकरणार्थं सकलप्रमाणभेदसङ्ग्रहशालिनीं सङ्ख्यां प्रव्यक्तीकरोति—

उक्त प्रकारसे प्रमाणकी स्वरूपविप्रतिपत्तिका निराकरण करके अब इस समय आचार्य प्रमाणकी संख्याविप्रतिपत्तिका निराकरण करते हुए प्रमाणके समस्त भेदोंके सन्दर्भका संग्रह करनेवाले और प्रमाणकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रको कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह प्रमाण दो प्रकारका है ॥ १ ॥

यहां पर 'तद्' शब्दसे प्रमाणका परामर्श किया गया है। जिसका स्वरूप जान लिया है, ऐसा वह प्रमाण दो प्रकारका ही है; क्योंकि प्रमाणके समस्त भेदोंका इन दो ही भेदोंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रमाणके ये दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान प्रकारसे भी सम्भव हैं, इस प्रकार बौद्धोंकी आशङ्काका निराकरण करनेके लिए प्रमाणके समस्त भेदोंका संग्रह करनेवाली संख्याको आचार्य उत्तरसूत्रके द्वारा व्यक्त करते हैं—

---

१. निराकुर्वन्। २. रचनासंक्षेपाचरणपरम्। ३. संख्या। ४. परस्परापेक्षाणां पदानां निरपेक्षसमुदायो वाक्यम्। ५. तच्छब्देन व्याप्तिप्रत्यासत्त्योः प्रत्यासत्तिर्गरीयसी न्यायमाश्रित्य प्रामाण्यं न परिगृह्यते, अपि तु गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यः सम्प्रत्ययः; इति प्रमाणमेव परामृश्यते। यतः प्रमाणस्य मुख्यत्वं प्रकृतप्रमेयत्वात्; प्रामाण्यस्य गौणत्वमानुषङ्गिकप्रमेयत्वादिति।

६. सकलं निर्धारणमेवेति न्यायादेवकारः। ७. अनुमानादीनाम्। ८. द्वित्वसंख्यायाम्। ९. व्यक्तिभेदे लक्षणैकत्वमन्तर्भावः।

[1]प्रत्यक्षेतर[2]भेदात् ॥२॥

प्रत्यक्षं वक्ष्यमाणलक्षणम्, इतरत्परोक्षम्, ताभ्यां भेदात् प्रमाणस्येति शेषः। न हि [3]परपरिकल्पितैक[4]द्वित्रिचतुःपञ्चषट्प्रमाणसङ्ख्यानियमे निखिलप्रमाणभेदाना[5]मन्तर्भाव-विभावना शक्या कर्तुम्। तथा हि—प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्य नाध्यक्षे लैङ्गिक[6]-स्यान्तर्भावो युक्तः; तस्य[7] तद्विलक्षणत्वात्[8], सामग्री-स्वरूपभेदात्[9]।

अथ[10] नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति[11], विसंवादसम्भवात्[12]। निश्चिताविनाभावाल्लिङ्गा[13]

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष और इतर अर्थात् परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है ॥ २ ॥

प्रत्यक्षका लक्षण आगे कहा जा रहा है, उससे भिन्न ज्ञान परोक्ष है। उनके भेदसे प्रमाणके दो भेद होते हैं। अन्यमतावलम्बियोंके द्वारा परि-कल्पित एक, दो, तीन, चार, पांच और छह प्रकारकी प्रमाण-संख्याके नियम-में प्रमाणके समस्त भेदोंका अन्तर्भाव करना शक्य नहीं है। आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—एकमात्र प्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाकके प्रत्यक्षमें अनुमानका अन्तर्भाव करना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष-प्रमाणसे विलक्षण है, दोनोंकी सामग्री और स्वरूपमें भेद है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानकी सामग्री इन्द्रियां है और विशदता (निर्मलता) उसका स्वरूप है। अनुमानकी सामग्री लिङ्ग (साधन-हेतु) है और अविशदता उसका स्वरूप है।

यहां चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनके माननेमें विसंवाद सम्भव है। देखो—अनुमानको प्रमाण माननेवालोंका कहना है कि निश्चित अविनाभावी लिङ्गसे अर्थात् साध्यके

---

१. अक्षमात्मानं प्रत्याऽऽश्रितं प्रत्यक्षमिति मुख्यप्रत्यक्षम्। अक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षम्। २. अश्नोति व्याप्नोति तान् तान् गुणपर्याया-नित्यक्ष आत्मा, तस्मात् परावृत्तं परोक्षम्। अथवा परैरिन्द्रियादिभिरुक्ष्यते सिच्यतेऽ-भिवर्द्धत इति परोक्षम्। ३. चार्वाक-सौगत-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-प्राभाकर-भाट्टा। ४ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥ १ ॥ ५. स्मृत्यादीनाम्। ६. लिङ्गाज्जातस्यानुमानस्य। ७. अनुमानस्य। ८. प्रत्यक्षज्ञानविलक्षणत्वात्। ९. उत्पादकारणं प्रत्यक्षस्य इन्द्रियं सामग्री, वैशद्यं स्वरूपम्। अनुमानस्य लिङ्गं सामग्री, अवैशद्यञ्च स्वरूपम्। १०. चार्वाकः प्राह। ११. इत्यत्र चार्वाकेन साध्यसाधनभावः स्वीकृतोऽनुमानेन, तथापि नाङ्गीकरोति। १२. व्यभिचारसम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वासम्भवादित्यर्थः। १३. स्वभावलिङ्ग-कार्यलिङ्गानुपलब्धिलिङ्गभेदात्त्रिधा भिद्यते सौगतमते लिङ्गम्।

ल्लिङ्गिनि[1] ज्ञानमनुमानमित्यानुमानिकशासनम्, तत्र[2] च[3] स्वभावलिङ्गस्य[4] बहुल-[5]मन्यथापि भावो[6] दृश्यते। [7]तथाहि—कषायरसोपेतानामामलकानामेतद्देशकाल-सम्बन्धिनां दर्शनेऽपि देशान्तरे कालान्तरे [8]द्रव्यान्तरसम्बन्धे चान्यथापि[9] दर्शनात्स्वभाव-हेतुर्व्यभिचार्येव,[10] लता[11]चूतवल्लताशिंशपादि[12]सम्भावनाच्च। तथा[13] कार्यलिङ्गमपि [14]गोपालघटिकादौ धूमस्य श[15]क्रमूर्धनि चान्यथापि[16] भावात्पावकव्यभिचार्येव। ततः[17]

विना जिसका न होना निश्चित है, ऐसे साधन (हेतु) से लिङ्गी जो साध्यका ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। ऐसा अनुमान-वादियोंका कथन है। हेतु (लिङ्ग) तीन प्रकारका है—स्वभावलिङ्ग, कार्यलिङ्ग और अनुपलब्धिलिङ्ग। इनमेंसे स्वभावलिङ्गके प्राय: अन्यथा-भाव अर्थात् साध्यके विना भी सद्भाव पाया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—इस देश और काल-सम्बन्धी आंवलोंके कसैले रससे युक्त दिखाई देनेपर भी देशान्तरमें और कालान्तरमें अन्य द्रव्यके सम्बन्ध मिलने-पर अन्यथा भी स्वभाव देखा जाता है, अर्थात् दुग्धादिके द्वारा सींचे जाने-पर किसी देशमें और किसी कालमें आंवलोंका मधुर रसरूप परिणमन पाया जाता है, अतः स्वभावहेतु व्यभिचारी है। इसी प्रकार किसी देशमें आम्र वृक्षरूप है, तो किसी देशमें आम्र लताके आकारमें पाया जाता है। कहीं शीशम वृक्षरूप है, तो कहीं लताके रूपमें होनेकी सम्भावना है। इसलिए स्वभावहेतुके व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा होनेवाला साध्यका ज्ञानरूप अनुमान भी व्यभिचारी सिद्ध होता है। तथा कार्यलिङ्ग भी व्यभिचारी ही

१. साध्ये। २. त्रिषु लिङ्गेषु। ३. स्वभावलिङ्ग कार्यत्वादिहेतोर्व्यभिचारित्वं दर्शयति। ४. सौगताभिमतस्य। ५. साध्यं विनापि। ६. सद्भावः। ७. स्वभावहेतोर्व्य-भिचारित्वं दर्शयति। ८. दुग्धादिद्रव्यसेचने। ९. मधुररसोपेतत्वेनापि। १०. इदं फलं कषायरसोपेतम्, आमलकफलत्वात्, परिदृष्टामलकफलवत्। इत्यत्र मधुररसोपेता-मलकफलेन व्यभिचारः—देशान्तरवर्तीनि आमलकफलानि कषायरसोपेतानि, आमलक-फलत्वात्; परिदृष्टामलकीफलवत्। ११. वृक्षोऽयं चूतत्वादित्यत्र चूतो धर्मी, वृक्षो भवतीति साध्यं धर्मः; चूतत्वादिति हेतुः। 'यो यश्चूतः स वृक्षः' इति नियमो न, यतोऽत्र लताचूतेन व्यभिचारः; लताकाराम्रवत्। १२. वृक्षोऽयं शिंशपात्वादित्यत्र देशान्तरसम्भवशिंशपालतया व्यभिचारः, यतो देशान्तरेऽपि लताशिंशपा भवति। तथा वेत्रबीजं दग्धं कदलीकाण्डं जनयति; न तु पणसबीजम्। अतः स्वभावहेतुर्व्यभिचारी। १३. कार्यहेतोर्व्यभिचारित्वं दर्शयति। १४. इन्द्रजालघटिकादौ। १५. वल्मीकशिरसि। १६. अग्निं विनापि। १७. स्वभावकार्यहेत्वोरविनाभावित्वाभावात्तदुद्भूतानुमानस्य

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमस्यैवाविसंवादकत्वा[1]दिति ।

तदेतद् बालविलसितमिवाभाति; उपपत्तिशून्यत्वात् । तथाहि—किमप्रत्यक्षस्योत्पादककारणाभावादालम्बना[2]भावाद्वा प्रामाण्यं निषिध्यते? तत्र[3] न तावत्प्राक्तनः पक्षः; तदुत्पादकस्य सुनिश्चितान्यथानुपपत्ति[4]-नियतनिश्चयलक्षणस्य साधनस्य सद्भावात् । नो खल्वप्युदीचीनः[5] पक्षः; तदालम्बनस्य[6] पावकादेः सकलविचारचतुरचेतसि सर्वदा प्रतीयमानत्वात् । यदपि स्वभावहेतोर्व्यभिचारसम्भावनमुक्तम्, तदप्यनुचितमेव; स्वभावमात्रस्याहेतुत्वात् । व्याप्य[7]रूपस्यैव स्वभावस्य व्यापकम्प्रति[8] गमकत्वाभ्युपगमात् । न च व्याप्यस्य व्यापकव्यभिचारित्वम्; व्याप्यत्वविरोधप्रसङ्गात् ।

है । यदि धूमको अग्निका कार्य मानकर उससे अग्निका अनुमान करते हैं, तो इन्द्रजालियाके घट आदिमें तथा बाँबीमें धूम अग्निके बिना भी निकलता हुआ देखा जाता है । अतः कार्यहेतुके व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा होनेवाले साध्यका ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता है । (अनुपलब्धिरूप लिङ्ग तो अभावको ही सिद्ध करता है अतः उससे प्रकृतमें किसी इष्टकी सिद्धि नहीं होती ।) इसलिए एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मानना ठीक है; क्योंकि उसके ही अविसंवादीपना पाया जाता है ।

चार्वाकका यह कथन बाल-विलासके समान प्रतिभासित होता है, क्योंकि उनका कथन युक्ति-शून्य है । आगे उसीको स्पष्ट करते हैं—आचार्य उनसे पूछते हैं कि आप लोग अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्षरूप अनुमान ज्ञानकी प्रमाणताका निषेध उत्पादक कारणोंके अभावसे करते हैं, अथवा विषयरूप आलम्बनके अभावसे करते हैं ? इनमेंसे प्रथम पक्ष तो माना नहीं जासकता; क्योंकि जिसकी अन्यथानुपपत्ति सुनिश्चित है, ऐसे लक्षणवाले अनुमानके उत्पादक साधनका सद्भाव पाया जाता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि; अनुमानके विषयरूप आलम्बन अग्नि आदिक सभी विचार-चतुर लोगोंके चित्तमें सदा प्रतीत होते हैं । और जो आपने स्वभावहेतुके व्यभिचारकी संभावना कही, सो वह भी अनुचित ही है, क्योंकि केवल स्वभावको हेतुपना नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु व्याप्यरूप स्वभावको ही व्यापकके प्रति गमक माना गया है अतः व्याप्यके व्यापकसे व्यभिचारपना भी नहीं है;

प्रमाणत्वं न घटते यतः । १. प्रत्यक्षं धर्मि प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मः; अविसंवादकत्वात्, अगौणत्वाच्चेति हेतुः । २. विषयाभावात् । ३. उत्पादककारणत्वालम्बनयोर्मध्ये । ४. साध्यमन्तरेण साधनानुपपत्तिः । ५. द्वितीयः । ६. अप्रत्यक्षस्यानुमानालम्बनस्य । ७. शिंशपात्वस्य । ८. वृक्षत्वं प्रति ।

किञ्चैवंवादिनो[1] नाध्यक्षं प्रमाणं व्यवतिष्ठते; [2]तत्राप्यविसंवादकत्वागौणत्वयो[3] च[4] स्वभावहेतोः प्रामाण्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यत्वात्। यच्च कार्यहेतोरप्यन्यथापि[5] सम्भावनम्, तदप्यशिक्षितलक्षितम्; सुविवेचितस्य[6] कार्यस्य कारणाव्यभिचारित्वात्। यादृशो हि धूमो ज्वलनकार्यं भूधरनितम्बादावतिबहलधवलतया प्रसर्पन्नुपलभ्यते, न तादृशो [7]गोपाल-घटिकादाविति। यदप्युक्तम्—'शक्रमूर्ध्नि[8] धूमस्यान्यथापि भाव' इति तत्र किमयं शक्रमूर्द्धा अग्निस्वभावोऽन्यथा[9] वा? यद्यग्निस्वभावस्तदाऽग्निरेवेति कथं तदुद्भूत[10] धूमस्यान्यथाभावः[11] शक्यते कल्पयितुम्। अथानग्निस्वभाव[12]स्तदा तदुद्भवो[13] धूम एव न भवतीति कथं तत्र तस्य[14] तद्व्यभिचारित्व[15]मिति। तथा चोक्तम्—

जो व्यभिचार हो तो वह व्याप्य ही न कहा जा सकेगा।

और विशेष बात यह है कि अनुमानको प्रमाण नहीं माननेवाले तथा स्वभावहेतुको व्यभिचारी कहनेवाले चार्वाकके मतमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं ठहरता है; क्योंकि, प्रत्यक्षमें अविसंवादकता और अगौणता अर्थात् मुख्यता ये दोनों ही बातें अनुमानके माने विना निश्चित नहीं की जा सकतीं और इन दोनोंका प्रमाणताके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। और जो आपने कार्य हेतुके अन्यथा अर्थात् अग्निके विना भी होनेकी सम्भावना व्यक्त की है, सो आपका यह कथन भी अशिक्षित-जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि सुनिश्चित कार्यका कारणके साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता। जैसा अग्निका कार्यरूप धूम पर्वतके तटभाग आदिमें अति सघन और धवल आकाररूपसे फैलता हुआ देखा जाता है, वैसा धूम इन्द्रजालियाके घट आदिमें नहीं पाया जाता। और जो आपने कहा कि बाँबीमें धूमका अन्यथा भी सद्भाव देखा जाता है। सो इस विषयमें हम आपसे पूछते हैं कि यह बाँबी अग्निस्वभाव है या अनग्नि-स्वभाव? यदि वह अग्निस्वभाव है, तो वह फिर अग्नि ही है, अतः उससे उत्पन्न हुए धूमके अन्यथाभावकी कल्पना कैसे की जा सकती है। और यदि वह बाँबी अग्निस्वभाव नहीं है, तब उससे निकलनेवाला पदार्थ धूम ही नहीं है, तो फिर उसका अग्निके साथ व्यभिचारपना कैसे सम्भव है। जैसा कि कहा है—

---

१. अनुमानाप्रामाण्यवादिनस्तत्र स्वभावहेतुर्व्यभिचारीति वादिनः। २. प्रत्यक्षेऽपि। ३. प्रत्यक्षं धर्मि, प्रमाणं भवतीति साध्यो धर्मः; अविसंवादकत्वादगौणत्वाच्चेत्यनुमानेन। ४. प्रत्यक्षप्रामाण्येऽप्रवर्तमानप्रत्यक्षेण निश्चेतुमशक्यस्य। ५. अग्निं विनापि। ६. सुनिश्चितस्य। ७. इन्द्रजालघटिकादौ। ८. वल्मीके। ९. अनग्निस्वभावः। १०. अग्निस्वभाववामलूरोत्पन्नधूमस्य। ११. अग्निव्यभिचारित्वम्। १२. शक्रमूर्द्धा। १३. वामलूरोत्पन्नः। १४. धूमस्य। १५. अग्निव्यभिचारित्वम्।

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा चेदग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥ १ ॥ इति।

किञ्च—प्रत्यक्षं प्रमाणमिति कथमयं[1] परं[2] प्रतिपादयेत्? परस्य[3] प्रत्यक्षेण[4] ग्रहीतुमशक्यत्वात्। [5]व्याहारादिकार्यप्रदर्शनात्तं[6] प्रति[7]पद्येतेति चेदायातं तर्हि कार्यात्कारणानुमानम्। अथ लोकव्यवहारापेक्षयेष्यत एवानुमानमपि, परलोकादावेवानभ्युपगमात्तदभावादिति कथं तदभावोऽनुपलब्धेरिति चेत् तदाऽनुपलब्धिलिङ्गजनितमनुमानमपरमापतितमिति। प्रत्यक्षप्रामाण्यमपि स्वभावहेतुजातानुमितिमन्तरेण नोपपत्तिमियर्ती[8]ति प्रागेवोक्तमित्युपरम्यते[9]। यदप्युक्तं[10] धर्मकीर्तिना—

यदि शक्रमूर्धा (बाँबी) अग्निस्वभाव है, तो वह अग्नि ही है। और यदि वह अग्निस्वभाव नहीं है, तो उससे निकलनेवाला वाष्प धूम कैसे हो सकता है? ॥ १ ॥

दूसरी बात यह है कि एक प्रत्यक्षप्रमाणको ही माननेवाला यह चार्वाक शिष्यादि पर पुरुषको प्रत्यक्ष प्रमाण कैसे प्रतिपादन करेगा? क्योंकि पर पुरुषका आत्मा प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक्षसे तो पर पुरुषका शरीर ही ग्रहण किया जाता है। यदि कहा जाय कि वचन चातुर्यादि कार्यके देखनेसे परकी बुद्धि आदिको जान लेगा, तब तो कार्यसे कारणका अनुमान हो आ गया फिर अनुमानका निषेध कैसे करते हो। यदि कहा जाय कि लोक-व्यवहारको अपेक्षा हम अनुमानको मानते ही हैं, केवल परलोक आदिके सद्भावके विषयमें ही उसे नहीं मानते हैं, क्योंकि परलोकादिका अभाव है, तब हम पूछते हैं आप परलोकादिका अभाव कैसे कहते हो? यदि आप कहें कि परलोकादिकी उपलब्धि नहीं अर्थात् दिखाई नहीं देते, इसलिए उनका अभाव मानते हैं, तब तो अनुपलब्धिलिङ्ग-जनित एक और तीसरा अनुमान आ गया, फिर अनुमानका निषेध कहाँ रहा? तथा प्रत्यक्षकी प्रमाणता भी स्वभावहेतु-जनित अनुमानके विना युक्ति-संगतताको प्राप्त नहीं होती, यह

---

१. चार्वाकः। २. शिष्यम् (शिष्यात्मानम्)। ३. चिद्रूपस्य, परोरिपरमात्मनोरिति परमात्मन इत्यर्थः। ४. प्रत्यक्षेण शरीरस्यैव ग्रहणात्। आत्मनः शरीराद्भिन्नत्वाच्छरीरेण ज्ञानस्वरूपात्मनोऽपि ग्रहणमिति चेन्न; शरीरप्रत्यक्षेऽपि बुद्धिविकल्पे संशयात्। तत्कथमित्युक्ते उच्यते—परं पश्यतः पुरुषस्य शरीरमात्रं दृष्ट्वा पण्डितोऽयं मूर्खो वा साधुर्वेति निश्चयो न भवति। अन्यथा परीक्षामन्तरेणापि तस्य सन्मानावमानयोः प्रसङ्गात्। ५. वचनचातुर्यादि। ६. परबुद्ध्यादिकम्। ७. उपलभ्येत। ८. प्राप्नोति। ९. तूष्णीं स्थीयते। १०. प्रमाणविनिश्चये (?)।

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो[1] गतेः[2] ।
[3]प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च [4]कस्यचित् ॥ २ ॥ इति[5] ।

बात पहले ही कही जा चुकी है इसलिए अब इस विषयमें अधिक कथनसे विराम लेते हैं। अनुमानका उपर्युक्त समर्थन बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्तिने भी किया है—

प्रमाणसामान्य और अप्रमाणसामान्यकी स्थिति होनेसे, शिष्यादिकी बुद्धिके ज्ञानसे और परलोकादिके प्रतिषेधसे प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाण-रूप अनुमानका सद्भाव सिद्ध होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—कारिकाका खुलासा यह है कि अनुमानप्रमाणके माने विना न तो प्रमाणसामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न किसी भी सामान्य ज्ञानको अप्रमाण ही कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी ज्ञानसामान्यको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए उसका अविसंवादी होना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञानका अविसंवादी होना उसका स्वभाव है। ऐसी स्थितिमें अनुमान इस प्रकार होगा—'अमुक ज्ञानसामान्य प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादी है। इस प्रकार अविसंवादी हेतुके विना प्रमाणसामान्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार किसी भी ज्ञानको अप्रमाण सद्ध करनेके लिए उसका विसं-वादी होना भी आवश्यक है क्योंकि मिथ्याज्ञानका विसंवादके साथ अवि-नाभाव सम्बन्ध है। ऐसी स्थितिमें अनुमान इस प्रकार होगा—'अमुक ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि वह विसंवादी है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि प्रमाण-सामान्य और अप्रमाणसामान्यकी सिद्धिके लिए अनुमानप्रमाणका मानना आवश्यक है; क्योंकि लोकमें प्रमाणसामान्य और अप्रमाणसामान्यकी स्थिति है। यह कारिकाके प्रथम वाक्यका अर्थ है। दूसरी बात यह है कि 'प्रत्यक्षज्ञान ही एक प्रमाण है, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं'; यह बात चार्वाक दूसरेको कैसे समझावेगा, क्योंकि परपुरुषकी आत्मा या उसकी बुद्धि तो प्रत्यक्षसे दिखाई नहीं देती। यदि चार्वाक कहे कि वचन-चातुर्य आदिके

१. शिष्यस्य। २. कार्यहेतोर्व्याहारादेः ज्ञानात्। ३. अनुमानज्ञानान्तरस्य सद्भावः। ४. अनुपलब्धिहेतुतः परलोकादेः। ५. अविसंवादित्व-विसंवादित्वस्वभाव-लिङ्गद्वयं विना प्रमाणसामान्याप्रमाणसामान्यद्वयं न व्यवतिष्ठते। तथा व्याहारादिकार्य-लिङ्गमन्तरेणान्यधियो गतिः परबुद्धिनिश्चयो न सम्भवति। तथाऽनुपलब्धिलिङ्गमन्तरेण परलोकादेः प्रतिषेधो न घटत इत्यनुपपद्यमानप्रमाणेतरसामान्यस्थित्यन्यधीगतिपरलोकादि-प्रतिषेधसाधकस्वभावादिलिङ्गत्रयं प्रमाणान्तरस्यानुमानस्य समीचीनभावं साधयतीति सर्वोऽपि कारिकार्थः।

ततः[1] प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवेति सौगतः। [2]सोऽपि न युक्तवादी; स्मृतेरविसंवादिन्यास्तृतीयायाः प्रमाणभूतायाः सद्भावात्। न च तस्या विसंवादादप्रामाण्यम्; [3]दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।

देखनेसे हम अन्यकी बुद्धिको जान लेंगे तब तो यह कार्यसे कारणका अनुमान हुआ; क्योंकि वचन-चातुर्यादि बुद्धिके कार्य हैं। इस प्रकार शिष्यादि परपुरुषकी बुद्धिको जाननेसे भी अनुमान प्रमाणका सद्भाव सिद्ध होता है। यही कारिकाके दूसरे वाक्यका अर्थ है। तीसरी बात यह है कि चार्वाक परलोक, पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं मानता। उसे अपनी बातको सिद्ध करनेके लिए कमसे कम इतना तो कहना ही पड़ेगा कि 'परलोकादि नहीं हैं, क्योंकि वे दिखलाई नहीं देते।' इस प्रकार परलोकादिका प्रतिषेध करनेके लिए उसे 'अनुपलब्धिरूप' हेतुका आश्रय लेना ही पड़ेगा। और इस प्रकार उसे अनुमानका मानना आवश्यक हो जाता है। यही कारिकाके उत्तरार्धका अर्थ है।

इस प्रकार एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्वाककी समीक्षा कर और उपर्युक्त युक्तियोंसे अनुमान प्रमाणकी आवश्यकताको सिद्ध कर बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानना ठीक है। आचार्य कहते हैं कि यह कहनेवाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि उक्त दो प्रमाणोंके अतिरिक्त अविसंवादिनी स्मृतिके रूपमें एक तीसरे भी प्रमाणका सद्भाव पाया जाता है। यदि आप (बौद्ध) कहें कि स्मृतिके विसंवाद पाये जानेसे अप्रमाणता है, सो आपका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि स्मृतिको प्रमाण न माना जायगा, तो देने-लेने आदि समस्त व्यवहारके विलोपकी आपत्ति आती है।

भावार्थ—लोकमें जितना भी देने-लेनेका व्यवहार चलता है, वह स्मृतिकी प्रमाणताके आधारपर चलता है। किसीके यहाँ धन जमा कराकर कुछ समयके पश्चात् वापिस मांगनेपर धन रखनेवाला भी यही जानकर उसे वापिस देता है कि यह वही पुरुष है, जो पहले मेरे यहाँ धन रख गया

१. चार्वाकं प्रति प्रमाणान्तरापादनं यतः। २. सौगतोऽपि न यथार्थवादी। ३. यस्य हस्ते मया स्वधनं दत्तं सोऽमुक इति तस्मै स्वधनमियन्मात्रमित्याद्याकारलक्षण-स्मरणानुत्पादः, तदभावाच्च 'स एवायं मदीयधनहर्ता' इत्येवमादिरूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्; अहमस्माच्च धनमुपाददे, असौ वा मदीयधनहर्ता भवतीति तत्र स्वधनं प्रार्थये, इत्यादि-प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणस्य व्यवहारस्य लोपः स्यात्।

अथानुभूयमानस्य[1] विषयस्याभावात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ? न[2], तथापि[3] अनुभूते-नार्थेन[4] सावलम्बनत्वोपपत्तेः। अन्यथा[5] प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यमनिवार्यं

था। यदि उसे ऐसा प्रत्यभिज्ञान न हो, तो वह कभी भी धनको वापिस नहीं देगा और न मांगनेवाला मांग ही सकता है। प्रत्यभिज्ञानका प्रधान कारण या आधार स्मृति ही है और उसको प्रमाण माने विना लोक-व्यवहार चल नहीं सकता, अतः बौद्ध-सम्मत प्रमाणकी दो संख्या विघटित हो जाती है।

यदि कहा जाय कि अनुभूयमान विषय (पदार्थ) के अभाव होनेसे स्मृतिकी अप्रमाणता है, अर्थात् बौद्धमतानुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, स्थायी नहीं; अतः जिस पदार्थका अनुभव किया था, वह स्मरण-कालतक विद्यमान ही नहीं रहता, तब उसकी स्मृतिको प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? सो बौद्धोंका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभूयमान पदार्थ-के नष्ट हो जानेपर भी अनुभूत पदार्थके सावलम्बनता बन जाती है। अर्थात् स्मृतिकालमें अनुभूत वस्तुके अविद्यमान रहनेपर भी यतः उस वस्तुका उसकी विद्यमानतामें ही अनुभव हुआ था, अतः उसका स्मरण निरालम्ब तो नहीं है, सावलम्ब ही है। स्मरणको निरालम्ब तो तब माना जाय, जब वह विना किसी वस्तुके पूर्वमें अनुभव किये ही अकस्मात् उत्पन्न हो ! सो ऐसा है नहीं। यदि उक्त प्रकारसे अनुभूत वस्तुके स्मरण होनेपर भी उसे निरालम्ब कहा जायगा तो प्रत्यक्षके भी अनुभूत अर्थका विषय होनेसे अप्रमाणता अनिवार्य हो जायगी।

भावार्थ— बौद्धलोगोंने प्रत्यक्षको अतीत पदार्थका विषय करनेवाला माना है। इस विषयमें उनको युक्ति यह है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट होते हुए भी अपना आकार उत्तर क्षणवर्त्ती ज्ञानको समर्पण करता जाता है, अतः प्रत्यक्षसे अतीतकालवर्ती पदार्थका ज्ञान होता है। यदि स्मृतिको प्रमाण न माना जाय, तो पदार्थके विनष्ट हुए पूर्व आकारका जो वर्तमान

१. स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानमनुभवः, तेन ज्ञायमानस्य पदार्थस्य। २. बौद्धं प्रति जैनः प्राहेति चेन्न। ३. अनुभूयमानविषयाभावेऽपि। ४. स्वग्रामतटाकादिना। ५. उक्त-विपर्ययेऽन्यथा शब्दः। अनुभूतेनार्थेन स्मृतेः सावलम्बनत्वेऽपि तदप्रामाण्ये। ६. भिन्न-कालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्॥ इति सौगतैरङ्गीकारात्। प्रत्यक्षस्यातीतार्थविषयत्वात्तस्याप्यप्रामाण्यं स्यात्। प्रत्यक्षस्यातीतार्थ-विषयत्वं सौगतमतापेक्षयोक्तमिति बोद्धव्यम्। अथवा अनुभूतार्थविषयमात्रेण स्मृतेर-प्रामाण्येऽनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यादनुभूतार्थविषयत्वाविशेषादिति।

स्यात्[१]। स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यविशिष्ट[२]मिति। किञ्च—स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्तापि दुर्लभा; तया[३] व्याप्तेरविषयीकरणे[४] तदुत्थानायोगादिति[५]। तत इदं वक्तव्यम्—'स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति' सैव प्रत्यक्षानुमानस्वरूपतया प्रमाणस्य द्वित्वसङ्ख्यानियमं विघटयतीति किं नश्चिन्तया।

तथा[७] प्रत्यभिज्ञानमपि सौगतीयप्रमाणसङ्ख्यां विघटयत्येव; तस्यापि प्रत्यक्षानु-

क्षणमें प्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है, वह ज्ञान असत्य ठहरेगा और इस प्रकार प्रत्यक्षकी अप्रमाणता रोकनेपर भी नहीं रुकेगी। अथवा अनुभूत अर्थको विषय करने मात्रसे ही यदि स्मृतिकी अप्रमाणता मानी जायगी, तो अनुमानसे जानी हुई अग्निमें जो प्रत्यक्ष प्रवृत्ति हो रही है, वह भी अप्रमाण माननी पड़ेगी; क्योंकि वहाँपर भी पहले अनुमानसे अग्निके निश्चय करनेरूप अनुभूत अर्थका विषय करना समान है।

यदि कहा जाय कि अपने विषयका जानना प्रमाण है, अतः प्रत्यक्षमें अप्रमाणता सम्भव नहीं है, तो अपने विषयका जानना स्मरणमें भी समान है, फिर उसे आप लोग प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते। दूसरी बात यह है कि स्मृतिको प्रमाणता न माननेपर अनुमानके प्रमाणताकी बात करना भी दुर्लभ हो जायगी, क्योंकि उस स्मृतिसे ही साध्य-साधनके सम्बन्धकी व्याप्ति विषय की जाती है। जब स्मृति प्रमाण ही नहीं मानी जायगी, तो उससे व्याप्तिका भी ग्रहण नहीं होगा। और इस प्रकार व्याप्तिके अविषय रहनेपर अनुमानका उत्थान भी नहीं हो सकेगा। इसलिए यह कहना चाहिए कि 'स्मृति प्रमाण है; अन्यथा अनुमानकी प्रमाणता नहीं बन सकती'। और इस प्रकार वह स्मृति प्रमाणकी बौद्धाभिमत प्रत्यक्ष-अनुमान-स्वरूप द्वित्व संख्याके नियमका विघटन कर देती है, फिर हमें चिन्ता करनेसे क्या लाभ है।

तथा प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी सौगतीय (सौगत अर्थात् बौद्धोंके द्वारा मानी गई) प्रमाण-संख्याका विघटन करता ही है, क्योंकि उसका भी बौद्धोंके द्वारा माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

१. असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्कालेऽसत्त्वात्। २. साधनं समानम्। ३. स्मृत्या। ४. साध्यसाधनसम्बन्धस्य। ५. अस्मरणे। ६. अनुमानप्रामाण्याभावादिति। ७. स्मृतिप्रकारेण।

मानयोरनन्तर्भावात् । ननु[1] तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां[2] विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे । कथं तेन[3] प्रमाण-सङ्ख्याविघटनमिति ? तदप्यघटितमेव,[4] यतः स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां प्रत्यभिज्ञानविषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । [5]पूर्वोत्तरविवर्त[6]वर्त्येकद्रव्यं हि प्रत्यभिज्ञाविषयः, न च [7]तत्स्मरणेनो-पलभ्यते,[8] तस्यानुभूतविषयत्वात् । नापि प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमान[9]-विवर्तवर्ति-त्वात् । यदप्युक्तम्—'ताभ्यां[10] भिन्नमन्यद् ज्ञानं नास्तीति' तदप्ययुक्तम्, अभेद-[11]परामर्शरूपतया भिन्नस्यैवावभासनात् । न तयोरन्यतरस्य[12] वाऽभेदपरामर्शकत्वमस्ति;

शङ्का—यहांपर बौद्ध कहते हैं कि 'यह वही है' इस प्रकारके ज्ञानको आप जैन लोग प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। सो 'यह' ऐसा कहना तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'वही' यह स्मरण ज्ञान है। इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानोंसे भिन्न प्रत्यभिज्ञान नामका कोई अन्य प्रमाण प्रतीत होता हुआ हम नहीं देखते हैं, फिर उससे हमारी प्रमाण-संख्याका विघटन कैसे सम्भव है ?

समाधान—आप लोगोंका यह कथन भी घटित नहीं होता, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्षसे प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत अर्थका ग्रहण करना शक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि पूर्व और उत्तर काल-वर्ती दो पर्यायोंमें रहनेवाला एक द्रव्य ही प्रत्यभिज्ञानका विषय है, सो वह पर्यायैकत्वरूप द्रव्य न तो स्मरणसे जाना जाता है, क्योंकि उसका विषय अनुभूत पदार्थको जानना है। और न वह पर्यायैकत्वरूप द्रव्य प्रत्यक्षसे ही जाना जाता है, क्योंकि उसका विषय वर्तमान पर्यायको जानना है। और जो आपने कहा कि इस स्मरण और प्रत्यक्षसे भिन्न कोई तीसरा ज्ञान नहीं है, सो आपका यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्व आदिको ग्रहण करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी स्पष्टतया भिन्नरूपसे ही प्रतीति होती है। उक्त प्रकारके पूर्वोत्तर-विवर्तवर्त्ती एकत्वको परामर्श करना अर्थात् जानना न तो प्रत्यक्षके लिए ही सम्भव है, न स्मरणके लिए ही; और न उन दोनोंके लिए ही, क्योंकि उनका विषय भिन्न-भिन्न है। यदि आप कहें कि हम अपने दोनों

१. बौद्धः प्राह—भो जैन ! २. स्मरण-प्रत्यक्षाभ्याम् । ३. प्रत्यभिज्ञानेन । ४. जैनः प्राह—भो बौद्ध ! त्वदुक्तमयुक्तमेव, ततः संख्यां विघटत्येव । ५. कोऽयं प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति मनसि कृत्वा तमेवाह । ६. पर्याय— । ७. पर्यायैकत्वम् । ८. उपलक्ष्यत इत्यपि पाठः । ९. 'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना' अमुना प्रमाणेन तस्य वर्तमानविषयत्वसमर्थनादिति । १०. स्मरण-प्रत्यक्षाभ्याम् । ११ पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यपरामर्शोऽभेदपरामर्शः । १२. तयोः स्मरण-प्रत्यक्षयोरेकतरस्य वा ।

विभिन्नविषयत्वात्। न चैतत्[1] प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति, अनुमाने वा; तयोः[2] पुरोऽवस्थितार्थ-[3]विषयत्वेनाविनाभूतलिङ्गसम्भावितार्थविषयत्वेन[4] च पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वाविषयत्वात्। नापि स्मरणे, तेनापि[5] तदेकत्वस्याविषयीकरणात्।

अथ संस्कार[7]स्मरणसहकृतमिन्द्रियमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयति, इन्द्रियजं चाध्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमित्यपरः[8]। सोऽप्यतिबालिश एव[9], स्वविषयाभिमुख्येन[10] प्रवर्तमानस्येन्द्रियस्य सहकारिशतसमवधानेऽ[11]पि विषयान्तरप्रवृत्तिलक्षणातिशयायोगात्। विषयान्तरं चातीतसाम्प्रतिकावस्थाव्याप्येकद्रव्यमिन्द्रियाणां रूपादिगोचरचारित्वेन चरितार्थ-

---

प्रमाणोंमें से किसी एकमें उसका अन्तर्भाव कर लेंगे; सो न तो उसका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव किया जा सकता है, क्योंकि, वह तो सम्मुख अवस्थित अर्थको विषय करता है, और न अनुमानमें ही उसका अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि वह अविनाभावी लिङ्गसे सम्भावित अर्थको विषय करता है। अतः इन दोनों ही प्रमाणोंके द्वारा पूर्वापर विकार अर्थात् पर्याय-व्यापी एकत्वरूप द्रव्य विषय नहीं किया जा सकता। यदि आप स्मरणको भी तीसरा प्रमाण मानकर उसमें अन्तर्भाव करना चाहें, तो वह भी सम्भव नहीं; क्योंकि स्मरणके द्वारा वह पूर्वापर पर्याय-व्यापी एकत्व विषय नहीं किया जा सकता।

यहांपर योग कहते हैं कि संस्कार–जो कि धारणा-ज्ञानरूप एक प्रत्यक्ष-विशेष है–और स्मरणसे सहकृत इन्द्रिय ही प्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न करती है और जो इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ही है, इसलिए प्रत्यभि-ज्ञान कोई भिन्न प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाला व्यक्ति भी अतिमूर्ख ही है, क्योंकि अपने विषयकी ओर अभिमुख होकर प्रवर्तमान इन्द्रियके सैकड़ों सहकारी कारणोंके सन्निधान होनेपर भी अपने विषयको छोड़कर विषयान्तरमें प्रवृत्ति करनेरूप अतिशयका होना असम्भव है। नेत्रादि इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति अपने-अपने रूपादि विषयमें ही होती है, रसादि विषयान्तरमें नहीं। इन्द्रियोंके लिए तो प्रत्यभिज्ञानका विषयभूत अतीत (भूत) और साम्प्रतिक (वर्तमान) कालवर्ती अवस्थाओंमें रहनेवाला एक

---

१. प्रत्यभिज्ञानम्। २. प्रत्यक्षानुमानयोः। ३. प्रत्यक्षस्य विषयः प्रदर्शितः। ४. अनुमानस्य विषयः प्रदर्शितः। ५. पूर्वापरविकारव्याप्येकत्वस्य।

६. यौगः प्राह। ७. प्रत्यक्षविशेषो धारणाज्ञानं संस्कारः। स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरापादकोऽतीन्द्रियो धर्मो वा संस्कारः। ८. यौगः। ९. भो यौग! प्रत्यक्षविषयं ब्रूषे तदयुक्तम्। किञ्च विषयान्तरमप्यस्तीत्यनूद्य प्रतिपादयति। १०. विषयवृत्तित्वेन। ११. सन्निधानेऽपि।

त्वाच[1]। नाप्यदृष्ट[2] सहकारिसव्यपेक्षमिन्द्रियमेकत्वविषयम्, उक्तदोषादेव। किञ्च—अदृष्टसंस्कारादिसव्यपेक्षादेवाऽऽत्मन[3]स्तद्विज्ञान[4]मिति किन्न कल्प्यते[5]? दृश्यते हि स्वप्न[6]-सारस्वत-[7]चाण्डालिका[8]दिविद्यासंस्कृतादात्मनो विशिष्टज्ञानोत्पत्तिरिति।

[9]ननु अञ्जनादिसंस्कृतमपि चक्षुः[10] सातिशयमुपलभ्यत इति चेन्न, तस्य[11] स्वार्था[12]-

---

द्रव्य विषयान्तर ही है; क्योंकि इन्द्रियां तो अपने रूपादि विषयोंमें प्रवृत्ति करके ही चरितार्थ होती हैं। यदि कहा जाय कि पुण्य-पाप-स्वरूप या किसी अदृश्य शक्तिरूप अदृष्टके सहकारीपनेकी अपेक्षा इन्द्रिय उस एकत्वको विषय कर लेगी, तो यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेमें भी उक्त दोष आता है अर्थात् अदृष्ट आदि सैकड़ों ही सहकारी विशिष्ट कारणोंके मिल जानेपर भी इन्द्रियां अपने विषयको छोड़कर विषयान्तरमें प्रवृत्ति नहीं कर सकती हैं। अतः आप यौग लोग अदृष्ट और संस्कारादि सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे आत्माके ही उस एकत्वको ग्रहण करनेवाला विज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञानरूप विशिष्ट ज्ञान क्यों नहीं मान लेते हैं जिससे कि उक्त अनर्थक कल्पनाएँ करनेकी आवश्यकता ही न रहे। स्वप्न, सारस्वत और चाण्डालिका आदि विद्याओंसे संस्कृत आत्माके विशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति देखी ही जाती है।

विशेषार्थ—भूत भविष्यत् वर्तमान कालसम्बन्धी हानि लाभ आदि की सूचना जिससे मिले, वह स्वप्नविद्या है। असाधारण वादित्व, कवित्व आदिकी शक्ति जिससे प्राप्त हो वह सारस्वतविद्या है। नष्ट मुष्टि आदिकी करने और सूचना देनेवाली विद्याको चाण्डालिका विद्या कहते हैं। इन विद्याओंकी सिद्धिसे आत्माके अनेक लौकिक चमत्कार करनेवाले ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

शङ्का—यहाँ यौग कहते हैं—कि अञ्जनादिसे संस्कृत चक्षुके भी सातिशयपना देखा जाता है। अतः हमें प्रत्यभिज्ञानादि किसी विशिष्ट ज्ञानके मानने की आवश्यकता नहीं है।

१. प्रवृत्तार्थत्वात्। २. पुण्यपापलक्षण। मतान्तरे विधिनिषेधजन्यत्वे सती-त्यतीन्द्रियत्वमित्यन्तम्। ३. एकत्वग्राहकत्वमात्मनः कल्पनीयम्; नत्विन्द्रियस्य। ४. उत्पद्यते इति शेषः। ५. त्वया यौगेन। ६. अतीतानागतवर्तमानलाभालाभा-दिसूचनी या सा स्वप्नविद्या। ७. असाधारणवादित्व कवित्वादिविधायिनी सारस्वत-विद्या। ८. नष्टमुष्ट्यादिसूचिका चाण्डालिका विद्या, मन्त्रविशेषः।

९. यौगः प्राह। १०. न केवलमात्मा। ११. चक्षुषः। १२. सन्निहितवर्तमान-

नतिक्रमेणैवातिशयोपलम्भेन[1] 'विषयान्तरग्रहण'लक्षणातिशयस्य । तथा चोक्तम्[3]—

[4]यत्राप्यतिशयो दृष्टः स [5]स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूर-सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न [6]रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥३॥

[7]नन्वस्य वार्तिकस्य[8] सर्वज्ञ-प्रतिषेधपरत्वाद्विषमो[10] दृष्टान्त इति चेन्न; [11]इन्द्रियाणां विषयान्तरप्रवृत्तावतिशयाभावमात्रे सादृश्याद् दृष्टान्तत्वोपपत्तेः । न हि सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति, अन्यथा दृष्टान्त एव न स्यादिति ।

समाधान—उनका यह कहना ठीक नहीं; नेत्रादिके अपने रूपादि विषयका उल्लंघन नहीं करके ही अतिशय देखा जाता है, न कि उनके स्वविषयको अतिक्रमण कर विषयान्तरको ग्रहण करनेवाला अतिशय देखा जाता है। जैसा कि कहा गया है—

जहाँ कहीं भी अतिशय देखा जाता है, वह अपने विषयका उल्लंघन नहीं करके देखा जाता है। गृद्धके दूरवर्त्ती पदार्थके देखनेमें और शूकरके सूक्ष्म वस्तु आदिके देखनेमें जो विशेषता है, वह नेत्रेन्द्रियकी विषयभूत सीमाके ही भीतर है, न कि श्रोत्रेन्द्रियसे रूपके देखनेमें अतिशय कहीं देखा गया है ॥३॥

शङ्का—यौग जैनोंसे कहते हैं कि मीमांसाश्लोकवार्तिकमें यह श्लोक सर्वज्ञताके निषेध करनेके लिए दिया गया है, वह यहाँपर प्रकरण-संगत न होनेसे विषम दृष्टान्त है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि वह यहाँपर इन्द्रियोंकी विषयान्तरमें प्रवृत्ति करनेरूप अतिशयके अभाव-मात्रमें सादृश्य (समानता) होनेसे कहा गया है, अतः उसके दृष्टान्तपना बन जाता है, क्योंकि दृष्टान्तके सभी धर्म दार्ष्टान्तमें होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है; अन्यथा वह दृष्टान्त ही न रहेगा, बल्कि दार्ष्टान्त हो जायगा।

रूपानतिक्रमेणैव । १. रसादि । २. उपलम्भेन । ३. भट्टेन मीमांसाश्लोकवार्तिके ।

४. गृद्धवराहादिनेत्रादौ । यतश्चक्षुः प्राबल्यं गृद्धस्य, श्रोत्रप्राबल्यं वराहस्य । ५. स्वविषयानतिलंघनादेवातिशयो दृष्टो नाविषये । ६. रूपविषये श्रोत्रवृत्तितोऽतिशयो न दृष्टः । ७. यौगो जैनं प्रति प्राह । ८. उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकम् । चालनानुपपत्त्या स्यात्तस्याः परिहृतिस्तथा । विशेषणाभिधानं च यत्र तं वार्त्तिकं विदुः ॥१॥ उक्तानुक्तदुरुक्तव्यतिकारि वार्तिकम् । उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते । तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः ॥२॥ श्लोकवार्त्तिके वार्त्तिकस्येत्यनेन प्रकारेण लक्षणमुक्तम्—सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानञ्च । ९. भट्टेन प्रतिपादितम् । न त्वत्र निराकरणम् । १०. बाधकः । ११. अस्मदादि ।

ततः[1] स्थितम्—प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थान्तरं प्रत्यभिज्ञानं [2]सामग्री[3]स्वरूपभेदादिति। न[4] चैतदप्रमाणम्, [5]ततोऽर्थं परिच्छिद्य[6] [7]प्रवर्तमानस्यार्थक्रियायामविसंवादात् प्रत्यक्षवदिति। न चैकत्वापलापे[8] बन्ध मोक्षादिव्यवस्था, अनुमानव्यवस्था वा। एकत्व भावे [9]बद्धस्यैव मोक्षादेर्गृहीत-[10]सम्बन्धस्यैव [11]लिङ्गस्यादर्शनात्, अनुमानस्य च व्यवस्थायोगादिति। न चास्य[12] विषये[13] बाधक-[14]प्रमाणसद्भावादप्रामाण्यम्, तद्विषये[15] प्रत्यक्षस्य लैङ्गिकस्य चाप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा प्रत्युत[16] [17]साधकत्वमेव, न बाधकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

इस प्रकार उपर्युक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न एक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसकी उत्पादक सामग्री और स्वरूपमें भेद पाया जाता है। और इस प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उससे पदार्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी अर्थक्रियामें प्रत्यक्षके समान कोई विसंवाद नहीं पाया जाता। तथा प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत एकत्वके अपलाप (निषेध) करनेपर अर्थात् नहीं माननेपर न तो बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था हो सकती है और न अनुमानकी ही व्यवस्था हो सकती है; क्योंकि जो पहले बंधा होगा, वही पीछे छूटेगा। बौद्ध लोग जब पूर्वापर कालव्यापी एकत्वरूप द्रव्य को ही नहीं मानते और उसका अपलाप करते हैं, तब उनके यहाँ जो पहले बंधा था, वह अब छूटा है, इस प्रकारकी बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी कैसे बनेगी ? इसी प्रकार एकत्वके बिना अनुमानका साधन जो लिङ्ग उसका साध्यके साथ अविनाभावरूप सम्बन्धका भी ग्रहण नहीं हो सकेगा, अतः अनुमानकी भी व्यवस्था नहीं बनती। यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें बाधकप्रमाणका सद्भाव होनेसे अप्रमाणता है, सो भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति मानी भी

---

१. पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकत्वं प्रत्यक्षानुमानयोरविषयो यतः। २. दर्शनस्मरणे। ३. स एवायमिति सङ्कलनम्। ४. प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं रजतज्ञानवद् भ्रमं इति चेन्न। ५. प्रत्यभिज्ञानात्। ६. ज्ञात्वा। ७. पुरुषस्य। ८. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह दृश्यते॥ इत्येकत्वापलापो बौद्धानां पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यस्यापन्हवे सति क्षणिकत्वाङ्गीक्रियमाणे च सति। ९. पुंसः। १०. गृहीतसम्बन्धस्यादर्शनं भवत्येकत्वाभावे सति। ११. महानसेऽग्निधूमयोर्गृहीतसम्बन्धस्य धूमलक्षणस्य लिङ्गस्य दर्शनादिति प्रतिपादनानन्तरमत्र तद्दर्शनादिति। १२. प्रत्यभिज्ञानस्य। १३. एकत्वे। १४. बाधकप्रमाणमेव नास्त्यस्य। १५. प्रत्यभिज्ञानविषये। १६. व्यावृत्य। १७. प्रत्यभिज्ञानेन विषयीकृतं प्रत्यक्षं साधयति, अनुमानं साधयति, तदा साधकत्वम्।

तथा[1] सौगतस्य प्रमाणसङ्ख्याविरोधिविध्वस्तबाधं [2]तर्काख्यमुपढौकत एव। न चैतत्प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति; साध्य-साधनयोर्व्याप्य[3]-व्यापकभावस्य [4]साकल्येन प्रत्यक्षाविषयत्वात्। न हि [5]तदियतो व्यापारान् कर्तुं शक्नोति; [6]अविचारकत्वात् [7]सन्निहितविषयत्वाच्च। [8]नाप्यनुमाने; तस्यापि देशादिविषयविशिष्टत्वेन [9]व्याप्त्यविषयत्वात्। तद्विषयत्वे

जाय, तो वे बाधक नहीं, प्रत्युत प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणताके साधक ही हैं। इसलिए इस प्रसङ्गमें अधिक कहनेसे विराम लेते हैं।

तथा सौगतकी प्रमाण-संख्याका विरोधी और अबाधित विषयवाला ऐसा एक और निर्दोष तर्क नामका प्रमाण आकर उपस्थित है। इसका प्रत्यक्षमें तो अन्तर्भाव किया नहीं जा सकता; क्योंकि साध्य-साधनका व्याप्य-व्यापक भावरूप सम्बन्ध देशान्तर और कालान्तरके साकल्यसे प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता।

भावार्थ—व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। व्याप्ति सर्व देश और सर्व कालका उपसंहार करनेवाली होती है। जहाँ जहाँ अर्थात् जिस किसी भी देशमें और जब जब अर्थात् जिस किसी भी कालमें जितना भी धूम है, वह सभी अग्निसे उत्पन्न हुआ है, किसी भी देश और किसी भी कालमें वह अग्निके विना नहीं उत्पन्न हुआ और न आगे उत्पन्न हो सकेगा। सो इस प्रकारकी सर्व देश और कालकी उपसंहारिणी व्याप्ति प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा ग्रहण नहीं की जासकती है।

और न प्रत्यक्ष इतने व्यापारोंको कर ही सकता है, क्योंकि वह अविचारक है अर्थात् आप बौद्धोंने प्रत्यक्षको निर्विकल्पक माना है। दूसरे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष सन्निहित (समीपवर्ती) सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है। तथा अनुमानमें भी इस तर्क प्रमाणका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अनुमानका विषय कोई एक देशादि-सम्बन्धी विशिष्ट पदार्थ है; अतः वह सर्व देश और सर्व कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्तिको विषय नहीं कर सकता है। इतनेपर भी यदि आप उसे (व्याप्तिको)

---

१. स्मृतिप्रत्यभिज्ञानप्रकारेण। २. तीर्यते संशय-विपर्ययावनेनेति तर्कः। ३. यावती शिंशपा सा वृक्षस्वभावा, वृक्षत्वाभावे तदभावादिति तर्कस्यैव विषयत्वात्। ४. देशान्तर-कालान्तरसामस्त्येन। ५. यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा, अनग्निजन्यो वा न भवतीति इयतो व्यापारान्, इयत्सङ्ख्यकान्। ६. निर्विकल्पकत्वात्। ७. सम्बद्धविषयत्वात्। ८. नाप्यनुमानेऽन्तर्भाव इति सम्बन्धः। ९. अनि-

वा प्रकृतानुमानान्तरविकल्पद्वयानतिक्रमात् । तत्र[1] प्रकृतानुमानेन व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः—व्याप्तौ हि [2]प्रतिपन्नायामनुमानमात्मान[3]मासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । [4]अनुमानान्तरेणाविनाभाव-[5]प्रतिपत्तावनवस्थाचमूरी[6] परपक्ष[7]चमूं चक्षमीतीति[8] नानुमानगम्या व्याप्तिः ।

नापि साङ्ख्यादि[9]परिकल्पितैरागमोप[10]मानार्थापत्त्य[11]भावैः साकल्येनाविनाभावावगतिः तेषां[12] समय[13]सङ्गृहीतसादृश्यानन्यथा[14]भूताभावविषयत्वेन व्याप्त्यविषयत्वात् परैस्तथा[15]ऽनभ्युपगमाच्च[16] ।

अनुमानका विषय मानेंगे, तो यहाँपर दो विकल्प उठते हैं—कि प्रकृत अनुमान व्याप्तिको विषय करेगा, अथवा दूसरा अनुमान? उनमेंसे प्रकृत अनुमानके द्वारा व्याप्तिके ग्रहण करनेपर तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोषका प्रसङ्ग आता है—कि व्याप्तिके ग्रहण कर लेनेपर अनुमान उत्पन्न हो और अनुमानके उत्पन्न होनेपर व्याप्तिका ग्रहण हो। इस प्रकार दोनोंमेंसे किसी एकको भी सिद्धि नहीं होती। यदि अन्य अनुमानसे अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्रहण मानेंगे, तो उस अनुमानकी व्याप्तिका ग्रहण भी अन्य अनुमानसे मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनुमानोंकी कल्पना करनेपर अनवस्थारूपी व्याघ्री पर-पक्षरूपी बौद्ध-सेनाको बिलकुल चबा डालेगी (सर्वथा खा जायगी) इसलिए व्याप्ति अनुमान-गम्य भी नहीं है, किन्तु उसका ग्रहण करनेवाला एक तर्क नामका स्वतन्त्र ही प्रमाण मानना आवश्यक है।

और न सांख्यादि विभिन्न दार्शनिकोंके द्वारा परिकल्पित आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणोंके द्वारा सामस्त्यरूपसे अविनाभावरूप व्याप्तिका ज्ञान हो सकता है, क्योंकि इन सभी प्रमाणोंका विषय भिन्न-भिन्न

यतदिग्देशकालादिविषया व्याप्तिः । १. प्रकृतानुमानानुमानान्तरयोर्मध्ये । २. गृहीतायां सत्याम् । ३. अनुमानस्वरूपम् । ४. व्याप्तिरस्ति, अनुमानान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानान्तरात्प्रकृतानुमाने व्याप्तिसद्भावः स्यात्तर्हि त्वनुमानान्तरे व्याप्तिरस्ति; सा व्याप्तिः कस्मात्? अनुमानान्तरात्स्यात्तस्मिन्नप्यपरादित्यनवस्था । ५. व्याप्तिप्रतिपत्तौ । ६. व्याघ्री । ७. सौगतपक्षसेनाम् । ८. 'चमु अदने' अतिशयेन भक्षयतीति चक्षमीति ।

९. नैयायिकाक्षपादप्राभाकरजैमिनीयैः । १०. प्रसिद्धसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनमुपमानम् । उक्तञ्च—उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमिति । ११. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं कल्पयेदन्यत्साऽर्थापत्तिरुदाहृता । अथवा दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथानुपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । अथवाऽन्यथानुपपद्यमानार्थस्य दर्शनादर्थान्तरप्रतिपत्तिः । १२. आगमादीनां । १३. सङ्केत । १४. पीनोऽयं दिवा न भुङ्क्ते, आयाते रात्रौ भुङ्क्ते । १५. व्याप्तिग्राहकत्वेन । १६. आगमादीनाम् ।

अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् [1]साकल्येन साध्य-साधनभाव[2]प्रतिपत्तेर्न प्रमाणान्तरं [3]तदर्थं मृग्यमित्यपरः[4]। सोऽपि न युक्तवादी; विकल्पस्याध्यक्ष[5]गृहीतविषयस्य तदगृहीत-विषयस्य वा तद्[6]व्यवस्थापकत्वम्? आद्ये पक्षे [7]दर्शनस्येव तदनन्तरभाविनिर्णयस्यापि[8] नियतविषयत्वेन[9] व्याप्त्यगोचरत्वात्। द्वितीयपक्षेऽपि विकल्पद्वयमुपढौकत एव—यद्विकल्पज्ञानं प्रमाणमन्यथा[10] वेति? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तव्यम्; [11]प्रमाणद्वयेऽन-

---

है व्याप्तिको ग्रहण करना किसीका भी नहीं। देखो आगमका विषय तो संकेत-द्वारा वस्तुको ग्रहण करना है, उपमानका विषय सादृश्यको ग्रहण करना है, अर्थापत्तिका विषय अनन्यथाभूत अर्थको ग्रहण करना है अर्थात् वह दृष्ट वस्तुकी सामर्थ्यसे अदृष्ट अर्थको अन्य ग्रहण करती है और अभाव तो वस्तुके अभाव को ही विषय करता है। इसलिए उक्त चारों प्रमाणोंमेंसे किसी भी प्रमाणके द्वारा व्याप्तिको ग्रहण नहीं किया जासकता। और न उन प्रमाणोंके माननेवाले सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयोंने उन्हें व्याप्तिका विषय करनेवाला माना ही है।

यहाँपर बौद्ध पुनः कहते हैं कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विकल्पके द्वारा सामस्त्यरूपसे साध्य-साधनभावका ज्ञान होजायगा, अतः व्याप्तिके ग्रहण करनेके लिए तर्कनामक एक अन्य प्रमाणका अन्वेषण नहीं करना चाहिए। आचार्य कहतेहैं कि ऐसा कहनेवाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं, हम पूछते हैं कि प्रत्यक्षसे जिसका विषय गृहीत है ऐसे विकल्पको आप व्याप्तिका व्यवस्थापक मानते हैं, अथवा प्रत्यक्षसे जिसका विषय गृहीत नहीं है ऐसे विकल्पको व्याप्तिका व्यवस्थापक मानते हैं? आद्य पक्षके माननेपर तो दर्शनस्वरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्षके समान उसके पीछे होनेवाले विकल्परूप निर्णयके भी विशिष्ट देश-कालरूपसे नियत (सीमित) विषयपना ठहरता है, अतः उसकेद्वारा अनियत देश-कालवाली व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती है। द्वितीय पक्षके माननेपर पुनरपि दो विकल्प उपस्थित होते हैं—निर्विकल्प प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है? यदि प्रमाण है, तो उसे प्रत्यक्ष-अनुमानके अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण मानना चाहिए; क्योंकि उसका उक्त दोनों प्रमाणोंमें अन्तर्भाव नहीं होता।

१. देशान्तर कालान्तरसामस्त्येन। २. व्याप्ति। ३. व्याप्तिग्रहणार्थम्। ४. बौद्धः। ५. अध्यक्षगृहीतमेव विषयो यस्य। ६. व्याप्तिव्यवस्थापकत्वम्। ७. प्रत्यक्षस्येव। ८. विकल्पस्यापि। ९. विशिष्टदेशकालाधारतयाऽवधृतविषयत्वेन। १०. अप्रमाणम्। ११. विकल्पस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावः सम्भवतीति नाशङ्कनीयम्; कल्पनापोढमभ्रान्तमिति प्रत्यक्षलक्षणस्य तत्रासम्भवात्। निश्चिताविनाभावनियमलक्षणलिङ्गाभावान्नानुमानेऽपि।

न्तर्भावात् । उत्तरपक्षे तु न [1]ततोऽनुमानव्यवस्था; न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वक-मनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दति, सन्दिग्धादिलिङ्गादप्युत्पद्यमानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । ततो[2] [3]व्याप्तिज्ञानं सविकल्पमविसंवादकं च प्रमाणं प्रमाणद्वयात्[4]न्य[4]दभ्युपगम्यमिति न सौगता-भिमतप्रमाणसङ्ख्यानियमः ।

[5]एतेनानुपलम्भात्[6] [7]कारण [8]व्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारण-व्याप्यव्यापकभाव-संवित्तिरिति वदन्नपि प्रत्युक्तः;[9] अनुपलम्भस्य [10]प्रत्यक्षविषयत्वेन[11] कारणाद्यनुपलम्भस्य

भावार्थ—प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विकल्पज्ञानका प्रत्यक्षमें तो इसलिए अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि उसमें बौद्धोंके द्वारा माना गया निर्विकल्परूप प्रत्यक्षका लक्षण असम्भव है, क्योंकि वह स्वयं विकल्परूप है। और अनुमान में इसलिए अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उसका कोई अविनाभावी निश्चित लिङ्ग नहीं पाया जाता।

और यदि उत्तरपक्ष मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्षपृष्ठभावी उस विकल्पज्ञान को आप अप्रमाण मानते हैं, तो अप्रमाणभूत उस विकल्पज्ञानसे अनुमानकी भी व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि व्याप्तिके ज्ञानको अप्रमाण मानने पर व्याप्तिपूर्वक उत्पन्न होनेवाला अनुमान भी प्रमाणताको नहीं प्राप्त कर सकता है। अन्यथा सन्दिग्ध, विपर्यस्त आदि लिङ्गसे उत्पन्न होनेवाले अनुमानको भी प्रमाण माननेका प्रसङ्ग आता है। यतः व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पज्ञानसे सम्भव नहीं, अतः व्याप्तिज्ञानरूप तर्कप्रमाणको सविकल्पक, अविसंवादक और प्रत्यक्ष-अनुमान इन दोनों से भिन्न एक पृथक् ही प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकारसे बौद्धोंके द्वारा मानी गई प्रमाणकी दो संख्या-का नियम नहीं रहता।

इसी उपर्युक्त कथनके द्वारा अनुपलम्भसे अर्थात् किसी वस्तुके सद्भाव-का निषेध करनेवाले स्वभावानुपलम्भ से, कारणानुपलम्भसे और व्यापकानुप-लम्भसे कार्य-कारणभाव और व्याप्य-व्यापकभावका ज्ञान होता है, ऐसा कहने

१. अप्रमाणात्सविकल्पात् । २. प्रत्यक्षपृष्ठभाविना विकल्पेन गृहीतुमशक्या व्याप्तिर्यतः । ३. तर्काख्यम् । ४. बौद्धेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं प्रमाणमङ्गीकर्तव्यम्; तदेतत्संज्ञान्तरं सविकल्पकं तर्काख्यमेवेत्यभिप्रायः ।

५. प्रत्यक्षानुमानयोर्व्याप्तिग्रहणनिराकरणपरेण न्यायेन । ६. प्रत्यक्षेण भूतले घटोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलम्भः । ७. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेरिति कारणानुपलम्भः । ८. नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेरिति व्यापकानुपलम्भः । ९. बौद्धो निराकृतः । १०. प्रत्यक्षविशेषत्वेन इत्यपि पाठः । ११. केवलं विधिप्रतिपत्तेरेवान्यत्र प्रतिषेधरूपत्वादिति अष्टसहस्र्याम् ।

च लिङ्गत्वेन तज्जनितस्यानुमानत्वात् 'प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहणपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात्'[३]।

'एतेन प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पज्ञानेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यप्यपास्तम्'।

वाले बौद्धोंका भी निराकरण हो जाता है ; क्योंकि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्षका ही विषय है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ लिङ्गरूप हैं, और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान ही है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमानसे व्याप्तिके ग्रहण करनेके पक्षमें जो दोष प्राप्त होते थे, वे ही यहाँपर भी प्राप्त होंगे।

विशेषार्थ—बौद्धोंने अनुपलम्भरूप हेतुके तीन भेद माने हैं—स्वभावानुपलम्भ, कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ। इस स्थानपर घड़ा नहीं है, क्योंकि पाया नहीं जाता; यह स्वभावानुपलम्भ है। यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि धूमका कारण जो अग्नि उसका यहाँपर अभाव है; यह कारणानुपलम्भ है। यहाँ शीशमका पेड़ नहीं है; क्योंकि उसका व्यापक वृक्ष नहीं पाया जाता; यह व्यापकानुपलम्भ है। बौद्धोंका कहना है कि कार्य-कारण और व्याप्य-व्यापकभावके सम्बन्ध ग्रहण करनेको ही व्याप्तिज्ञान या तर्क कहते हैं। सो इसे एक पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस कार्य-कारण भाव और व्याप्य-व्यापकभावरूप सम्बन्धका ज्ञान हमारे द्वारा मानेगये अनुपलम्भहेतुके उक्त तीनों भेदों द्वारा हो ही जाता है। आचार्यने उनके उत्तर में यह कहा है कि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्षका ही विषय है। अतः उससे व्याप्तिका ग्रहण हो नहीं सकता, यह बात हम पहले ही बतला आये हैं। शेष दोनों अनुपलम्भ यतः हेतु-स्वरूप ही हैं, अतः उनसे साध्यका ज्ञान होगा जिसे कि अनुमान कहते हैं, किन्तु साध्य-साधन, कार्य-कारण और व्याप्य-व्यापकके सम्बन्धरूप अविनाभावका अर्थात् सर्व देश-कालोपसंहारिणी व्याप्तिका ज्ञान कैसे होगा ? यदि आप फिर भी मानेंगे, तो वे सभी दोष आकर प्राप्त होंगे, जिन्हें हम पहले कह आये हैं।

इसी उपर्युक्त कथनसे प्रत्यक्षके फलरूप ऊहापोह विकल्पज्ञानके द्वारा व्याप्तिकी प्रतिपत्ति होती है, ऐसा कहनेवाले वैशेषिकोंके मतका भी खण्डन

---

१. कथमेतावता प्रत्युक्तमित्याशङ्कायामाह—उपलम्भकारणव्यापकानुपलम्भयोर्मध्ये सङ्केतप्रत्यक्षज्ञानेनानुमानज्ञानेन वा भवितव्यम्। २. आरोपितदोषसम्भवात्। ३. अनुपलम्भादिना व्याप्तिग्रहणे प्रत्यक्षानुमानपक्षोपक्षिप्तदोषदर्शनेन। ४. पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरमिति। ५. विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधतर्कणमूहः। ६. उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात्प्रत्यवायसम्भावनमपोहः। ७. वैशेषिकमतं निराकृतम्।

[1]प्रत्यक्षफलस्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे[2] व्याप्तेरविषयीकरणात्, [3]तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वमनिवार्यमिति।

[4]अथ [5]व्याप्तिविकल्पस्य [6]फलत्वान्न प्रामाण्यमिति न युक्तम्; फलस्याप्यनुमानलक्षणफलहेतुतया प्रमाणत्वाविरोधात्। तथा [7]सन्निकर्षफलस्यापि विशेषणज्ञानस्य[8] विशेष्य[9]-ज्ञानलक्षणफलापेक्षया प्रमाणत्वमिति न वैशेषिकाभ्युपगतोहापोहविकल्पः प्रमाणान्तर[10]-त्वमतिवर्तते।[11]

कर दिया गया समझना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्षके फलको प्रत्यक्ष और अनुमानमेंसे किसी एक रूप माननेपर उसके द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जासकती; और उनसे भिन्न माननेपर उसको भिन्न प्रमाण मानना अनिवार्य हो जाता है।

विशेषार्थ—जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर अन्य पदार्थोंमें भी व्याप्तिके बलसे उसी प्रकारकी तर्कणा करनेको ऊह या ऊहा कहते हैं। कथन की कुशलता और युक्तियोंके बल-द्वारा आनेवाली आपत्तियोंकी सम्भावना करके उनका परिहार करनेको अपोह कहते हैं। इस प्रकारके ऊह और अपोह रूप जो विकल्पात्मक ज्ञान है, वह प्रत्यक्षज्ञानका फल है, ऐसी मान्यता वैशेषिकोंकी है। और इसी ऊहापोहके द्वारा वे व्याप्तिका ज्ञान मानते हैं। आचार्यने उनकी इस मान्यताका जिस प्रकारसे परिहार किया है, वह बतला ही चुके हैं। जैनलोग इस ऊहापोहरूप ज्ञानको प्रत्यक्ष-ज्ञानका फल न मानकर उसे तर्क नामका स्वतन्त्र ही प्रमाण मानते हैं।

यहां नैयायिक कहते हैं कि व्याप्तिके विकल्परूप जो तर्क ज्ञान है वह तो प्रत्यक्षज्ञानका फल है, इसलिए उसको प्रमाणता नहीं मानी जा सकती। उनका यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि फलरूप होते हुए भी वह अनुमानका कारण है और अनुमान उसका फल है, अतः उसे प्रमाण माननेमें

१. प्रत्यक्षफलज्ञानं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नम्; ताभ्यां व्याप्तिग्रहणं नास्ति। फलज्ञानेनास्ति-चेत् फलज्ञानं प्रमाणान्तरं स्यात्। २. प्रत्यक्षफलं प्रत्यक्षमनुमानं चेति विकल्पद्वयम्, तयोर्मध्ये एकतरत्वे सति। ३. ताभ्यां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्यत्वे भिन्नत्वे।

४. नैयायिकः प्राह। ५. व्याप्तिग्राहकस्य तर्कस्य। ६. प्रत्यक्षफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानफलं व्याप्तिविकल्पः। ७. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। ८. दण्डज्ञानस्य, विशेषणज्ञानस्य विशेष्यज्ञानं फलम्। ९. 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये' इति न्यायात्। दण्डिज्ञानस्वरूपफलापेक्षया। १०. व्याप्तिज्ञानम्। ११. न निराकरोतीत्यर्थः।

एतेन[1] त्रि-चतुः-पञ्च-षट्प्रमाणवादिनोऽपि साङ्ख्याक्षपाद-प्रभाकर-जैमिनीयाः स्वप्रमाणसङ्ख्यां न व्यवस्थापयितुं क्षमा इति प्रतिपादितमवगन्तव्यम्। उक्तन्यायेन[2] स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-तर्काणां [3]तदभ्युपगतप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्थित्वादिति[4] प्रत्यक्षेतर[5]भेदाद् द्वे एव प्रमाणे इति स्थितम्।

अथेदानीं प्रथमप्रमाणभेदस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह—

विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥

ज्ञानमित्यनुवर्तते। [6]प्रत्यक्षमिति [7]धर्मिनिर्देशः। विशदज्ञानात्मकं साध्यम्। प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः[8]। तथाहि—प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात्। यन्न विशदज्ञानात्मकं

कोई विरोध नहीं है। जैसे कि सन्निकर्षके फलरूप भी विशेषणके ज्ञानको विशेष्यज्ञानके लक्षणरूप फलकी अपेक्षा प्रमाणता आपलोग मानते हैं इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा माना गया ऊहापोह विकल्परूप ज्ञान भी तर्कज्ञानकी प्रमाणान्तरताका उल्लंघन नहीं करता है।

इस प्रकार बौद्धोंके द्वारा मानी गई प्रमाण-संख्याके निराकरणसे तीन प्रमाणवादी सांख्य, चार प्रमाणवादी अक्षपाद (नैयायिक-वैशेषिक) पांच प्रमाणवादी प्राभाकर और छह प्रमाण माननेवाले जैमिनीय भी अपनी-अपनी प्रमाण-संख्याकी सयुक्तिक स्थापना करनेमें समर्थ नहीं हैं, यह बात प्रतिपादित जैसी ही समझना चाहिए। क्योंकि इसी उक्त न्यायसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण सांख्यादिके द्वारा स्वीकृत प्रमाणसंख्याके परिपन्थी हैं अर्थात् विरोध करनेके कारण शत्रुभूत हैं। इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो ही प्रमाण हैं, यह स्थित अर्थात् सिद्ध हुआ।

अब आचार्य प्रमाणका प्रथम भेद जो प्रत्यक्ष उसका स्वरूप-निरूपण करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशद अर्थात् निर्मल और स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं ॥३॥

इस सूत्रमें ज्ञानपदकी अनुवृत्ति होती है। यहाँपर प्रत्यक्ष यह धर्मीका निर्देश है अर्थात् पक्ष है, ज्ञानकी विशदता साध्य है और प्रत्यक्षपना हेतु है। आगे इसी अनुमानको स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्ष विशद ज्ञानस्वरूप ही है,

---

१. बौद्धस्य प्रमाणसङ्ख्याप्रतिपादनाऽसामर्थ्यसमर्थनेन। २. व्याप्तिज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थापनेन स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वव्यवस्थापनेनोक्तन्यायेन च। ३. साङ्ख्यादीना। ४. साङ्ख्यादिस्वीकृतप्रमाणसङ्ख्याविपक्षित्वात् स्मृत्यादितत्करविद्यमानत्वादित्यर्थः। ५. विपक्षत्वात्। ६. विवक्षितं प्रत्यक्षं प्रमाणं धर्मी। ७. साध्यधर्माधारो धर्मी पक्षः। ८. व्यतिरेकी हेतुः।

तच्च प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षम्[1]। प्रत्यक्षं च विवादापन्नम्[2]। तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति[3]। प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत् का पुनः प्रतिज्ञा तदेकदेशो[4] वा ? धर्मि धर्मसमुदायः प्रतिज्ञा। तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा ? हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध[5] इति चेन्न, धर्मिणो हेतुत्वे असिद्धत्वायोगात्। तस्य पक्षप्रयोग[6]कालवद्धेतुप्रयोगेऽप्यसिद्ध[7]त्वायोगात्।

क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। जो विशदज्ञानात्मक नहीं वह प्रत्यक्ष नहीं; जैसे परोक्षज्ञान। और प्रत्यक्ष विवादापन्न है, इसलिए वह विशदज्ञानात्मक है, इस प्रकार अनुमानके पांच अवयव-प्रयोगरूप यह सूत्र है।

शङ्का—सूत्रमें तो एकमात्र धर्मी प्रत्यक्षका निर्देश किया गया है, उसे ही आपने हेतु बनाया है। पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं, उस प्रतिज्ञारूप अर्थके एक देशको हेतु बनानेसे यह हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका असिद्ध हेत्वाभास हो गया, और असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि होती नहीं है, अतः प्रत्यक्षत्वको हेतु बनाना उचित नहीं ?

प्रतिशङ्का—ऐसा दोष देनेवालेसे आचार्य पूछते है कि प्रतिज्ञा क्या वस्तु है और उसका एक देश क्या है ?

समाधान—धर्म अर्थात् साध्य और धर्मी अर्थात् पक्षके समुदायको प्रतिज्ञा कहते है। उसका एक देश धर्म अथवा धर्मी है। उनमेंसे एकको हेतु बनानेपर वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है।

प्रतिसमाधान—आपका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मीको हेतु बनानेपर असिद्धपना नहीं प्राप्त होता। पक्षप्रयोगकालमें धर्मीके जैसे असिद्धपना नहीं है, उसीप्रकार हेतु प्रयोगकालमें भी उसके असिद्धपना नहीं आ सकता।

भावार्थ—शङ्काकारने धर्म और धर्मीके समुदायको प्रतिज्ञा कहा है। सो धर्म नाम तो साध्यका है और साध्य सदा ही असिद्ध होता है। सूत्रकारने आगे स्वयं ही इसका लक्षण 'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्' कहा है। यदि यहाँपर धर्मको अर्थात् विशदात्मकतारूप साध्यको हेतु बनाया गया होता, तो वह अवश्य प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हेत्वाभास कहलाता। किन्तु यहाँपर तो धर्मी रूप पक्षको हेतु बनाया गया है और धर्मीको वादी और प्रतिवादी सभीने

१. उदाहरणम्। २. उपनयः। ३. निगमनम्। ४. वादि-प्रतिवादिनोः प्रसिद्ध एव धर्मी भवति। ५. प्रतिज्ञा एवार्थः प्रतिज्ञार्थः, तस्यैकदेशः सो हेतुरसिद्धः। ६. पक्षः प्रत्यक्षम्, तस्य प्रत्यक्षस्य प्रयोगकालः प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षत्वात्। यथा पक्षस्य प्रत्यक्षत्वं तथा हेतोः। ७. वादि-प्रतिवादिनोः प्रसिद्ध एव धर्मी भवतीत्यर्थः।

धर्मिणो हेतुत्वे अनन्वय[1] दोष इति चेन्न; विशेषस्य[2] धर्मित्वात्, सामान्यस्य[3] च हेतुत्वात्। तस्य च विशेषेष्वनुगमो[4] 'विशेषनिष्ठत्वात्सामान्यस्य'[5]।

अथ साध्यधर्मस्य[6] हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वमिति। तदप्यसम्मतम्[7], साध्यस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वान्न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेन तस्यासिद्धत्वम्, धर्मिणा व्यभिचारात्[8]।

प्रसिद्ध माना है। स्वयं सूत्रकारने आगे 'प्रसिद्धो धर्मी' ऐसा कहा है। अतः जब धर्मी प्रसिद्ध है, तब उसे हेतु बनानेपर वह असिद्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रमाणसे सिद्ध वस्तुको प्रसिद्ध और प्रमाणसे जो सिद्ध नहीं उसे असिद्ध कहते हैं। इसलिए आचार्यने बहुत ठीक कहा है कि जैसे धर्मी पक्ष-प्रयोगके समय असिद्ध नहीं है, वैसे ही हेतु-प्रयोगके समय भी असिद्ध नहीं है।

शङ्का—धर्मीको हेतु बनानेपर अनन्वयदोष प्राप्त होता है? क्योंकि पक्षरूप धर्मीका साध्यरूप धर्मके साथ कोई अन्वयसम्बन्ध नहीं पाया जाता। जैसे कोई कहे कि 'यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि वह पर्वत है, तो इस अनुमानमें हेतुरूपसे प्रयुक्त पर्वतत्वका अग्निमत्त्व साध्यके साथ जो जो पर्वत होंगे, वे सभी अग्निमान् होंगे, इसप्रकारका कोई अन्वय सम्बन्ध नहीं है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँपर प्रत्यक्ष-विशेषको धर्मी बनाया गया है और प्रत्यक्षत्व-सामान्यको हेतु बनाया है। तथा सामान्यका अपने विशेषोंमें अनुगम अर्थात् अन्वय रहता ही है। 'सामान्य अपने सभी विशेषोंमें रहता है' ऐसा स्वयं आप यौगोंने कहा है।

शङ्का—साध्यरूप धर्मको हेतु बनानेपर तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा? क्योंकि साध्य असिद्ध होता है।

समाधान—यह कथन भी हमारे लिए असम्मत है अर्थात् हमें मान्य नहीं है; क्योंकि हमने तो साध्यरूप धर्मको हेतु नहीं बनाया है। साध्यके स्वरूपसे ही असिद्धता है, न कि प्रतिज्ञार्थके एक देश होनेसे असिद्धता है; अन्यथा धर्मीके द्वारा व्यभिचार आता है।

---

१. पर्वतोऽयमग्निमान्, पर्वतत्वादित्यादिवदनन्वयदोषः। २. प्रत्यक्षस्य। ३. प्रत्यक्षत्वस्य। ४. अन्वयो वर्तते। ५. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि। ६. भो यौग! तव मतेन वर्तते। ७. साध्यस्य धर्मः साध्यधर्मः। ८. मया साध्यधर्मस्य हेतुत्वं न प्रतिपाद्यते। ९. कथमसम्मतं साध्यधर्मस्य हेतुत्वं ब्रूषे? शब्दो नित्यो भवितुमर्हति, नित्यत्वादित्येवं प्रकारेण प्रतिवादिना (जैनेन) साध्यधर्मस्यानङ्गीकरणात्। किञ्च साध्यस्य हेतुत्वे स्वरूपासिद्धं च वक्तव्यम्; न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वम्। अन्यथा यो यः प्रतिज्ञार्थैकदेशः स सोऽसिद्ध

सपक्षे[1] वृत्त्यभावाद्धेतो[2]रनन्वय[3] इत्यप्यसत्, सर्वभावानां[4] क्षणभङ्ग[5]सङ्गममेवाङ्ग-शृङ्गारमङ्गीकुर्वतां ताथागतानां सत्त्वादिहेतूनामनुदयप्रसङ्गात्[6]। विपक्षे[7] बाधकप्रमाण[8]-भावात् पक्षव्यापकत्वाच्चानन्वयत्वं प्रकृतेऽपि समानम्[9]।

विशेषार्थ—यहाँपर शङ्काकारने यह शङ्का उठाई है कि यदि साध्यरूप धर्मको हेतु बनाया जायगा, तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हो जायगा। जैसे कि शब्द नित्य है; क्योंकि उसमें नित्यता पाई जाती है, इत्यादि। इसका समाधान आचार्यने यह किया है कि हमने साध्य धर्मको हेतु नहीं बनाया है जिससे कि आपके द्वारा दिया गया दूषण हमपर लागू हो। यदि केवल प्रतिज्ञाके एकदेश होनेमात्रसे ही हमपर प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धताका दोषारोपण आप करना चाहते हों, तो वैसी दशामें आपके कथनमें धर्मीके द्वारा व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि वह भी प्रतिज्ञाका एकदेश है। धर्मीकी प्रतिज्ञार्थैक-देशासिद्धताका परिहार हम पहले कर ही आये हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि साध्यको हेतु बनानेपर उसे स्वरूपासिद्ध तो कहा जा सकता है, प्रतिज्ञार्थैक-देशासिद्ध नहीं। अन्यथा जो जो प्रतिज्ञार्थैकदेश है, वह वह असिद्ध है ऐसी व्याप्ति होनेपर धर्मीके द्वारा व्यभिचार आता है। अथवा जो जो प्रतिज्ञार्थैक-देश है, वह वह असिद्ध है, ऐसी व्याप्तिमें धर्मीके भी प्रतिज्ञार्थैकदेशता होनेसे वादि-प्रतिवादी दोनोंके ही साध्यके समान हेतुके भी असिद्धता प्राप्त होगी। इसलिए इस विषयमें अधिक क्षोद-क्षेम करना व्यर्थ है।

शङ्का—आपने ऊपर अनुमान-प्रयोग करते हुए धर्मीको हेतु बनाया और व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक व्यतिरेक ही दृष्टान्त दिया, सो हेतुके सपक्षमें न रहनेसे और अन्वय-दृष्टान्तके न पाये जानेसे आपके अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

समाधान—यह कथन भी समीचीन नहीं है; क्योंकि सर्व पदार्थोंके क्षणभङ्ग-सङ्गमरूप अङ्ग-शृङ्गारको अङ्गीकार करनेवाले ताथागतों (बौद्धों) के सत्त्वादि हेतुओंके अनुदयका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

इति व्याप्तौ धर्मिणा व्यभिचारात्। अथवा यो यः प्रतिज्ञार्थैकदेशः स सोऽसिद्ध इति व्याप्तौ धर्मिणोऽपि प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्वादि-प्रतिवादिनोः साध्यवत्तस्याप्यसिद्धता स्यात्।

१. साध्यसाधनधर्मा धर्मी सपक्षस्तस्मिन् सपक्षे। २. प्रत्यक्षत्वस्य हेतोः। ३. असपक्षधर्मत्वम्। ४. पदार्थानां कारणत्वेन जनकत्वेन। ५. क्षणे क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः, प्रतिसमय नाश इत्यर्थः। ६. सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्रापि हेतोः सपक्षे वृत्ति-र्नास्ति, सर्वस्य पक्षीकृतत्वेन सपक्षस्याभावात्। ७. क्षणिकत्वे साध्ये नित्यत्वं विपक्षः। ८. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्, खरविषाणवदिति बौद्धमते बाधकप्रमाणम्। ९. अप्रत्यक्षे प्रत्यक्षत्वं नास्ति, परोक्षत्वात्, शिंशपादिवदिति प्रकृतेऽपि प्रकृतानुमानेऽपि प्रत्यक्षेऽपि बाधकप्रमाणमस्ति।

विशेषार्थ—ऊपर विशद ज्ञानको प्रत्यक्षता सिद्ध करते हुए किसी अन्यके सपक्ष न होनेसे व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक परोक्षज्ञानको व्यतिरेक दृष्टान्त रूपसे बतलाया गया है। उसमें बौद्धोंने यह दूषण दिया कि हेतुके तीन रूप होते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति। सो उस अनुमानमें प्रयुक्त हेतुके सपक्षसत्त्वरूप दूसरे हेतुरूपका अभाव है और इसीलिए अन्वय दृष्टान्त भी नहीं दिया जा सका। अतः उक्त अनुमानमें अनन्वयदोष आता है। आचार्यने उसका यह समाधान किया है कि आप बौद्धोंने भी तो सर्व पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए जो सत्त्व हेतु दिया है, वहांपर भी तो सपक्षसत्त्वका और अन्वय-दृष्टान्तका अभाव है, क्योंकि सभी पदार्थोंको पक्ष बना लिया गया है। फिर उसे आप क्यों समीचीन हेतु मानते हैं। उनका वह प्रयोग इस प्रकार है—सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत् रूप हैं, जो क्षणिक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता; जैसे खर-विषाण। इसी अनुमान प्रयोगसे बौद्ध लोग सर्व पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करते हैं। यदि इतने पर भी आप जैनोंको अनन्वय दूषण देनेका प्रयास करेंगे तो आपने उक्त अनुमानमें जो सत्त्व आदि हेतुओंका प्रयोग किया है, वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसमें भी अनन्वय दोष प्राप्त होता है।

यदि इतनेपर भी बौद्ध कहें कि हेतुके विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव होनेसे तथा पक्षमें व्यापक होनेसे हमारे सत्त्व हेतुके अनन्वय दूषण नहीं प्राप्त होता, तो यह बात प्रकृतमें भी समान है, अर्थात् हमारे प्रत्यक्षत्व हेतुको भी अनन्वय दूषण नहीं प्राप्त होता।

विशेषार्थ—बौद्धोंने 'सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, सत् रूप होनेसे' इस अनुमानमें अनन्वय दोषके परिहारके लिए दो युक्तियां दी हैं, जिनमेंसे पहली युक्ति है—हेतुके विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव। इसका अभिप्राय यह है कि उक्त अनुमानमें क्षणिकत्व साध्य है, अतः उसका विपक्ष नित्यत्व है और पदार्थोंके नित्यत्व सिद्ध करनेमें बाधक प्रमाण पाया जाता है। यथा—पदार्थ नित्य नहीं है, क्योंकि नित्य पदार्थमें क्रमसे और एकसाथ इन दोनों ही प्रकारोंसे अर्थक्रियाकारिताका अभाव है। इस प्रकार विपक्षाद्-व्यावृत्तिरूप हेतुका तीसरा लक्षण हमारे सत्व हेतुमें पाया जाता है। दूसरी युक्ति दी है—हेतुकी पक्षमें व्यापकता अर्थात् हमारा सत्व हेतु पक्षभूत सभी पदार्थोंमें पाया जाता है, जिसे कि हेतुका पहला लक्षण कहा गया है। अतः सत्वहेतुके सपक्षमें रहने रूप दूसरे हेतु-लक्षणके नहीं पाये जानेपर भी पहले और तीसरे

इदानीं[1] स्वोक्तमेव विशदत्वं व्याचष्टे—

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरम्। तेनाव्यवधानं तेन प्रतिभासनं वैशद्यम्। [2]यद्यप्यवायस्यावग्रहेहाप्रतीतिभ्यां व्यवधानम्[3], तथापि न परोक्षत्वम्[4]; विषय-विषयिणोर्भेदेन[5] प्रतिपत्तेः[6]। यत्र[7] विषय-विषयिणोर्भेदे सति व्यवधानं तत्र परोक्षत्वम्।

लक्षणोंके पाये जानेसे अनन्वय दोष नहीं प्राप्त होता। उनके इस कथनके उत्तरमें जैनोंकी ओरसे यह कहा गया है कि यह बात तो हमारे प्रत्यक्षत्व हेतुमें भी समान है। जिसका खुलासा यह है कि उक्त अनुमान-प्रयोगमें प्रत्यक्षके विशदज्ञानात्मकता सिद्ध करनेके लिए जो प्रत्यक्षत्व हेतु दिया गया है, वह भी अपने पक्षमें व्यापक है और विपक्षमें बाधक प्रमाण भी है। वह इस प्रकार कि प्रत्यक्षका विपक्ष अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्षज्ञान है और परोक्षज्ञानमें प्रत्यक्षता पाई नहीं जाती, क्योंकि वह परोक्ष है। इस प्रकार विपक्षाद्-व्यावृत्ति-रूप हेतु लक्षण हमारे हेतुमें भी पाया जाता है। ऊपरके सभी आक्षेप और समाधानोंका सार यह है कि प्रत्यक्षत्व हेतुके विषयमें जितने भी दूषणोंका उद्भावन आप लोगोंने किया है वे कोई भी हमारे हेतुको प्राप्त नहीं होते। अतः सर्व प्रकार निर्दोष होनेसे वह अपने साध्यकी सिद्धि करता है।

अब आचार्य अपने द्वारा कही गई विशदताकी व्याख्या करते हैं—

सूत्रार्थ—दूसरे ज्ञानके व्यवधानसे रहित और विशेषतासे होनेवाले प्रतिभासको वैशद्य कहते हैं॥ ४॥

प्रतीति नाम ज्ञानका है, एक प्रतीतिसे भिन्न दूसरी प्रतीतिको प्रतीत्यन्तर कहते हैं। व्यवधान नाम अन्तरालका है। इस प्रकार यह अर्थ निकला कि अन्य ज्ञानके व्यवधानसे रहित जो निर्मल, स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान होता है, उसे विशदता या वैशद्य कहते हैं।

यहां सांव्यवहारिक प्रत्यक्षको लक्ष्यमें रखकर उठनेवाली शङ्काओंका स्वयं उद्भावन कर समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—यद्यपि अवायज्ञानके

१. प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वमर्थानन्तरम्। २. नन्ववायस्य परोक्षत्वमस्तु; अवग्रहादिप्रतीत्यन्तरेण व्यवधानादिति शङ्कायामुत्तरं ददाति। ३. पूर्वज्ञानमुत्तरज्ञानं व्यवधापयति, धारणाया अपि व्यवधानमस्ति। ४. तर्हि प्रत्यक्षत्वं कुत इत्याह। ५. विषयस्यार्थस्य विषयिणो ज्ञानस्य च भेदासम्भवात्। कथम्? अवग्रहादिविषयभूतार्थस्यावायविषयभूतार्थस्य (चावग्रहादिरूपेण परिणतस्यैकत्वात्?) अवग्रहादिरूपस्य प्रत्यक्षस्य चैकत्वात्। ६. अज्ञानात्। ७. ज्ञानविषये प्रतीतौ वा।

[1]नह्यनुमा[2]नाध्यक्ष[3]विषयस्यैकात्मग्रा[4]ह्यस्याग्नेर्भिन्नस्योपलम्भादध्यक्षस्य[5] परोक्ष-तेति। तदप्ययुक्तम्, भिन्नविषयत्वाभावात्[6]। [7]विसदृशसामग्री[8]जन्यभिन्नविषया प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरमुच्यते, नान्यादिति न दोषः। न केवलमेतदेव,[9] विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं सविशेषवर्णसंस्थानादिग्रहणं वैशद्यम्।

अवग्रह और ईहा ज्ञानसे व्यवधान है, तथापि उसे परोक्ष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषय और विषयीकी यहांपर भेदरूपसे प्रतीति नहीं है। जहांपर विषय और विषयीमें भेद होनेपर व्यवधान होता है, वहां परोक्षपना माना जाता है।

विशेषार्थ--अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद हैं और पूर्व-पूर्व ज्ञानसे गृहीत विषयमें ही उत्तरोत्तर विशेषताको जानना इनका स्वभाव है। इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर यदि कोई यह आशङ्का करे कि अवायज्ञानके अवग्रह और ईहा इन दो ज्ञानोंसे व्यवधान है; क्योंकि अवायज्ञानके पूर्वमें अवग्रह और ईहाज्ञान होते हैं अतः अवायज्ञानको परोक्ष क्यों न माना जाय? आचार्यने उसका यह समाधान किया है कि जहां विषय (पदार्थ) और विषयी (ज्ञान) में भेद होते हुए व्यवधान होता है, वहां परोक्षपना माना जाता है। यहां जो पदार्थ अवग्रहका विषय है, वही ईहा और अवाय ज्ञान का भी विषय है। इसलिए इन सभी ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ एक है। और एक ही विषयभूत पदार्थ को जानने से ये अवग्रहादि सभी ज्ञान एक प्रत्यक्षरूप ही हैं। अतः अवायज्ञान में अवग्रह-ईहा ज्ञान से व्यवधान होने पर भी विषय और विषयी के भिन्न नहीं होने से अवाय के परोक्षताका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है।

---

१. कश्चित्तटस्थः--यथाऽवग्रहज्ञानं प्रत्यक्षं तथा अवग्रहेहाप्रतीतिभ्यां व्यवधानेऽपि अवायज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वं तत्क्रमेणैव। २. प्रथममग्निज्ञानं परोक्षं धूमज्ञानेन व्यवधानात्। पुनः समीपं गत्वाऽग्निं पश्यति; तस्य प्रत्यक्षस्यापि परोक्षत्वं स्यात्; प्रतीत्यन्तरानुमानज्ञानेन व्यवधानात। तथा प्रथमं धूमदर्शनमन्यो विषयः, पश्चादग्निज्ञानं भिन्नः। ३. एकस्मिन् विषये बहुप्रमाणप्रवृत्तौ दोषो नास्ति, दर्शनकाले प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरेण व्यवहितं भवति चेद्दोषः। ४. एकपुरुषस्य। ५. अध्यक्षस्य परोक्षत्वमनुमानं धूमदर्शन-प्रत्यक्षेण जन्यं प्रत्यक्षमपि अग्निदर्शनजन्यं प्रत्यक्षत्वादिविशेषादेकसामग्री-लिङ्गानुमितस्याग्नेस्तद्देशोपसर्पणे सति यदर्थग्राहकमध्यक्षं तस्य। ६. भिन्नसामग्रीजन्यस्वभावादिति पाठान्तरम्। ७. विलक्षण। ८. अनुमानस्य ज्ञातकरणत्वात्प्रत्यक्षस्याज्ञातकरणत्वाद्भिन्न-सामग्री। प्रत्यक्षेऽज्ञातकरणं चक्षुरिन्द्रियं यतस्तत्त्वं न पश्यति। ज्ञातकरणं परिशीलितधूमः। अवग्रहादिनेत्यर्थः। ९. केवलं प्रतीत्यन्तराव्यवधानमेव वैशद्यं न; अपि तु।

'तच्च प्रत्यक्षं द्वेधा, मुख्य[1]-संव्यवहारभेदादिति' मनसि कृत्य प्रथमं सांव्यवहारिक-प्रत्यक्षस्योत्पादिकां सामग्रीं तद्भेदं च प्राह—

[2]इन्द्रियानिन्द्रिय[3]निमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

शङ्का—यदि आप अवग्रह ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं और अवग्रह तथा ईहा इन दो ज्ञानोंसे व्यवधान होनेपर भी अवायज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं, तो इसी क्रमसे किसी पुरुषके पहले अनुमानसे अग्निका ज्ञान हुआ, वह तो परोक्ष है, क्योंकि उसमें धूमज्ञानसे व्यवधान है। पुनः वही पुरुष समीप जाकर जब अग्निको देखता है, तब उसका यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी परोक्ष मानना पड़ेगा; क्योंकि उसमें प्रतीत्यन्तररूप अनुमानज्ञान से व्यवधान है, तथा दोनोंका विषय भी भिन्न है-पहलेका परोक्ष अग्नि विषय है और दूसरेका प्रत्यक्ष अग्नि विषय है। अतः भिन्न विषयोंकी उपलब्धिके कारण उक्त प्रकारसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्षज्ञानके परोक्षपना प्राप्त होता है ?

समाधान—आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि यहांपर भिन्नविषय-पनेका अभाव है। कहनेका भाव यह है कि अनुमान और प्रत्यक्ष की विषय-भूत अग्नि एक है, भिन्न नहीं। अनुमान ने जिस अग्नि को जाना है प्रत्यक्ष ने भी उसी अग्नि को जाना है। एक ही अग्नि को विभिन्न प्रमाणों द्वारा जानने में कोई बाधा भी नहीं है। अतः यहाँ अनुमान और प्रत्यक्ष का विषय एक होने से प्रत्यक्ष में प्रतीत्यन्तर व्यवधान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विसदृश (विलक्षण) सामग्री से उत्पन्न हुई और भिन्न विषयवाली प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं। यद्यपि अनुमान और प्रत्यक्ष विसदृश सामग्री से उत्पन्न हुए हैं तथापि उनका विषय एक है। अतः प्रत्यक्षमें प्रतीत्यन्तरसे व्यवधान नहीं है और इस कारण उसमें परोक्षता का प्रसंग भी नहीं आता।

केवल प्रतीत्यन्तरके अव्यवधानसे होनेवाले ज्ञानका नाम ही वैशद्य नहीं है; अपितु वस्तुके वर्ण-गन्धादि तथा संस्थान (आकार-प्रकार) आदि विशेषताओंके द्वारा होनेवाले विशिष्ट प्रतिभासको भी वैशद्य कहते हैं।

वह प्रत्यक्ष मुख्य और संव्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है ऐसा अभि-प्राय मनमें रखकर आचार्य पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षको उत्पन्न करनेवाली सामग्री और उसके भेदको कहते हैं—

सूत्रार्थ—इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले एकदेश विशद ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ५ ॥

---

१. 'लघ्वक्षरजाद्येति' सूत्रेण मुख्यस्य प्राक् प्रयोगः। २. इन्दति परमैश्वर्यमनुभव-तीति इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। ३. ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियम्।

विशदं ज्ञानमिति चानुवर्तते। देशतो विशदं ज्ञानं सांव्यवहारिकमित्यर्थः। समीचीनः[1] प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः, तत्र[2] भवं सांव्यवहारिकम्। पुनः किम्भूतम्? इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं मनः ते निमित्तं कारणं यस्य। [3]समस्तं [4]व्यस्तं च कारणमभ्युपगन्तव्यम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रिय[5]बलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। अनिन्द्रियादेव [6]विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

[7]तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादि[8]धारणापर्यन्ततया चतुर्विधमपि [9]बह्वादिद्वादशभेदमष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य चोक्तप्रकारेणाष्टचत्वा-

---

यहांपर पूर्वसूत्रसे विशद और ज्ञान इन दो पदोंकी अनुवृत्ति होती है। एकदेशसे विशद जो ज्ञान है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। 'सम्' अर्थात् समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारको संव्यवहार कहते हैं, उसमें होनेवाले ज्ञानको सांव्यवहारिक कहते हैं। पुनः वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है? इन्द्रिय और अनिन्द्रिय-निमित्तक है। इन्द्रिय कहिये चक्षु-श्रोत्रादिक और अनिन्द्रिय कहिये मन, ये दोनों जिसके निमित्त अर्थात् कारण हैं। इन्द्रिय और मन ये समस्त अर्थात् दोनों भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण हैं और व्यस्त अर्थात् पृथक्-पृथक् भी कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन्द्रियोंकी प्रधानतासे और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके विशिष्ट क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी अपेक्षा-सहित केवल मनसे ही उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं।

इनमेंसे जो इन्द्रियप्रत्यक्ष है; वह अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है। वह भी बहु-अबहु, बहुविध-एकविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिःसृत-निःसृत, उक्त-अनुक्त और ध्रुव-अध्रुव इन बारह विषयोंके भेदसे अड़तालीस भेदरूप प्रत्येक इन्द्रियके प्रति जानना चाहिए। अतः पांचों इन्द्रियोंके (४८×५=२४०) दो सौ चालीस भेद हो जाते हैं।

---

१. अबाधितः। २. तस्मिन् कर्तव्ये। ३. इन्द्रियानिन्द्रियम्। ४. मन इन्द्रियं वा। ५. सहायात्। ६. ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलक्षणा विशुद्धिः।

७. द्वयोर्मध्ये। ८. अवगृह्यतेऽर्थस्य सत्त्वसामान्यादवान्तरो जातिविशेषो येन सः। विषयविषयिसन्निपाते सत्येवाद्यं ग्रहणमवग्रहः। ईह्यतेऽवग्रहगृहीतार्थस्य विशेष आकाङ्क्ष्यते यया सेहा, विशेषाकाङ्क्षणमीहा। अवयते निश्चीयतेऽर्थो येनासाववायः, निश्चयोऽवायः, धार्यते कालान्तरेऽपि न विस्मर्यतेऽनया सा कालान्तराविस्मरणकारणा धारणा। ९. बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् (तत्त्वा० अ० १. सू०

त्रिंशद्भेदेन [1]मनोनयनरहितानां [2]चतुर्णामपीन्द्रियाणां [3]व्यञ्जनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदेन च [4]समुदितस्यैन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षस्य षट्त्रिंशदुत्तरा त्रिशती सङ्ख्या प्रतिपत्तव्या ।

अनिन्द्रियप्रत्यक्षके भी इसी प्रकार अड़तालीस भेद होते हैं। उन्हें दो सौ चालीसमें मिला देनेपर (२४० + ४८ = २८८) दो सौ अठासी भेद व्यक्त पदार्थकी अपेक्षा होते हैं। किन्तु व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त पदार्थका केवल अवग्रह ही होता है, ईहादि नहीं। तथा वह मन और नेत्रेन्द्रियसे नहीं होता, केवल शेष चार ही इन्द्रियोंके द्वारा बहु-अबहु आदि बारह विषयोंके केवल अवग्रह रूप होनेसे अड़तालीस भेदरूप होता है। इन्हें उक्त दो सौ अठासीमें सम्मिलित करदेनेपर (२८८+४८ = ३३६) तीन सौ छत्तीस भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके जानना चाहिए।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञानके इन ३३६ भेदोंका विशेष अर्थ तत्त्वार्थसूत्रकी बड़ी टीकाओंसे जानना चाहिए।

१६) । बह्वेकव्यक्तिविज्ञानं बह्वेकं च क्रमाद्यथा । बहवस्तरवः सूर्यो बहुश्चैक वनं नरः ॥१॥ बह्वेकजातिविज्ञानं स्याद्बह्वेकविधं यथा । वर्णा नृणां बहुविधाः गौर्जात्यैकविधेति च ॥२॥ आश्वर्थस्य ग्रहः क्षिप्रं स्यादक्षिप्रं शनैर्ग्रहः । मृत्पात्रे यद्वदादत्तं नूतनं चाऽनूतनं जलम् ॥३॥ वस्त्वेकदेशाद्वस्तुनो वस्त्वंशाद्वस्तुनोऽथवा । तत्रासन्निहितान्यस्यानिःसृतं मननं यथा ॥४॥ घटार्वाग्भागकस्यास्य गवयग्रहणे क्षणे । स्फुटं घटेन्दुगोज्ञानमभ्यासमनसान्विते ॥५॥ वस्त्वेकदेशमात्रस्य विज्ञानं निःसृतं मतम् । घटार्वाग्भागमात्रेऽपि कश्चिज्ज्ञानं हि दृश्यते ॥६॥ प्रत्यक्षे नियतान्याद्दग्गुणार्थैकाक्षबोधनम् । अनुक्तमेकदेशोक्तं प्रत्यक्षं नियतग्रहः ॥७॥ चक्षुषा दीपरूपावलोकावसर एव तत् । तदुष्णस्पर्शविज्ञानं यथोक्तार्थः प्ररूप्यते ॥८॥ स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्च खम् । अर्थः स्पर्शो रसो गन्धो रूपः शब्दः श्रुतादयः ॥९॥ स्यान्नित्यत्वविशिष्टस्य स्तम्भादेर्ग्रहणं ध्रुवः । विद्युदादेरनित्यत्वेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः ॥१०॥ तत्रार्थस्य द्वादशपदार्थैः सहावग्रहादीनामिन्द्रियाणां मनसश्च गुणने २८८ भेदा भवन्ति । व्यञ्जनावग्रहस्य द्वादशपदार्थैः 'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्' इति निषेधाच्चक्षुरनिन्द्रियव्यतिरिक्तचतुर्णामिन्द्रियाणां गुणने सति ४८ भेदा भवन्ति । अर्थावग्रहस्य व्यञ्जनावग्रहस्य च सर्वे समुदिताः ३३६ भेदा मतिज्ञानस्य सन्ति । १. अप्राप्यकारित्वमेनयोः । व्यक्तमर्थावग्रहस्य; प्राप्याप्राप्यकारित्वेन्द्रियेषु प्रवृत्तिः । अव्यक्तं व्यञ्जनावग्रहस्य, प्राप्यकारित्वेन्द्रियेषु प्रवृत्तिः । २. श्रोत्रत्वग्जिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वम् । ३. अर्थावग्रहस्य स्पष्टत्वास्पष्टत्वम् । व्यञ्जनेऽस्पष्टत्वम् । व्यञ्जनमव्यक्तशब्दादिजातम्, तस्यावग्रह एव भवति; नूतनभाण्डस्योपरिक्षिप्तजलवत्संस्थाजनितकालवत् । ४. मिलितस्य ।

ननु[1] स्वसंवेदन[2]भेदमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्; तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्[3], इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात्[4]। अन्यथा[5] तस्य[6] स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादिस्वरूपसंवेदनं [7]मानसमेवेति नापरं[8] स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।

[9]ननु प्रत्यक्षस्योत्पादकं कारणं वदता ग्रन्थकारेणेन्द्रियवदर्थालोकावपि किं न कारणत्वेनोक्तौ? तदवचने[10] कारणानां साकल्यस्यासङ्ग्रहाद्विनेयव्यामोह[11] एव स्यात्, तदियत्ताऽनवधारणात्। न च भगवतः[12] परमकारुणिकस्य चेष्टा[13] तद्व्यामोहाय प्रभवतीत्याशङ्कायामुच्यते—

शङ्का—बौद्धोंका कहना है कि 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि रूप एक अन्य भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, उसे आपने क्यों नहीं कहा?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सुख-दुःखादिके ज्ञानस्वरूप जो स्वसंवेदन होता है, उसका मानस प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव हो जाता है और जो इन्द्रियज्ञानस्वरूप संवेदन होता है, उसका इन्द्रियप्रत्यक्षमें अन्तर्भाव हो जाता है। यदि ऐसा न माना जाय तो स्वसंवेदनरूप ज्ञानके स्वव्यवसायकता नहीं बन सकती है। तथा स्मृति आदि स्वरूप जो संवेदन होता है, वह भी मानस प्रत्यक्ष ही है। इसलिए इससे भिन्न स्वसंवेदन नामका अन्य कोई प्रत्यक्ष नहीं है।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्षके उत्पादक कारण बतलाते हुए ग्रन्थकारने इन्द्रिय-अनिन्द्रियके समान अर्थ और आलोकको कारणरूपसे क्यों नहीं कहा? क्योंकि अर्थ यानी पदार्थके निमित्तसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है और आलोक अर्थात् प्रकाशके निमित्तसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है। इनके नहीं कहनेसे सकल कारणोंका संग्रह नहीं हुआ और इसलिए शिष्यजनोंको व्यामोह अर्थात् सन्देह और विभ्रम ही होगा, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिके जितने भी कारण हैं उनकी संख्या शिष्यजनोंको अज्ञात रहेगी। और परम करुणावान् भगवानकी कोई भी चेष्टा (प्रवृत्ति) शिष्यजनोंके व्यामोहके लिए नहीं हो

---

१. बौद्धः प्राह। २. अहं सुखी, अहं दुःखीत्यादिरूपम्। ३. अनिन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। ४. यथेन्द्रियज्ञानं समक्षं तथेन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्यापि समक्षत्वमिति। ५. मनोऽक्षप्रभवज्ञानाभ्यामन्यत्वे। ६. स्वसंवेदनस्य। ७. तस्यानिन्द्रियनिमित्तत्वात्। ८. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥१॥

९. नैयायिकः प्राह। १०. कारणसाकल्यावचने सति। ११. सन्देहभ्रमः। १२. आचार्यस्य ग्रन्थकर्तुः। १३. प्रवृत्तिः।

नार्थालोकौ[1] कारणं[2] परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

सुगममेतत् । ननु बाह्या[3]लोकाभावं विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकलो[4] दृष्टान्त इति ? नैवम्, एवं सति[5] बाह्यालोकस्यापि तमोऽभावादन्यस्यासम्भवात्तेजोद्रव्यस्यासम्भव इति विस्तरेणैतदलङ्कारे[7] प्रतिपादितं बोद्धव्यम् ।

सकती । नैयायिकोंकी ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार उसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—अर्थ और आलोक ये दोनों ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं; क्योंकि ये परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञानके विषय हैं—जानने योग्य ज्ञेय हैं । जो ज्ञानका विषय होता है, वह ज्ञानका कारण नहीं होता । जैसे अन्धकार ॥ ६ ॥

यह सूत्र सुगम है ।

भावार्थ—अन्धकार ज्ञानका विषय तो है क्योंकि यह सभी जानते हैं और कहते भी हैं कि यहाँ अन्धकार है । परन्तु वह ज्ञानका कारण नहीं, प्रत्युत ज्ञानका प्रतिबन्धक है अर्थात् अन्धकारके कारण सामने रखे हुए भी पदार्थोंका ज्ञान नहीं होने पाता । यदि पदार्थोंको ज्ञानका कारण माना जाय तो विद्यमान ही पदार्थोंका ज्ञान होगा, और जो उत्पन्न ही नहीं हुए, अथवा नष्ट हो गये हैं, उनका ज्ञान नहीं होगा; क्योंकि जो नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ इस समय विद्यमान ही नहीं हैं, वे जाननेमें कारण कैसे हो सकते हैं । इसी प्रकार जो आलोकको ज्ञानका कारण मानते हैं उन्हें रात्रिमें कुछ भी ज्ञान नहीं होगा, वे यह भी नहीं कह सकेंगे कि यहां अन्धकार है ।

शङ्का—बाह्य आलोकके अभावको छोड़कर अन्धकार अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः आपका 'तमोवत्' यह दृष्टान्त साधन-विकल है । अर्थात् जब अन्धकार कोई वस्तु ही नहीं है, तब वह परिच्छेद्य (जानने योग्य) कैसे हो सकता है, अतः उसमें परिच्छेद्यत्व साधनके नहीं पाये जानेसे आपके द्वारा उपन्यस्त दृष्टान्त साधन-विकल हो जाता है ।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेपर तो बाह्य

---

१. तमोवत्परिच्छेद्यौ । २. सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य कारणं नेति भावः । ३. प्रमेयत्वात्प्रत्यक्षगोचरत्वादित्यर्थः । ४. बाह्यालोकाभावस्य तमसः परिच्छेद्यत्वं नास्ति । बाह्यमिति विशेषणेनान्तरज्ञानत्वं प्रतिपादितं भवति, न तु तमस्त्वमिति । ५. बाह्यालोकस्याभावस्यैव तमसः साधनात्तमसः परिच्छेद्यत्वं नास्ति, अतः साधनविकलत्वं दृष्टान्तस्य । ६. तमोऽभाव एव बाह्यालोकः । ७. प्रमेयकमलमार्त्तण्डे ।

अत्रैव साध्ये हेत्वन्तरमाह—

तदन्वय[1]-व्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च ॥७॥

अत्र[2] व्याप्तिः—'यद्यस्यान्वयव्यतिरेकौ नानुविदधाति, न तत्तत्कारणकम्, यथा केशोण्डुकज्ञानम्। नानुविधत्ते च ज्ञानमर्थान्वयव्यतिरेकाविति। तथाऽऽलोकेऽपि। एतावान् विशेषस्तत्र नक्तञ्चरदृष्टान्त इति। नक्तञ्चरा मार्जारादयः[10]।

प्रकाशके विषयमें भी हम कह सकते हैं कि अन्धकारका अभाव ही प्रकाश है, इसके अतिरिक्त प्रकाश नामका कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार प्रकाशके असम्भव हो जानेसे तेजो द्रव्यका मानना भी असम्भव हो जायगा। इसका विस्तारसे प्रतिपादन परीक्षामुखके अलङ्कारभूत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक महान ग्रन्थमें किया गया है उसे वहींसे जानना चाहिए।

अब सूत्रोक्त इसी साध्यको दूसरी युक्तियोंसे सिद्ध करते हैं—

सूत्रार्थ—अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं हैं, क्योंकि ज्ञानका अर्थ और आलोकके साथ अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्धका अभाव है। जैसे केशमें होनेवाले उण्डुक-ज्ञानके साथ, तथा नक्तंचर उलूक आदिको रात्रिमें होनेवाले ज्ञानके साथ ॥ ७ ॥

अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं हैं, इस विषयमें व्याप्ति इस प्रकार है—जो कार्य जिस कारणके साथ अन्वय और व्यतिरेकको धारण नहीं करता है, वह तत्कारणक नहीं है। जैसे केशमें होनेवाला उण्डुकका ज्ञान अर्थके साथ अन्वय-व्यतिरेकको नहीं धारण करता। तथा आलोकमें भी ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेकसम्बन्ध नहीं है। इतना विशेष है कि यहाँपर नक्तञ्चर दृष्टान्त है। रात्रिमें विचरण करनेवाले उल्लू, चमगीदड़ मार्जार आदिको नक्तञ्चर कहते हैं।

विशेषार्थ—पदार्थ ज्ञानके उत्पन्न करनेमें कारण नहीं हैं; क्योंकि ज्ञानका पदार्थके साथ अन्वय-व्यतिरेकसम्बन्ध नहीं है। कारणके होनेपर कार्यके होनेको अन्वय कहते हैं और कारणके अभावमें कार्यके अभावको व्यतिरेक कहते हैं।

---

१. ज्ञानं धर्मी अर्थालोककारणकं न भवति, तस्मादर्थालोकयोः। २. अनुगमन। ३. अनेन दृष्टान्तेन ज्ञानमर्थकारणकमिति निरस्तम्। ४. अनेन ज्ञानमालोककारणकमिति निरस्तम्। ५. अर्थालोकौ कारणं न भवत इत्यत्र। ६. कार्यं ज्ञानम्। ७. कारणस्यार्थस्य। ८. अर्थे सति ज्ञानमिति नियमो न; यतोऽर्थाभावेऽपि ज्ञानसद्भावात्। ९. व्याप्तिः। १०. आदिशब्देनाञ्जनसंस्कृतमपि चक्षुः।

ननु[1] विज्ञानमर्थजनितमर्थाकारं चार्थस्य ग्राहकम्; [2]तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं[3] प्रति नियमायोगात्। [4]तदुत्पत्तेरालोकादाव[5]विशिष्टत्वात्ताद्रूप्य[6]सहिता या एव [7]तस्यास्तं प्रति नियमहेतुत्वात्, [8]भिन्नकालत्वेऽपि ज्ञान-ज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभावाविरोधात्। तथ चोक्तम्—

इस प्रकार ज्ञानका अन्वयव्यतिरेकसम्बन्ध पदार्थके साथ नहीं पाया जाता जैसे कि केशोंमें उण्डुकका ज्ञान। किसी व्यक्तिके मस्तकपर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था, उसे देखकर किसीको भ्रम हो गया कि केशोंका गुच्छा उड़ रहा है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि किसीके शिरके केश उड़ रहे थे उन्हें देखकर किसीको मच्छरोंके झुण्ड उड़नेका ज्ञान होगया। इस प्रकार के ज्ञानमें केशोंके होते हुए केशोंका ज्ञान तो नहीं हुआ, उलटा मच्छरोंका ज्ञान हुआ। अथवा मच्छरोंके रहते हुए मच्छरोंका तो ज्ञान नहीं हुआ, प्रत्युत केशों-का ज्ञान होगया। इससे ज्ञात होता है कि पदार्थके साथ ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रकाशके साथ भी ज्ञानका अन्वय-व्यति-रेक नहीं पाया जाता। देखो—दिनमें प्रकाशके होते हुए भी उल्लू और चमगीदड़ आदिको सामनेकी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। और रात्रिमें प्रकाशके अभावमें भी उसका ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकाश भी ज्ञानका कारण नहीं है। यदि होता, तो रात्रिमें उल्लू आदिको ज्ञान कभी नहीं होता।

बौद्धोंकी मान्यता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उसी अर्थके आकार होता है और उसीका ग्राहक होता है अर्थात् उसे जानता है। क्योंकि तदुत्पत्तिके विना विषयके प्रति कोई नियम नहीं बन सकता। अर्थात् यदि घट-विषयक ज्ञानको घटसे उत्पन्न हुआ न माना जाय तो घटज्ञान घटको ही विषय करे और पटको न करे, इसका कोई नियम नहीं ठहरेगा। यदि केवल तदुत्पत्तिको ही विषयके जाननेमें नियामक माना जाय, तो वह आलोक आदिमें भी समान है, अर्थात् आलोकके होनेपर ज्ञानकी

---

१. बौद्धः योगाचारो वक्ति। २. तस्माद्विजातविषयादिति। ३. प्रत्येकव्यापा-रम्। ४. आत्माऽदृष्टेन्द्रियाणि सामान्यात्। ५. सत्याऽऽलोके ज्ञानस्योत्पत्तिः कथ नालोकं गृह्णाति; तदाकारत्वाभावात्। ६. अतस्माद्रूप्यग्रहणम्। ताद्रूप्यतदुत्पत्ती नील क्षणादौ। तस्य विषयस्य रूपं यत्तद्रूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यम्। ७. तदुत्पत्तेः। ८. ज्ञानं नीलक्षणादुत्पन्नं तदाकारधारि सत्तद् गृह्णातीति तदसत्यम्, तयोर्भिन्नकालत्वात्। नील-क्षणमतीतसमये नष्टम्, तदुत्पन्नं ज्ञानं वर्तमानसमये प्रवर्तते यत एक आत्मलाभक्षणो द्वितीयस्तस्य ज्ञानजननक्षणः।

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव[1] युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्[2] ॥४॥

इत्याशङ्का[3]यामिदमाह—

उत्पत्ति देखी जाती है, फिर भी वह ज्ञान तदाकारताके अभावसे आलोकको ग्रहण नहीं करता है, अतः तादूप्य-सहित तदुत्पत्तिको ही विषयके प्रति नियामक कारण माना गया है। यदि कहा जाय कि ज्ञान और ज्ञेय भिन्नकालवर्ती हैं; अर्थात् जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह तो पूर्वक्षणमें नष्ट हो गया और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान अब वर्तमान समयमें प्रवृत्त हो रहा है, ऐसी दशामें ज्ञान और ज्ञेयमें ग्राह्य और ग्राहकपना कैसे बन सकेगा ? सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व क्षणवर्ती पदार्थ नष्ट होते हुए भी अपना आकार उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको अर्पण करके नष्ट होता है, अतः ग्राह्य-ग्राहकभावमें कोई विरोध नहीं आता। जैसा कि कहा है—

यदि कोई पूछे कि भिन्नकालवर्ती पदार्थ ग्राह्य कैसे हो सकता है ? तो युक्तिके जाननेवाले आचार्य ज्ञानमें तदाकारके अर्पण करनेकी क्षमता वाले हेतुत्वको ही ग्राह्यता कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—बौद्धोंसे कोई पूछ सकता है कि आपके यहाँ ज्ञान और ज्ञेयका काल भिन्न है; क्योंकि जिस समय ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतः भिन्न कालवर्ती ज्ञान ज्ञेयको कैसे जानेगा ? बौद्ध इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि ज्ञानके लिए अपना आकार अर्पण करनेमें समर्थ ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण पदार्थ ही ग्राह्य कहा गया है। अर्थात् नष्ट होते समय पदार्थ ज्ञानको अपना आकार सौंप जाता है और फिर ज्ञान उसी आकारको जानता है। इस प्रकार भिन्नकाल होनेपर भी अर्थमें ग्राह्यता सिद्ध हो जाती है।

पर जैन लोग तो ज्ञानकी अर्थसे उत्पत्ति मानते नहीं है, अतः उनके यहाँ ज्ञान और ज्ञेयमें ग्राह्य-ग्राहकपना कैसे बनेगा ? ऐसी बौद्धोंकी आशङ्का के होनेपर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं—

---

१. ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वमेव। २. तस्मै आकारार्पणक्षमम्। ३. यद्येवं ज्ञानस्य तदुत्पत्तिरभ्युपगम्यते प्रागभावत्वात्सर्वहेतूनामिति वचनात् तर्हि कारणभूतार्थस्य कार्यभूतज्ञानेऽभाव एव। तथा च तस्य कथं ग्राह्यत्वमित्याशङ्कायामाह इति बौद्धशङ्कायामाहेत्यर्थः।

[1]अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं[2] प्रदीपवत् ॥८॥

अर्थाजन्यमप्यर्थप्रकाशकमित्यर्थः। अतज्जन्यत्वमुपलक्षणम्[3]। तेनातदाकारमपीत्यर्थः। उभयत्रापि प्रदीपो दृष्टान्तः। यथा प्रदीपस्यातज्जन्यस्यातदाकारधारिणोऽपि तत्प्रकाशकत्वम्, तथा ज्ञानस्यापीत्यर्थः।

ननु[4] यद्यर्थादजातस्यार्थरूपाननुकारिणो ज्ञानस्यार्थसाक्षात्कारित्वं[5] तदा नियतदिग्देशकालवर्तिपदार्थप्रकाशप्रतिनियमे[6] [7]हेतोरभावात्सर्वं विज्ञानमप्रतिनियतविषयं[8] स्यादिति शङ्कायामाह—

सूत्रार्थ—अर्थसे नहीं उत्पन्न होकरके भी ज्ञान अर्थका प्रकाशक होता है, दीपकके समान ॥ ८ ॥

अतज्जन्य अर्थात् अर्थसे नहीं उत्पन्न हुआ भी ज्ञान तत्प्रकाशक अर्थात् पदार्थका ज्ञायक होता है। यहाँपर अतज्जन्यता उपलक्षणरूप है, अतः उससे अतदाकारताका भी ग्रहण करलेना चाहिए। अतज्जन्यता और अतदाकारता इन दोनोंके विषयमें प्रदीपका दृष्टान्त समान है। जैसे दीपक घट-पटादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकरके भी उनका प्रकाशक है वैसे ही ज्ञान भी घटादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होकर और उनके आकार नहीं होकरके भी उन पदार्थोंको जानता है।

यहाँपर बौद्ध शङ्का करते हैं कि यदि अर्थसे नहीं उत्पन्न हुए और अर्थके आकारको भी नहीं धारण करनेवाले ज्ञानको आप जैन लोग अर्थका साक्षात्कारी मानते हैं, तब नियतदिशावर्ती, नियतदेशवर्ती और नियतकालवर्ती पदार्थोंके जाननेके प्रतिनियममें तदुत्पत्ति-ताद्रूप्यहेतुके अभावसे सभी ज्ञान अप्रतिनियत विषयवाले हो जायेंगे ? अर्थात् किसी भी व्यक्तिका कोई एक भी ज्ञान विभिन्न दिग्देशवर्ती त्रैकालिक पदार्थोंका जाननेवाला हो जायगा; क्योंकि तदुत्पत्ति-ताद्रूप्यके विना अमुक ज्ञान अमुक पदार्थको ही जाने, इसका कोई नियामक कारण नहीं रहता। फिर तो प्रत्येक ज्ञान विश्वके त्रिकालवर्ती और त्रिजगद्-व्यापी पदार्थोंका जाननेवाला हो जायगा। बौद्धोंकी ऐसी शङ्काके होनेपर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं—

१. न तज्जन्यमतज्जन्यमर्थाजन्यमपि। २. अर्थप्रकाशनस्वभावात्। ३. अतदाकारधारित्वमर्थमुपसन्धत्ते इत्युपलक्षणम्। यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्युक्ते गृद्धेभ्योऽपि रक्षणीयम्; न केवलं काकेभ्यः। तथाऽतदाकारधारित्वमप्युपलक्षणीयम्। अथवा स्वस्य सदृशस्य ग्राहकमुपलक्षणम्। ४. बौद्धः प्राह। ५. भो जैन, यद्येवं ब्रूषे। ६. निश्चये। ७. तदुत्पत्तिताद्रूप्यहेतुमन्तरेण। ८. अतीतानागतव्यवहितदूरान्तरितानां प्रमाणस्य प्रकाशकत्वं भवत्वित्यनिष्टापादनं जैनानाम्।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया[1] हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥९॥

स्वानि च तान्यावरणानि च स्वावरणानि । तेषां क्षय[2] उदयाभावः । तेषामेव सदवस्था उपशमः,[3] तावेव लक्षणं यस्या योग्यतायास्तया हेतुभूतया [4]प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेषः । हि यस्मादर्थे । यस्मादेवं ततो नोक्तदोष इत्यर्थः ।

इदमत्र तात्पर्यम्—कल्पयित्वापि[5] ताद्रूप्यं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं[6] च योग्यताऽव-

---

सूत्रार्थ—अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमलक्षणवाली योग्यतासे प्रत्यक्ष-प्रमाण प्रतिनियत पदार्थोंके जाननेकी व्यवस्था करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रत्येक व्यक्तिके ज्ञानपर उसे रोकनेवाले असंख्य आवरण-कर्म चढ़े हुए हैं । उन आवारक कर्मोंकी जैसी जैसी क्षयोपशम शक्तिरूपी योग्यता प्रकट होती जाती है, वैसे वैसे ही आत्मामें जाननेकी शक्ति भी स्वयमेव प्रकट होती जाती है । जिस वस्तु-विषयक ज्ञानका आवरण दूर होता जाता है, आत्मा उसे बाहिरी अर्थ, आलोक, आदि कारणोंके विना तथा तदुत्पत्ति और तदाकारताके विना ही स्वतः स्वभाव जानने लगता है । अतः ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मोंके क्षयोपशमरूप योग्यताको ही जैन लोग प्रतिनियत विषयका नियामक मानते हैं ।

अपने ज्ञानके रोकनेवाले आवरणको स्वावरण कहते हैं । उदय-प्राप्त उन आवरणकर्मोंके वर्तमानकालमें उदयाभावको क्षय कहते हैं और अनुदय-प्राप्त उन्हीं कर्मोंके सत्तामें अवस्थित रहनेको उपशम कहते हैं । ये दोनों ही जिसके लक्षण हैं, ऐसी योग्यताके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करता है । इस ज्ञानका यह पदार्थ ही विषय है, अन्य नहीं, ऐसी व्यवस्थाको प्रतिनियत व्यवस्था कहते हैं । यहाँ प्रत्यक्ष यह पद शेष है, सूत्रमें नहीं कहा गया है, अतः ऊपरके सूत्रसे उसका अध्याहार कर लेना चाहिए । सूत्रमें पठित ' हि ' शब्द 'यस्मात्' के अर्थमें है, यतः योग्यता वस्तु-ज्ञानकी व्यवस्थापक है, अतः आप बौद्धोंके द्वारा कहा गया कोई दोष हम जैनोंपर लागू नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए ?

यहाँ यह तात्पर्य है कि उक्त प्रकारसे तदुत्पत्ति (ज्ञानका पदार्थसे

---

१. अर्थग्रहणशक्तिर्योग्यता, नया । २. मतिज्ञानावरणवीर्यान्तरायकर्मद्रव्याणां अनुभागस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावः क्षयः । ३. तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः । ४. अस्य ज्ञानस्यायमेवार्थ इति ।

५. त्वयोक्तं तथा न भवति, तथापि कल्पयित्वापि योग्यताऽङ्गीकर्तव्या त्वया । ६. अर्थनिश्चयम् ।

स्याऽभ्युपगन्तव्या[1] । ताद्रूप्यस्य[2] समानार्थै[3]स्तदुत्पत्ते[4]रिन्द्रिया[5]दिभिस्तद्द्वयस्यापि[6] समानार्थ[7]-[8]समनन्तरप्रत्ययै[9]स्त्रितयस्यापि[10] [11]शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानेन व्यभिचाराद् योग्यताश्रयणमेव श्रेय इति ।

उत्पन्न होना), ताद्रूप्य (पदार्थके आकार होना) और तदध्यवसाय (उसी पदार्थका जानना) यद्यपि प्रतिनियत अर्थके जाननेमें कारणरूपसे नियामक नहीं है, तथापि अपने दुराग्रहवश कल्पना करके भी अर्थात् उन तीनोंको मान करके भी आप लोगोंको योग्यता अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। इसका कारण यह है कि ताद्रूप्यका समानार्थोंके साथ, तदुत्पत्तिका इन्द्रियादिकोंके साथ, इन दोनोंका समानार्थ समनन्तर प्रत्ययके साथ और ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय इन तीनोंका भी शुक्ल शंखमें पीताकार ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है, अतः योग्यताका आश्रय लेना ही आप लोगोंके लिए श्रेयस्कर है।

विशेषार्थ—यदि तदाकारतासे ज्ञान पदार्थका नियामक हो, तो जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञान उस पदार्थके समान जितने

---

१. एतत्त्रयं सहकारिकारणं वर्तते, तथापि कल्पनया किमुपकरणं कल्पितं यद्योग्यताऽवश्याऽभ्युपगन्तव्या । २. तदाकारतया सदृशलक्षणैः । यदि ताद्रूप्यादर्थोऽर्थस्य नियामकस्तर्हि निखिलसमानार्थैर्व्यवच्छेदापत्तिः स्यात् । न च ताद्रूप्यं [illegible] समानार्थैः नियामकत्वं घटते; अतो नियामकाभावान्नैर्व्यभिचारः । ३. अर्थादुत्पत्तेः [illegible] । ४. इन्द्रियादिभिर्व्यभिचारः स्यात्, [illegible] ज्ञानमिन्द्रियादुत्पन्नं [illegible] । ५. [illegible], [illegible] निराकरणं कृतम्; तच्च [illegible], एतस्य द्वयस्यापि प्रमाणस्य [illegible] निराकरोति जैनः । ६. प्राक्तनज्ञानस्य [illegible] सन्तानवर्तित्वेन समानोऽर्थः प्रत्ययः । ७. ऐप् । ८. प्रथमज्ञानं [illegible], नच द्वितीयस्य जनकम् । [illegible] ताद्रूप्यमस्ति तदुत्पत्तिश्च, ज्ञानत्वेन [illegible] समनन्तरमपि । ९. तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्च यद्यर्थस्य बोधो नियामकस्तदा प्राक्तनज्ञानेन व्यभिचारः कथम्? द्वितीयज्ञानस्य प्राक्तनज्ञानात्तदुत्पत्तिताद्रूप्यसद्भावेऽपि द्वितीयज्ञानेन पूर्वान्तरज्ञानस्य नियामकत्वायोगात् । न हि ज्ञानं ज्ञानस्य नियामकं स्वप्रकाशकत्वात्तस्य । अयमाशयः—प्राक्तनज्ञानलक्षणैः सह तदनन्तरजातद्वितीयज्ञानस्य व्यभिचारः, यतो द्वितीयज्ञानं प्राक्तनं न गृह्णाति । १०. ननु न ताद्रूप्यतदुत्पत्तिभ्यां बोधोऽर्थस्य नियामकः, किन्तु तदध्यवसायित्वसहिताभ्यामित्याशङ्कायां तत्त्रयमपि निराकरोति जैनः । तदेतस्य तदुत्पत्तिताद्रूप्यतदध्यवसायस्य । ११. ननु यदि ज्ञानं प्रतिनियतनीलादिविषयं तज्जन्यतद्रूपतदध्यवसायित्वादित्यत आह—'शुक्ले' इति काचकामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदध्यवसायिनो द्वितीयज्ञानस्य पीताकारेण प्राक्तनज्ञानेन व्यभिचारः ।

एतेन[1] यदुक्तं परेण[2]—

भी पदार्थ हैं, उन सबको उसी समय क्यों नहीं जानता ? क्योंकि वे पदार्थ भी तो उसी पदार्थके सदृश आकारवाले हैं, जिससे कि ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार ताद्रूप्य ज्ञानको अर्थका नियामक माननेमें समान आकार-वाले पदार्थोंसे व्यभिचार आता है। तदुत्पत्तिको पदार्थके जाननेमें नियामक माननेपर इन्द्रियादिसे व्यभिचार आता है, क्योंकि ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न तो होता है, पर इन्द्रियोंको नहीं जानता। यदि ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति इन दोनोंको जाननेमें नियामक मानते हैं, तो समानार्थसमनन्तर प्रत्ययसे व्यभिचार आता है। इसका भाव यह है कि बौद्धोंकी व्यवस्थाके अनुसार किसी व्यक्तिको प्रथम क्षणमें 'यह नील पदार्थ है', ऐसा ज्ञान हुआ, द्वितीय क्षणमें भी 'यह नील है' यह ज्ञान हुआ और तृतीय क्षणमें भी 'यह नील है' यह ज्ञान हुआ। यहाँपर तीनों ही ज्ञान समान अर्थवाले हैं और प्रथम ज्ञानकी अपेक्षा दूसरा ज्ञान बीचमें अन्यके व्यवधान नहीं होनेसे समनन्तर प्रत्यय (प्रतीति) रूप भी है। यहाँपर प्रथमक्षणवर्ती ज्ञानसे द्वितीयक्षणवर्ती ज्ञान उत्पन्न हुआ, अतः तदुत्पत्ति भी है, और पूर्व ज्ञानके आकार हुआ, अतः तदाकारता भी है, फिर भी बौद्धमान्यताके अनुसार दूसरा ज्ञान प्राक्तन (पहलेके) ज्ञानको नहीं जानता। अतः ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति इन दोनोंको नियामक माननेमें समानार्थ-समनन्तर प्रत्ययसे व्यभिचार दोष आता है। यदि कहा जाय कि ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय इन तीनोंको हम अर्थका नियामक मानते हैं, तो काच-कामलादिक रोगके हो जानेसे शुक्लवर्णका भी शंख पीला दिखाई देने लगता है। अतः पीताकार ज्ञानसे व्यभिचार आता है। इसका भाव यह है कि पीलिया रोगवाले व्यक्तिको प्रथम क्षणमें जैसा पीताकारका ज्ञान हुआ तदनन्तर दूसरे क्षणमें भी वैसा ही ज्ञान हुआ और तदनन्तर तीसरे भी समयमें वैसा ही ज्ञान हुआ। यहाँपर ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ये तीनों ही हैं, फिर भी द्वितीयक्षणवर्ती पीताकाररूप ज्ञान प्रथमक्षणवर्ती पीताकार ज्ञानको नहीं जानता। इस प्रकार व्यभिचार आनेसे ताद्रूप्य आदिको जाननेका नियामक न मानकर योग्यताको ही प्रतिनियत अर्थका व्यवस्थापक मानना चाहिए।

इस प्रकार ताद्रूप्य आदिके व्यभिचार प्रतिपादन करनेसे बौद्ध-द्वारा जो यह कहा गया है—

१. स्वावरणेत्यादिना ताद्रूप्यादीनां व्यभिचार-प्रतिपादनेन। २. बौद्धेन।

[1]अर्थेन[2]घटयत्येनां[3] न हि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्[4] ।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः[5] प्रमाणं मेयरूपता ॥५॥

इति तन्निरस्तम्; [6]समानार्थाकारनानाज्ञानेषु मेयरूपतायाः सद्भावात् । न च [7]परेषां [8]सारूप्यं नामास्ति वस्तुभूतमिति योग्यतयैवार्थप्रतिनियम इति स्थितम् ।

इदानीं कारणत्वात्परिच्छेद्यो[9]ऽर्थ इति मतं निराकरोति—

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे [10]करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

करणादिकारणं परिच्छेद्यमिति तेन व्यभिचारः । न ब्रूमः कारणत्वात्परिच्छेद्यत्वम्, अपि तु परिच्छेद्यत्वात्कारणत्वमिति चेन्न; तथापि केशोण्डुकादिना व्यभिचारात् ।

अर्थरूपता अर्थात् तदाकारताको छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष बुद्धिका अर्थके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है, अतएव प्रमाणके विषयभूत पदार्थको जाननेके लिए मेयरूपता अर्थात् पदार्थके आकाररूप तदाकारता ही प्रमाण है ॥ ५ ॥

यह कथन निरस्त (खण्डित) हो जाता है; क्योंकि समान अर्थाकारवाले नाना ज्ञानोंमें मेयरूपता यानी तदाकारता पाई जाती है । फिर भी एक ज्ञानके द्वारा एक ही पदार्थ जाना जाता है, तत्सदृश अन्य नही । और बौद्धोंके यहां सदृश परिणाम-लक्षणवाला यौगाभिमत सामान्य पदार्थ जैसा कोई सारूप्य वास्तविक है नहीं । अतः यही सिद्ध हुआ कि आवरणकर्मके क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता ही विषयके प्रतिनियमका कारण है ।

अब जो लोग पदार्थको ज्ञानका कारण होनेसे परिच्छेद्य अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय कहते हैं, आचार्य उनके मतका निराकरण करते हैं—

सूत्रार्थ—कारणको परिच्छेद्य माननेपर करण आदिसे व्यभिचार आता है क्योंकि इन्द्रियाँ ज्ञान की कारण तो है, परन्तु विषय नहीं है । अर्थात् इन्द्रियाँ अपने आपको नहीं जानती हैं ॥ १० ॥

यतः करणादि (इन्द्रिय आदि) ज्ञानके कारण हैं, अतः परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं, इसलिए इन्द्रियादिसे व्यभिचार सिद्ध है ।

शङ्का—यहाँ बौद्ध कहते है कि हम लोग पदार्थको ज्ञानका कारण होनेसे परिच्छेद्य नहीं कहते हैं अपि तु परिच्छेद्य होनेसे उसे ज्ञानका कारण कहते हैं ।

---

१. सह । २. संबध्नाति । ३. निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धिम् । ४. अर्थरूपतां मुक्त्वाऽन्यत् किञ्चिन्निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धिमर्थेन न घटयतीत्यर्थः । ५. फलस्य ।

६. समानोऽर्थानामाकारो येषु । ७. सौगतानाम् । ८. सारूप्यं सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यम, तच्च सौगतानां मते नास्ति वास्तवम्, तत्कथमर्थक्रियाकारि ?

९. विषयः कारकाणाम् । १०. साधकतमं कारणं करणं चक्षुरादि, तेन ।

इदानीमतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्याचष्टे—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

सामग्री[1] द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तस्या विशेषः समग्रतालक्षणः। तेन[2] विश्ले[3]षितान्यखिलान्यावरणानि येन[4] तत्तथोक्तम्। किंविशिष्टम्? अतीन्द्रियमिन्द्रियाण्यतिक्रान्तम्[5]। पुनरपि कीदृशम्? अशेषतः सामस्त्येन विशदम्। [6]अशेषतो वैशद्ये किं कारणमिति चेत् प्रतिबन्धाभाव[7] इति ब्रूमः। तत्रापि किं कारणमिति चेदतीन्द्रियत्वमनावरणत्वं चेति ब्रूमः। एतदपि कुतः? इत्याह—

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि परिच्छेद्य होनेसे यदि पदार्थको ज्ञानका कारण मानेंगे, तो भी केशोण्डुक आदिसे व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि जैसा पहले बतला आये हैं कि किसी व्यक्तिके सिरपर मच्छर उड़ते देखकर जिस पुरुषको केशोंके उड़नेका ज्ञान हो रहा है, उसके वे मच्छर ज्ञानके कारण नहीं होते हैं।

अब ग्रन्थकार अतीन्द्रिय जो मुख्य प्रत्यक्ष है, उसका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—सामग्रीकी विशेषतासे दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके, ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशद ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ११ ॥

योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी प्राप्तिको सामग्री कहते हैं। उसका विशेष सर्व कारण-कलापोंकी परिपूर्णता है। उस सामग्री-विशेषसे विश्लेपित अर्थात् विघटित कर दिये हैं अखिल (समस्त) आवरण जिसने, ऐसा वह ज्ञान है। पुनः कैसा है? अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंको अतिक्रमण (उल्लंघन) करके यानी इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही वह समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है। पुनरपि वह कैसा है? अशेष अर्थात् सामस्त्यरूपसे विशद (निर्मल या स्पष्ट) है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ, निरावरण अतीन्द्रिय विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है।

शङ्का—उस मुख्य प्रत्यक्षके सामस्त्यरूपसे विशद होनेमें क्या कारण है?

---

१. कर्मक्षययोग्योत्तमसंहननोत्तमप्रदेशोत्तमकालोत्तमसम्यग्दर्शनादिपरिणतिस्वरूपा सामग्री। २. सामग्रीविशेषेण। ३. विघटितानि। ४. ज्ञानेन। ५. इन्द्रियाण्यतिक्रम्योल्लङ्घ्य प्रवर्तत इत्यतीन्द्रियमिति। ६. उत्तरसूत्रपातनिका। ७. ज्ञानस्य प्रतिबन्धा आवरणानि, तेषामभावः प्रध्वंसाभावः। मलावृतत्वेऽक्षजत्वे च प्रतिबन्धो हि सम्भवेत्। मुख्यं चात्मनि सान्निध्यमात्रापेक्षत्वतो मतम्॥ १॥

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥१२॥

नन्ववधि-मनःपर्यययोरने[1]नासङ्ग्रहादव्यापकमेतल्लक्षणमिति न वाच्यम्; तयोरपि स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वादिधर्मसम्भवात् । न चैवं मति-[2]श्रुतयोरित्यतिव्याप्ति[3]-परिहारः । तदेतदतीन्द्रियमवधि-मनःपर्यय-केवलप्रभेदात् त्रिविधमपि मुख्यं प्रत्यक्षमात्म-सन्निधिमात्रापेक्षत्वादिति ।

समाधान—ज्ञानके प्रतिबन्धक (अवरोधक) कारणोंका अभाव ही ज्ञानके पूर्ण विशद होनेमें कारण है।

शङ्का—उसमें भी क्या कारण है ?

समाधान—अतीन्द्रियपना और निरावरणता कारण हैं, ऐसा हम कहते है।

शङ्का—यह भी क्यों ?

उक्त शङ्काका समाधान करनेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि, आवरण-सहित और इन्द्रिय-जनित माननेपर ज्ञानका प्रतिबन्ध सम्भव है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जब तक ज्ञानपर आवरण चढ़ा रहेगा और इन्द्रियादिकी सहायतासे उत्पन्न होगा, तब तक ज्ञानमें प्रतिबन्ध (रुकावट) आनेकी सम्भावना बनी रहेगी। जब ज्ञानपरके समस्त आवरण हट जाते हैं, और इन्द्रियादि बाहिरी किसी भी सहायककी उसे आवश्यकता नहीं रहती है, तब वह अतीन्द्रिय और निरावरण ज्ञान त्रैलोक्य और त्रिकालवर्त्ती चराचर समस्त पदार्थोंको हस्तामलकवत् स्पष्टरूपसे जानने लगता है, अतः ज्ञानकी विशदताके लिए उसका निरावरण और अतीन्द्रिय होना अत्यावश्यक है।

शङ्का—आपके द्वारा प्रतिपादित मुख्य प्रत्यक्ष-लक्षणवाले इस सूत्रसे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका संग्रह नहीं होता, अतः उक्त लक्षण अव्यापक है; क्योंकि वह अपने सभी लक्ष्योंमें नहीं रहता है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उन दोनोंके भी अपने

---

१. सूत्रेण। २. पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च मननं मतिः स्मृत्यादिकमपि। श्रुतावरणविश्लेपाच्छ्रवणं वा श्रुतम्। तदुक्तं श्लोकवार्त्तिके—"मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यथा। मननं मन्यते यावत्स्वार्थे मतिरसौ मता ॥१॥ श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्। शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयते स्मेति वाऽऽगमः" ॥२॥ ३. अत्यन्तविशदत्वाभावादिति द्रष्टव्यम्। अवधिमनःपर्ययवन्मतिश्रुते विशदे न भवतो यतः। ततस्तयोः करणजन्यत्व इत्यनेन निरासः कृतः।

[1]नन्वशेषविषयविशदावभासिज्ञानस्य तद्वतो[2] वा प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाविषयत्वेनाभावप्रमाणविषमविषधरविध्वस्तसत्ताकत्वात् कस्य मुख्यत्वम्? तथाहि[3]—नाध्यक्षमशेषज्ञविषयम्[4], तस्य[5] रूपादिनियतगोचरचारित्वात् [6]सम्बद्धवर्तमानविषयत्वाच्च। न चाशेषवेदी [7]सम्बद्धो वर्तमानश्चेति। नाप्यनुमानात्तत्सिद्धिः। अनुमानं हि गृहीतसम्बन्ध[8]स्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टे[9] बुद्धिः। न च सर्वज्ञसद्भावाविनाभाविकार्यलिङ्गं स्वभावलिङ्गं[10] वा सम्पश्यामः; तज्ज्ञतेः[11] पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्सद्भावाविनाभाविनो [12]निश्चेतु-

विषयमें अशेषरूपसे विशदत्व आदि धर्म पाये जाते हैं। अतः मुख्य प्रत्यक्षके लक्षणमें अव्याप्ति नामका दूषण नहीं है।

तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐसे नहीं हैं; अर्थात् उन दोनोंमें विशदपना नहीं पाया जाता, अतः उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दूषण भी नहीं है। इस प्रकार यह अतीन्द्रिय मुख्य प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है। यतः यह मुख्य-प्रत्यक्ष इन्द्रिय, आलोक आदि समस्त पर वस्तुओंकी सहायतासे रहित केवल आत्माके सन्निधिमात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न होता है, अतः इसे अतीन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ भाट्ट (मीमांसक) कहते हैं कि समस्त विषयोंको विशद जाननेवाला ज्ञान अथवा उस प्रकारका ज्ञानवान् पुरुष प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका विषय नहीं है, और अभाव प्रमाण तो विषम विषधर सर्पके समान उसकी सत्ताको ही विध्वस्त करता है। अतः किसी भी प्रमाणसे जब उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है, तब आप मुख्यप्रत्यक्षता किसके कहते हैं? वह अपने कथनको स्पष्ट करता हुआ कहता है—कि प्रत्यक्ष प्रमाण तो अशेष जगत्को जाननेवाले सर्वज्ञको विषय नहीं करता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो रूपादि नियत विषयोंको ही विषय करता है, तथा इन्द्रिय-सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ ही उसका विषय है। किन्तु अशेषवेदी (सर्वज्ञ) पुरुष न तो नेत्रसे सम्बद्ध ही है और न वर्तमान ही है। अनुमानसे भी उस सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धको जिसने ग्रहण किया है, ऐसे पुरुषके ही साधनरूप एकदेश धूमके देखनेसे असन्निकृष्ट अर्थात् दूरवर्ती परोक्ष अग्निमें

१. भाट्टः प्राह। २. पुरुषस्य सर्वज्ञस्य। ३. उक्तार्थं विवृणोति। ४. अशेषज्ञो विषयो यस्य। ५. प्रत्यक्षस्य। ६. 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' इत्यभिधानात्। ७. चक्षुषा संबद्धः पुरुषो न। ८. पुरुषस्य। ९. परोक्षे वह्निलक्षणे। "स एव (पर्वतादिः अग्निविशिष्टः) चोभयात्माऽयं गम्यो गमक एव च। असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः" ॥१॥ १०. अक्षादि। ११. सर्वज्ञावगमात्। १२. लिङ्गैरिति शेषः।

मध्यक्तेः। नाप्यागमात्तत्सद्भावः,। स[1] हि नित्योऽनित्यो वा तत्सद्भावं [3]भावयेत्? न तावन्नित्यः, [4]तस्यार्थवाद[5]रूपस्य कर्म[6]विशेषसंस्तवनपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात्। अनादेरागमस्यादिमत्पुरुषवाचकत्वाघटनाच्च। नाप्यनित्य[7] आगमः सर्वज्ञं साधयति, तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्निश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिश्चयादितरेतराश्रयत्वाच्च[8]। इतरप्रणीतस्य[9] त्वनाप्तादित[10]प्रमाणभावस्याशेषज्ञप्ररूपणपरत्वं नितरामसम्भाव्यमिति। [11]सर्वज्ञसदृशस्यापरस्य ग्रहणासम्भवाच्च नोपमानम्। अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावान्नार्था-

जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे अनुमान कहते हैं। सो सर्वज्ञके सद्भावका अविनाभावी न तो हम स्वभावलिङ्ग ही देखते हैं और न कार्यलिङ्ग ही। और सर्वज्ञके जाननेसे पहले उसके सद्भावका अविनाभावी सर्वज्ञके स्वभावका और उसके कार्यका निश्चय नहीं किया जासकता। आगमसे भी सर्वज्ञका सद्भाव नहीं जाना जाता। यदि आप जैन लोग कहें कि आगमसे सर्वज्ञका सद्भाव जाना जाता है, तो हम पूछते हैं कि वह वेदरूप नित्य आगम सर्वज्ञके सद्भावको बतलाता है, अथवा स्मृति आदिके स्वरूपवाला अनित्य आगम सर्वज्ञके सद्भावको बतलाता है? नित्य आगम तो माना नहीं जासकता; क्योंकि वह अर्थवादरूप है, अर्थात् प्रकृतिगत तत्त्वोंका सामान्यरूपसे स्तुति निन्दा करनेवाला और यज्ञ-यागादि कर्म-विशेषोंका संस्तवन करनेवाला है, अतः उसके द्वारा सर्वज्ञरूप किसी पुरुषविशेषके सद्भावका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि वेदरूप अनादि आगमसे आदिमान् पुरुषका कथन होना घटित भी नहीं हो सकता। तथा अनित्य आगम भी सर्वज्ञको सिद्ध नहीं करता है, क्योंकि हम पूछते हैं कि वह अनित्य आगम सर्वज्ञ-प्रणीत है, अथवा असर्वज्ञ-प्रणीत; जो कि सर्वज्ञके सद्भावका प्रतिपादक हो? यदि सर्वज्ञ-प्रणीत अनित्य आगमको सर्वज्ञके सद्भावका आवेदक कहें तो प्रथम तो सर्वज्ञके निश्चय हुए बिना उसके द्वारा प्रणीत आगमका निश्चय ही नहीं किया जासकता है। दूसरे इतरेतराश्रय दोष आता है कि पहले जब सर्वज्ञ सिद्ध हो जाय, तब उसके द्वारा प्रणीत आगमके प्रमाणता सिद्ध हो, और जब आगमके प्रमाणता सिद्ध हो जाय, तब उसके द्वारा सर्वज्ञका सद्भाव

१. आगमः। २. नित्यो वेदः, अनित्या स्मृतिस्तत्पूर्वकत्वात्। ३. ज्ञापयेत्। ४. अपौरुषेयवेदस्य। ५. यागप्रशंसावादस्तुतिनिन्दार्थवादरूपस्य। ६. यज्ञादि। ७. अनित्यः साधयति चेत्स तु सर्वज्ञप्रणीत इतरप्रणीतो वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। ८. सर्वज्ञप्रणीतत्वादागमप्रामाण्यसिद्धिः, निश्चितप्रामाण्यादागमात्सर्वज्ञसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। ९. असर्वज्ञप्रणीतस्य। १०. अप्राप्त। ११. "सर्वज्ञसदृशं किञ्चिद्यदि दृश्येत

[1]पत्तिरपि सर्वज्ञावबोधिकेति [2]धर्माद्युपदेशस्य व्यामोहादपि सम्भवात्। द्विविधो ह्युपदेशः—सम्यङ्-मिथ्योपदेशभेदात्। तत्र मन्वादीनां सम्यगुपदेशो यथार्थज्ञानोदयवेदमूलत्वात्। [3]बुद्धादीनां तु व्यामोहपूर्वकः, [4]तदमूलत्वात् [5]तेषामवेदार्थज्ञत्वात्। ततः प्रमाणपञ्चका-विषयत्वादभावप्रमाणस्यैव प्रवृत्तिस्तेन चाभाव[6] एव ज्ञायते; [7]भावांशे प्रत्यक्षादिप्रमाण-पञ्चकस्य व्यापारादिति।

सिद्ध हो। यदि इतर असर्वज्ञजनके द्वारा प्रणीत आगमको सर्वज्ञके सद्भावका प्रतिपादक मानते हो, तो जिसे स्वयं प्रमाणता प्राप्त नहीं है, ऐसे आगमको अशेषज्ञके निरूपण करनेवाला मानना तो अत्यन्त असम्भव ही है। इस प्रकार आगमसे भी सर्वज्ञ सद्भाव सिद्ध नहीं होता। उपमानसे भी सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञके सदृश अन्य पुरुषका मिलना असम्भव है। अनन्यथाभूत अर्थके अभावसे अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके सद्भावकी अवबोधिका नहीं है; क्योंकि धर्मादिका उपदेश व्यामोहसे भी सम्भव है। उपदेश दो प्रकारका है—सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश। उनमेंसे मनु-आदि पुरुषोंका तो सम्यक् उपदेश है; क्योंकि उनके वेदमूलक यथार्थ ज्ञानका उदय पाया जाता है। और बुद्ध आदिका उपदेश मिथ्या है—व्यामोह पूर्वक है, वेद-अमूलक है; क्योंकि बुद्धादिक वेदके अर्थके ज्ञाता नहीं है। इसलिए सर्वज्ञके विषयमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति न होनेसे अभाव-प्रमाणकी ही प्रवृत्ति होती है सो उसके द्वारा सर्वज्ञका अभाव ही जाना जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तुके भाव-अंशमें अर्थात् सद्भावमें प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका ही व्यापार होता है।

सम्प्रति। उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्" ॥१॥ १. "प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयेदन्यत्सार्थापत्तिरुदाहृता" ॥२॥ २. धर्माद्युपदेशस्त्वस्ति, परन्त्वसावन्यथापि सम्भवतीत्यनूद्य दूषयति। ३. सर्वज्ञोऽस्ति, धर्माद्युपदेशान्यथानुपपत्ते-रित्यपि दूषयति। ४. वेद। ५. बुद्धादीनाम्। ६. "गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥१॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥२॥ न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः। भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥३॥ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥४॥ न च स्याद्व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन नाभावो (नार्थो वा) यदि विद्यते (भिद्यते) ॥५॥ यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्" ॥६॥ ७. "प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते" ॥७॥

अत्र प्रतिविधीयते[1]—यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वमशेषज्ञस्येति' तदयुक्तम्; तद्[2]-ग्राहकस्यानुमानस्य सम्भवात्। तथाहि—[3]कश्चित्पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी[4], तद्ग्रहणस्वभावत्वे[5] सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्[6]। यथाऽपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि। तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च विवादापन्नः

अब आचार्य वादीके उपर्युक्त कथनका प्रतिवाद करते हैं—जो आपने कहा—'कि सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है' सो यह कहना अयुक्त है; क्योंकि सर्वज्ञके सद्भावका ग्राहक अनुमान पाया जाता है। वह इस प्रकार है—कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात् करनेवाला है, क्योंकि उन पदार्थोंका ग्रहण-स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय (ज्ञान) वाला है। अर्थात् जिसके ज्ञानके प्रतिबन्ध करनेवाले सभी आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसा पुरुष सभी देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट, अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थोंका प्रत्यक्ष द्रष्टा है, क्योंकि ज्ञानका स्वभाव सभी ज्ञेय पदार्थोंके जाननेका है। जो जिसका ग्रहण-स्वभावी होकरके प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययवाला होता है, वह उस पदार्थका साक्षात्कारी होता है; जैसे तिमिर (अन्धकार) से रहित लोचन (नेत्र) रूपका साक्षात्कारी अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी होता है। तद्-ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययवाला विवाद-ग्रस्त कोई पुरुष विशेष है।

मीमांसक अनुमानके चार ही अवयव मानते हैं, अतः यहांपर उनकी दृष्टिसे निगमनका प्रयोग नहीं किया गया है।

---

१. इतो भाट्टमतस्य जैनेन प्रतिविधानं क्रियते। २. अशेषज्ञ। ३. अनिर्दिष्टनामा। ४. रूपादिमत्प्रतिनियतवर्तमानसूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सकलपदार्थास्तेषां साक्षात्कारी प्रत्यक्षद्रष्टेत्यर्थः। ५. प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वादित्येतावत्युच्यमाने यौगपरिकल्पितमुक्तजीवेन व्यभिचारः, अत उक्तं तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सतीति। यौगपरिकल्पितमुक्तजीवस्य प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वमस्ति, पदार्थग्रहणस्वभावो नास्ति; अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतीत्युक्तम्। तद्ग्रहणस्वभावत्वादित्युच्यमाने काचकामलादिदुष्टेन चक्षुषा व्यभिचारः, अत उक्तं प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यतस्तद्-ग्रहणस्वभावत्वादेतावन्मात्रस्योच्यमाने काचकामलादिदुष्टे चक्षुषि तद्-ग्रहणस्वभावोऽस्ति, ग्रहणं नास्तीति भाट्टं प्रति। ६. प्रक्षीणश्चासौ प्रतिबन्धश्च स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वम्। प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वादित्युक्ते प्रतिबन्धविवर्जिते वह्नौ व्यभिचारोऽनस्तद्व्यवच्छेदार्थं तद्ग्रहणस्वभावत्वे सतीत्युच्यते। अतः सत्रं साधनमिति सुष्ठूक्तम्। ७. प्रत्ययत्वात्कारणत्वात्।

कश्चिदिति[1]। सकलपदार्थग्रहणस्वभावत्वं नात्मनोऽसिद्धम्[2]; चोदनातः[3] सकलपदार्थ[4]-परिज्ञानस्यान्यथा[5]ऽयोगा[6]त्, अन्धस्येवाऽऽदर्शाद्रूपप्रतिपत्तेरिति। [7]व्याप्तिज्ञानोत्पत्तिबलाच्चा-शेषविषय[8]ज्ञानसम्भवः। केवलं वैशद्ये विवादः[9], तत्र चावरणापगम[10] एव कारणं [11]रजो-[12]नीहाराद्यावृतार्थज्ञानस्येव तदप[13]गम इति।

प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं कथमिति चेदुच्यते—दोषावरणे[14] [15]क्वचिन्निर्मूलं प्रलय-

---

यदि कहा जाय कि आत्माका समस्त पदार्थोंके ग्रहण करनेका स्वभाव असिद्ध है, सो नहीं कह सकते; अन्यथा वेद-वाक्यसे सकल पदार्थोंका परि-ज्ञान नहीं हो सकेगा; जैसे कि अन्धेको दर्पणसे भी अपने रूपका ज्ञान नहीं हो सकता है। (किन्तु आप लोगोंने वेद-वाक्यको भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालवर्ती सूक्ष्मादि सभी पदार्थोंका अवगमक स्वयं माना है। आश्चर्य है कि फिर भी आप लोग आत्माका स्वभाव सर्व पदार्थोंके जाननेका नहीं मानते हैं।) तथा जो सत् है, वह सर्व अनेक धर्मात्मक है, इत्यादि व्याप्तिज्ञानकी उत्पत्ति के बलसे समस्त विषयोंका परोक्षज्ञान सम्भव है ही। केवल वैशद्य (निर्म-लतारूप प्रत्यक्षपने) में अपना विवाद रह जाता है, सो उसमें कर्मके आव-रणका दूर होना ही कारण है। जैसे रज (धूलि) और नीहार (बर्फ) आदिसे आवृत पदार्थका स्पष्ट ज्ञान उसके आवरण दूर होनेपर होता है।

शङ्का—ज्ञानके प्रतिबन्धक सर्व आवरण सर्वथा क्षय हो सकते हैं, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—अनुमानसे जाना जाता है, वह इस प्रकार है—दोष (राग-द्वेषादि भावकर्म) और आवरण (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म) किसी

---

१. पञ्चावयवान् यौगश्चतुरो मीमांसकस्त्रीन् साङ्ख्यो द्वौ जैनो बौद्धस्त्वेकमेव हेतुं प्रयोजयतीत्युक्तत्वान्मीमांसकं प्रति चत्वार एव अवयवा प्रयुक्ताः। २. असिद्धोऽयं हेतुरिति शङ्का, तां निराकरोति। ३. वेदात्, वेदवाक्यात्। ४. चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति वदन् स्वयं प्रतीयन्नपि मीमांसकः सकलार्थज्ञानस्वभावत्वमात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिद्भेदोपगमादन्यथा मतान्तरप्रसङ्गात्। ततः सिद्धं तत्स्वभावत्वम्। ५. आत्मनः सकलपदार्थज्ञानस्वभावत्वं विना। ६. चोदनातः सकलार्थज्ञत्वं न युज्यते। ७. यत्सत्स्वरूपं तत्सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादिव्याप्तिज्ञानाच्च सकलार्थज्ञत्वं युज्यते; अन्यथाऽनियतदिग्देशादिस्थिताग्नेः परिज्ञानं कथमुत्पद्यते। ८. सर्व-मग्न्यादिविषयकः। ९. आवयोः। १०. आवरणाभावः। ११. धूलिः। १२. तुषारः। १३. तस्य रजोनीहारादेरभावः। १४. भावद्रव्यकर्मणी। १५. आत्मनि।

मुपव्रजतः; प्रकृष्यमाणहानिकत्वात् । यस्य प्रकृष्यमाणहानिः स क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजति । यथाऽग्निपुटपाकापसारितकिट्टकालिकाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गमलद्वयात्मनि हेम्नि मलमिति । [1]निर्ह्रासातिशयवती च दोषावरणे इति ।

[2]कथं पुनर्विवादाध्यासितस्य ज्ञानस्यावरणं सिद्धम्[3], प्रतिषेधस्य[4] विधिपूर्वकत्वादिति । अत्रोच्यते[5]—विवादापन्नं ज्ञानं सावरणम्, विशदतया[6] [7]स्वविषयानवबोधकत्वाद्[8] रजोनीहाराद्यन्तरितार्थज्ञानवदिति । न चात्मनोऽमूर्त्तत्वादावार[10]कावृत्त्य[11]योगः; अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः । न चेन्द्रियस्य[12]तैरा-

---

पुरुषविशेषमें निर्मूल विनाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि इनकी प्रकृष्यमाण अर्थात् बढ़ती हुई चरम सीमाको प्राप्त हानि देखी जाती है। जिसकी प्रकृष्यमाण हानि होती है, वह कहीं पर निर्मूल प्रलयको प्राप्त होता है। जैसे कि अग्निपुटके पाकसे दूर किये गये हैं कीट और कालिमा आदि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ये दोनों मल जिसके भीतरसे ऐसा सुवर्ण मल-रहित सर्वथा शुद्ध हो जाता है इसी प्रकार अत्यन्त निर्मूल विनाशरूप अतिशयवाले दोष और आवरण हैं। इस अनुमानसे जाना जाता है कि ज्ञानके प्रतिबन्धक आवरण भी सर्वथा क्षयको प्राप्त हो सकते हैं।

शङ्का—विवादापन्न ज्ञानका आवरण कैसे सिद्ध है? क्योंकि किसी भी वस्तुका प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है?

समाधान—इस शङ्कापर आचार्य कहते हैं कि वक्ष्यमाण अनुमानसे ज्ञानका आवरण सिद्ध है। वह इस प्रकार है—विवादापन्न ज्ञान आवरण-सहित है; क्योंकि वह अतिविशदरूपसे अपने विषयको नहीं जानता है। अथवा पाठान्तरकी अपेक्षा अविशदरूपसे अपने विषयको जानता है। जैसे कि रज और नीहार आदिसे अन्तरित (आच्छादित) पदार्थका ज्ञान अतिविशदरूपसे अपने विषयको नहीं जानता है। इस अनुमानसे ज्ञानकी सावरणता सिद्ध है।

शङ्का—आत्मा तो अमूर्त्त है, अतः अमूर्त्त होनेसे उसका ज्ञानावरणादि मूर्त्त आवारकोंके द्वारा आवरण नहीं हो सकता है?

---

१. वर्धमानहानिदर्शनात, प्रतिपुरुषं वर्धमानातिशयदर्शनात् । २. विनाश- । ३. बौद्धः प्राह । ४. अपि तु न कुतः । ५. प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः । ६. जैनैः । ७. स्पष्टाकारतया । ८. धूमादि- । ९. 'अविशदतया (अव्यक्ताकारतया) स्वविषयावबोधकत्वात्' इति पाठान्तरम् । १०. आवृणोतीति आवारकम् । ११. ज्ञानावरणादिना प्रच्छादनायोगः । १२ भो भद्र, यद्येवं ब्रूषे यदिन्द्रियाणामावरणमिति तदेवा-

वरणम्, इन्द्रियाणामचेतनानामप्यनावृतप्रख्यत्वात्[1] [2]स्मृत्यादि[3]प्रतिबन्धायोगात्[4]। नापि[5] मनसस्तैरावरणम्; आत्मव्यतिरेकेणापरस्य [6]मनसो निषेत्स्यमानत्वात्[7]। ततो नामूर्तस्याऽऽवरणाभावः। अतो नासिद्धं तद्[8]ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वम्। नापि विरुद्धम्; विपरीत[9]निश्चिताविनाभावात्[10]। नाप्यनैकान्तिकम्; देशतः

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि अमूर्त्त भी चैतन्यशक्ति का मदिरा, मदन कोद्रव (मतौनिया कोदों) आदि मूर्त्त पदार्थोंसे आवरण होता हुआ देखा जाता है। यदि कहा जाय कि मदिरा आदिसे इन्द्रियोंका आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियां अचेतन हैं, सो उनका आवरण भी अनावरणके तुल्य है। यदि फिर भी इन्द्रियोंका आवरण माना जाय, तो मदिरापान करनेवाले पुरुषके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानोंका प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, अर्थात् मदिरा-पायी पुरुषके वस्तुओंका स्मरण आदि स्वस्थ दशाके समान बना रहना चाहिए। किन्तु उस दशामें उसके वस्तुका स्मरण आदि देखा नहीं जाता, अतः सिद्ध है कि मदिरा आदिसे चैतन्य शक्तिका आवरण होता है। यदि कहा जाय कि मदिरा आदिसे मनका आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्माके अतिरिक्त अन्य मनका आगे निषेध किया गया है, अर्थात् आत्माके सिवाय मन अन्य कोई वस्तु नहीं है, यह बात हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे। इसलिए अमूर्त्त चैतन्य शक्तिका आवरण नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं है।

इस प्रकार 'तद्-ग्रहण-स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्धप्रत्ययत्व' यह हमारा हेतु असिद्ध नहीं है। और न विरुद्ध ही है; क्योंकि विपरीतके साथ निश्चित अविनाभावका अभाव है। यहाँ आत्माके सकल पदार्थोंका साक्षात् करना साध्य है, और उनका साक्षात् न करना यह साध्यका विपरीत है, उसके साथ हेतु निश्चित रूपसे व्याप्ति रखनेवाला अविनाभावी सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। तथा हमारा उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि एक देशसे अथवा

नूय दूषयति। १. समानत्वात्। २. अन्यथेन्द्रियाणामावरणं चेत्। ३. आदिशब्देन प्रत्यभिज्ञानतर्कादयः। ४. आत्मन आवरणाभावे मदोन्मत्तस्य स्मरणं भवतु; नास्ति च स्मरणम्। तस्मादात्मन एवाऽऽवरणं सिद्धं मदिरादिभिः। ५. यदि भावरूपस्य मनस आवरणं ब्रूषे तदप्ययुक्तम्। ६. गुणदोषविचारणादिध्यानं आत्मनो भावमनः। ७. अग्रे निषेत्स्यते। ८. सकलपदार्थग्रहण-। ९. आत्मनः सूक्ष्मादिग्रहणस्वभावाभावो विपरीतः। १०. स्वसाध्याभावेन सह सम्बन्धस्याभावात्।

सामस्त्येन वा विपक्षे[1] वृत्त्यभावात्। [3]विपरीतार्थोपस्थापक[2]प्रत्यक्षागमासम्भवान्न कालात्ययापदिष्टत्वम्[4]। नापि सत्प्रतिपक्षम्[5]; प्रतिपक्षसाधनस्य हेतोरभावात्[6]।

[7]अथेदमस्त्येव—विवादापन्नः पुरुषो नाशेषज्ञो वक्तृत्वात्पुरुषत्वात्पाण्यादिमत्त्वाच्च; रथ्यापुरुषवदिति। नैतच्चारु; वक्तृत्वादेरसम्यग्घेतुत्वात्। वक्तृत्वं हि दृष्टे[8]ष्टविरुद्धार्थवक्तृत्वं [9]तदविरुद्धवक्तृत्वं वक्तृत्वसामान्यं वा; गत्यन्तराभावात्[10]। न तावत् प्रथमः पक्षः, सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्[11]। नापि द्वितीयः पक्षः; विरुद्धत्वात्। तदविरुद्धवक्तृत्वं[12] हि ज्ञानातिशयमन्तरेण नोपपद्यत इति। वक्तृत्वसामान्यमपि [13]विपक्षाविरुद्धत्वान्न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्[14], ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात्[15]। प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वचनातिशयस्यैव सम्भवात्।

सर्व देशसे उसके विपक्षमें रहनेका अभाव है। विपरीत अर्थकी स्थापना करनेवाले प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणका अभाव होनेसे उक्त हेतु कालात्ययापदिष्ट भी भी नहीं है; क्योंकि जो हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित पक्षके अनन्तर प्रयुक्त होता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। और न हमारा हेतु सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम) ही है, क्योंकि प्रतिपक्षके साधन करनेवाले हेतुका अभाव है।

यहाँपर मीमांसक कहते हैं कि प्रतिपक्षका साधन करनेवाला हेतु पाया जाता है; वह इस प्रकार है—विवादापन्न पुरुष अशेषज्ञ (सर्वज्ञ) नहीं है; क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है और हस्त-पादादि अंग-उपांगोंका धारक है। जैसे कि गली-कूचेमें घूमनेवाला साधारण पुरुष। उनका यह कहना भी सुन्दर नहीं; क्योंकि वक्तृत्व आदि सम्यक् हेतु नहीं हैं। हम पूछते हैं कि वक्तृत्वका अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थका वक्तापना आपके अभीष्ट है, अथवा उससे अविरुद्ध वक्तापना, अथवा वक्तृत्व सामान्य अभीष्ट है; क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य विकल्प सम्भव नहीं है। इनमेंसे प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसके माननेपर सिद्ध-साध्यताका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। हम भी तो यह कहते हैं कि जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध वक्ता है, वह

१. सकलपदार्थसाक्षात्कारिणि पुरुषे। २. अग्निरनुष्ण इत्यादिवत्। ३. व्यवस्थापक। ४. प्रत्यक्षागमबाधितकाला-(पक्षा-)नन्तरं प्रयुक्तत्वात्कालात्ययापदिष्टः। ५. सन् प्रतिपक्षो यस्य हेतुरूपस्य तत्तथोक्तम्। ६. न प्रकरणसम इत्यर्थः।

७. मीमांसकः प्राह। ८. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ९. दृष्टेष्टाविरुद्धवक्तृत्वम्। १०. विकल्पान्तराभावात्। ११. सम्पर्कात्। १२. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविरुद्धवक्तृत्वम्। १३. सर्वज्ञेन सहाविरुद्धत्वात्। १४. असर्वज्ञत्वसाध्यसाधनाय न समर्थं वक्तृत्वं हेतुः। १५. ज्ञानातिशये सति वचनस्य हानित्वं न दृश्यते। हानिरभाव इत्यर्थः।

[1]एतेन [2]पुरुषत्वमपि निरस्तम्। [3]पुरुषत्वं हि रागादिदोषदूषितम्[4], तदा सिद्धसाध्यता। तददूषितं तु विरुद्धम्[5] वैराग्य[6]-ज्ञानादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्याशेषज्ञत्वमन्तरेणायोगात्। पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्ष[7]व्यावृत्तिकमिति सिद्धं सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वं कस्यचित्पुरुषस्यातोऽ[8]नुमानात्। इति न [9]प्रमाणपञ्चकाविषयत्वमशेषज्ञस्य।

सर्वज्ञ नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विरुद्ध हेत्वाभासरूप है। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध वक्तापन तो ज्ञानातिशयके विना नहीं बन सकता है। और वैसी दशामें वह आपके साध्यसे विरुद्ध अर्थको सिद्ध करनेके कारण विरुद्ध हेत्वभास हो जाता है। वक्तृत्वसामान्यरूप तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विपयभूत सर्वज्ञताके साथ अविरोधी है, अतः वह प्रकृत साध्य जो असर्वज्ञता उसे सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर वक्तृत्वका अपकर्ष नहीं देखा जाता; प्रत्युत ज्ञानातिशयवाले पुरुषके वचनोंका अतिशय ही सम्भव है। इस प्रकार वक्तृत्व हेतु विवादापन्न पुरुषको असर्वज्ञ सिद्ध नहीं करता है।

इसी वक्तृत्व हेतुके असर्वज्ञता-साधन करनेके निराकरणसे द्वितीय पुरुषत्व हेतुका भी निराकरण कर दिया गया समझना चाहिए। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि पुरुषत्वसे आपका अभिप्राय यदि रागादि दोषसे दूषित पुरुषसे है, तो सिद्धसाध्यता है; हम भी कहते हैं कि रागादि दोषसे दूषित पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। यदि पुरुषत्वसे अभिप्राय रागादि दोषसे अदूषित (रहित) पुरुषसे है, तो आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि रागका अभाव वीतरागताको, द्वेषका अभाव शान्त मनोवृत्तिको तथा मोहका अभाव सर्वज्ञताको सिद्ध करता है। और अशेषज्ञता (सर्वज्ञता) के विना वैराग्य वा विशिष्ट ज्ञान आदि गुणोंसे युक्त रूपपन बन नहीं सकता। यदि पुरुषत्वसामान्यरूप हेतु आपको अभीष्ट हो, तो वह सन्दिग्धविपक्षवृत्तिक हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि असर्वज्ञताका विपक्ष

---

१. वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वसाधननिराकरणेन। २. द्वितीयसाधनम्। ३. पुरुषत्वं हि रागादिदोषदूषितं तददूषितं पुरुषत्वसामान्यं वेति विकल्पत्रयं मनसि निधाय क्रमशस्तद्दूषयति। ४. रागद्वेषमोहैर्दूषितं संयुक्तम्। ५. रागाभावे वीतरागं द्वेषाभावे शान्तं मोहाभावे सर्वज्ञं साधयति तस्माद्विरुद्धम्। ६. वीतरागत्व-। ७. सन्दिग्धा-विपक्षात्सर्वज्ञाद् व्यावृत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम्। ८. कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। ९. प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिप्रमाणपञ्चकम्।

अथास्मिन्ननुमानेऽर्हतः सर्वविस्त्वमनर्हतो[1] वा? अनर्हतश्चेदर्हद्वाक्यमप्रमाणं स्यात्। अर्हतश्चेत्सोऽपि न श्रुत्या[3] सामर्थ्येन वाऽवगन्तुं पार्यते। स्वशक्त्या[4] दृष्टान्तानुग्रहेण[6] वा हेतो[7]: पक्षान्तरेऽपि[8] तुल्यवृत्तित्वादिति।

तदेतत्परेषां[9] स्ववधाय[10]कृत्योत्थापनम्; [11]एवंविधविशेषप्रश्नस्य सर्वज्ञसामान्या-

---

सर्वज्ञता है, उसका किसी पुरुष में रहना सम्भव है, अतः विपक्षसे व्यावृत्ति सन्दिग्ध है।

(तीसरा पाण्यादिमत्व हेतु भी ठीक नहीं है; क्योंकि हाथ-पैर आदिके होनेका असर्वज्ञताके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।)

इस प्रकार हमारे द्वारा कहे गये अनुमानसे किसी पुरुषविशेषके सकल पदार्थोंका साक्षात्कारित्व सिद्ध है। इस लिए यह कहना ठीक नहीं नहीं है कि सर्वज्ञता प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका विषय नहीं है, अतः कोई सर्वज्ञ नहीं है।

पुनः असर्वज्ञवादी कहता है कि आपके द्वारा प्रयुक्त इस अनुमानसे जो सामान्य सर्वज्ञता सिद्ध होती है, वह आप अर्हत्के मानते हैं, या अनर्हत् बुद्ध आदिके मानते हैं? यदि अनर्हत्के मानते हैं, तो अर्हद्वाक्य अप्रमाण हो जायंगे। यदि अर्हत्के मानते हैं, तो हम पूछते हैं कि अर्हत्के सर्वज्ञता श्रुति (आगम) से सिद्ध करते हैं, अथवा सामार्थ्यसे, अथवा स्वशक्ति से, अथवा दृष्टान्तके अनुग्रहसे सिद्ध करते हैं। इनमेंसे श्रुतिसे और सामर्थ्यसे तो अर्हत् जाना नहीं जाता है अर्थात् अर्हन्तके सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है। स्वशक्ति कहिये अविनाभावी लिङ्गसे अथवा आपके द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्तके बलसे कहें, तो तद्-ग्रहणस्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्धप्रत्ययत्व हेतु हरि-हर-हिरण्यगर्भादि पक्षान्तरमें भी समान रूपसे रहता है। अर्थात् उस हेतुसे अर्हन्तके समान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध आदि सभी के सर्वज्ञता सिद्ध होती है, जो कि आपको भी अभीष्ट नहीं है।

आचार्य उक्त कथनका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि असर्वज्ञ वादियोंका यह कथन अपने वधके लिए कृत्या-उत्थापनके अर्थात् सोती हुई

---

१. सर्वज्ञत्वम्। २. बुद्धादेः। ३. आगमेन। ४. व्यापकत्वेन व्यञ्जकत्वेनाविनाभावित्वेन वा। ५. हेतोरविनाभावशक्त्या सामर्थ्येन नावगन्तुं पार्यत इत्येतद्विवृणोति। ६. यथाऽपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्करोति दृष्टान्तस्तस्य बलेन। ७. तद्-ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वस्य। ८. हरिहरहिरण्यगर्भादौ।

९. भाट्टानामसर्वज्ञवादिनाम्। १०. कर्णाटकभाषायां मारि। ११. कुतः

भ्युपगमपूर्वकत्वात्। अन्यथा[1] न कस्याप्यशेषज्ञत्वमित्येवं वक्तव्यम्। प्रसिद्धानुमानेऽप्यस्य[2] दोषस्य सम्भवेन [3]जात्युत्तरत्वाच्च। तथाहि[4]—नित्यः शब्दः, [5]प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्; इत्युक्ते व्यापकः[6] शब्दो नित्यः प्रसाध्यते, अव्यापको वा? यद्यव्यापकः, तदा व्यापकत्वेनोपकल्प्यमानो[7] न कञ्चिदर्थं पुष्णाति। अथ व्यापकः, सोऽपि न श्रुत्या सामर्थ्येन वाऽवगम्यते[8]। स्वशक्त्या दृष्टान्तानुग्रहेण वा [9]पक्षान्तरेऽपि[10] तुल्यवृत्तित्वादिति सिद्धमतो[11] निर्दोषात्साधनादेशापज्ञत्वमिति।

मारक राक्षसीके जगानेके समान है; क्योंकि इस प्रकारके विशेष प्रश्न सर्वज्ञसामान्यकी स्वीकृति-पूर्वक ही पूछे जा सकते हैं और सर्वज्ञसामान्यके माननेपर आपके असर्वज्ञरूप पक्षका घात हो जाता है अन्यथा (यदि सर्वज्ञ-सामान्य नहीं मानते हैं, तो,) किसीके भी सर्वज्ञता नहीं है, ऐसा ही कहना चाहिए। तथा सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेवाले आपके उस प्रसिद्ध अनुमानमें भी अर्हन्तके सर्वज्ञता है, या अनर्हन्तके, इत्यादि प्रश्नरूप इस दोषकी सम्भावनासे जातिनामक दूषणरूप उत्तर होता है। असत् उत्तरको जाति कहते हैं, अथवा दोनों पक्षोंमें प्रश्न और उत्तरके समान होनेको जात्युत्तर-दोष कहते हैं। वह दोष इस प्रकारसे प्राप्त होता है—किसीने अनुमानका प्रयोग किया—कि शब्द नित्य है, क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा कहनेपर जातिवादी उससे पूछे कि आप इस अनुमानसे व्यापक शब्दके नित्यता सिद्ध करते हैं, तो व्यापकरूपसे कल्पना किया हुआ वह शब्द किसी भी अर्थको पुष्ट नहीं करता है। अर्थात् फिर शब्दको व्यापक मानना निरर्थक है, क्योंकि मीमांसक शब्दको व्यापक मानते हैं। और यदि व्यापक शब्दके नित्यता सिद्ध करते हैं, तो उसकी व्यापकरूप नित्यता श्रुतिसे और सामर्थ्यसे तो जानी नहीं जाती है। यदि स्वशक्तिसे और दृष्टान्तके अनुग्रह

स्वपक्षोच्छेदनं वाञ्छाम्यहमिति पृच्छसि चेदाह। १. सर्वज्ञसामान्यानभ्युपगमे। २. मीमांसकेन त्वया। ३. तव मते उभयवादिप्रसिद्धानुमानेऽपि। ४. अर्हतः सर्ववित्त्वमनर्हतो वेत्थंप्रकारस्य। ५. असदुत्तरं जातिः। दोषसम्भवात्प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ दूषणाशक्तमुत्तरं जातिमाहुः। अथान्ये तु स्वव्याघातकमुत्तरं सन्दर्भेण दूषणासमर्थं वा छलादिभिन्नदूषणसमर्थमुत्तरं वा जात्युत्तरमाहुः। ६. प्रसिद्धानुमानेऽप्ययं दोषः कथं सम्भवति? तदेव विवृणोति। ७. स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्। ८. मीमांसकमते व्यापकः सर्वगतः शब्दो नित्यश्च। ९. कल्प्यमानः शब्दः। १०. अवगन्तुं न पार्यते। ११. अव्यापके नित्ये शब्दे। १२. जात्युत्तरम्। १३. तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्।

यच्चाभावप्रमाणकवलितसत्ताकत्वमशेषज्ञत्वस्येति, तदयुक्तमेव; अनुमानस्य तद्-ग्राहकस्य सद्भावे सति प्रमाणपञ्चकाभावमूलस्याभावप्रमाणस्योपस्थापनायोगात् ।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं[1] स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्[2] ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया[3] ॥ ६ ॥

इति च भाट्टकं[4] दर्शनम्[5] । तथा[6] च कालत्रय-त्रिलोकलक्षणवस्तुसद्भावग्रहणेऽ-[7]न्यत्रान्यदा[8] गृहीतस्मरणे च सर्वज्ञनास्तिताज्ञानमभावप्रमाणं युक्तम्, नापरथा[9] । न च कस्यचिदर्वाग्द[10]र्शिनस्त्रिजगत्त्रिकालज्ञानमुपपद्यते[11], सर्वज्ञस्यातीन्द्रियस्य वा । सर्वज्ञत्वं

से कहें तो अव्यापक नित्य शब्दरूप पक्षान्तरमें भी उस हेतुका रहना समान है । इस प्रकार से दोषोद्भावन कर असत् उत्तर देना तो जात्युत्तर दोष है । इस प्रकार तद्-ग्रहणस्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्धप्रत्ययत्वरूप निर्दोष हेतुसे सर्वज्ञता सिद्ध है ।

और जो आप लोगोंने कहा कि 'सर्वज्ञताकी सत्ता तो अभावप्रमाणसे कवलित (ग्रसित) है, अर्थात् अभावप्रमाणसे सर्वज्ञताका सद्भाव नहीं, प्रत्युत अभाव ही सिद्ध होता है, सो यह कहना भी अयुक्त ही है; क्योंकि जब सर्वज्ञताके ग्राहक (साधक) अनुमानका सद्भाव पाया जाता है, तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंका अभाव ही जिसका मूल है, ऐसे अभावप्रमाणके उपस्थापनका अयोग है, अर्थात् अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति वहींपर होती है, जहाँपर कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे वस्तुके सद्भावकी सिद्धि न हो । जब सर्वज्ञताका साधक अनुमान प्रमाण पाया जाता है, तब अभाव प्रमाण-की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती । तथा—

वस्तुके सद्भावको ग्रहणकर अर्थात् घट-रहित केवल भूतलको देखकर और प्रतियोगीको स्मरण कर अर्थात् घटकी याद कर बाह्य इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित नास्तितारूप मानस ज्ञान होता है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥६॥

ऐसा आप लोगोंका मत है । सो इस व्यवस्थाके अनुसार तो त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त वस्तुओंके सद्भावको ग्रहण करलेनेपर, तथा अन्यत्र (क्षेत्रान्तरमें) और अन्यदा (कालान्तरमें) जाने हुए सर्वज्ञका स्मरण होने-पर और उससे भिन्न किसी देश और कालमें सर्वज्ञके दृष्टिगोचर न होनेपर सर्वज्ञकी नास्तिताका जो ज्ञान हो, उसे अभावप्रमाण मानना युक्त है, अन्यथा

१. घटव्यतिरिक्तं भूतलं गृहीत्वा । २. घटं स्मृत्वा । ३. बाह्येन्द्रियानपेक्षया । ४. भवदीयम् । ५. मतम् । ६. एवं सति । ७. क्षेत्रान्तरे । ८. कालान्तरे । ९. अन्यथाऽभावप्रमाणं भवितुं नार्हति केनचित्प्रकारेण । १०. किञ्चिज्ज्ञस्य । ११. असर्वज्ञ-

हि चेतोधर्मतयाऽतीन्द्रियम्, तदपि न [1]प्रकृतपुरुषविषयमिति कथमभावप्रमाण मुदय[2]मासादयेत्[3]; असर्वज्ञस्य तदुत्पाद-सामग्र्या[4] असम्भवात्। [5]सम्भवे वा तथा[6] ज्ञातुरेव सर्वज्ञत्वमिति। [7]अत्रा[8]धुना[9] तदभावसाधन[10]मित्यपि न युक्तम्; [11]सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्। ततः सिद्धं [12]मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषतो विशदम्।

सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियत्वादशुच्यादिदर्शनं [13]तद्रसास्वादनदोषोऽपि परिहृत एव।

नहीं। सो अर्वाग्दर्शी किसी भी छद्मस्थ, असर्वज्ञ पुरुषके न तो त्रिलोक और त्रिकालका ज्ञान हो सकता है और न सर्वज्ञ और उसके अतीन्द्रियज्ञानका ही परिज्ञान हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञता तो चैतन्यका धर्म होनेसे अतीन्द्रिय है, अतः वह किसी साधारण प्रकृत पुरुषके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें आपके अभावप्रमाणका उदय कैसे हो सकता है, क्योंकि असर्वज्ञ जनके अभावप्रमाणकी उत्पन्न करनेवाली सामग्रीका मिलना असम्भव है। और यदि असर्वज्ञके सर्वदेश और सर्वकालका ज्ञान मान कर सर्वज्ञके अभावकी प्रतिपादक सामग्रीका सद्भाव सम्भव माना जाय, तो इस प्रकार त्रिलोक और त्रिकालके ज्ञाता पुरुषके ही सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है। यदि कहा जाय कि आज इस देश और इस कालमें कोई सर्वज्ञ नहीं है, इस प्रकार हम वर्तमान देश-कालकी अपेक्षासे सर्वज्ञके अभावका साधन करते हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर तो सिद्धसाध्यताका प्रसंग प्राप्त होता है; हम जैन लोग भी वर्तमानमें यहाँपर सर्वज्ञका अभाव मानते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय और सम्पूर्णरूपसे विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध हुआ।

जो लोग सर्वज्ञके ज्ञानको लक्ष्य करके यह कहते हैं कि जब सर्वज्ञ संसारके समस्त पदार्थोंको देखता-जानता है, तो अशुचि और गन्दे पदार्थों को भी देखता-जानता होगा और फिर उसे उन अशुचि पदार्थोंके रसका

जनस्य तद्विषयं न किञ्चिदपि ज्ञानमुत्पद्यते। १. मध्यमः सज्जनोऽसर्वज्ञजनः। २. उत्पत्तिम्। ३. प्रापयेत्। ४. सर्वज्ञविषयभावप्रमाणोत्पादकसामग्र्याः। ५. असर्वज्ञाभावोत्पादकसामग्रीसम्भवे वा। ६. कालत्रयत्रिलोकलक्षणवस्तुसद्भावप्रकारेण, अन्यत्रान्यदा सर्वज्ञनास्तित्वप्रकारेण सर्वज्ञाभावसामग्रीज्ञातुः। ७. अत्राधुना सर्वज्ञो नास्तीति वदसि चेत् तदपि न युक्तम्। ८. अस्मिन् क्षेत्रे। ९. अस्मिन् काले। १०. सर्वज्ञाभावसाधनम्। ११. अस्मिन् क्षेत्रे काले च सर्वज्ञोऽस्तीति केन वोच्यत इति सिद्धसाध्यता। १२. प्रत्यक्षम्। १३. इन्द्रियज्ञानस्यैवाशुच्यादिरसास्वादनदोषो नातीन्द्रियज्ञानस्येति शेषः।

[1]कथमतीन्द्रियज्ञानस्य वैशद्यमिति चेत्—यथा सत्यस्वप्नज्ञानस्य [2]भावनाज्ञानस्य चेति। दृश्यते हि भावनाबलादेतद्देश[3]वस्तुनोऽपि विशददर्शनमिति।

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥७॥

इति बहुलमुपलम्भात्[4]।

[5]ननु च नावरणविश्लेषादशेषज्ञत्वम्; अपि तु तनुकरणभुवनादिनिमित्तत्वेन। न चात्र तन्वादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वमसिद्धम्; अनुमानादेस्तस्य सुप्रसिद्धत्वात्। तथाहि—

आस्वाद भी प्राप्त होता होगा? सो ऐसा आक्षेप करनेवालोंको आचार्य उत्तर देते हैं, कि यतः सर्वज्ञका ज्ञान अतीन्द्रिय है, अतः अशुचि पदार्थोंके देखने और उनके रसका आस्वादन करनेरूप दोषका भी परिहार उक्त कथनसे हो जाता है। अशुचि पदार्थोंके रसास्वादन आदिका दोष तो इन्द्रियज्ञानके ही सम्भव है, अतीन्द्रियज्ञानके नहीं।

शङ्का—अतीन्द्रिय ज्ञानके विशदता कैसे सम्भव है?

समाधान—जैसे कि सत्य स्वप्न-ज्ञानके और भावना-ज्ञानके सम्भव है। भावनाके बलसे दूरदेशवर्ती भी वस्तुका विशद दर्शन पाया जाता है। जैसा कि कोई कारागार (जेलखाना) बद्ध कामी पुरुष कहता है—

कारागारका द्वार बन्द है, और अन्धकार इतना सघन है कि सूईके अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता, मैंने अपने नेत्र बन्द कर रखे हैं, फिर भी मुझे अपनी प्यारी स्त्रीका मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध नहीं होनेपर भी परोक्ष-ज्ञानमें विशदता प्रायः देखनेमें आती है।

शङ्का—यहाँपर यौग कहते हैं कि उक्त प्रकारसे सर्वज्ञताकी तो सिद्धि हो जाती है, परन्तु आवरणोंके विश्लेषसे—पृथिक् होनेसे—सर्वज्ञता नहीं बनती, अपि तु तनु (शरीर) करण (इन्द्रिय) भुवन आदिके निमित्तसे सर्वज्ञता बनती है। और तनु-करण-भुवनादिका बुद्धिमान् पुरुषके निमित्तसे होना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणोंसे उसका होना सुप्रसिद्ध

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धाभावात्। २. मानसिकज्ञानस्य। ३. भावनाज्ञानाधिकरणपुरुषस्य भिन्नदेशवर्तिवस्तुनोऽपि। ४. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धाभावेऽपि विशदत्वोपपत्तेः। ५. यौगः प्राह। प्रश्नावधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु। ननु च स्याद्विरोधोक्ताविल्यमरः।

विमत्यधिकरणभावापन्नं[1] उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकम्, कार्यत्वादचेतनोपादानत्वात्सन्निवेश[2]विशिष्टत्वाद्वा वस्त्रादिवदिति।

आगमोऽपि तदावेदकः[3] श्रूयते—

[4]विश्वतश्चक्षु[5]रुत विश्वतो[6]मुखो विश्वतो [7]बाहुरुत विश्वतः[8]पात्।
[9]सम्बाहुभ्यां [10]धमति [11]सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव[12] एकः ॥८॥

है। वह इस प्रकार है—विवादापन्न उर्वी (पृथ्वी) पर्वत, तरु (वृक्ष) और तनु (शरीर) आदिक पदार्थ बुद्धिमद्धेतुक हैं; अर्थात् किसी बुद्धिमान् पुरुषके निमित्तसे बने हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं और जो कार्य होता है, वह किसी न किसीके द्वारा किया ही जाता है, विना किये नहीं होता। दूसरे उर्वी, पर्वत आदिका उपादान कारण अचेतन है, अतः उन्हें किसी चेतन पुरुषसे अधिष्ठित होकर ही कार्यरूपमें परिणत होना चाहिए। तीसरे उर्वी-पर्वतादिकी सन्निवेश-(संस्थान-आकार) गत विशिष्टता पाई जाती है, जो कि विना किसी बुद्धिमान् पुरुषके सम्भव नहीं है; वस्त्रादिके समान। जैसे नानाप्रकारके वस्त्रादिका निर्माण उनके बनानेवाले बुनकर (जुलाहा) आदिके विना सम्भव नहीं है, उसीप्रकार उर्वी, पर्वत, तनु, करण, भुवनादिका भी निर्माण विना किसी बुद्धिमान पुरुषके सम्भव नहीं है।

तथा आगम भी उस बुद्धिमान् पुरुषका प्रतिपादक सुना जाता है—

जो विश्वतश्चक्षु है, सब ओर नेत्रवाला है, अर्थात् विश्वदर्शी है, विश्वतो मुख है—सर्व ओर मुखवाला है अर्थात् जिसके वचन विश्वव्यापी हैं, विश्वतो बाहु है—सर्व ओर भुजाओंवाला है, अर्थात् जिसकी भुजाओंका व्यापार सर्वजगत् में है यानी जो सर्व जगत् का कर्त्ता है, विश्वतःपात् है—जिसके पाद (पैर) सभी ओर हैं अर्थात् जो विश्वमें व्याप्त है, पुण्य-पापरूप सम्बाहुओंसे सर्व प्राणियोंको संयुक्त करता है और जो परमाणुओंसे दिव् अर्थात् आकाश और भूमिको उत्पन्न करता हुआ वर्तमान है ऐसा एक देव अर्थात् ईश्वर है॥८॥

१. विविधा मतयो विमतयः, विमतीनामधिकरणं तस्य भावमापन्नं प्राप्तं विमत्यधिकरणभावापन्नम्, विवादापन्नमित्यर्थः। २. संस्थानं रचनाविशेषः।

३. बुद्धिमत्प्रतिपादकः, कथक इत्यर्थः। ४. विश्वमधिकृत्य प्रवर्तते। ५. चक्षुः कार्यज्ञानं विवादाध्यासितम्, विश्वदर्शीत्यर्थः। ६. विश्वस्याभिमुखो विश्वव्यापि-वचनमित्यर्थः। ७. व्यापारः, सकलजगत्कर्तेत्यर्थः। ८. विश्वव्यापीति भावः। ९. पुण्य-पापाभ्याम्। १०. संयोजयति। ११. परमाणुभिः। १२. ईश्वरः।

तथा व्यासवचनञ्च—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥९॥

न चाचेतनैरेव परमाण्वादिकारणैः पर्याप्तत्वाद् बुद्धिमतः कारणस्यानर्थक्यम्; अचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ व्यापारायोगात्तुर्यादिवत्[1]। न चैवं चेतनस्यापि चेतनान्तरपूर्वकत्वादनवस्था;[2] तस्य[3] सकलपुरुषज्येष्ठत्वान्निरति[4]शयत्वात्सर्वज्ञबीजस्य[5] क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वादनादिभूतानश्वरज्ञानसम्भवाच्च।

तथा व्यासके भी वचन उस ईश्वरके पोषक हैं—

यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःखमें अनीश है अर्थात् स्वयं स्वामी नहीं है। वह ईश्वरसे प्रेरित होकर कभी स्वर्गको जाता है और कभी श्वभ्र (नरक) को ॥ ९ ॥

यदि कहा जाय कि अचेतन ही परमाणु आदि कारण अपने-अपने कार्योंके उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, अतः किसी बुद्धिमान् कारणकी कल्पना करना अनर्थक है, सो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अचेतन पदार्थोंका अपने कार्योंके उत्पन्न करनेमें स्वयं व्यापार सम्भव नहीं है; तुरी आदिके समान। जैसे वस्त्र बनानेके साधनभूत तुरी, वेम, शलाका और तन्तु (सूत) आदि अचेतन पदार्थ स्वयं ही वस्त्र नहीं बना सकते। किन्तु सचेतन कुविन्द (बुनकर-जुलाहा) से अधिष्ठित होकरके ही वस्त्र-निर्माणमें सहायक होते हैं। इसीप्रकार प्रकृतमें भी पार्थिव परमाणु आदिसे पृथ्वी आदि कार्य अपने आप नहीं उत्पन्न हो सकते; किन्तु सचेतन सर्वज्ञ ईश्वरसे अधिष्ठित होकरके ही वे अपने-अपने कार्योंको उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। यदि कहा जाय कि जिस प्रकार चेतन कुविन्द आदिको बाल्यकालमें वस्त्रादि बनानेका उपदेश अपने पिता या गुरुजनादिसे मिलता है, और उन्हें भी अपने अपने पूर्वजोंसे। इसी प्रकार पूर्व-पूर्ववर्त्ती चेतनान्तरसे अधिष्ठित कार्योंकी उत्पत्ति माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होगा, सो भी बात नहीं, क्योंकि वह जगत्का कारणभूत

१. यथा तुरीतन्तुवेमशलाकादीनामचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ व्यापारायोगाच्चेतनकुविन्दाधिष्ठितैरेव कार्यकर्तृत्वं तथा प्रकृतेऽपि। २. यथा चेतनस्य कुविन्दादेर्बाल्यकाले पितुरुपदेशमन्तरेणाकर्तृत्वाच्चेतनान्तरेण भाव्यम्, तथा चेतनान्तरेऽपरचेतनान्तरेण। एवं परापरचेतनप्रयुज्यकर्तृत्वादनवस्था। ३. ईश्वरस्य। ४. अतिशयातिक्रान्तत्वात्। अतिशयानां परमप्रकर्षता, तया निष्क्रान्तत्वात्। ५. सर्वज्ञ एव बीजं कारणं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजम्, तस्य जगत्कारणभूतस्येत्यर्थः।

यदाह पतञ्जलिः[1]—

"क्लेश[2]कर्म[3]विपा[4]काशयै[5]रपरामृष्टः[6] पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र[7] निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स[8]पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानविच्छेदादिति च।"

और सर्वज्ञताका बीज ईश्वर संसारके समस्त पुरुषोंसे ज्येष्ठ है, समर्थ है और अतिशयोंकी परम प्रकर्षता से निष्क्रान्त (रहित) है। तथा वह ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशयसे अपरामृष्ट अर्थात् रहित है, और उसके अनादिभूत अविनश्वर ज्ञान पाया जाता है।

यही पतञ्जलिने भी कहा है—क्लेश, कर्म, विपाक और आशयसे रहित पुरुष-विशेष ईश्वर है, वह निरतिशय सर्वज्ञ-बीज है, हरि-हर हिरण्य-गर्भादि पूर्व पुरुषोंका भी गुरु है, और कालकी अपेक्षा उसका कभी विच्छेद नहीं होता अर्थात् वह अनादिनिधन है।

विशेषार्थ—क्लेश नाम अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-

१. पातञ्जलयोगसूत्रे। २. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। तत्र विपरीता ख्यातिरविद्या। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः पापादौ पुण्यादिबुद्धिरपि विवक्षिता, तासामपि संसारहेतुविद्यात्वात्। अहो अहमस्मीत्यभिमानोऽस्मिता। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मता अस्मिता। रागद्वेषौ सुखदुःखतत्साधनविषयौ प्रसिद्धौ। सुखानुशयी रागः। सुखतत्साधन-मात्रविषयकः क्लेशो रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। आत्मेश्वरभङ्गभीतिरभिनिवेशः। स्वर-सवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। स्वस्य रसेन संस्कारेणैव वहतीति स्वरसवाही। अपिशब्दादविद्वानपि परिगृह्यते। रूढः प्रसिद्धः। तथा च यथाऽविदुषस्तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वहेतुना यज्जातीयो यत्क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽभिनिवेश इत्यर्थः। ३. कर्म धर्माधर्मौ, अश्वमेधब्रह्महत्यादिकं कर्म। ४. विपाकाः कर्मफलानि। जन्मायु-र्भोगाः। जात्यायुर्भोगा विपाकाः। तत्र जातिर्देवत्व-मनुष्यत्वादिः। प्राणाख्यस्य वायोः कालावच्छिन्नसम्बन्ध आयुः। स्वसमवेतसुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः। ५. आशयो ज्ञानादिवासना। संसारवासितचित्तपरिणाम आशयः। आनिवृत्तेरात्मनि शेते इत्याशयो धर्माधर्मस्वरूपमपूर्वम्। ६. एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः सर्वथा सर्वदाऽसंस्पृष्ट इत्यर्थः। ७. सर्वज्ञत्वानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्तमित्यर्थः। तथा च निरतिशयज्ञान ईश्वर इति लक्षणम्। तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजम्, तन्निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्। ८. स एव ईश्वरः पूर्वेषां हिरण्य-गर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुःप्रदः। कालानवच्छिन्नत्वान्नित्यो भवति तथा च श्रुतिः—"जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्" इति।

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो[1] विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता[2] वशितेन्द्रियेषु ।
[3]आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव ॥१०॥

इत्यवधूत[4]वचनाच्च ।

न चात्र[5] कार्यत्व[6]मसिद्धम् [7]सावयवत्वेन कार्यत्वसिद्धेः । नापि विरुद्धम्, विपक्षे[8]

का है। किसी पदार्थको विपरीत जानना अविद्या है। अर्थात् अनित्य, अशुचि और दुःखरूप वस्तुओंमें नित्य, शुचि और सुखकी कल्पना करनेको अविद्या कहते हैं। 'मैं भी कोई हूँ' इस प्रकारके अहङ्कारको अस्मिता कहते हैं। सुख और उसके कारणोंमें प्रीतिको राग कहते हैं। दुःख और उसके कारणोंमें अप्रीतिको द्वेष कहते हैं। आप्त और ईश्वरके भङ्गका भय और दुराग्रहका नाम अभिनिवेश है। इन सभीको क्लेश कहते हैं। कर्म नाम पुण्य-पापका है। यज्ञादि पुण्य कर्म हैं और ब्रह्महत्यादि पापकर्म हैं। कर्मके फलरूप जाति, आयु और भोगको विपाक कहते हैं। जाति नाम देवत्व, मनुष्यत्व आदिका है। नियत कालतक प्राणोंके साथ सम्बन्ध बने रहनेको आयु कहते हैं। सुख-दुःखके भोगनेका नाम भोग है। सांसारिक वासनासे वासित चित्तकी परिणतिको आशय कहते हैं। वह जगद्-व्यापी अनादि-निधन और सबका गुरु ईश्वर इन सबसे रहित है।

तथा संन्यासियोंके गुरु अवधूतके भी वचन उसके विषयमें इस प्रकार हैं—

"हे भगवन्! आपका ऐश्वर्य अप्रतिहत है, वैराग्य स्वाभाविक है, तृप्ति नैसर्गिक है, इन्द्रियोंमें वशिता है अर्थात् आप जितेन्द्रिय हैं, आपका सुख आत्यन्तिक अर्थात् चरम सीमाको प्राप्त है, शक्ति आवरण-रहित है और सर्व विषयोंको साक्षात् करनेवाला ज्ञान भी आपका ही है" ॥१०॥

इस प्रकार ईश्वर यतः सबसे ज्येष्ठ और अनादिनिधन है, अतः उसके द्वारा उर्वी-पर्वतादि कार्योंके किये जानेपर अनवस्था दोष नहीं प्राप्त होता है।

---

१. स्वाभाविकः। २. स्वाधीनता। ३. विनाशरहितम्। ४. संन्यासिनां मतम्। ५. नन्वादौ। ६. क्षित्यादिकं समवाय्यसमवायनिमित्तकारणत्रयप्रभवं कार्यत्वाद्वस्त्रादिवत्। तत्र समवायिकारणं चतुर्विधाः परमाणवः, असमवायिकारणं परमाणुसंयोगः, निमित्तकारणमीश्वराकाशकालाः अनादिनिधनत्वादाद्यन्तरहितत्वादित्यनुमाने कार्यत्वमसिद्धं न भवति। ७. तथाहि—क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्। यत्सावयवं तत्कार्यं यथा प्रासादादि। सावयवं चेदं तस्मात् कार्यं भवति। ८. अबुद्धिमद्धेतुके नित्ये परमाण्वादौ।

वृत्त्यभावात् । नाप्यनैकान्तिकम् ; विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः । प्रतिपक्षसिद्धिनिबन्धनस्य साधनान्तरस्याभावान्न प्रकरणसमम् । [1]अथ 'तन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति, [2]दृष्टकर्तृक-प्रासादादिविलक्षणत्वादाकाशवत्' इत्यस्यैव प्रतिपक्षसाधनमिति । नैतद्युक्तम् ; हेतोरसिद्ध-त्वात्, [3]सन्निवेशविशिष्टत्वेन प्रासादादिसमानजातीयत्वेन तन्वादीनामुपलम्भात् । अथ

और, ईश्वरके सद्भावको सिद्ध करनेके लिए हमने जो कार्यत्व हेतु दिया है, वह असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि सावयव होनेसे कार्यत्व हेतु सिद्ध है।

विशेषार्थ—यौग लोग पृथ्वी आदिक कार्योंको समवायिकारण, असम-वायिकारण और निमित्तकारण इन तीन कारणोंसे उत्पन्न हुआ मानते हैं और उसे सिद्ध करनेके लिए उन्होंने कार्यत्व हेतु दिया है। उनमेंसे वे पृथ्वी जलादि रूप चार प्रकारके परमाणुओंको कार्यका समवायिकारण कहते हैं, परमाणुओंका संयोग असमवायिकारण है और ईश्वर, आकाश, कालादि निमित्तकारण हैं, क्योंकि ये अनादिनिधन हैं। उक्त अनुमानमें प्रयुक्त कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है, इस बातके सिद्ध करनेके लिए उन्होंने सावयवत्व हेतुका प्रयोग किया है यथा—पृथ्वी आदिक कार्य हैं, क्योंकि वे अवयवसहित हैं। जो जो पदार्थ अवयव-सहित होते हैं, वे वे कार्य होते हैं। जैसे प्रासाद (भवन) आदि। पृथ्वी आदिक सावयव हैं अतः वे कार्य हैं। इस प्रकार वे पृथ्वी आदिके कार्यत्वकी सिद्धि सावयवत्व हेतुसे करते हैं। अतः कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है।

और उनका कहना है कि हमारा यह कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि साध्य जो बुद्धिमन्निमित्तकत्व, उसका विपक्ष अबुद्धिमन्निमित्तक नित्य परमाणु आदिक उनमें कार्यत्व हेतु नहीं रहता है। और इसी कारण अनैकान्तिक भी नहीं है; क्योंकि वह विपक्षभूत परमाणु आदिकमें नहीं रहता। प्रतिपक्षकी सिद्धि करनेवाले अन्य साधनका अभाव होनेसे प्रकरण-सम भी नहीं है। यदि कहा जाय कि "तनु-करण-भुवनादिक बुद्धिमद्धेतुक नहीं हैं; क्योंकि जिन कार्योंके कर्ता दिखाई देते हैं, ऐसे प्रासाद आदिसे वे विलक्षण हैं, जैसे कि आकाश।" यह प्रतिपक्षका साधक अनुमान पाया जाता है, सो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस अनुमानमें प्रयुक्त हेतु असिद्ध है—यतः तनु-करण-भुवनादिकके सन्निवेश (रचना-आकार) वैशि-

१. अबुद्धिमद्धेतुके इदमेव प्रतिपक्षसाधनमस्ति। २. यथा प्रासादादीनां कर्ता दृश्यते, न तथा तन्वादीनामिति। ३. रचनाविशेष-।

यादृशः प्रासादादौ सन्निवेशविशेषो दृष्टो न तादृशस्तन्वादाविति चेन्न[1]; सर्वात्मना[2] सदृशस्य[3] कस्यचिदप्यभावात्। सातिशयसन्निवेशो हि सातिशयं कर्त्तारं गमयति, प्रासादादिवत्। न च दृष्टकर्तृकत्वा[4]दृष्टकर्तृकत्वाभ्यां बुद्धिमन्निमित्तेतरत्व[5]सिद्धिः, [6]कृत्रिमैर्मणि[7]मुक्ताफलादिभिर्व्यभिचारात्। [8]एतेनाचेतनो[9]पादानत्वादिकमपि समर्थितमिति सूक्तं बुद्धिमद्धेतुकत्वम्, [10]ततश्च सर्ववेदित्वमिति।

तदेतत्सर्वमनुमानमुद्रा[11]द्रविणदरिद्रवचनमेव, कार्यत्वादेरसम्यग्घेतुत्वेन तज्जनित[12]-

दृश्यसे प्रासादादिके समानजातीयता पाई जाती है। यदि कहा जाय कि जैसा सन्निवेश-वैशिष्ट्य प्रासाद आदिमें देखा जाता है, वैसा तनु-करण-भुवनादिकमें नहीं पाया जाता, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण-रूपसे सदृशता तो किसी भी पदार्थमें नहीं पाई जाती है। यदि दृष्टान्तके सभी धर्म दार्ष्टान्तमें पाये जावें तो वह दृष्टान्त ही नहीं रहेगा, प्रत्युत दार्ष्टान्त हो जायगा। अतिशय-युक्त सन्निवेश तो सातिशय कर्ताका ज्ञान कराता है, जैसे सुन्दर कलापूर्ण प्रासाद सातिशय कलाकार (कारीगर) का ज्ञान कराता है। यदि कहा जाय कि जिनके कर्ता दिखाई देते हैं, वे कार्य बुद्धि-मानके निमित्तसे बने हैं और जिनके कर्त्ता दिखाई नहीं देते हैं, वे कार्य अबुद्धिमान्‌के निमित्तसे बने हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; अन्यथा कृत्रिम (नकली) मणि-मुक्ताफलादिसे व्यभिचार आता है; क्योंकि वे भी चतुर स्वर्णकार आदिके निमित्तसे बने हैं। इस प्रकार इस कार्यत्व हेतुके समर्थनसे अचेतनोपादानत्व और सन्निवेशविशिष्टत्व इन शेष दोनों हेतुओंका भी समर्थन किया हुआ जानना चाहिए। अतः यह बहुत सुन्दर कहा है कि उर्वी, पर्वत, तरु और तनु आदिक बुद्धिमद्धेतुक हैं और इसीसे सर्ववेदित्व (सर्वज्ञत्व) भी सिद्ध होजाता है।

समाधान—अब आचार्य ईश्वर-सिद्धिके पूर्व पक्षका निराकरण और स्वपक्षका स्थापन करते हुए कहते हैं कि आप लोगोंका यह सर्व कथन अनु-मान-मुद्रा (सिक्का) रूप धनसे रहित दरिद्र पुरुषके वचनके समान है; क्योंकि कार्यत्व आदिक असम्यक् हेतु हैं, अतः उनसे जनित ज्ञान भी मिथ्यारूप ही

१. यौगः। २. सर्वरूपेण। ३. सर्वो दृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके प्रवर्तते चेद् दृष्टान्त एव न स्यात्। ४. यद्दृष्टकर्तृकं तद्बुद्धिमन्निमित्तं यददृष्टकर्तृकं तदबुद्धिमन्निमित्तम्। ५. अबुद्धिमन्निमित्तत्व-। ६. अन्यथा। ७. अत्रापि चतुरस्वर्णकारादयो निमित्तम्। ८. कार्यत्वहेतुसमर्थनपरेण न्यायेन। ९. परमाण्वादि। १०. सर्वतन्वादिकार्याणां बुद्धि-मद्धेतुकत्वतो निमित्तकारणत्वात्। ११. अनुमानमुद्रां कर्तुमशक्यः। १२. कार्यत्वाद्य-सद्धेतूत्पन्नज्ञानस्य।

ज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात् । तथाहि[1]—कार्यत्वं [2]स्वकारणसत्ता[3]समवायः[4] स्यात्, अभूत्वाभावित्वम्, अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्, कारण[5]व्यापारानुविधायित्वं वा स्यात, गत्यन्तराभावात् ।

है। आगे उसीको स्पष्ट करते हैं—हम आपसे पूछते हैं कि कार्यत्व हेतुसे आपका क्या अभिप्राय है ? स्वकारणसत्तासमवायको कार्यत्व कहते हैं, या अभूत्वाभावित्वको, या अक्रियादर्शीके कृतबुद्ध्युत्पादकत्वको अथवा कारण-व्यापारानुविधायित्वको कार्यत्व कहते हैं ? क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य गति (विकल्प)का अभाव है अर्थात् अन्यको कार्यत्व बतलाना आपके लिए सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ—कार्यत्व क्या वस्तु है, इसके सम्बन्धमें आचार्यने जो चार विकल्प उठाये हैं उनका खुलासा अर्थ जाननेके लिए नैयायिक-वैशेषिक मतकी तत्त्वव्यवस्थाका कुछ मूलरूप जान लेना आवश्यक है। इनके मतमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने हैं। इनमेंसे द्रव्यके नौ भेद हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। गुणपदार्थके चौबीस भेद हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्मपदार्थके पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सत्तारूप सामान्य पदार्थ एक है उसके परसामान्य और अपरसामान्य ये दो भेद हैं। नित्य द्रव्योंमें रहनेवाले विशेष अनन्त हैं। समवायका कोई भेद नहीं, वह एक ही है। इन छह पदार्थोंको वे सत्रूप मानते हैं और अभावको असत् रूप। अभावके चार भेद माने हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव) और अत्यन्ताभाव। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इनके मतमें द्रव्यसे गुणनामका पदार्थ सर्वथा भिन्न है और समवायनामक पदार्थके सम्बन्धसे द्रव्यमें गुणोंका सम्बन्ध होता है। सामान्यनामक पदार्थ अपने पूर्ववर्ती द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें रहता है। समवाय पदार्थ अपने पूर्ववर्ती पाँचों

---

१. विकल्पचतुष्कं कृत्वा वदति। २. स्वस्य निष्पाद्यवस्तुनः कारणानि, तेषां सत्ता तया समवायो मिलनमिह मृत्तिकायां घट इति मृत्तिकासत्तया घटो व्याप्यत इत्यर्थः। ३. स्वकारणसमवायः सत्तासमवायो वा। ४. अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं-प्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः ५. कारणानि परमाण्वादीनि।

अथाद्यः पक्षस्तदा[1] योगिनामशेषकर्मक्षये[2] पक्षान्तःपातिनि[3] हेतोः कार्यत्व-[4]लक्षणस्याप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वम्[5]। न च तत्र[6] सत्तासमवायः[7] स्वकारणसमवायो[8] वा

पदार्थोंमें पाया जाता है। सामान्यका ही दूसरा नाम सत्ता है। उसे वे लोग नित्य, एक और अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला मानते हैं। आत्मा और ज्ञान जैसे अभिन्न पदार्थोंमें—जिनमें कि आधार-आधेयका सम्बन्ध पाया जाता है, 'इहेदं'—इसमें यह है, इस प्रकारकी प्रतीति ही जिसका लिङ्ग (चिह्न) है, ऐसे पदार्थको समवाय कहते हैं। इतनी व्यवस्था जान लेनेके बाद अब उन चारों विकल्पोंका अर्थ कहते हैं—पहला विकल्प है—स्वकारणसत्ता-समवाय। विवक्षित कार्यके उत्पन्न करनेवाले जो कारण हैं, उनकी सत्ताके साथ कार्यके समवायसम्बन्धको स्वकारणसत्तासमवाय कहते हैं। जैसे इस मिट्टीमें घट है, यहाँपर मिट्टीकी सत्ताके साथ घटका समवायसम्बन्ध है, वह स्वकारणसत्तासमवाय है। जो पदार्थ पहले नहीं था, उसके अब उत्पन्न होनेको अभूत्वाभावित्व कहते हैं। जिसने कार्यके उत्पन्न होनेकी क्रियाको नहीं देखा है, ऐसे पुरुषके भी 'यह किसीने किया है' ऐसी बुद्धिके उत्पन्न होनेको कृतबुद्ध्युत्पादकत्व कहते हैं। कारणके व्यापारके अनुसार कार्यके होनेको कारणव्यापारानुविधायित्व कहते हैं। आचार्य पूर्वपक्षवादीसे उक्त चार विकल्प उठाकर पूछते हैं कि इनमेंसे किस जातिका कार्यत्व आपको विवक्षित या अभीष्ट है, क्योंकि इनके अतिरिक्त कार्यका और कोई अर्थ सम्भव नहीं है।

अब आचार्य उन चारों विकल्पोंमेंसे प्रथम विकल्पका खण्डन करते हुए कहते हैं—यदि आपको आद्य पक्ष अभीष्ट है अर्थात् कार्यत्वका अर्थ स्वकारणसत्तासमवाय लेते हैं, तो योगियोंके समस्त कर्मोंका क्षय भी तनु-करण-भुवनादिके समान पक्षके अन्तर्गत है, परन्तु उसमें कार्यत्व लक्षणवाले हेतुकी अप्रवृत्ति है; अतः आपका हेतु भागासिद्ध हो जाता है। जो हेतु पक्षके एक भाग (देश)में रहे और एक भागमें न रहे, उसे भागासिद्ध कहते

१. चेत्। २. सर्वकर्मप्रक्षये। ३. तनुकरणभुवनादिपक्षे पतिते पक्षान्तर्वर्तिनि सति। ४. योगिनामशेषकर्मक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वान्नहि तत्र स्वकारण-सत्तासमवाय-लक्षणस्य कार्यत्वस्य हेतोः प्रवृत्तिर्युज्यते। ५. पक्षान्तःपातिनि भूधरादौ स्वकारणसत्ता-समवायस्य प्रवृत्तेरशेषकर्मक्षये चाप्रवृत्तेः स्वकारणसत्तासमवायलक्षणस्य हेतोः पक्षैकदेशा-सिद्धत्वमिति। कर्मप्रक्षयस्याभावात्, क्षित्यादेर्वर्तमानस्य वर्तित्वात्तस्मादत्र न प्रवर्तते। ६. कर्मक्षये कार्ये। ७. सत्तायाः सम्बन्धः। ८. स्वस्य कार्यस्य कर्मक्षयलक्षणस्य कारणे

समस्ति; तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसरूपत्वेन सत्तासमवाययोरभावात्[1], सत्ताया द्रव्य[2] गुण[3]-क्रिया[4]ऽऽधारत्वाभ्यनुज्ञानात्[5], समवायस्य च [6]परैर्द्रव्यादि[7] पञ्चपदार्थवृत्तित्वाभ्युपगमात्।

[8]अथाभावपरित्यागेन [9]भावस्यैव विवादाध्यासितस्य [10]पक्षीकरणान्नायं दोषः प्रवेशभागिति चेत्तर्हि[11] मुक्त्यर्थिनां तदर्थमीश्वराराधनमनर्थकमेव स्यात्; तत्र[12] तस्या[13]-किञ्चित्करत्वात्। सत्तासमवायस्य विचारमधिरोहतः शतधा विशीर्यमाणत्वात् स्वरूपा[14]-

हैं। प्रकृतमें स्वकारणसत्तासमवायरूप कार्यत्वहेतु उर्वी-पर्वतादिकमें तो पाया जाता है और योगियोंके अशेषकर्मक्षयरूप कार्यमें नहीं पाया जाता है अतः वह भागासिद्ध है। कर्मक्षयरूप कार्यमें न तो सत्तासमवाय है और न स्वकारणसमवाय है। सत्ताके साथ वस्तुको एकतारूप सम्बन्ध होनेको सत्तासमवाय कहते हैं और वस्तुके कारणोंके साथ एकत्वरूप सम्बन्ध होनेको स्वकारण समवाय कहते हैं। योगियोंका कर्मक्षय प्रध्वंसाभावरूप है, अतः उसके साथ सत्ता और समवाय दोनोंके सम्बन्धका अभाव है। आप लोगोंने सत्ताको द्रव्य, गुण और क्रिया (कर्म) इन तीन पदार्थोंमें रहनेवाला स्वीकार किया है, तथा समवायको द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पांच पदार्थोंमें रहनेवाला माना है।

यदि कहा जाय कि हम लोग कर्मक्षयरूप अभावका परित्याग कर विवादापन्न तनु-करण-भुवनादिरूप भावपक्षको यहां अङ्गीकार करते हैं, अतः हमारे कार्यत्व हेतुको भागासिद्ध नामका यह दोष प्राप्त नहीं होगा। तब तो मोक्षार्थियोंका मुक्तिके लिए ईश्वरका आराधन करना निरर्थक ही होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मोक्षार्थीके कर्मक्षयमें वह ईश्वराराधन अकिञ्चित्कर ही है, कुछ भी लाभकारक नहीं है। दूसरी बात यह है कि सत्ता-समवायरूप कार्यत्व हेतुको विचारश्रेणीपर चढ़ानेसे वह शतधा विशीर्ण (छिन्न-

---

यमनियमादिलक्षणे समवायसम्बन्धः। १. अनेन हेतुना सत्तासमवायपक्ष एव दूष्यते, न स्वकारणसत्तासमवायपक्षः। २. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति द्रव्याणि। ३. रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धि-सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः। ४. उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चन-प्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि। ५. अङ्गीकरणात्। ६. यौगैः (नैयायिकवैशेषिकैः)। ७. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाः। ८. यौगः प्राह। ९. तन्वादिकस्याभावव्यतिरिक्त-भावस्यैव। १०. अशेषकर्मप्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावस्य परित्यागे शेषं कार्यं बुद्धिमद्धेतुकमिति पक्षीकरणात्। ११. भावस्यैव पक्षीकरणाद् बुद्धिमद्धेतुकत्वसाध्ये। १२. मुक्त्यर्थिनि अशेषकर्मप्रक्षये। १३. ईश्वराराधनस्य। १४. महीभूधरादौ सत्तासमवायस्यासम्भवात् स्वरूपासिद्धं कार्यत्वमिति।

सिद्धं च कार्यत्वम्। स[1] हि समुत्पन्नानां भवेदुत्पद्यमानानां वा? यद्युत्पन्नानाम्; सतामसतां [वा]? न तावदसताम्[2]; खरविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। सतां[3] चेत् सत्तासमवायात् स्वतो वा? [4]न तावत्सत्तासमवायात्; [5]अनवस्थाप्रसङ्गात्, प्रागुक्तविकल्पद्वया[6]नतिवृत्तेः। स्वतः[7] सतां तु सत्तासमवायानर्थक्यम्[8]।

अथोत्पद्यमानानां सत्तासम्बन्ध-निष्ठा[9]सम्बन्धयोरेककालत्वाभ्युपगमादिति मतम्[10],

---

भिन्न) हो जाता है अतः कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है; क्योंकि पृथ्वी-पर्वतादिकमें सत्ताका समवाय असम्भव है। हम पूछते हैं कि वह सत्तासमवाय उत्पन्न हुए पदार्थोंके है अथवा उत्पद्यमान पदार्थोंके है? यदि उत्पन्न हुए पदार्थोंके मानते हैं, तो वे उत्पन्न हुए पदार्थ सत् हैं, अथवा असत्। उत्पन्न हुए असत् पदार्थोंके तो सत्ता समवाय माना नहीं जा सकता, अन्यथा खरविषाण आदिके भी सत्ता समवायका प्रसङ्ग आयगा। यदि सत् पदार्थोंके सत्ता समवाय कहेंगे तो वह सत्तासमवाय अन्य सत्तासमवायसे है, या स्वतः है? अन्य सत्तासमवायसे तो कह नहीं सकते, क्योंकि उसके माननेपर तो अनवस्था दोषका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि पहले कहे गये दोनों विकल्प यहाँ भी उठेंगे। स्वतः सतोंके माननेपर सत्ता-समवायकी कल्पना निरर्थक हो जाती है।

यदि आपका ऐसा मत हो कि सत्ता-सम्बन्ध और पदार्थोंकी उत्पत्ति रूप निष्ठा-सम्बन्ध इन दोनोंका एक काल माननेसे उत्पद्यमान पदार्थोंके

---

१. सत्तासमवायः। २. यदि समुत्पन्नानामसतां सत्तासमवायस्तदा खरविषाणादीनामपि सः स्यादसत्त्वाविशेषात्। ३. सतां सत्तासमवायश्चेत्सत्तासमवायात्सतां सत्तासमवायः, स्वतो वा सतां सत्तासमवायः। ४. सत्तासमवायात्सतां सत्तासम्बन्धस्तर्हि सोऽन्यः सत्तासम्बन्धः सतामसतां वा? असतां चेत्खरविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गात् इत्यसत्, तस्य पूर्वमुत्पन्नस्य पश्चादसदिति वक्तुमशक्यत्वात। न हि पूर्वमुत्पन्नाः पश्चादसन्तः खरविषाणादयः प्रतीयन्ते व्यतिरेके घटादिवत्। यद्युत्पन्नानां सतामसतां वेति स्ववचनविरोधात्। ततः प्रध्वस्तघटादेरपि तत्प्रसङ्गादिति साधीय इत्यभणुः वादिराजाः। ५. सतां चेत्सत्तासम्बन्धात्सतां स्वतो वा सताम्? सत्तासम्बन्धात्सतां चेत्तर्हि सोऽप्यपरः सत्तासम्बन्धः सतामसतां वेति विकल्पानामनवस्थानादनवस्था स्यात्। ६. सतामसतां वेति। ७. स्वरूपेण। ८. सत्तासमवायः सतां पदार्थानां सत्त्वमस्तित्वं सत्तासमवायात्स्वस्माद्वेति विकल्पद्वयम्। सत्तासमवायात्तेषां पदार्थानां सत्त्वं तस्य सत्तासमवायस्य सतोऽसतो वा सत्त्वम्? असतः सत्त्वे गगनकुसुमस्य सम्बन्धः स्यात्। सतः सत्त्वे सत्तासमवायान्तरात् स्वतो वा? तस्य सतोऽसतो वा? न सतः सत्त्वेऽनवस्था। असतः सत्त्वे पूर्वपदार्थानां सत्त्वं स्वतो भवतु, सत्तासमवायस्यानर्थक्यमिति। ९. उत्पत्ति-सत्तासमवाययोः। १०. यौगस्य।

तदा[1] सत्तासम्बन्ध उत्पादाद्भिन्नः किं वाऽभिन्न इति ? यदि भिन्नस्तदोत्पत्तेरसत्त्वाविशेषा[2]दुत्पत्त्यभावयोः किंकृतो भेदः ? अथोत्पत्तिसमाक्रान्तवस्तुसत्त्वेनोत्पत्तिरपि तथा[3] व्यपदिश्यत इति मतम्, तदपि अतिजाड्यजल्पितमेव; उत्पत्तिसत्त्वप्रतिविवादे[4] वस्तुसत्त्वस्यातिदुर्घटत्वात्, [5]इतरेतराश्रयदोषश्चेति उत्पत्तिसत्त्वे[6] वस्तुनि तदेककालीनसत्तासम्बन्धावगमः, तदवगमे[7] च [8]तत्रत्यसत्त्वेनोत्पत्तिसत्त्वनिश्चय इति। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया [10]तयोरैक्य[11]मभ्यनुज्ञायते, तर्हि तत्सम्बन्ध[12] एव कार्यत्वमिति। [13]ततो बुद्धिमद्धेतुकत्वे[14] [15]गगनादिभिरनेकान्तः।

सत्ता-सम्बन्ध है तो हम पूछते हैं कि सत्तासम्बन्ध उत्पादसे भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है, तब उत्पत्तिसे असत्त्वमें कोई विशेषता नहीं रही, अतः उत्पत्ति और अभाव इन दोनोंमें क्या भेद रहा ? यदि कहें कि उत्पत्तिसे समाक्रान्त अर्थात् युक्त वस्तुके सत्त्वसे उत्पत्तिको भी सत्‌रूप व्यवहार कर दिया जाता है, तब तो आपका यह कहना अति जड़ पुरुषके बकवादके तुल्य है; क्योंकि जब उत्पत्तिके सत्त्वमें ही विवाद है, तब वस्तुका सत्त्व मानना अत्यन्त दुर्घट है, अशक्य है। और वैसा माननेपर इतरेतराश्रय दोष भी आता है कि उत्पत्ति-सत्त्वके सिद्ध होनेपर वस्तु-सत्त्वसिद्ध हो। अर्थात् उत्पत्तिके समय वस्तुओंमें सत्ताके सम्बन्धका ज्ञान हो। और जब वस्तु-सत्त्वका ज्ञान हो जाय, तब वस्तु-सत्त्वके द्वारा उत्पत्तिसत्त्वका निश्चय हो। यदि उपर्युक्त दोषका परिहार करनेकी इच्छासे आप उत्पत्ति और सत्तासम्बन्ध इन दोनोंमें एकता मानते हों, तो उस सत्ताका सम्बन्ध ही कार्यत्व सिद्ध हुआ। तब उस सत्तासम्बन्धरूप कार्यत्वसे बुद्धिमद्धेतुकत्व साध्यमें आकाशादिके द्वारा अनैकान्तिकदोष प्राप्त होता है; क्योंकि आकाशादिमें सत्ता-सम्बन्ध

---

१. जैनाः पृच्छन्ति तदा वस्तूत्पत्तिकाले। २. उत्पत्तौ सत्तासमवायो नास्ति, अभावेऽपि नास्ति; तर्हि तयोः को भेदः ? ३. सत्त्वरूपेण। ४. उत्पत्तिश्च सत्त्वं नेति तयोर्विवादे। उत्पत्तौ सत्त्व नास्तीति विवादः। ५. यथाकथञ्चिद्भवतु, तथापीतरेतराश्रयदूषणमापतितमिति। ६. उत्पत्तौ सत्त्वमुत्पत्तिसत्त्वं तस्मिन् सति। उत्पत्तिसमये वस्तुनि सद्रूपे निश्चिते सतीत्यर्थः। ७. वस्त्वेककालीनसत्तासम्बन्धावगमे। ८. वस्तुस्थसत्तासमवायेन। ९. उक्तदोष-। १०. उत्पत्तिसत्तासम्बन्धयोः। ११. अभिन्न इति द्वितीयभेदमङ्गीकृत्य दूषयति। १२. सत्तासम्बन्ध एव। १३. सत्तासम्बन्धरूपात्कार्यत्वात्। १४. साध्ये सति। १५ गगनादौ सत्तासम्बन्धरूपसाधनत्वमस्ति, बुद्धिमद्धेतुकत्वं नास्ति। यतो गगनादौ सत्तासम्बन्धो वर्तते, तथापि कार्यो न भवति; गगनादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वाभावे सत्तासम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्। न तु खरविषाणादीनां तद्विद्यमानत्वम्। ततः साध्याभावे हेतुसद्भावादनेकान्तः।

एतेन[1] स्वकारणसम्बन्धोऽपि[2] चिन्तितः[3]। अथोभयसम्बन्धः[4] कार्यत्वमिति मतिः, सापि न युक्ता; [5]तत्सम्बन्धस्यापि [6]कादाचित्कत्वे समवायस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्[7] घटादिवत्। अकादाचित्कत्वे [8]सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः। [9]अथ [10]वस्तूत्पादककारणानां सन्निधानाभावान्न सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः। ननु[11] वस्तूत्पत्त्यर्थं कारणानां व्यापारः, उत्पादश्च [12]स्वकारणसत्तासमवाय[13]; स च सर्वदाप्यस्ति, इति तदर्थं[14] कारणोपादानमनर्थकमेव स्यात्।

तो है परन्तु बुद्धिमद्धेतुकता नहीं है। कहनेका भाव यह कि आकाशादिमें सत्ताका सम्बन्ध होनेपर भी वे किसीके द्वारा बनाये हुए नहीं हैं।

इस उपर्युक्त सत्ता-समवायसम्बन्धके निराकरणसे स्वकारणसमवाय सम्बन्धका भी विचार किया गया समझना चाहिए। यदि उभयसम्बन्धको अर्थात् स्वकारणसमवाय और सत्तासमवाय इन दोनोंके सम्बन्धको कार्यत्व कहते हों, तो यह मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि तनु-करण-भुवनादिकके उभयसम्बन्धको यदि कदाचित्क (कभी किसी कालमें होनेवाला) मानेंगे, तो घटादिकके समान समवायके अनित्यताका प्रसङ्ग आता है। यदि अका-दाचित्क कहेंगे; अर्थात् सदा होनेवाला मानेंगे, तो तनु-करणादि कार्योंके भी सर्वदा पाये जानेका प्रसङ्ग आता है। यदि कहें कि वस्तुके उत्पादक कारणोंके सन्निधान (सामीप्य) के अभावसे कार्योंके सर्वदा होनेका प्रसङ्ग नहीं आयगा। तो आचार्य कहते हैं कि वस्तुकी उत्पत्तिके लिए कारणोंका व्यापार होता है और उत्पाद स्वकारणसत्तासमवायरूप है, सो वह सर्वदा है ही। अतएव वस्तुकी उत्पत्तिके लिए कारणोंका उपादान (ग्रहण) करना अनर्थक ही होगा।

---

१. सत्तासमवायसम्बन्धनिराकरणेन। २. यतोऽस्य बुद्धिमद्धेतुकं नास्ति। ३. स्वकारणसम्बन्धः (सत्तासमवायः) उत्पन्नानां स्यादुत्पद्यमानानां वा? यद्युत्पन्नानां तर्हि सतामसतां वा? न तावदसतां खरविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गादित्यादिना निरस्तः। ४. स्वकारणसमवायः सत्तासमवायश्चेत्युभयसम्बन्धः। ५. तनुकरणादीनामुभयसम्बन्धस्यापि। ६. तत्सम्बन्धः कादाचित्कोऽकादाचित्को वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। ७. कदाचित् कार्योत्पत्तिरस्ति, कदाचिन्नास्तीति समवायोऽनित्यो भवितुमर्हति; कादाचित्कत्वाद्घटवदिति समायाति। ८. तनुकरणादिकार्याणाम्। ९. नैयायिकः प्राह। १०. कार्योत्पादक-। ११. जैनाः प्राहुः। १२. वस्तूत्पत्तिरेवोत्पादः, स च स्वकारणसत्तासमवाय एव, स च नित्यस्तत्रापि कारणानां वैयर्थ्यम् 'सदकारणवन्नित्यम्' इति वचनात्। १३. ऐक्याङ्गीकरणात्। समवायो नित्य इति यौगमतम्। १४. वस्तूत्पत्त्यर्थम्।

[1]अभिव्यक्त्यर्थे [2]तदुपादानमित्यपि [3]वार्त्तम्; [4]वस्तूत्पादापेक्षया[5] [6]अभिव्यक्तेर-घटनात्[7]। वस्त्वपेक्षयाऽभिव्यक्तौ [8]कारणसम्पातात्प्रागपि कार्य[9]वस्तुसद्भावप्रसङ्गात्। उत्पादस्याप्यभिव्यक्तिरसम्भाव्या; स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणस्योत्पाद[10]स्यापि कारणव्यापारा-त्प्राक् सद्भावे [11]वस्तुसद्भावप्रसङ्गात्; तल्लक्षणत्वाद्वस्तुसत्त्वस्य[12]। प्राक् सत[13] एव हि केनचित् तिरोहितस्याभिव्यञ्जकेनाभिव्यक्तिः, तमस्तिरोहितस्य घटस्येव प्रदीपादिनेति। तन्नाभिव्यक्त्यर्थं कारणोपादानं युक्तम्। तन्न स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्।

[14]नाप्यभूत्वाभावित्वम्, तस्यापि विचारासहत्वात्। [15]अभूत्वाभावित्वं हि

यदि कहें कि वस्तुके कारणोंका ग्रहण उत्पत्तिके लिए नहीं, किन्तु कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए आवश्यक है; सो यह भी कथनमात्र ही है अर्थात् असत्य या व्यर्थ है; क्योंकि वस्तुके उत्पादकी अपेक्षासे अभिव्यक्तिका कथन घटित नहीं होता। यदि वस्तुकी अपेक्षासे अभिव्यक्ति मानी जाय, तो कारणोंके समागमसे पहले भी कार्यरूप वस्तुके सद्भावका प्रसङ्ग आता है। तथा उत्पादकी अभिव्यक्ति भी असम्भाव्य है; क्योंकि स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणरूप उत्पादके भी कारण-व्यापारसे पूर्व सद्भाव माननेपर वस्तुके सद्भावका प्रसङ्ग आता है; कारण कि वस्तुके सत्त्वका लक्षण ही स्वकारणसत्तासम्बन्धरूप है। जो वस्तु पहले सत् रूप हो, पीछे किसीसे तिरोहित (आच्छादित) हो जाय, तो उसकी अभिव्यञ्जक कारणोंसे अभिव्यक्ति होती है। जैसे अन्धकारसे तिरोहित घटकी प्रदीप आदिके प्रकाशसे अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्तिके लिए कारणोंका उपादान करना युक्त नहीं है इस प्रकार स्वकारणसत्ता-सम्बन्धरूप कार्यत्व हेतु सिद्ध नहीं होता, यह निश्चित हुआ।

अब आचार्य दूसरे विकल्पमें दोष दिखलाते हैं—अभूत्वाभावित्वको भी कार्यत्व नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी विचारकी तर्कणाको सहन नहीं करता। जो कार्य पहले न होकर आगामी कालमें हो, उसे अभूत्वाभावित्व

---

१. वस्तूत्पादापेक्षयाऽभिव्यक्तिः वस्त्वपेक्षया वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा दूषयति। २. कारण-। ३. असत्यम्। ४. उत्पादाभिव्यक्तेरघटनात्तस्यानित्यत्वात्। ५. उत्पाद-स्वकारणसमवाययोरैक्यानित्यत्वं निष्ठासम्बन्धयोरेककालीनत्वाभ्युपगमादिनिमित्तम्। ६. कार्यस्यापि। पूर्वभावित्वं कारणत्वमिति नष्टं भवति। ७. उभयसम्बन्धरूपस्य वस्तूत्पादस्य नित्यत्वान्न तदपेक्षयाऽभिव्यक्तिः सम्भवति। ८. अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावि कारणमिति मतं नश्यति। ९. पश्चाद्भावित्वं कार्यत्वमिति नष्टम्। १० कार्यस्यापि। ११. वस्तुनः कारणव्यापारात्पूर्वम्। १२. स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणोत्पादस्वरूपत्वात्। १३. वस्तुनः। १४. द्वितीयविकल्पं दूषयति। १५. नैयायिका ह्यसत्कार्यवादिनस्तेषां मते

भिन्नकालक्रियाद्वयाधिकरणभूते कर्त्तरि सिद्धे सिद्धिमध्यास्ते[१]; क्त्वान्तपदविशेषितवाक्यार्थत्वाद् भुक्त्वा[२] व्रजतीत्यादिवाक्यार्थवत्[३]। न चात्र भवना[४]भवनयोराधारभूतस्य कर्तुरनुभवोऽस्ति[५] अभवनाधारस्याविद्यमानत्वेन भवनाधारस्य च विद्यमानतया भावाभावयोरेकाश्रयविरोधात्[६]। अविरोधे[७] च तयोः 'पर्यायमात्रेणैव भेदो न वास्तव' इति।

अस्तु वा यथाकथञ्चिदभूत्वाभावित्वम्, तथापि तन्वादौ सर्वत्रानभ्युपगमाद् भागासिद्धम्[१०]। न हि मही-महीधराकूपारारामादयः प्रागभूत्वा भवन्तोऽभ्युपगम्यन्ते परैः[११];

कहते हैं। सो यह अभूत्वाभावित्व भिन्नकालवर्ती दो क्रियाओंके अधिकरणभूत कर्त्ताके सिद्ध हो जानेपर ही सिद्धिको प्राप्त हो सकता है; क्योंकि वह अतीत कालवाचक 'क्त्वा' प्रत्यय जिसके अन्तमें है, ऐसे पदसे विशेषित वाक्यके अर्थ रूप हैं। जैसे कि 'भुक्त्वा व्रजति' अर्थात् भोजन करके जाता है, इत्यादि वाक्यका अर्थ है। कोई पुरुष भोजन करके जाता है, यहांपर भुक्त्वा रूप अर्थ तो भूत-कालिक है और 'व्रजति' रूप अर्थ वर्तमान-कालिक है, अथवा भोजनकाल की अपेक्षा भविष्यत्कालिक है। सो यहां भूत और भावी इन दोनों ही क्रियाओंका आधार एक ही पुरुष है। परन्तु अभूत्वा भावित्वरूप कार्यमें भवन (होना) और अभवन (नहीं होना) इन दोनों क्रियाओंके आधारभूत एक कर्त्ताका अनुभव नहीं है, अर्थात् प्रतीतिमें नहीं आरहा है; क्योंकि अभवनका आधार अविद्यमान होनेसे और भवनका आधार विद्यमान होनेसे भाव (सद्भाव) और अभाव (असद्भाव) का एक आश्रय माननेमें विरोध आता है, कारण कि कार्य तो भावरूप ही है, अभावरूप नहीं। यदि इतनेपर भी भाव और अभावमें अविरोध माना जाय, तो उन दोनोंमें नाम-मात्रका ही भेद रहा, वास्तविक नहीं।

अथवा किसी प्रकारसे अभूत्वाभावित्व मान भी लिया जाय, तो भी तनु-करण-भुवनादिक सभी पदार्थोंमें नहीं माननेसे आपका कार्यत्व हेतु भागासिद्ध हो जायगा; क्योंकि हम जैन लोग मही, महीधर, (पर्वत) समुद्र और

परमाण्वादिषु कारणेषु सर्वथाऽसन्त्येव द्व्यणुकादीनि कार्याणि समुत्पद्यन्ते। १. अधिरोहति। २. अत्र भोजनक्रिया अतीतरूपाऽस्ति। ३. यथाऽत्र भिन्नकालाधिकरणभूते कर्तरि देवदत्ते सत्येव भुक्त्वा व्रजतीति युज्यते, न तथाऽभवन-भवनक्रियाद्वयाधिकरणभूतस्य कर्तुरनुभवोऽस्ति। ४. विद्यमानाविद्यमानयोः। ५. उपपत्तिर्नास्ति। ६. तच्च भाववादिनामेवायं दोषः, न तु स्याद्वादिनाम्; तेषामभावानामपि भावान्तररूपत्वात्, वस्तुनो भावाभावात्मकत्वाभ्युपगमात्। ७. एकाश्रये तयोरविरोधश्चेत्। ८. नाममात्रेण। ९. पारमार्थिकः। १०. प्रतिवाद्यपेक्षया कार्यत्वम्। ११. अस्माभिर्जैनैः।

तेषां तैः सर्वदाऽवस्थानाभ्युपगमात्[1]। अथ सावयवत्वेन[2] तेषामपि[3] सादित्वं[4] प्रसाध्यते, तदप्यशिक्षित[5]लक्षितम् [6]अवयवेषु वृत्तेरव[7]यवैरारभ्यत्वेन च सावयवत्वानुपपत्तेः। [8]प्रथमपक्षे [9]सावयवसामान्येनानेकान्तात्[10]। द्वितीयपक्षे साध्याविशिष्टत्वात्[11]।

वन-खण्डादिको पहले नहीं होकर होते हुए नहीं मानते हैं; किन्तु इनका हम सर्वदा ही अवस्थान मानते हैं। यदि कहें कि 'मही-महीधरादिक अनित्य हैं, क्योंकि वे अवयव-सहित हैं' इस प्रकार सावयवत्व हेतुसे उन मही-महीधरादिकके सादिपना सिद्ध करते हैं, तो आपका यह कहना भी अशिक्षित पुरुषके कथनके समान प्रतीत होता है; क्योंकि यहांपर दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—अवयवोंमें अवयवी रहता है, इसलिए वह सावयव है, अथवा अवयवोंसे वह आरम्भ किया जाता है, इसलिए उसे सावयव कहते हैं। सो दोनों ही प्रकारोंसे सावयवता सिद्ध नहीं होती है। इनमेंसे प्रथम पक्षके माननेपर तो सावयव सामान्यसे अनेकान्तदोष आता है।

भावार्थ—यद्यपि यौगमतानुसार सामान्य निरवयव, अमूर्त और नित्य है, तथापि व्यक्तिरूप अवयवोंमें रहनेसे उसे यहाँ सावयव कहा गया है। यतः सामान्यके सावयव होते हुए भी उसे सादि नहीं माना गया है, अतः अवयवोंमें रहनेसे सादित्वका कथन करना व्यभिचरित हो जाता है।

यदि द्वितीयपक्ष माना जाय कि अवयवी अवयवोंसे आरम्भ किया जाता है, तो सावयव हेतुके साध्यसे कोई विशेषता नहीं रहती है, अतः वह साध्यसम हो जाता है, क्योंकि कार्यत्व और अवयवोंसे आरभ्यत्व इन दोनोंका अर्थ समान ही है।

---

१. कालः सर्वज्ञनाथश्च जीवो लोकस्तथाऽऽगमः। अनादिनिधना ह्येते द्रव्यरूपेण संस्थिताः ॥१॥ २. मही-महीधरादयोऽनित्याः सावयवत्वात्। ३. मही-महीधरादीनाम्। ४. ननु सर्वदाऽनवस्थानरूपतया सादित्वं न साध्यते, कादाचित्कत्वादपि न साध्यते; किन्तु सावयवत्वेन साध्यते। ५. न समीचीनमित्यर्थः। ६. अवयविनः। ७. अवयवेषु वृत्तित्वं सावयवत्वं तैरारभ्यत्वं वा। ८. स्पर्शवत्कार्यं सावयवमित्यभिधानात् सामान्यस्य निर्गुणत्व-नित्यत्वाभ्यां कार्यरूपस्पर्शवत्कार्यत्वयोरभावात्सामान्यस्य न सावयवत्वम्, यदवयवत्तृत्ति तत्सादीति वक्तुमशक्यत्वात्। ९. अवयवसामान्यं अवयवेषु वर्तते, परं कार्यं न भवति; कार्यत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गात्। अथवा अवयवसामान्यं सर्वेषु अवयवेषु वर्तमानमपि न सावयवम्; किन्तु निरवयवमेव, ततोऽकार्यम्। येषामवयवेषु वृत्तिस्तेषां सादित्वमित्युच्यते। १०. महीमहीधरादयः सादयोऽवयवेषु वृत्तेरित्युच्यमाने सामान्येन व्यभिचारः स्यात्; सामान्यं अवयवेषु वर्तते, परन्तु तत्र सादित्वं नास्ति। ११. अवयवैरारभ्यत्व-कार्यत्वयोः समानार्थत्वात्साध्यसमो हेतुः।

अथ सन्निवेश एव सावयवत्वम्, तच्च घटादिवत् पृथिव्यादावुपलभ्यत इत्यभूत्वाभावित्वमभिधीयते। तदप्यपेशलम्; सन्निवेशस्यापि विचारासहत्वात्। स हि अवयवसम्बन्धो[1] भवेद् रचनाविशेषो वा? यद्यवयवसम्बन्धस्तदा गगनादिनाऽनेकान्तः; सकलमूर्त्तिमद्[2]द्रव्यसंयोगनिबन्धनप्रदेशनानात्वस्य सद्भावात्। अथोपचरिता एव तत्र[3] प्रदेशा इति चेत्तर्हि सकलमूर्त्तिमद् द्रव्य[4]सम्बन्धस्याप्युपचरितत्वात् [5]सर्वगतत्वमप्युपचरितं स्यात्; श्रोत्रस्यार्थक्रियाकारित्वं[6] च न स्यादुपचरितप्रदेशरूपत्वात्। [7]धर्मादिना संस्कारात्ततः[8] [9]सेत्युक्तम्। उपचरितस्यासद्रूपस्य [10]तेनोपकारायोगात्, खरविषाणस्येव। [11]ततो न

यदि कहें कि यह सन्निवेश अर्थात् आकाररूप जो रचना विशेष है, वही सावयवपना है, और वह घटादिके समान पृथ्वी आदिकमें भी पाया जाता है, इस प्रकारसे हम अभूत्वाभावित्वरूप कार्यत्वको कहते हैं, सो यह कथन भी सुन्दर नहीं है क्योंकि सन्निवेशके भी विचारका असहपना है अर्थात् विचार करनेपर वह कोई वस्तु नहीं ठहरता। हम पूछते हैं कि अवयवोंके साथ सम्बन्ध होनेका नाम सन्निवेश है, अथवा रचनाविशेषका नाम सन्निवेश है? यदि अवयव-सम्बन्धका नाम सन्निवेश है, तो आकाश आदिसे अनेकान्तदोष आता है; क्योंकि समस्त मूर्तिमान द्रव्योंके संयोगका कारण प्रदेशोंका नानात्व आकाशादिमें पाया जाता है। यदि कहें कि आकाशादिमें तो प्रदेश उपचरित हैं, वास्तविक नहीं; तब तो समस्त मूर्तिक द्रव्योंका सम्बन्ध भी उपचरित हो जानेसे आकाशके भी सर्वव्यापकता उपचरित हो जायगी; और तब श्रोत्रके अर्थक्रियाकारिता भी न रहेगी अर्थात् कानसे शब्द नहीं सुना जा सकेगा; क्योंकि आकाशके प्रदेश उपचरित हैं।

यदि कहा जाय कि धर्म आदिके संस्कार द्वारा श्रोत्रसे वह अर्थक्रिया बन जायगी, सो उपचरित तो असद्-रूप होता है, उसका धर्मादिकसे कुछ भी उपकार या संस्कार नहीं किया जा सकता। जैसे गर्दभके सींगका किसी भी पदार्थ से कुछ भी उपकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए अवयवोंके

१. अवयवैः सह सम्बन्धो यः सोऽवयवसम्बन्धः। २. इयत्तावद्द्रव्यपरिणामयोगित्वं मूर्त्तिमत्त्वम्। सकलमूर्त्तिमद् द्रव्यसंयोग एव निबन्धनं कारणं येषां प्रदेशानां तेषां नानात्वं तस्य सद्भावात्। ३. आकाशादौ। ४. आकाशस्य मूर्त्तिमद् द्रव्येण सह संयोग, एकदेशेन सर्वात्मना वा। एकदेशेन चेत्सावयवत्वं सर्वात्मना चेदव्यापकत्वम्। ५. व्यापकत्वम्। ६. शब्दग्राहकत्वम्। ७. पुण्यौषधादिना। आदिशब्देन सुखदुःखानुभवप्रापकधर्माधर्मविशिष्टस्यैव नभोदेशस्य श्रोत्रत्वाभ्युपगमात्, अदृष्टबलादर्थक्रियाकारित्वात्। ८. श्रोत्रात्। ९. अर्थक्रिया। १०. धर्मादिना। ११. अवयवसम्बन्धात्।

किञ्चिदेतत्[1]। अथ रचनाविशेषस्तदा[2] [3]परम्प्रति भागासिद्धत्वं [4]तदवस्थमेवेति नाभूत्वाभावित्वं विचारं सहते।

[5]नाप्यक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्; तद्धि [6]कृतसमयस्याकृतसमयस्य वा भवेत्? कृतसमयस्य चेद् गगनादेरपि बुद्धिमद्धेतुकत्वं स्यात्; [7]तत्रापि [8]खननोत्सेचनात् कृतमिति गृहीतसङ्केतस्य [9]कृतबुद्धिसम्भवात्। सा[10] मिथ्येति चेद्भवदीयापि[11] किं न स्यात्;

सम्बन्धरूप यह सन्निवेश कुछ भी वस्तु नहीं सिद्ध होता है। यदि रचना विशेषरूप द्वितीय पक्ष अङ्गीकार करें, तो जैनोंके प्रति भागासिद्धता तदवस्थ ही रहती है; क्योंकि जैन लोग मही-महीधर-आदिकको रचना-विशेषसे विशिष्ट नहीं मानते हैं। इस प्रकार अभूत्वाभावित्वरूप कार्यत्व विचार करने पर ठहरता नहीं है।

यदि कार्यत्वका अर्थ तीसरे विकल्परूप अक्रियादर्शीके कृतबुद्ध्युत्पादकत्व लेते हैं, तो यह भी पृथ्वी आदिके बुद्धिमद्धेतुकता सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि हम पूछते हैं कि यह कृत बुद्धि जिस पुरुषने सङ्केत ग्रहण कर रखा है, उसके उत्पन्न होगी, अथवा जिसने सङ्केत नहीं ग्रहण किया है, उसके होगी? यदि सङ्केत ग्रहण करनेवालेके मानेंगे, तो आकाशादिके भी बुद्धिमान्-द्वारा किये जानेका प्रसङ्ग प्राप्त होगा; क्योंकि आकाशमें भी मिट्टीके खोदने और निकालनेसे 'यह हमने गड्ढा बनाया' इस प्रकारके सङ्केतको ग्रहण करनेवालेके कृतबुद्धिका होना सम्भव है।

भावार्थ—किसी मनुष्यने किसी स्थानपर पृथ्वीको खोदकर और मिट्टी बाहिर निकाल कर एक बड़ा गड्ढा बनाकर कहा कि देखो मैंने यह कितना बड़ा गड्ढरूप आकाशका निर्माण किया है, तो इस प्रकार आकाशमें भी कृत-बुद्धि हो जाती है। तब क्या आप आकाशको भी किसी ईश्वरादिकके द्वारा बनाया हुआ मानेंगे? अर्थात् नहीं मानेंगे। अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है।

यदि कहें कि गगनादिमें कृतबुद्धिका उत्पन्न होना तो मिथ्या है, तो

---

१. अवयव–सम्बन्धलक्षणं सन्निवेशविशिष्टत्वम्। २. महीमहीधरादयः सादयः सावयवत्वाद् घटवदित्यत्र सुखादि रचनाविशेषो नास्ति, ततो भागासिद्धत्वमिति। ३. जैनम्प्रति। न हि महीमहीधराकूपारारामादयो रचनाविशेषविशिष्टाः अभ्युपगम्यन्ते परैः। ४. भागासिद्धत्वं पूर्ववत्तदवस्थमेव। ५. न क्रियां पश्यतीत्यक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणं कार्यत्वमपि क्षित्यादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वं साध्यं साधयितुं नालमित्यर्थः। ६. गृहीतसङ्केतस्य, कारणमिदं कार्यमिदमिति गृहीतसङ्केतपुरुषस्य। ७. तत्कथमिति चेत्। ८. मृत्तिकादिनिष्कासनं खननम्। ९. गर्तोऽयमिति। १०. गगनादौ या कृतबुद्धिः। ११. तन्वादौ या कृतबुद्धिः सापि।

बाधासद्भावस्य[1] प्रतिप्रमाणविरोधस्य चान्यत्रापि[2] समानत्वात्[3], प्रत्यक्षेणोभयत्रापि कर्तुरग्रहणात्। क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं न भवति; अस्मदाद्यनव[4]ग्राह्यपरिमाणा[5]धारत्वाद् गगनादिवदिति प्रमाणस्य[6] साधारणत्वात्[7]। [8]तत्र कृतसमयस्य कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्। नाप्यकृतसमयस्य[9]; असिद्धत्वादवि[10]प्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च[11]।

हम कहते हैं कि आपके भी जो तनु-करण-भुवनादिकमें कृतबुद्धि उत्पन्न हो रही है, वह भी क्यों न मिथ्या मानी जाय? क्योंकि बाधाका सद्भाव और प्रति प्रमाणका विरोध तो तनु-करणादिकमें भी समान है।

भावार्थ—जगत् को ईश्वर-कर्तृक माननेवाले यदि कहें कि गगनादिमें जो कृतबुद्धि उत्पन्न होती है, वह मिथ्या है, क्योंकि वहाँ कृतबुद्धिके माननेमें बाधक प्रमाणका सद्भाव देखा जाता है। हमारे आगममें उसे समवायके समान सत्, अकारणवान् और नित्य माना है। तो आचार्य कहते हैं कि तनु-करण-भुवनादिकके बुद्धिमन्निमित्तक माननेमें भी अनुमान-प्रमाणसे बाधाका सद्भाव देखा जाता है। इस प्रकार दोनोंमें आक्षेप और समाधान समान हैं।

तथा प्रत्यक्षसे कर्त्ताका अग्रहण तो दोनोंमें ही समान है। जैसे प्रत्यक्षसे आकाशका कर्त्ता नहीं दिखाई देता, वैसे ही तनु-करण-भुवनादिका भी कर्त्ता नहीं दिखाई देता है। तथा पृथ्वी आदिक बुद्धिमद्धेतुक नहीं हैं; क्योंकि हमारे जैसे लोगोंके द्वारा उसका परिमाण और आधार अग्राह्य (अपरिच्छेद्य) है; जैसे कि आकाश आदिका। इस प्रकारका अनुमान प्रमाण आकाश और पृथ्वी आदिकमें साधारण अर्थात् समान बलवाला पाया जाता है। इसलिए जिसने सङ्केत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुषके कृतबुद्धिका उत्पादकपना नहीं बनता है। तथा जिसने सङ्केत ग्रहण नहीं किया है, ऐसे भी पुरुषके

---

१. नित्यमाकाशं सदकारणत्वात्समवायवदिति। २. तन्वादौ। ३. त्वमेवं कथयिष्यसि यद् गगनादौ कृतबुद्ध्युत्पादकत्वस्य प्रतिबाधकं प्रमाणमस्ति; तर्ह्यन्यत्र तन्वादावपि बाधकप्रमाणमस्त्येव। ४. अपरिच्छेद्य। ५. परिमाणाधारत्वादित्युक्ते घटगतपरिमाणादौ व्यभिचारस्तस्मादस्मदाद्यनवग्राह्येतिपदोपादानं कृतम्। ६. भूम्याकाशयोः। ७. समबलत्वात्। ८. तत्तस्मात्। ९. अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वादिति हेतोरसिद्धत्वादित्यर्थः। अग्नेरनुष्णत्वं यथा। १०. अयं घटो न पट इति विप्रतिपत्तिरस्ति, परन्त्वगृहीतसङ्केतस्य तथा नास्ति। ११. निःसन्देहप्रसङ्गात्। यदि कृतसङ्केतस्य कृतबुद्धिसम्भवस्तथाऽकृतसङ्केतस्यापि यदि कृतबुद्धिसम्भवश्चेत्तदा माऽस्तु विप्रतिपत्तिः। अस्ति च विप्रतिपत्तिः। ततोऽविप्रतिपत्तिप्रसङ्गो दूषणमिति भावः।

कारणव्यापारानुविधायित्वं च कारणमात्रापेक्षया[1] यदीष्यते तदा विरुद्धं[2] साधनम्। कारणविशेषापेक्षया चेदितरेतराश्रयत्वम्—सिद्धे हि कारणविशेषे बुद्धिमति तदपेक्षया[3] कारणव्यापारानुविधायित्वं कार्यत्वम्; 'ततस्तद्विशेषसिद्धिरिति'[4]।

'सन्निवेशविशिष्टत्वमचेतनोपादानत्वं' चोक्तदोषदुष्टत्वान्न पृथक् चिन्त्यते; स्वरूपभागासिद्धत्वादेस्तत्रापि सुलभत्वात्।

कृतबुद्ध्युत्पादकत्व नहीं बनता है; क्योंकि विना सङ्केत किये कृतबुद्धिका उत्पन्न होना असिद्ध है। यदि फिर भी कृतबुद्धि सम्भव मानी जाय, तो सभीके अविप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग आता है अर्थात् फिर किसीको भी विवाद नहीं होना चाहिए।

यदि कार्यत्वका अर्थ चौथे विकल्परूप कारणव्यापारानुविधायित्व मानते हैं अर्थात् जैसा कारणका व्यापार होता है, तदनुसार ही कार्य होता है, यह कार्यत्वका अर्थ किया जाय, तो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—कारणव्यापारानुविधायित्वसे आपका अभिप्राय कारणमात्र-व्यापारानुविधायित्वसे है, अथवा कारणविशेष व्यापारानुविधायित्वसे है? यदि कारणमात्रकी अपेक्षा कहते हैं, तो कार्यत्व हेतु विरुद्ध है; क्योंकि वह विपक्षभूत अबुद्धिमन्निमित्तक कार्योंमें भी पाया जाता है और आप लोगोंने ईश्वर नामके कारण-विशेषको माना है उसकी कारणसामान्यके व्यापारका अनुसरण करनेवाले कार्यत्व हेतुसे सिद्धि नहीं होती। यदि कारणविशेषकी अपेक्षा व्यापारानुविधायित्व कहें, तो इतरेतराश्रय दोष आता है—जब बुद्धिमान् कारण-विशेष सिद्ध हो जाय, तब उसकी अपेक्षासे कारणव्यापारानुविधायित्वरूप कार्यत्व हेतु सिद्ध हो, और जब कारणव्यापारानुविधायित्व सिद्ध हो जाय, तब उसकी अपेक्षासे कारणविशेषबुद्धिमद्धेतुकत्वकी सिद्धि हो। इसलिए कारणव्यापारानुविधायित्वरूप कार्यत्व भी सिद्ध नहीं होता।

सन्निवेशविशिष्टत्व और अचेतनोपादानत्व ये दोनों हेतु भी उपर्युक्त

---

१. कारणमात्रव्यापारानुविधायित्वं कारणविशेषव्यापारानुविधायित्वं वा। २. विपक्षी भूतेऽबुद्धिमद्धेतुके वस्तुनि वर्तमानत्वात्। ईश्वराख्यकारणविशेषस्येष्टस्यासिद्धेर्विरुद्धत्वम्। ३. कारणविशेषापेक्षया। ४. कारणव्यापारानुविधायित्वतः। ५. कारणविशेषबुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धिः। ६. सुखादिना भागासिद्धत्वं यतः सुखादौ रचनाविशेषत्वं नास्ति, कार्यत्वमस्ति। ७. बुद्धिमद्धेतुकत्वमपि 'अङ्कुरादिकं सकर्तृकं, अचेतनोपादानत्वात्' इत्यत्र चेतनोपादाने ज्ञानकार्येऽप्रवर्तमानत्वादचेतनोपादानत्वस्य हेतोर्भागासिद्धत्वम्। कुत्रचिज्ज्ञानलक्षणे कार्ये सचेतनोपादानत्वाद् भागासिद्धत्वम्।

'विरुद्धाश्चामी'[1] हेतवो दृष्टान्तानुग्रहेण[2] सशरीरासर्वज्ञपूर्वकत्वसाधनात्। 'न धूमा'-

---

दोषोंसे दुष्ट हैं अतः उनपर पृथक् विचार नहीं करते हैं; क्योंकि उनमें भी भागासिद्धत्व आदि दोष सुलभ हैं अर्थात् सरलतासे पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—पृथ्वी, पर्वत, तरु, तनु आदिकको बुद्धिमन्निमित्तक सिद्ध करनेके लिए जो तीन हेतु दिये थे, उनमेंसे कार्यत्व हेतुका विस्तार-पूर्वक विचार कर आचार्यने उसे अपने साध्यकी सिद्धि करनेके लिए आयोग्य सिद्ध कर दिया और शेष दोनों हेतुओंपर पृथक् विचार न करके इतना मात्र कह दिया कि इनमें भी प्रायः वे ही दोष आते हैं, जो कि कार्यत्व हेतुके खण्डनमें दिये गये हैं, फिर भी उनमें भागासिद्धत्व का जो सङ्केत किया है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि सन्निवेश (रचना-आकार आदि) की विशेषता देखी जानेसे पृथ्वी पर्वतादिके बुद्धिमद्धेतुकता मानी जाय, तो यह हेतु भागासिद्ध है; क्योंकि सुखादिक कार्य तो हैं; पर उनमें रचनाविशेष नहीं पाई जाती है। इसी प्रकार ज्ञान कार्य तो है, पर उसमें अचेतनोपादानता नहीं पाई जाती है, अतः वह भी भागासिद्ध है।

तथा ये कार्यत्व आदि तीनों हेतु विरुद्ध भी हैं, क्योंकि पूर्वमें दिये गये घटादि दृष्टान्तके बलसे आपने अशरीरी और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वरको सिद्ध किया है; किन्तु दृष्टान्त जो घट उसका कर्त्ता कुम्भकार तो सशरीरी और असर्वज्ञ है, अतः घट दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे सशरीर और असर्वज्ञके निमित्तसे साध्य

---

१. तन्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वाद् घटवदित्यत्र यथा घटो बुद्धिमत्कुम्भकारेण कृतः सोऽपि सशरीरी, असर्वज्ञश्च। तथापि सर्वं कार्यं तन्नियतकारणम्। तथा दृष्टान्त-सामर्थ्यात्तन्वादिकार्यमपि सशरीरासर्वज्ञबुद्धिमन्निमित्तं स्यादितीष्ट विरुद्धसाधनाद्विरुद्ध-साधनमिति। तथा विद्युदादिना व्यभिचारः। २. कार्यत्वसन्निवेशविशिष्टत्वाचेतनो-पादानत्वरूपास्त्रयो हेतवः। ३. दृष्टान्तबलादस्य सशरीरासर्वज्ञत्वं साधितं तर्ह्यनुमानं मास्तु। ४. दृष्टान्तसामर्थ्याद्यदीश्वरस्य सशरीरासर्वज्ञत्वं साध्यते तथा सति सर्वानुमानो-च्छेदः स्यात्। तथा हि—साग्निरयं पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदित्यत्रापि पर्वतादौ महानस-परिदृष्टस्यैव खादिर-पलाशाद्यग्नेः सिद्धेरिष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धं साधनमिति नैयायिकशङ्कां परिहरति। ५. अत्र नैयायिकेनाऽऽशङ्क्यते यद्भवतोक्तं तन्न युक्तम्; उत्कर्षसमजाति-रूपासदुत्तरत्वात्। तथा हि—दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्जयतो मतोत्कर्षसमा जातिरिति। प्रकृतेऽप्येवं दृष्टान्तधर्मयोरसर्वज्ञसशरीरत्वयोः साध्यधर्मिणि बुद्धिमति समारोपणादुत्कर्षसमा जातिः स्यादेवेति शङ्कां परिहरति। अथवा कस्याप्यनिष्टधर्मस्य वादिसाधनशक्तितः दृष्टान्तात् पक्ष उत्कर्षः, तदुत्कर्षसम उच्यते। उत्कर्षसमा जातिरिति चेन्नायं दोष इति निरस्यति।

त्पावकानुमानेऽप्ययं[1] दोषः, तत्र[2] तार्ण-पार्णादिविशेषा[3]धाराग्निमात्रव्याप्तधूमस्य[4] दर्शनात्। नैवमत्र[5] सर्वज्ञासर्वज्ञकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः, सर्वज्ञस्य[7] कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धत्वात्[8]।

की सिद्धि करनेपर हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यदि कहें कि यह दोष तो धूमसे अग्निके अनुमानमें भी आयगा, सो नहीं कह सकते, क्योंकि धूमसे पावकके अनुमानमें तार्ण (तृण-सम्बन्धी) पार्ण (पत्तोंसे उत्पन्न हुई) आदि विशेष आधारोंमें रहनेवाली अग्नि मात्रसे व्याप्त धूमका वहां भी दर्शन होता है। उस प्रकारसे यहां सर्वज्ञ और असर्वज्ञरूप जो कर्त्ताका विशेष उसका आधार जो कर्तृत्व सामान्य उसके साथ कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति नहीं है। तथा कर्त्तारूप सर्वज्ञ इस अनुमानसे पहले असिद्ध है।

भावार्थ—ईश्वर को जगत्कर्ता और सर्वज्ञ सिद्ध करनेवाला अनुमान यह है—तनु-करण-भुवनादिक बुद्धिमन्निमित्तक हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। किन्तु यह कार्यत्व हेतु अभी विवाद ग्रस्त ही है, अतः उससे सर्वज्ञको सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ और असर्वज्ञरूप जो कर्ताके विशेष हैं उनका आधार कर्तृत्व सामान्य है उसके साथ कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति नहीं है। पर्वतादिकमें भले ही रसोईघरको अग्निसे भिन्न तृण और पर्णसे उत्पन्न अग्नि हो, पर अग्नि-

१. विरुद्धरूपो दोषः। २. धूमात्पावकानुमाने। महानसे सामान्येन धूमाग्निसम्बन्धं दृष्ट्वा पर्वतेऽपि सामान्याग्निमनुमिनोति, तथा सति मम दोषो न, तत्रैव। ३. महानसे धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतेऽग्निमनुमिनोति, तदा न तत्र तार्णाद्यग्निसद्भावात्तत्रोत्पन्नधूमस्य वैयर्थ्यं स्यात्, महानसधूमनिदर्शनस्य सद्भावात्। ४. पर्वतोऽयमग्निमान्। ५. क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वादित्यनुमाने। ६. यथाऽस्माकं जैनानां धूमात्पावकानुमाने तार्णादीनां विशेषाग्नीनामग्निमात्राधारग्रहणमस्ति, न तथा तव मते सर्वज्ञासर्वज्ञयोर्विशेषभूतयोस्तदाधारभूतस्य सामान्यपुरुषस्य ग्रहणमस्ति येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः स्यात्। यतस्तव मते सर्वज्ञ एव बुद्धिमान्, न तु सामान्यः पुरुषः। ७. अनादिसर्वज्ञः, तस्य साधकं कार्यत्वं तस्मात्सर्वज्ञस्य प्रागसिद्धिः धर्मिणि विप्रतिपत्तिर्नास्ति, धर्मे विप्रतिपत्तिः। ८. ईश्वरस्य धर्मिणोऽसिद्धत्वात्, धर्मी प्रसिद्ध इति सर्वमते। अत्र धर्मी अप्रसिद्धो जातः, तस्माद्धेतोरसिद्धत्वं बुद्धिमतो भावे बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वं साधयति; अतोऽसिद्धत्वम्। ९. भवतां मते हि सर्वज्ञसाधकं तन्वादयो बुद्धिमन्निमित्तकाः कार्यत्वादिदमेवानुमानं तच्च साम्प्रतं विवादापन्नमेवातो न तेन सर्वज्ञसिद्धिरिति सर्वज्ञासर्वज्ञविशेषाधिकरणतत्सामान्येन न कार्यत्वस्य हेतोर्व्याप्तिरस्ति। वह्निमान् धूमादित्यत्र तु तार्ण-पार्णादिविशेषाधारवन्हिसामान्येन धूमस्य व्याप्तिरस्त्येवेति नात्र दोषः।

[1]व्यभिचारिणश्चामी हेतवो बुद्धिमत्कारणमन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भाव-सम्भवात्। सुप्ताद्यवस्थायामबुद्धिपूर्वकस्यापि कार्यस्य[2] दर्शनात्।

तदवश्यं [3]तत्रापि भर्गाख्यं[4] कारणमित्यतिमुग्धविलसितम्; [5]तद्व्यापारस्याप्य-सम्भवादशरीरत्वात्। ज्ञानमात्रेण[6] कार्यकारित्वाघटनात्, इच्छा[7]-प्रयत्नयोः शरीराभावेऽसम्भवात्। तदसम्भवश्च [8]पुरातनैर्विस्तरेणाभिहित आप्तपरीक्षादौ; अतः पुनरत्र नोच्यते। यच्च महेश्वरस्य क्लेशादिभिरपरामृष्टत्वं निरतिशयत्वमैश्वर्याद्युपेतत्वं तत्सर्वमपि गगनाब्ज-सौरभव्यावर्णनमिव [9]निर्विषयत्वादुपेक्षा[10]मर्हति। ततो न महेश्वरस्य शेषज्ञत्वम्।

सामान्यके साथ धूमरूप जो कार्य है, उसकी तो व्याप्ति पाई जाती है; इस-लिए उसमें कोई दोष नहीं आता।

तथा ये कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचारी भी हैं; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष-रूप कारणके बिना भी बिजली आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है। तथा सुप्त और उन्मत आदि दशाओंमें भी अबुद्धि पूर्वक कार्य देखा जाता है।

यदि कहें कि यतः सुप्त और उन्मत्त आदि अवस्थाओंमें उस पुरुषकी बुद्धिके विना ही कार्य होते देखे जाते हैं, अतः उनका भर्ग अर्थात् सदाशिव नामक कोई अदृश्य कारण अवश्य ही मानना चाहिए, सो आपका यह कहना भी अतिमुग्ध जनके विलासके समान है; क्योंकि अशरीर होनेसे उस सदा-शिवका व्यापार सुप्त आदि अवस्थाओंमें भी असम्भव है। और ज्ञानमात्रसे कार्य-कारित्व घटित नहीं होता। यदि कहें कि ईश्वरकी इच्छा और प्रयत्नसे कार्यकारीपना बन जायगा, सो शरीरके अभावमें इच्छा और प्रयत्नका होना असम्भव है। इस असम्भवताका निरूपण विद्यानन्दी आदि पुरातन आचार्योंने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें विस्तारसे किया ही है, अतः यहांपर उसे पुनः नहीं कहते हैं।

और आपने विविध आगम-प्रमाणोंके द्वारा महेश्वरके क्लेश, कर्म आदिसे अपरामृष्टत्व, निरतिशयत्व और ऐश्वर्य आदिसे युक्तत्वका निरूपण किया है, सो वह सभी गगनारविन्दके सौरभ (सुगन्ध) के वर्णनके समान निर्विषय होनेसे उपेक्षा। (अनादरणीयता) के योग्य है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि महेश्वरके सर्वज्ञता नहीं है।

१. यथा घट-पटकर्तारौ कुलाल कुविन्दौ, न तथा विद्युत्कर्ता कश्चिदस्त्यतो विद्युति बुद्धिमत्कर्तुरभावात्कार्यत्वसद्भावाद् व्यभिचारित्वम्। २. हस्तपादादिसञ्चालनस्य कार्यस्य। ३. विद्युदादिष्वपि, सुप्ताद्यवस्थायां समुत्पन्नकार्ये च। ४. सदाशिवसंज्ञकम्। ५. सदाशिव। ६. ईश्वरस्य। ७. चिकीर्षाक्रिययोः। ८. विद्यानन्द्यादिभिः। ९. ईश्वरा-भावात्। १०. अनादरणीयताम्।

नापि ब्रह्मणः;[1] तस्यापि [2]सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। न तावत्प्रत्यक्षं तदावेदकम्[3] अविप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्[4]। न चानुमानम्; अविनाभाविलिङ्गाभावात्। [5]ननु प्रत्यक्षं [6]तद्ग्राहकमस्त्येव; अक्षिविस्फालनानन्तरं निर्विकल्पकस्य[7] [8]सन्मात्रविधि[9]-[10]विषयतयोत्पत्तेः। [11]सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तथा चोक्तम्—

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं[12] प्रथमं निर्विकल्पकम्।
[13]बाल[14]मूकादिविज्ञानसदृशं शुद्ध[15]वस्तुजम्[16] ॥११॥

ब्रह्मके भी सर्वज्ञपना नहीं है, क्योंकि उस ब्रह्मके सद्भावको सिद्ध करनेवाले प्रमाणका अभाव है। प्रत्यक्षको तो ब्रह्मके सद्भावका साधक माना नहीं जा सकता; अन्यथा सभीको ब्रह्मका दर्शन होना चाहिए और फिर ब्रह्मके विषयमें किसीको कोई विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं रहना चाहिए। अनुमान भी ब्रह्मके सद्भावका साधक नहीं है; क्योंकि ब्रह्मके साथ अविनाभाव रखनेवाले लिङ्ग (साधन) का अभाव है।

यहाँपर ब्रह्मवादी कहते हैं—प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस ब्रह्मका ग्राहक है ही; क्योंकि आँख खोलनेके अनन्तर ही सर्वविकल्पोंसे रहित सत्तामात्र स्वरूपवाले विधि (ब्रह्म) को विषय करनेसे प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् आँख खोलते ही सभी वस्तुएँ सत् रूपसे प्रतिभासित होती हुई प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रतीतिमें आती है। और यह निर्विकल्परूप सत्ता ही परमब्रह्मका स्वरूप है। जैसा कि कहा है—

प्रथम ही जो सत् सामान्यके अवलोकनरूप आलोचनाज्ञान उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक है, बालक और मूक (गूंगा) आदिके ज्ञान-सदृश है, तथा सन्मात्ररूप शुद्ध वस्तु-जनित है ॥११॥

भावार्थ—सर्व विकल्पोंसे रहित शुद्ध सत्तामात्र ही परमब्रह्मका स्वरूप है।

---

१. सर्वज्ञत्वम्। २. अस्तित्वसाधक-। ३. सर्वेषामपि ब्रह्मदर्शनं स्यात्। ४. यदि प्रत्यक्षं तदावेदकं तर्हि सर्वेषामविप्रतिपत्तिरस्तु; अस्ति च विप्रतिपत्तिः। ५. ब्रह्माद्वैतवादिनः प्राहुः। ६. ब्रह्म-। ७. विकल्पज्ञानशून्यस्य प्रत्यक्षस्य। ८. अस्तित्वं ब्रह्मणः किमित्युक्ते आह। ९. ब्रह्म-। १०. वसः। ११. सा (या) सत्ता महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः। १२. प्रथमावलोकनं विशिष्टव्यवहारानङ्गभूतं ज्ञानमालोचनाज्ञानम्। दर्शन मित्यर्थः। १३. तदहर्जातः। १४. बधिरत्व-वाक्त्वविकलो मूक इति व्यपदिश्यते। १५. सन्मात्र-। १६. परमार्थभूतमीदृग्विधिजन्यं प्रत्यक्षम्।

'न च विधिवत्[1] परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षतः[2] प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः, तस्य[3] [4]निषेधाविषयत्वात् । तथा चोक्तम्—

आहुर्विधातृ[5] प्रत्यक्षं न निषेधृ[6] विपश्चितः[7] ।
नैकत्वे[8] आगम[9]स्तेन[10] प्रत्यक्षेण[11] प्रबाध्यते ॥१२॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथा हि[13]—ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्त[14]ः प्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्;

यदि कहा जाय कि जिस प्रकार विधि (सत्ता) प्रत्यक्षका विषय है, उसी प्रकार परस्पर व्यावृत्ति (निषेध) भी प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है, अतः विधिनिषेधरूप द्वैतसिद्धि हो जायगी, सो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि प्रत्यक्षका विषय निषेध करना नहीं है । जैसा कि कहा है—

"विद्वान् लोग प्रत्यक्षको विधायक (विधिका विषय करनेवाला) कहते हैं, निषेधक (प्रतिषेधको विषय करनेवाला) नहीं । इसलिए एकत्वके विषयमें (समर्थनमें) जो आगम है, वह प्रत्यक्षसे बाधित नहीं होता है" ॥१२॥

भावार्थ—ब्रह्मवादियोंके यहाँ अद्वैतरूप ब्रह्मका प्रतिपादक आगम यह है—यह सर्व प्रतिभासमान चराचर जगत् ब्रह्म ही है, यहाँ नानारूपमें कुछ भी वस्तु नहीं है । लोग उसकी पर्यायोंको ही देखते हैं, पर उसे कोई भी नहीं देख सकता । यह आगम प्रत्यक्षसे बाधित नहीं है, ऐसा उनका कहना है ।

ब्रह्मवादी कहते हैं कि अनुमानसे भी उस ब्रह्मका सद्भाव जाना ही जाता है । वह अनुमान इस प्रकार है—ग्राम और आराम (उद्यान) आदि सभी दिखलाई देनेवाले पदार्थ प्रतिभास (परम ब्रह्म) के अन्तः प्रविष्ट हैं; क्योंकि वे प्रतिभास मान होते हैं । जो प्रतिभासित होता है, वह सर्व प्रतिभासके अन्तः प्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभासका स्वरूप । विवादापन्न ग्राम और

१. यथा विधिः प्रत्यक्षस्य विषयस्तथा व्यावृत्तिरपि विषय इति जैनशङ्कां निराकरोति । २. सत्तावत् । ३. प्रत्यक्षस्य विषया व्यावृत्तिर्नेति भावः । ४. प्रत्यक्षस्य । ५. घटे पटो नास्तीति ।

६. विधिविषयम् । ७. निषेधविषयं न । ८. अभेदे सति भेदप्रतिपक्षे । ९. एकत्वे सन्मात्रे योऽसावागमः 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमस्य बाधकं प्रत्यक्षं नेति । १०. ब्रह्मज्ञानिनाम् । ११. कारणेन । १२. प्रत्यक्षं साधकं न बाधकं परस्पर-व्यावृत्तिविषयतया । १३. उक्तार्थमेव विवृणोति । १४. तमेवमनुभापन्ति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

यथा प्रतिभासस्वरूपम्[1]। प्रतिभासन्ते च विवादापन्ना[2] इति[3]। तदागमानामपि[4] "पुरुष[5] एवेदं यद् भूतं यच्च भाव्यमिति" बहुलमुपलम्भात्।

सर्वं वै[6] खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

[7]आरामं तस्य[8] पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥१३॥ इति [9]श्रुतेश्च।

ननु[10] परमब्रह्मण एव परमार्थसत्त्वे कथं घटादिभेदोऽवभासत इति न चोद्यम्; सर्वस्यापि तद्विवर्त[11]तयाऽवभासनात्। न चाशेषभेदस्य[12] तद्विवर्तत्व[13]मसिद्धम्; प्रमाण-प्रसिद्धत्वात्। तथा हि—विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकम्; एकरूपान्वितत्वात्[14]।

आराम आदिक प्रतिभासित होते हैं। इसलिए वे सर्व परम ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। तथा परम ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले अनेक आगम भी पाये जाते हैं। यथा—जो भूतकालमें हो चुका है, तथा भविष्यकालमें होगा और जो वर्तमानमें विद्यमान है वह सर्व परमब्रह्मस्वरूप एक पुरुष ही है, इत्यादि।

तथा उस परमब्रह्मका समर्थन करनेवाली श्रुति भी पाई जाती है—

यह सभी दृश्यमान पदार्थ निश्चयसे परमब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त इस जगत् में नानारूप कुछ भी वस्तु नहीं है। हम सभी लोग उस ब्रह्मकी आराम अर्थात् पर्यायोंको देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता ॥१३॥

शङ्का—परमब्रह्मको ही वास्तविक सत्त्वरूपसे मान लेनेपर 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूपसे जो भेद प्रतिभासित होता है, वह कैसे बनेगा?

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए; क्योंकि सभी घट-पटादि वस्तुएँ उस परमब्रह्मके विवर्त (पर्याय) रूपसे अवभासित होती हैं।

भावार्थ—एक वस्तुके अवास्तविक अनेक आकारोंके प्रतिभासको विवर्त कहते हैं। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थोंके आकार वास्तविक

---

१. ब्रह्मस्वरूपम्। २. ग्रामारामादयः। ३. अद्वैतवादिनामनुमानानङ्गीकाराद्ब्रह्म-मताश्रयः। ४. तदावेदकश्रुतीनां ब्रह्मवाचकानाम्। ५. परमब्रह्मैव। ६. सर्वं ब्रह्मेति प्रतिपादनार्थं वै ग्रहणम्। ७. विवर्तम्। ८. ब्रह्मणः। ९. श्रवणात्।

१०. जैनाः प्राहुः। जैनोद्भावितमुद्घाटितदूषणमनूद्य दूषयति ब्रह्माद्वैतवादी। ११. पूर्वाकारापरित्यागादुत्तरः प्रतिभाति चेत्। विवर्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रति-बिम्बवत् ॥१॥ एकस्यातात्त्विकानेकप्रतिपत्तिर्विवर्तः। पूर्वरूपापरित्यागेनासत्यनानाकार-प्रतिभासः, पूर्वावस्थाऽपरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्वा विवर्तः। उपादानविषमसत्ताकत्वे सत्यन्यथाभावो वा। १२. नानात्वस्य। १३. अनिर्वाच्याऽविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्तो यस्येति वियदनिलतेजोऽवनयः, यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं नाम तद्रूपापरिमितसुखज्ञानममृतम्। १४. सत्स्वरूपानुवृत्तिरूपत्वात्।

घट-घटी-शरावोदञ्चनादीनां मृद्रूपान्वितानां यथा मृदेककारणपूर्वकत्वम्। सद्रूपेणान्वितं च निखिलं वस्त्विति। तथाऽऽगमोऽप्यस्ति—

ऊर्णनाभ[1] इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः[2] स[3] हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥१४॥ इति

तदेतन्मदिरारसास्वादगद्गदोदितमिव मदनकोद्रवाद्युपयोगजनितव्यामोहमुग्धविलसितमिव निखिलमवभासते; विचारासहत्वात्। तथा हि—यत्प्रत्यक्षसत्ता[4]विषयत्वम-

---

नहीं है—छायामात्र हैं। इसी प्रकार घट-पटादि रूपसे जो कुछ भी भेद प्रतिभासित होता है, वह सब भी वास्तविक नहीं है।

यदि कहा जाय कि घट-पटादि-गत जितने भी भेद हैं, उन सबका परमब्रह्मकी पर्याय होना असिद्ध है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उनके परमब्रह्मकी विवर्तता अनुमानादि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है। उनमेंसे अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—यह विवादापन्न विश्व एक कारण-पूर्वक है, क्योंकि एक सत्-रूपसे अन्वित (संयुक्त) है। जिस प्रकार घट, घटी, सराव (सिकोरा) उदञ्चन (ढक्कन) आदि मृत्तिकारूपसे अन्वित पदार्थोंके एक मृत्तिकारूप कारण-पूर्वकता देखी जाती है। सत्-रूपसे अन्वित ये समस्त वस्तुएँ हैं।

तथा आगम भी परमब्रह्मका आवेदक पाया जाता है—

जैसे ऊर्णनाभ (मकड़ा) अपने मुखसे निकलनेवाले जालारूप तन्तुओंका एक मात्र कारण है, अथवा जैसे चन्द्रकान्तमणि जलका कारण है, अथवा जैसे प्लक्ष (वटवृक्ष) अपनेसे निकलनेवाले प्ररोहों (नीचेको लटकनेवाली जटाओं) का कारण है, उसी प्रकार वह परम ब्रह्म सर्व प्राणियोंका एक मात्र कारण है ॥१४॥

इस प्रकार ब्रह्मवादियोंने अपने पूर्व पक्षका स्थापन किया।

अब आचार्य उसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि आप लोगोंका यह सर्व कथन मदिरा-रसके आस्वादन (पान) करनेसे निकलनेवाले गद्गद वचनोंके समान हैं, अथवा मदन-कोद्रव (मतौनिया कोदों) आदिके खानेसे उत्पन्न व्यामोहसे मत्त हुए मुग्ध पुरुषके वचन-विलासके समान प्रतिभासित होता है, क्योंकि विचार करनेपर उक्त सर्व कथन तर्ककी कसौटीपर खरा नहीं उतरता। आगे उसे स्पष्ट करते हैं—आपने जो कहा कि परम ब्रह्म प्रत्यक्षका

---

१. कौलुकं वाल्हता मांकडी। २. न्यग्रोधो वटवृक्षः। ३. ब्रह्मा। ४. सतो भावः सत्ता, इति वचनात्सत्तं विहाय सत्ता न वर्तते।

भिहितम्, तत्र[1] किं निर्विशेष[2]सत्ताविषयत्वं सविशेष[3]सत्तावबोधकत्वम् वा ? न तावत् पौरस्त्य[4]: पक्षः; सत्तायाः सामान्यरूपत्वात्, विशेषनिरपेक्षतयाऽनवभासनात्, शाबलेयादि-विशेषानवभासने गोत्वस्यानवभासनवत्। 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्'[5] इत्यभिधानात्। [6]सामान्यरूपत्वं च [7]सत्तायाः सत्सदित्यन्वय[8]बुद्धिविषयत्वेन सुप्रसिद्धमेव। अथ [9]पाश्चात्यः पक्षः कक्षीक्रियते[10], तदा[11] न[12] परमपुरुषसिद्धि[13]:; परस्पर व्यावृत्ताकार[14]विशेषाणामध्यक्षतोऽ[15]वभासनात्। यदपि साधनमभ्यधायि प्रतिभासमानत्वं तदपि न साधु; विचारासहत्वात्। तथाहि—प्रतिभासमानत्वं स्वतः परतो वा ? न ताव-[16]त्स्वतोऽसिद्धत्वात्[17]। परतश्चेद्विरुद्धम्[18]। परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना

विषय है, सो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—इससे आपको निर्विशेष सत्ताका विषयपना अभीष्ट है अथवा सविशेष सत्ताका अवबोधकपना अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं है; क्योंकि सत्ताका सामान्य रूप होता है, वह विशेषकी निरपेक्षतासे प्रतिभासित नहीं हो सकती। जैसे कि शाबलेय (चितकबरी) धवली आदि विशेषताओंसे रहित गोत्व-सामान्यका प्रतिभास नहीं होता। विशेष-रहित सामान्य शश-विषाण (खरगोशके सींग) के समान है, ऐसा कहा गया है। सत् सत् इस प्रकारकी अन्वय-बुद्धिका विषय होनेसे सत्ताका सामान्य रूप सुप्रसिद्ध ही है।

यदि पाश्चात्य (द्वितीय) पक्ष अङ्गीकार करते हैं, तब परम पुरुष परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि परस्पर पृथक् पृथक् आकारवाले विशेषों का प्रत्यक्षसे प्रतिभास होता है। और अनुमानसे परम ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए आपने जो प्रतिभासमानत्व साधन (हेतु) कहा है, सो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तर्कणारूप विचारको सहन नहीं करता है। आगे इसीको स्पष्ट करते हुए आचार्य उनसे पूछते हैं कि यह प्रतिभासमानपना स्वतः है, अथवा परतः। स्वतः तो कह नहीं सकते; क्योंकि हेतु असिद्ध है। अर्थात्

१. तस्मिन् वाक्ये। २. सामान्यसत्ताविषयत्वम्। ३. विशेषसहितसत्ताया परिच्छेदकत्वम्। ४. प्रथमः। ५. नास्ति यथा। ६. सत्तायाः सामान्यरूपत्वासिद्ध त्वान्नैव दोष इत्यारेकां निराकुर्वन्नाह। ७. जैनैः सत्तायाः सामान्यमापादितं भवति, तदनूद्य दूषयति। ८. सत सद्भावोऽन्वयः। ९. सविशेषसत्तावबोधकत्वमिति द्वितीयः पक्षः। १०. अङ्गीक्रियते। ११. सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायि दृग्गोचरं नेति तन्मतम्। १२. परमब्रह्मणः। १३. कुतः? द्वैतापत्तेः। १४. अयमस्मा-द्भिन्नः, अयं श्यामः शबलो वेत्यादिपरस्परभिन्नाकारघटपटादिपदार्थानाम्। १५. प्रत्यक्षतो विशेषसत्तावभासनं भवति। १६. घटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वा भावात्। १७. पदार्थानां स्वयमेव प्रतिभासनं चेन्नयनोन्मीलने प्रकाशाभावेऽपि स्वतः प्रतिभासनं भवतु। परन्तु तथा नास्ति। तस्माद्धेतोरसिद्धत्वम्। १८. एकत्व-

नोपपद्यते। 'प्रतिभासनमात्रमपि न सिद्धिमधिवसति; तस्य तद्विशेषानन्तरीयकत्वात्[२]। तद्विशेषाभ्युपगमे[३] च द्वैतप्रसक्तिः[४]।

किञ्च—धर्मि-हेतु-दृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः प्रतिभासन्ते न वेति ? प्रथमपक्षे प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः[५] प्रतिभासबहिर्भूता वा ? यद्याद्यः पक्षस्तदा साध्यान्तः[६]पातित्वान्न तेभ्योऽनुमानम्। [७]तद्बहिर्भावे तैरेव[८] हेतोर्व्यभिचारः। [९]अप्रतिभासमानत्वेऽपि तद्[१०]-व्यवस्थाभावात्ततो नानुमानमिति।

पदार्थोंका यदि स्वतः ही प्रतिभास होना सम्भव होता, तो आँख खोलनेपर प्रकाशके अभावमें भी पदार्थोंका स्वतः प्रतिभास होना चाहिए ? परन्तु होता नहीं है। इसलिए आपका प्रतिभासमानत्व हेतु असिद्ध है। यदि प्रतिभासमानपना परतः मानते हैं, तो आपका हेतु विरुद्ध है; क्योंकि परतः प्रतिभासमानपना परके बिना बन नहीं सकता है और परके सद्भाव माननेपर द्वैतकी सिद्धि होती है। तथा प्रतिभासमात्र भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसका उसके विशेषोंके साथ अविनाभावी सम्बन्ध पाया जाता है। और प्रतिभासमानके विशेषोंके स्वीकार करनेपर द्वैतवादका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

पुनश्च—हम आपसे पूछते हैं कि अनुमानके उपायभूत धर्मी (पक्ष) हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित होते हैं, अथवा नहीं ? प्रतिभासित होते हैं, इस प्रथम पक्षके माननेपर पुनः दो विकल्प उत्पन्न होते हैं कि वे प्रतिभासित होनेवाले धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासके अन्तः प्रविष्ट होकर प्रतिभासित होते हैं, अथवा प्रतिभाससे बहिर्भूत रहकर प्रतिभासित होते हैं ? इनमेंसे यदि आद्य पक्ष मानते हैं, तो उनके साध्यान्तर्गत हो जानेसे फिर उनके द्वारा अनुमान नहीं हो सकता। यदि दूसरापक्ष माना जाय कि वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभाससे बहिर्भूत होकर प्रतिभासित होते हैं, तो उन्हींके द्वारा प्रतिभासमानत्व हेतुके व्यभिचार आता है। यदि कहें कि अनुमानके उपायभूत वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित ही नहीं होते, यह दूसरा पक्ष हम मानते हैं; तो उन धर्मी आदिकी व्यवस्थाका ही अभाव हो जायगा। फिर उनके बिना अनुमान कैसे किया जा सकेगा ?

विरोधिद्वैतप्रसाधकत्वाद्विरुद्धमिति। १. ज्ञानसामान्यमपि। २. विशेषाविनाभावित्वात्। ३. प्रतिभासमानविशेषाभ्युपगमे। ४. द्वैतवादप्रसङ्गः।

५. प्रतिभासन्ते। ६. प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वाद्धेतोः सिद्धसाध्यता समागता। ७. द्वितीयपक्षे। ८. सह। ९. न प्रतिभासन्त इति द्वितीयः पक्षः। १०. तेषां धर्मादीनाम्।

[1]अथानाद्यविद्या[2]विजृम्भितत्वात्[3] [4]सर्वमेतद[illegible]मोविलसितम्; अविद्यायामप्युक्तदोषानुषङ्गात्[5]। सकलविकल्पविक[6]लत्वात्तस्या[7] नैष[8] दोष [illegible]मुग्धभाषितम्; केनापि रूपेण तस्याः प्रतिभासाभावे [9]तत्स्वरूपानवधारणात्[10]। अपरमप्यत्र[11] विस्तरेण **देवागमालङ्कारे**[12] चिन्तितमिति नेह प्रतन्यते[13]।

यदि ब्रह्माद्वैतवादी यह कहें कि अनादिकालसे लगी हुई अविद्याके प्रसारसे यह सब धर्मी, हेतु आदिककी प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं है असम्बद्ध है; सो उनका यह कहना भी महान् अज्ञानान्धकारके विलासके समान है; क्योंकि अविद्याके माननेपर भी उसमें पूर्वोक्त सभी दोषोंका प्रसङ्ग आता है।

भावार्थ—यह अविद्या प्रतिभासित होती है कि नहीं? प्रतिभासित होती है, तो वह विद्या ही हुई। और यदि उससे बहिर्भूत है, तो उसीके द्वारा हेतुमें व्यभिचार आता है और अविद्या तथा विद्या इन दो के सद्भावसे द्वैतवादकी आपत्ति आती है। यदि वह अविद्या प्रतिभासित नहीं होती है, तो यह अविद्या है, इस प्रकारकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इस प्रकारसे वे सभी दोष प्राप्त होते हैं जो कि अनुमानको लक्ष्यमें रखकर प्रतिपादन किये गये हैं।

यदि कहा जाय कि वह अविद्या समस्त विकल्पोंसे रहित है, इसलिए ये उपर्युक्त कोई दोष नहीं प्राप्त होते हैं, तो यह कहना भी अतिमुग्धपुरुषके वचनके समान है; क्योंकि किसी भी रूपसे उस अविद्याका प्रतिभास न होनेपर उसके स्वरूपका ही निश्चय नहीं हो सकेगा। इस विषयका और भी विस्तारसे विवेचन देवागमस्तोत्रके अलङ्कारभूत जो अष्टसहस्री ग्रन्थ है, उसमें किया गया है, इसलिए उसका यहांपर विस्तार नहीं करते हैं।

---

१. ब्रह्माद्वैतवादी भाट्टः प्राह। २. अविद्या स्वाश्रयव्यामोहकरी। ३. विडम्भितत्वाद् व्याप्तत्वात्। ४. पूर्वोक्तं धर्मि-हेतु-दृष्टान्तादिकं सर्वम्। ५. अविद्या प्रतिभासते न वा? प्रतिभासते चेत् प्रतिभासान्तःप्रविष्टा तद्बहिर्भूता वा। प्रतिभासान्तःप्रविष्टा चेद् विद्यैव स्यात्। तद्बहिर्भूता चेत्तयैव हेतोर्व्यभिचारो द्वैतापत्तिश्च। न प्रतिभासते चेत्तदाऽविद्येति व्यवस्था न स्यात्। ६. रहितत्वात्। ७. अविद्यायाः। ८. उक्तलक्षणः। ९. अविद्या-। १०. असती अविद्या कथं विकल्पमुत्पादयति? यथा काचकामलादिदोषसद्भावे मिथ्याज्ञानसद्भावस्तदभावे च यदभावस्तथा विकल्पाभावेऽविद्यास्वरूपाभावः। ११. अविद्यमानप्रयोगे। १२. अष्टसहस्र्याम्। १३. न विस्तीर्यते।

यच्च परमब्रह्मविवर्तत्वमखिलभेदानामित्युक्तम्; तत्राप्येकरूपेणान्वितत्वं[1] हेतुरन्वेत्रन्वीय[2]मानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं[3] प्रतिबध्नातीति स्वेष्टविघातकारित्वाद्विरुद्धः। [4]अन्वितत्वमेकहेतुके[5] [6]घटादौ, अनेकहेतुके स्तम्भ-कुम्भाम्भोरुहादावप्युपलभ्यत इत्यनैकान्तिकश्च[7]।

किमर्थं चेदं[8] [9]कार्यमसौ[10] विदधाति? अन्येन प्रयुक्तत्वात्, कृपावशात्, क्रीडावशात्, स्वभावाद्वा? अन्येन[11] प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यहानिर्द्वैतप्रसङ्गश्च। कृपावशादिति

जो आपने प्रतिभास होनेवाले समस्त भेदरूप पदार्थोंको परमब्रह्मका विवर्त्त होना कहा है; सो वहाँपर भी 'एक रूपसे अन्वित होना' यह हेतु है, अतः अन्वेता (अन्वय सम्बन्ध करनेवाला) पुरुष और अन्वीयमान (जिनका अन्वय किया जाय ऐसे) पदार्थ इन दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध होनेसे वह पुरुषाद्वैतका प्रतिषेध करता है, इस प्रकार आपका इष्ट जो अद्वैत ब्रह्म उसका विघातकारी होनेसे 'एक रूपसे अन्वितत्व' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है, तथा यह अन्वितपना मिट्टीरूप एक हेतुसे निर्मित घट, घटी, सराव, उदञ्चनादिकमें, तथा अनेक हेतुओंसे निर्मित स्तम्भ, कुम्भ और अम्भोरुह (कमल) आदिमें भी पाया जाता है, अतः वह अनैकान्तिक हेत्वाभास भी है।

पुनश्च—हम आपसे पूछते हैं कि वह सदाशिव या ब्रह्मा विश्वरूप इस जगत्के कार्यको किस लिए बनाता है? क्या किसी अन्य पुरुषके द्वारा प्रेरित होनेसे, अथवा दयाके वशसे, अथवा क्रीडा (कौतुक)के वशसे, अथवा स्वभावसे वह जगत्के कार्यों को करता है? यदि प्रथमपक्ष मानें कि अन्यसे प्रेरित होकर कार्य करता है, तब तो उसकी स्वतन्त्रताकी हानि प्रसक्त होती है, और द्वैतका भी प्रसङ्ग आता है; क्योंकि एक प्रेरणा करनेवाला और दूसरा ब्रह्मा ये दो स्वयं ही आपने स्वीकार कर लिए। यदि दूसरा पक्ष मानें कि वह

१. अन्वेतृ सामान्यमन्वीयमानो विशेषः। विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकमेकरूपेणान्वितत्वात्सत्सदिति। २. अन्वेता पुमान्, अन्वीयमानः पदार्थः। तयोर्द्वयमिति द्वैतापत्तिः। अन्वेतृ मृदादि, अन्वीयमानं घटादि; व्याप्यं व्यापकं वा। ३. प्रतिषेधयति। ४. एकरूपेणान्वितत्वादिति साधनं विचार्यते। तत्रानुमानदूषणमनैकान्तिकत्वमापतति। तदेव स्पष्टयति। ५. मृदेककारणके। ६. घटघटीशरावोदञ्चनादौ। ७. विपक्षेऽनेकहेतुके स्तम्भ-कुम्भादावपि 'एकरूपान्वितत्वात्' इति हेतोः प्रवृत्तेरनेकान्तः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनेकान्तिक इति वचनात्। ८. विश्वरूपम्। ९. जगत्कार्यम्। १०. ब्रह्मा। ११. प्रथमपक्षे।

नोत्तरम्[1]; कृपायां दुःखिनामकरणप्रसङ्गात् परोपकारकरणनिष्ठत्वात्[2] तस्याः[3]। सृष्टेः प्रागनुकम्पा[4]विषयप्राणिनामभावाच्च न सा[4] युज्यते[5]; कृपापरस्य प्रलयविधानायोगाच्च। [6]अदृष्टवशात्तद्विधाने[7] स्वातन्त्र्यहानिः; कृपापरस्य पीडाकारणादृष्टव्यपेक्षायोगाच्च।

क्रीडावशात्प्रवृत्तौ न प्रभुत्वम्; [8]क्रीडोपायव्यपेक्षणाद् बालकवत्। क्रीडोपायस्य[9] [10]तत्साध्यस्य च युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गश्च। सति समर्थे [11]कारणे [12]कार्यस्यावश्यम्भावात्; अन्यथा[13] क्रमेणापि सा[14] ततो[15] न स्यात्[16]। अथ स्वभावादसौ[17] जगन्निर्मिनोति; यथाऽग्निर्दहति, वायुर्वातीति मतम्; तदपि बालभाषितमेव, [18]पूर्वोक्तदोषानिवृत्तेः[19]।

ब्रह्मा दयाके वशसे जगत् को बनाता है, तो यह कोई उत्तर नहीं है; क्योंकि दयाके रहते हुए उसके द्वारा दुःखी प्राणियोंका निर्माण नहीं होना चाहिए; कारण कि दया तो एकमात्र परोपकार करनेमें ही तत्पर रहती है। दूसरे, सृष्टिसे पूर्व अनुकम्पा (दया) के विषयभूत प्राणियोंका अभाव होनेसे वह सम्भव ही नहीं है। तीसरे कृपामें तत्पर ऐसे कृपालु पुरुषके द्वारा जगत् का प्रलय करना भी सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि वह प्राणियोंके अदृष्ट (पाप) के वश जगत्का प्रलय करता है, अथवा उनके पाप-पुण्यके निमित्तसे सुखी-दुःखी प्राणियोंका निर्माण करता है, तब प्रथम तो उस ब्रह्माके स्वातन्त्र्यकी हानि होती है,। दूसरे, कृपामें तत्पर उस ब्रह्माके पर-पीड़ाके कारणभूत अदृष्टकी अपेक्षा भी नहीं बनती है।

यदि तीसरा पक्ष मानें कि क्रीड़ाके वशसे वह जगत्के निर्माणमें प्रवृत्त होता है, तब उसके प्रभुता नहीं रहती; प्रत्युत क्रीड़ाके उपायों की अपेक्षा रखनेसे वह बालकके समान सिद्ध होता है। तथा क्रीड़ाका उपाय जो जगद्विधान, और उसके द्वारा साध्य जो सुख इन दोनोंके एक साथ उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग भी आता है; क्योंकि ब्रह्मरूप समर्थ कारणके रहते हुए कार्यका होना अवश्यम्भावी है। अन्यथा क्रमसे भी कार्यकी उत्पत्ति

---

१. इत्युत्तरं नास्ति। २. तत्परत्वात्। ३. कृपायाः। ४ अनुकम्पा। ५. न सम्भवतीत्यर्थः। ६. पापवशात्। ७. प्रलयविधाने। जगद्विधाने वा। ८. कन्दुकादेः। ९. जगतः। १०. क्रीडासाध्यसुखस्य। ११. ब्रह्मरूपे। १२. प्रदीपवत्। यथा प्रदीपः कज्जलमोचनं तैलशोषणं वर्त्तिदहनं प्रकाशनञ्च करोति। १३. समर्थकारणाभावे। १४. उत्पत्तिः। १५. ब्रह्मणः कारणात्। १६. यदि युगपदुत्पादनशक्तिर्यस्य नास्ति, तत्कारणं क्रमेणापि नोत्पादयति, शक्तौ सामर्थ्याभावात्। उत्पादयति चेत्तत्रैव शक्तिः समर्थकारणम्। १७. ब्रह्मा। १८. जगतो युगपदुत्पत्त्यादि-। १९. प्रतिभासान्तःप्रविष्टः प्रतिभासस्तेन वा ? तदा स्वस्माद्वोत्पत्तिर्नास्तीत्यादि।

तथाहि[1]—क्रमवर्तिविवर्तजात[2]मखिलमपि युगपदुत्पद्येत[3]; अपेक्षणीयस्य[4] सह-कारिणोऽपि तत्साध्यत्वेन[5] यौगपद्यसम्भवात्। '[6]उदाहरणवैषम्यं च; वन्ह्यादेः कादाचित्कस्व[7]-हेतुजनितस्य '[8]नियतशक्त्यात्मकत्वोपपत्तेरन्यत्र[9] नित्य-व्यापि-समर्थैकस्वभावकारणजन्यत्वेन देशकालप्रतिनियमस्य [10]कार्ये दुरुपपादात्[11]।

उस ब्रह्मरूप कारणसे नहीं होना चाहिए। यदि चौथा पक्ष अङ्गीकार करते हैं कि स्वभावसे वह ब्रह्मा जगत्का निर्माण करता है, जैसे कि अग्नि स्वभावसे जलती है और वायु स्वभावसे बहता है। ऐसा मत आपका हो, तो यह कहना भी बाल-भाषितके समान है, क्योंकि पूर्वमें कहे हुए किसी भी दोष की निवृत्ति नहीं होती है। आगे आचार्य इसे ही स्पष्ट करते हैं—समस्त ही कर्मवर्ती विवर्तोंका समूह युगपत् ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि अपेक्षणीय सहकारी कारण भी तत्साध्य है, अर्थात् ब्रह्माके द्वारा ही करने योग्य है; अतः सर्व विवर्तोंका युगपत् होना सम्भव है।

भावार्थ—जब सर्व कार्योंका मुख्य कारण परमब्रह्म विद्यमान है, तब उनकी एक साथ उत्पत्ति भी हो जाना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रत्येक कार्यका प्रतिनियत सहकारी कारण भिन्न-भिन्न होता है, अतः जब तक उसका संयोग नहीं होगा, तब तक उस-उस कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उन-उन प्रतिनियत सहकारी कारणों का निर्माण भी तो उस परमब्रह्मके ही अधीन है, अतः उनको भी एक साथ ही उत्पन्न कर लेना चाहिए।

और जो आपने 'अग्नि स्वभावसे जलती है' इत्यादि उदाहरण दिये हैं वे भी विषम हैं; क्योंकि अग्नि आदिक कादाचित्क स्वहेतु जनित हैं—जब काष्ठ आदिका संयोग मिल जाय तब अग्नि जलने लगे, जब न मिले तो न जले। तथा उनकी दहनादिकी शक्ति प्रतिनियत है जिस देश और कालमें हों, वहीं तक अपने कार्यको करती हैं अतः मर्यादित शक्तिवाली हैं। किन्तु अन्यत्र अर्थात् परमब्रह्ममें नित्यपना, सर्वव्यापकपना और सर्व कार्यों के करनेमें समर्थ एक स्वभावरूप कारणसे उत्पन्न करनेकी योग्यता सर्वत्र

---

१. पूर्वोक्तदोषं समुद्भावयति। २. समूहम्। ३. उत्पन्नं भूयात्। ४. परब्रह्मणि मुख्यकारणे सति किमर्थं कार्याणां युगपदुत्पत्तिर्नास्ति? यदि तत्र तन्नियतकारणस्य संयोगा-भावान्नोत्पद्यते तर्हि तन्नियतकारणस्य संयोगस्य सहकारिकारणस्यापि ब्रह्मकरणीयत्वेन यौगपद्यसम्भवोऽस्तु। ५. ब्रह्मकरणीयत्वेन। ६. अग्निर्दहतीत्यादि-। ७. काष्ठादि-। ८. मर्यादीभूतदहनशक्तिस्वरूपोपपत्तेः। ९. ब्रह्मणि। १०. सृष्टौ। ११. अघटनात्।

तदेवं ब्रह्मणोऽसिद्धौ वेदानां 'तत्सुप्त-प्रबुद्धावस्थात्वप्रतिपादनं' परमपुरुषाख्यमहाभूतनिःश्वसिताभिधानं च गगनारविन्दमकरन्दव्यावर्णनवदनवधेयार्थविषयत्वादुपेक्षा महति। यच्चागमः 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि' 'ऊर्णनाभ इत्यादि' च; तत्सर्वमुक्त-विधिनाऽद्वैतविरोधीति नावकाशं लभते। न चापौरुषेय आगमोऽस्तीत्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते। तस्मान्न पुरुषोत्तमोऽपि विचारणां प्राञ्चति।

सर्वदा पाई जाती है, अतः देश-कालका प्रतिनियम सृष्टिरूप कार्यमें घटित नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्मकी सिद्धि न होनेपर वेदोंका उसकी सुप्त-प्रबुद्ध अवस्था-का प्रतिपादन करना और परम-पुरुष-संज्ञक उस ब्रह्म-स्वरूप महाभूतके निःश्वासका कथन करना गगनारविन्दके मकरन्दकी सुगन्धके वर्णन करनेके समान अग्राह्य-विषय होनेसे उपेक्षाके योग्य है।

भावार्थ—ईश्वर या परमब्रह्मको जगत्कर्त्ता माननेवालोंकी ऐसी मान्यता है कि परम पुरुषकी सुप्त-अवस्था प्रलय है, प्रबुद्ध-अवस्था सृष्टि है, निःश्वास वेद हैं, आंखोंसे देखना ही पंचभूत हैं, और उसका स्मित (मुस्कराहट) चर-अचर जगत् है। यहां आचार्य कहते हैं कि जब परम ब्रह्म ही सिद्ध नहीं होता, तो उसके अभावमें उसका यह सब स्वरूप-वर्णन आकाश-कमलकी सुगन्धिके वर्णनके समान है, जो कि प्रेक्षा-पूर्वक कार्य करनेवाले विज्ञजनोंके लिए किसी भी प्रकारसे आदरणीय नहीं हो सकता।

और जो अपने उस परमपुरुषकी सिद्धिके लिए 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' 'ऊर्णनाभ इवांशूनाम्' इत्यादि आगम-प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सब उप-युक्त विधिसे अद्वैतके विरोधी हैं, अतः वे अपने मतकी सिद्धि करनेके लिए अवकाशको नहीं पाते हैं। अर्थात् अपना मत सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है और उनका आगमको अपौरुषेय मानना बनता नहीं, यह बात आगे विस्तारसे कही जायगी। इसलिए परम पुरुषरूप वह पुरुषोत्तम भी तर्क की विचारणा पर नहीं ठहरता है।

---

१. परब्रह्म-। २. सुप्तिः प्रलयः, प्रबुद्धावस्था सृष्टिः, एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदो यजुर्वेदश्च। "निःश्वसितं तस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि। स्मितमेतस्य चरमचरमस्य सुप्तं महाप्रलयः" ॥१॥ इति भामती। ३. अग्राह्यार्थविषयत्वाद् ब्रह्मभावात्। ४. माध्यस्थ्यम्। ५. प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावेन। ६. मतस्थापने।

प्रत्यक्षेतरभेदभिन्नममलं मानं द्विधैवोदितम् ।
देवैर्दीप्त[1] गुणैर्विचार्य[2] विधिवत्सङ्ख्याततेः[3] सङ्ग्रहात्[4] ।
मानानामिति[5] तद्दिगप्यभिहितं[6] श्रीरत्ननन्द्याह्वयै[7]—
स्तद्व्याख्यानमदो[8] विशुद्धधिषणै[9][10]र्बोधव्यमव्याहतम्[11] ॥७॥
मुख्य-संव्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षमुपदर्शितम् ।
देवोक्तमुपजीवद्भिः[13] [14]सूरिभिर्ज्ञापितं[15] मया[16] ॥८॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ द्वितीयः समुद्देशः ॥२॥

इस प्रकार मुख्य प्रत्यक्षका वर्णन किया। उसके प्रसंगसे सर्वज्ञकी सिद्धि और जगत्कर्त्ता ईश्वरका परिहार भी किया।

सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे देदीप्यमान श्री अकलङ्कदेवने विधिवत् विचार करके प्रमाणोंकी सर्व संख्याओंका संग्रहकर प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो भेदरूप निर्मल निर्दोष प्रमाणका वर्णन (अपने महान ग्रन्थोंमें) किया है। उसी प्रमाणका दिङ्मात्र संक्षिप्त वर्णन श्री माणिक्यनन्दी आचार्यने अपने परीक्षामुख-नामक ग्रन्थमें किया। उसका यह बाधा-रहित व्याख्यान मैंने (अनन्तवीर्यने) अपनी इस लघुवृत्तिमें किया है। सो विशुद्ध बुद्धिवाले सज्जनोंको निर्दोष रूपसे जानना चाहिए अर्थात् इस व्याख्यामें मेरी कहीं चूक हुई हो, या दोष रह गया हो, तो वे सज्जन पुरुष उसे शोध करके ग्रहण करें ॥ ७ ॥

मुख्य और सांव्यवहारिकके भेदसे प्रत्यक्ष प्रमाणका वर्णन श्री अकलङ्कदेवने किया। उसीको स्वीकार करते हुए श्री माणिक्यनन्दीने भी उसका वर्णन किया और उसीको मैंने (अनन्तवीर्यने) व्याख्यान किया है ॥ ८ ॥

इस श्लोक-द्वारा वृत्तिकार श्री अनन्तवीर्यने अपनी स्वच्छन्दताका परिहार कर यह बतलाया कि मैंने जो कुछ भी कहा है, वह सब आचार्य-परम्पराके अनुरूप ही कहा है।

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका वर्णन करनेवाला
दूसरा समुद्देश समाप्त हुआ।

---

१. अकलङ्कदेवैः। २. दर्शनविशुद्धयादिगुणैः। ३. यथोक्तप्रकारेण। ४. संक्षेपात्संग्रहमाश्रित्येत्यर्थः। ५. हेतोः। ६. तेषां मानानां दिक् तद्दिक्। ७. दिङ्मात्रस्योपदेशः कृत इत्यर्थः। ८. श्रीमाणिक्यनन्दिभिः। ९. मया क्रियमाणम्। १०. एतत्। ११. ज्ञातव्यम्। १२. निर्दोषम्। १३. अभ्युपगच्छद्भिः। १४. माणिक्यनन्दिभिः। १५. ख्यापितं व्याख्यातम्। १६. मया अनन्तवीर्यदेवेन।

तृतीयः समुद्देशः

अथेदानीमुद्दिष्टे[1] प्रत्येक्षेतरभेदेन प्रमाणद्वित्वे प्रथमभेदं व्याख्याय इतरद्[2] व्याचष्टे—

परोक्षमितरत् ॥१॥

उक्तप्रतिपक्षमितरच्छब्दो ब्रूते। ततः प्रत्यक्षादिति लभ्यते, तच्च परोक्षमिति।

तस्य च [3]सामग्री-स्वरूपं[4] निरूपयन्नाह—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं[5] स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तमित्यत्रादिशब्देन [6]परोक्षमपि गृह्यते। तच्च[7] यथावसरं निरूप-

---

अब आचार्य, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणके जो दो भेद पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमेंसे प्रथम भेद प्रत्यक्षका व्याख्यान करके दूसरा भेद जो परोक्ष है उसको कहते हैं—

सूत्रार्थ—जो प्रत्यक्षसे इतर अर्थात् भिन्न है, वह परोक्ष है ॥ १ ॥

इतरशब्द पूर्वमें कहे हुए प्रमाणके प्रतिपक्षको कहता है। अतः उस प्रत्यक्षसे भिन्न अविशदस्वरूपवाला जो ज्ञान है, वह परोक्ष है, ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

अब आचार्य उस परोक्षकी सामग्री और स्वरूपका निरूपण करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष आदि जिसके निमित्त हैं, वह परोक्षप्रमाण है। इसके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ॥ २ ॥

'प्रत्यक्षादिनिमित्तं' इस पदमें प्रयुक्त आदि पदसे परोक्षका भी ग्रहण करना चाहिए। यह प्रत्यक्ष और परोक्षकी निमित्तता आगे यथावसर निरूपण की जायगी। प्रत्यक्ष आदि हैं निमित्त जिसके ऐसा विग्रह है और स्मृति आदि पदोंमें द्वन्द्व समास है। वे स्मृति आदिक हैं भेद जिसके वह परोक्ष-प्रमाण है, ऐसा विग्रह करके सूत्रका अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

---

१. नाममात्रेणार्थानामभिधानमुद्देशः। २. परोक्षप्रमाणम्। ३. उत्पत्तिकारणम्। ४. अविशदस्वरूपम्। ५. स्मृतिः प्रत्यक्षपूर्विका, प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्ष-स्मरणपूर्वकम्, प्रत्यक्ष स्मरण-प्रत्यभिज्ञानपूर्वकस्तर्कः, अनुमानं प्रत्यक्षस्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कपूर्वकम्, आगमः श्रावणाध्यक्षस्मृतिसङ्केतपूर्वकमिति। ६. व्याप्तिस्मरणम्। ७. प्रत्यक्षपरोक्षनिमित्तम्।

विष्यते[1]। प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्येति विग्रहः। स्मृत्यादिषु द्वन्द्वः। ते भेदा यस्य इति विग्रहः।

तत्र स्मृतिं क्रमप्राप्तां दर्शयन्नाह—

विशेषार्थ—अविशद या अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। उसके पाँच भेद सूत्रमें बतलाये हैं और उन्हें प्रत्यक्षादि-निमित्तक कहा है। इसका खुलासा यह है कि पहले अनुभव किये हुए पदार्थके स्मरण करनेको स्मृति कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्मृतिज्ञानके लिए पूर्व अनुभवरूप धारणा-प्रत्यक्ष निमित्त है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानमें स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों निमित्त होते हैं; क्योंकि जिस पदार्थको पहले देखा था, उसीको पुनः देखनेपर 'यह वही है, जिसे मैंने पहले देखा था, ऐसा जो ज्ञान होता है, उसे ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसमें पूर्वस्मरण और वर्तमानमें पुनः दर्शनरूप प्रत्यक्ष ये दोनों निमित्त होते हैं। साध्य-साधनके अविनाभावरूप व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। इसकी उत्पत्तिमें प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये तीनों निमित्त हैं; क्योंकि जिसने अपने रसोईघरमें अग्निसे उत्पन्न हुए धूमको प्रत्यक्ष देखा है, वही व्यक्ति अन्यत्र कहींसे निकलते हुए धूमको देखकर अग्नि का स्मरण करता है और विचारता है कि यह धूम भी रसोईघरके धूमके सदृश है, ऐसा उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है। पुनः वह निश्चय करता है कि जहाँ जहाँ धूम होगा, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होगी। और जहाँ अग्नि नहीं होगी, वहाँ धूमभी नहीं, होगा। इस प्रकार अग्नि और धूमके अविनाभावरूप व्याप्तिके ज्ञानका नाम तर्क है। इसकी उत्पत्तिमें प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये तीनों ही निमित्त हैं। इसके पश्चात् वह किसी पर्वत आदिसे धूमको निकलते हुए देखकर निश्चय करता है कि यह पर्वत अग्नि-वाला है, क्योंकि इससे धूम निकल रहा है। इस प्रकार धूमरूप साधनसे अग्निरूप साध्यके ज्ञानको ही अनुमान कहते हैं। इस अनुमानमें इससे पूर्व होनेवाले प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये चारों ही ज्ञान निमित्त हैं। आप्तपुरुषोंके वचनादिका निमित्त पाकर जो पदार्थका ज्ञान होता है, उसे आगम कहते हैं। इस आगमप्रमाणमें 'इस शब्दसे यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए' इस प्रकारका सङ्केत और उसका स्मरण ये दोनों निमित्त होते हैं। इस प्रकार इन सभी ज्ञानोंके उत्पन्न होने में दूसरे ज्ञान निमित्त होते हैं, अतः उन्हें परोक्ष कहा गया है।

१. कथयिष्यते।

[1]संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

संस्कारस्योद्बोधः प्राकट्यं स निबन्धनं[2] यस्याः सा यथोक्ता। तदित्याकारा तदित्युल्लेखिनी। एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेषः। उदाहरणमाह—

स देवदत्तो यथा ॥४॥

प्रत्यभिज्ञानं प्राप्तकालमाह—

दर्शनस्मरणकारणकं[3] सङ्कलनं[4] प्रत्यभिज्ञानम्।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं [5]तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

अब क्रम-प्राप्त स्मृतिका स्वरूप दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—धारणारूप संस्कारकी प्रकटताके निमित्तसे होनेवाले और 'तत्' (वह) इस प्रकारके आकारवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं ॥३॥

संस्कारका उद्बोध अर्थात् प्रकटपना वह है निबन्धन (कारण) जिसका वह स्मृति कही जाती है। वह 'तत्' इस आकार अर्थात् उल्लेखवाली है। इस प्रकारके स्वरूपवाली स्मृति होती है। यहाँ पर 'भवति' पद शेष है, जिसे ऊपरसे अध्याहार करना चाहिए।

अब आचार्य उसका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे कि वह देवदत्त ॥ ४ ॥

भावार्थ—किसी व्यक्तिने पहले कभी देवदत्त नामक पुरुषको देखा और उसकी धारणा करली। पीछे वह धारणारूप संस्कार प्रकट हुआ और उसे याद आया कि वह देवदत्त। इस प्रकार उसके स्मरणरूप ज्ञानको स्मृति कहते हैं।

अब अवसर-प्राप्त प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—वर्तमानमें पदार्थका दर्शन और पूर्वमें देखे हुएका स्मरण ये दोनों हैं कारण जिसके ऐसे सङ्कलन अर्थात् अनुसन्धानरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही है, यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। यह उसके सदृश है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उससे विलक्षण है, यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उसका प्रतियोगी है, यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है, इत्यादि ॥ ५ ॥

---

१. धारणाज्ञान। २. कारणम्। ३. निमित्तकम्। ४. अनुभूतार्थस्य विवक्षित-धर्मसम्बन्धित्वेऽनुसन्धानं सङ्कलनम्; एकत्व-सादृश्यादिधर्मयुक्तत्वेन पुनर्ग्रहणमिति वा। ५. यन्निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य तत्तत्प्रतियोगी।

अत्र दर्शनस्मरणकारणकत्वात् [1]सादृश्यादिविषयस्यापि प्रत्यभिज्ञानत्वमुक्तम्। येषां[2] तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं[3] प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं[4] प्रमाणान्तरमनुषज्येत[5]। तथा चोक्तम्—

> [6]उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्[7] [8]साध्यसाधनम्।
> तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं [9]किं स्यात् [10]सञ्ज्ञिप्रतिपादनम्[11] ॥१४॥

यहाँपर दर्शन और स्मरणके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण सादृश्य, आदिके विषय करनेवाले ज्ञानको भी प्रत्यभिज्ञानपना कहा है। जिन नैयायिक आदिके यहाँ सादृश्यको विषय करनेवाला ज्ञान उपमान नामसे एक भिन्न प्रमाण माना गया है, उनके वैलक्षण्य आदिको विषय करनेवाला एक और भी प्रमाण माननेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है—

यदि प्रसिद्ध पदार्थकी समानतासे साध्यके साधनको अर्थात् ज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं, तो उसके वैधर्म्यसे (विलक्षणतासे) होनेवाले साध्यके साधनरूप प्रमाणका क्या नाम होगा? तथा नामादिरूप संज्ञावाले संज्ञी पदार्थके प्रतिपादन करनेको कौन-सा प्रमाण कहेंगे? इसी प्रकार यह

१. सङ्कलनस्येति शेषः। २. नैयायिकादीनाम्। ३. दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते। सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥१॥ तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥२॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥३॥ प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानप्रमाणता ॥४॥ न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्। प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यधर्मत्वेन न गृह्यते ॥५॥ गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम्। प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥६॥ गवयस्यापि सम्बन्धान्न गोर्लिङ्गत्वमृच्छति। सादृश्य न च सर्वेण पूर्वदृष्टं तदन्वयि ॥७॥ एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने। सादृश्येन सहैवाभिमॅस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥८॥ सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते। प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥९॥

४. गोविलक्षणो महिष इत्यत्र प्रमाणान्तरेण भवितव्यम्। ५. सम्पद्येत। ६. गोलक्षणम्। ७. सादृश्यात्। ८. गवयादि। ९. इति प्रश्ने। १०. संज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन सङ्कलनम्; यथा वृक्षोऽयमित्यादि। ११. प्रत्यभिज्ञानविषयः। वाच्यप्रतिपादनम्।

[1]इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु[2] नेति वा[3]।
व्यपेक्षातः[4] समक्षेऽर्थे[5] [6]विकल्पः [7]साधनान्तरम्[8] ॥१६॥

[9]एषां क्रमेणोदाहरणं दर्शयन्नाह—

यथा स एवायं देवदत्तः[10], गोसदृशो गवयः[11], गोविलक्षणो महिषः[12], इदमस्माद् दूरम्[13], [14]वृक्षोऽयमित्यादि ॥६॥

आदिशब्देन—

इससे अल्प है, यह इससे महान् है; यह इससे दूर है, यह इससे आसन्न (समीप) है, यह इससे उन्नत (ऊंचा) है, यह इससे अवनत (नीचा) है। तथा इनके निषेधरूप यह इससे अल्प नहीं, यह इससे महान् नहीं; इत्यादिरूप जो प्रत्यक्ष-गोचर पदार्थमें परस्परकी अपेक्षासे अन्य भावका विकल्प (निश्चय) रूप ज्ञान होता है सो इन सबको भी पृथक् प्रमाणपना प्राप्त होता है और इस कारण आप लोगोंके द्वारा स्वीकृत प्रमाण-संख्याका विघटन हो जाता है। अतः उपमानप्रमाणको पृथक् प्रमाण मानना ठीक नहीं है, उसे सादृश्यप्रत्यभिज्ञानके ही अन्तर्गत जानना चाहिए। ॥१५-१६॥

अब आचार्य उक्त प्रत्यभिज्ञानोंके क्रमसे उदाहरण दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे यह वही देवदत्त है, यह एकत्वप्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है। यह गवय (नीलगाय, रोझ) गौके सदृश है, यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है। यह महिष (भैंसा) उस गौसे विलक्षण है, यह वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है। यह इससे दूर है, यह तत्प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है। यह वृक्ष है, यह सामान्य प्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है, इत्यादि ॥ ६ ॥

---

१. शब्दरूपेण परामर्शोल्लेखः। २. उन्नतम्। ३. अथवा 'इदमस्मान्न महत्' इत्यादिना शब्देनोक्तं भवति। ४. परस्परापेक्षया, प्रतिपक्षाकाङ्क्षया। ५. प्रसिद्धे। ६. निश्चयः। ७. तदा प्रमाणसङ्ख्याविघटनम्। ८. प्रमाणान्तरं सम्पद्येत। ९. प्रत्यभिज्ञानभेदानाम्। १०. एकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। ११. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। १२. वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानम्। १३. तत्प्रतियोगिप्रत्यभिज्ञानम्। १४. वृक्षसामान्यस्मृतिरूपप्रत्यभिज्ञानम्।

पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः ।
सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छदः ॥ १७ ॥

पञ्चवर्णं भवेद् रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी ।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः ॥ १९ ॥

इत्येवमादिशब्दश्रवणात् तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम्; दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् । परेषां तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपद्यते; उपमानादौ तस्यान्तर्भावाभावात् ।

अथोहोऽवसरप्राप्त इत्याह—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ७ ॥
इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ॥ ८ ॥

सूत्रके अन्तमें जो आदिशब्द दिया है, उससे—

दुग्ध और जलका भेद करनेवाला हंस होता है, छह पादका भ्रमर होता है, सात पत्तोंवाला विषमच्छद नामका वृक्ष तत्त्वज्ञोंको जानना चाहिए। पाँच वर्णवाला मेचक रत्न होता है। विशाल स्तनवाली युवती होती है। एक सींगवाला गेंडा कहा जाता है, आठ पादवाला जानवर शरभ (अष्टापद) कहलाता है। सुन्दर सटा (केशोंकी लटें) वाला सिंह होता है ॥ १७-१९ ॥

इत्यादिक शब्दोंको सुनकर पीछे इसी प्रकारके हंस आदिको देखकर जब कोई व्यक्ति विचार करता है कि यह वही मिले हुए जल और दुग्ध का भेद करनेवाला हंस है, तब यह सङ्कलनरूप अनुसन्धानात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंमें भी जानना चाहिए। क्योंकि इन सभी उदाहरणोंमें वस्तुका वर्तमानमें दर्शन और पूर्व धारणाका स्मरणरूप दोनों कारण समान हैं। किन्तु नैयायिकादि अन्य मतावलम्बियोंको तो इन्हें भिन्न भिन्न ही प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत उपमान आदि प्रमाणोंमें इनका अन्तर्भाव नहीं होता है।

अब अवसर-प्राप्त ऊह अर्थात् तर्क प्रमाणका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से जो व्याप्तिका ज्ञान होता है, उसे ऊह अर्थात् तर्कप्रमाण कहते हैं। जैसे-यह साधनरूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तुके होनेपर ही होती है और साध्यरूप वस्तुके नहीं होनेपर नहीं होती है ॥७-८॥

---

१. हंसो भवति पयोऽम्बुभेदकृत् । २. भीमसेनीकर्पूरोत्पादककेलिः । ३. हंसादीन् । ४. सत्यङ्करोति । ५. स एवायं हंसः पयोऽम्बुभेदीति यज्ज्ञानं तत्सङ्कलनम् । ६. सङ्कलनज्ञानम् । ७. साधनत्वेनाभिप्रेतं वस्तु । ८. अन्वये । ९. व्यतिरेके ।

उपलम्भः [1]प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते। यदि [2]प्रत्यक्षमेवोपलम्भशब्देनोच्यते तदा[3] साधनेषु[4] [5]अनुमेयेषु व्याप्तिज्ञानं न स्यात्। अथ व्याप्तिः सर्वोपसंहारेण[6] प्रतीयते, सा कथमतीन्द्रियस्य[7] साधनस्यातीन्द्रियेण साध्येन[8] भवेदिति ? नैवम्; प्रत्यक्षविषयेष्विवानुमानविषयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात्, [9]तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्।

यहाँपर उपलम्भसे प्रमाणसामान्यका ग्रहण करना चाहिए। यदि प्रत्यक्षको ही उपलम्भशब्दसे ग्रहण किया जाय तो अनुमान के विषयभूत साधनोंमें व्याप्तिका ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि व्याप्ति तो सर्व देश और सर्व कालके उपसंहारसे प्रतीतिमें आती है, तो जब अतीन्द्रिय ही साधन हो और अतीन्द्रिय ही साध्य हो, तब वह व्याप्ति कैसे जानी जायगी ? सो ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य-साधनोंके समान अनुमानके विषयभूत साध्य और साधनोंमें भी व्याप्ति के होनेमें कोई विरोध नहीं है, कारण कि उस अनियत दिग्देशकालवाली व्याप्तिके ज्ञानको परोक्ष माना गया है।

भावार्थ—नैयायिकादि दूसरे वादियोंका ऐसा मत है कि प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य-साधनोंमें ही व्याप्ति सम्भव है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान या आगमप्रमाणके विषय हैं, उनमें व्याप्ति कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर आचार्यने यह दिया है कि अनुमान या आगमके विषयभूत पदार्थोंके साध्य-साधनोंमें भी व्याप्ति संभव है। जैसे अत्यन्त दूरवर्ती होनेसे सूर्यकी गति परोक्ष है, फिर भी उसकी गतिका अनुमान करते हैं—सूर्य गमनशक्ति युक्त है, क्योंकि गतिमान् है। इस अनुमान के विषयभूत साध्य-साधनकी व्याप्ति इस प्रकार है—जो जो पदार्थ गतिमान् होते हैं, वे वे गमनशक्ति युक्त देखे जाते हैं, जैसे कि बाण। तथा सूर्य गतिमान् है, क्योंकि वह पूर्वदेशका त्याग-

१. प्रमाणसामान्यम्। २. नैयायिकानामभिप्रायमनूद्य दूषयति, तेषामभिप्रायस्तु प्रत्यक्षविषयवस्तुनि व्याप्तिर्न तु अनुमानगोचरे। ३. असिद्धो हेतुरपि साध्यो यदा भवतीत्यर्थः। तत्कथम्। अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति प्रमाणवाक्त्वात्। असिद्धोऽयं हेतुरसिद्धो न भवति प्रमाणवाक्त्वम्। कुतः ! दृष्टेष्टाविरुद्धवक्तृत्वात्। ४. नास्त्यत्र देहिनि सुखं हृदयशल्यात्। ५. आदित्यो गमनशक्तियुक्तो गतिमत्त्वात्। यो यो गतिमान् स स गमनशक्तियुक्तो दृष्टः, यथा शरः। गतिमांश्चायम्, तस्माद् गमनशक्तियुक्तः। आदित्यो गतिमान् भवति, पूर्वदेशत्यागेन देशान्तरसमुपलभ्यमानत्वात्, देवदत्तवत्। इत्यत्र सूर्यगतिमत्त्वादिषु धर्मादिषु गत्यादिष्वनुमेयेष्वत्यन्तपरोक्षेषु आगमगम्येषु। ६. सर्वदेशे सर्वकाले सर्वात्मना गृह्यते। ७. परोक्षस्य। ८. सह। ९. अनियतदिग्देशव्याप्तिज्ञानस्य।

उदाहरणमाह[१]—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च[२] ॥ ९ ॥

इदानीमनुमानं क्रमायातमिति तल्लक्षणमाह—

[३]साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १० ॥

साधनस्य लक्षणमाह—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ ११ ॥

कर पश्चिमादि देशोंमें जाता हुआ देखा जाता है। जो जो गतिमान होते हैं, वे देशसे देशान्तरको जाते हुए देखे जाते हैं, जैसे कि देवदत्त। यहाँ प्रथम अनुमानसे सूर्यमें गमनशक्ति सिद्ध की गई है और दूसरे अनुमानसे सूर्यमें गतिमत्त्व सिद्ध किया गया है। प्रथम अनुमानमें साध्य और साधन दोनों परोक्ष हैं और दूसरे अनुमानमें केवल साध्य परोक्ष है। इस प्रकार अनुमानके विषयभूत परोक्ष साध्य और साधनोंमें भी व्याप्ति बराबर देखनेमें आती है, अतः वह प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य-साधनोंमें ही होती है, यह कहना ठीक नहीं है।

अब आचार्य व्याप्तिके ज्ञानरूप तर्कका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है और अग्निके अभावमें नहीं होता है ॥९॥

अब अनुमान क्रम-प्राप्त है, अतः आचार्य उसका लक्षण कहते हैं—

सूत्रार्थ—साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते है ॥१०॥

विशेषार्थ—इस सूत्रके प्रत्येक पदकी सार्थकता इस प्रकार है—यदि अनुमानका लक्षण यह किया जाता कि प्रमाणसे जो विज्ञान होता है, वह अनुमान है, तो आगम आदिसे व्यभिचार आता है, अतः उसके निवारण के लिए साध्यके ज्ञानको अनुमान कहा। फिर भी प्रत्यक्षसे व्यभिचार आता, अतः उसके निवारणार्थ 'साधनसे' यह पद दिया है। इस प्रकार साधनरूप लिङ्गसे साध्यरूप लिङ्गीका जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे धूम देखकर अग्निका ज्ञान करना।

अब साधन (हेतु) का लक्षण कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्यके साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, अर्थात् जो साध्यके विना न हो, उसे हेतु (साधन) कहते हैं ॥११॥

---

१. व्याप्तिज्ञानरूपतर्कस्योदाहरणमाह। २. परमाणुप्रत्यक्षेऽव्याप्तिर्वर्तते, यथात्र प्रत्यक्षे वर्तते। अस्ति च परमाणुरागमोक्तत्वात्, पुण्यपापवत्। ३. प्रमाणाद्विज्ञानमनुमानमेतावन्मात्रे लक्षणेऽनुमेयाऽऽगमादिभिर्व्यभिचारः, अतस्तद्वारणाय साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तथापि प्रत्यक्षेण व्यभिचारः, अतस्तद्वारणाय साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्।

'ननु त्रैरूप्यमेव' हेतोर्लक्षणम्; तस्मिन्[3] सत्येव हेतोरसिद्धादि[4]दोषपरिहारोपपत्तेः। तथा हि—[5]पक्षधर्मत्वमसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थमभिधीयते। सपक्षे सत्त्वं तु [6]विरुद्धत्वापनोदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमेवानैकान्तिक[7]-व्युदासार्थमिति। तदुक्तम्[8]—

शङ्का—बौद्धोंका कहना है कि हेतुका यह लक्षण ठीक नहीं, किन्तु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाद्-व्यावृत्तिरूप त्रैरूप्यको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए, क्योंकि त्रैरूप्यके होनेपर ही असिद्ध आदि दोषोंका परिहार सम्भव है। उनके अनुसार पक्षधर्मत्व असिद्ध हेत्वाभासके व्यवच्छेदके लिए, सपक्षसत्त्व विरुद्ध हेत्वाभासके निराकरणके लिए और विपक्षाद्-व्यावृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभासके निषेधके लिए कहे गये हैं।

विशेषार्थ—उक्त कथनका स्पष्टीकरण यह है—जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है अर्थात् नेत्रोंसे जाना जाता है। इस अनुमानमें चाक्षुषत्व हेतु अपने पक्षभूत शब्दमें नहीं रहता है, अतः वह असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकारके दोष-परिहारके लिए पक्षधर्मत्वको हेतुका लक्षण मानना आवश्यक है। इसी प्रकार 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है अर्थात् अपनी उत्पत्ति में अन्यके व्यापारकी अपेक्षा रखता है। इस अनुमानमें कृतकत्व हेतु सपक्षमें नहीं रहता है, क्योंकि कृतकपनेको नित्यत्वके विरोधी अनित्यत्वके साथ व्याप्ति है। अतः साध्य विरोधी पदार्थके साथ रहनेसे यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। इस दोषके परिहारार्थ हेतुका सपक्षमें रहना यह दूसरा रूप भी आवश्यक है। तथा अनैकान्तिक दोषके परिहारके लिए हेतुको विपक्षसे व्यावृत्त होना चाहिए। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय अर्थात् प्रमाणका विषय है। यहाँपर प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्दमें और सपक्षभूत आकाशमें रहते हुए भी नित्यत्वके विरोधी अनित्य घट आदिमें भी पाये जानेसे अनैकान्तिक

१. बौद्धः प्राह। २. पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व-विपक्षाद्व्यावृत्तित्रयमिति। ३. त्रैरूप्ये। ४. आदिपदेन विरुद्धानैकान्तिकदोषौ। ५. शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वादित्यत्रापक्षधर्मत्वमस्ति; चाक्षुषत्वादिति हेतोः पक्षभूते शब्देऽवर्तमानत्वात्तस्मादसिद्धोऽयं हेतुरतस्तद्वारणाय पक्षे सत्त्वमिति। ६. नित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्र सपक्षेऽसत्त्वमस्ति, कृतकत्वस्य हि नित्यत्वविरोधिनाऽनित्यत्वेन व्याप्तत्वात्। तस्माद्धेतोः साध्याभाववद् वृत्तित्वाद्विरुद्धत्वमिति। अतो विरुद्धदोषपरिहारार्थं सपक्षे सत्त्वमिति। ७. शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यत्र विपक्षादव्यावृत्तिरस्ति. प्रमेयत्वस्य हेतोः पक्षभूते शब्दे तथा सपक्षरूपाकाशादौ वर्तमानेऽपि नित्यत्वविरोधिनो घटादेरव्यावृत्तित्वात्। तस्माद्धेतोः पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्वेऽपि विपक्षादव्यावृत्तित्वादनैकान्तिकमिति। अतस्तत्परिहारार्थं विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति। ८. दिग्नागाचार्येण (धर्मकीर्तिना)।

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः[1] ॥२०॥

तदयुक्तम्[2]; अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः। अविनाभावो ह्यन्यथानुपपन्नत्वम्। [3]तच्चासिद्धस्य न सम्भवत्येव, 'अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति' इत्यभिधानात्। नापि विरुद्धस्य [4]तल्लक्षणत्वोपपत्तिर्विपरीतनिश्चिताविनाभाविनि[5] [6]यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्तेर्विरोधात्[7]। व्यभिचारिण्यपि न प्रकृतलक्षणावकाशस्तत[8] एव 'ततोऽन्यथानुपपत्तिरेव श्रेयसी, न त्रिरूपता;

है। इस दोषके दूर करनेके लिए विपक्षाद्-व्यावृत्तिरूप तीसरे रूपको भी मानना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

हेतुके लक्षणका उपर्युक्त तीन रूपोंमें ही निर्णय वर्णन किया गया है, क्योंकि पहला पक्षधर्मत्व असिद्ध दोषका प्रतिपक्षी है, दूसरा सपक्षसत्त्व विरुद्ध दोषका प्रतिपक्षी है और तीसरा विपक्षव्यावृत्ति व्यभिचारी जो अनैकान्तिक दोष उसका प्रतिपक्षी है ॥२०॥

इसलिए असिद्धादि तीनों दोषोंके परिहारार्थ त्रैरूप्यको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए।

समाधान—आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि, अविनाभावरूप नियमके निश्चयसे ही असिद्धादि तीनों दोषोंका परिहार हो जाता है। अविनाभाव नाम अन्यथानुपपत्तिका है। साध्यके विना साधनके नहीं होनेको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। यह अन्यथानुपपत्ति असिद्ध हेतुमें सम्भव नहीं है; क्योंकि "अन्यथानुपपन्नत्व असिद्धहेतुके सिद्ध नहीं होता है" ऐसा कहा गया है। विरुद्धहेतुके भी अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुका लक्षण सम्भव नहीं है; क्योंकि साध्यसे विपरीत पदार्थके साथ निश्चित अविनाभावी हेतुमें यथोक्त साध्याविनाभावी निश्चित लक्षणके पाये जानेका विरोध है। व्यभिचारी हेतुमें भी अन्यथानुपपत्तिरूप प्रकृत लक्षणके रहनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि

---

१. एत एव विपक्षास्तेभ्यः। २. असिद्धादिदोषपरिहारार्थं हेतोस्त्रैरूप्यवर्णनम्। ३. अन्यथानुपपन्नत्वम्। ४. अन्यथानुपपन्नत्व-। ५. साधने। अनित्यः शब्दः, नित्यधर्मरहितत्वात्। नित्यः शब्दः, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। ६. अनुपपत्तिः कुत इत्यत आह। ७. विरोधादेव। यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्तेरेव। ८. दोषत्रयपरिहारात्। अन्यथानुपपत्तिबलेनैवासिद्धादिदोषपरिहारो भवति यतः। ९. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥

तस्यां[1] सत्यामपि यथोक्तलक्षणाभावे[2] हेतोर्गमकत्वादर्शनात्[3]। तथा हि—स, 'श्याम-स्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्'[4] इत्यत्र त्रैरूप्यसम्भवेऽप्यगमकत्वमुपलक्ष्यते[5]।

अथ[6] विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नियमवती तत्र[7] न दृश्यते, ततो न 'गमकत्वमिति[8]। तदपि मुग्धविलसितमेव; तस्या[9] एवाविनाभावरूपत्वात्। [10]इतररूपसद्भावेऽपि तदभावे[11]

साध्याविनाभावी हेतुका व्यभिचारी होनेमें विरोध है, अर्थात् व्यभिचारी हेतुमें साध्याविनाभावित्व सम्भव ही नहीं है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका श्रेष्ठ लक्षण है, त्रिरूपता नहीं; क्योंकि उस त्रिरूपताके होनेपर भी यथोक्त अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षणके अभावमें हेतुके गमकपना नहीं देखा जाता है। जैसे—वह श्याम (सांवला) है, क्योंकि 'वह अमुक व्यक्तिका पुत्र है, अन्य पुत्रोंके समान'। इस अनुमानमें प्रयुक्त तत्पुत्रत्व हेतुके त्रैरूप्य सम्भव होते हुए भी गमकपना नहीं देखा जाता है।

भावार्थ—किसी व्यक्तिके अनेक पुत्रोंको सांवला देखकर अनुमान किया कि उस व्यक्तिकी स्त्रीके गर्भमें जो पुत्र है, वह भी सांवला ही होगा, क्योंकि वह अमुक व्यक्तिका पुत्र होनेवाला है। जो उसका पुत्र है वह सांवला है, जैसे कि विवक्षित अमुक पुत्र। जो सांवला नहीं, वह उसका पुत्र नहीं; जैसे कि अमुक व्यक्तिका गोरा पुत्र। इस प्रकारके अनुमानमें तत्पुत्रत्वरूप हेतुके त्रैरूप्यपना है अर्थात् वह पक्षरूप गर्भस्थ पुत्रमें पाया जाता है, सपक्षभूत अन्य पुत्रोंमें भी रहता है और विपक्षभूत अन्यके पुत्रोंमें नहीं पाया जाता। फिर भी यह हेतु अपने साध्यका गमक नहीं है, क्योंकि गर्भस्थ पुत्रके गौर वर्ण होनेकी सम्भावना है। अतः त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण न मानकर अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए।

यदि कहा जाय कि 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्' इस अनुमानमें विपक्षसे व्यावृत्ति नियमवाली नहीं दिखाई देती है, इसलिए तत्पुत्रत्वरूप हेतु गमक नहीं है, सो आपका यह कथन भी अतिमुग्ध पुरुषके विलास समान ही है,

---

१. त्रिरूपतायाम्। २. अविनाभावाभावे। साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति। ३. साधकत्वाप्रतीतेः। ४. श्यामत्वस्यान्यत्र दर्शनात्। ५. गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्, इत्यत्र तत्पुत्रत्वस्य हेतोः पक्षभूतगर्भस्थे सपक्षभूतेतरतत्पुत्रे च वर्तमानस्य साध्याभाववद्गौरादिना व्यावृत्तौ सत्यामपि गर्भस्थमैत्रतनयस्य गौरत्वेनापि सन्देहसम्भवात्सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं स्यादिति। ६. सौगतः प्राह। ७. स श्यामस्तत्पुत्रत्वादित्यनुमाने। ८. प्रकृतसाध्यज्ञापनशक्तिकत्वम्। ९. विपक्षाद् व्यावृत्ते। १०. पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वरूपद्वयसद्भावेऽपि। ११. विपक्षाद् व्यावृत्त्यभावे।

हेतोः स्वसाध्यसिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ[1] सैव[2] प्रधानं लक्षणमक्षूण[3]मुपलक्षणीयमिति[4]। तत्सद्भावे चेतररूपद्वयनिरपेक्षतया [5]गमकत्वोपपत्तेश्च ।

यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि [6]प्रमाणानीष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः । न चात्र[7] पक्षधर्मत्वं सपक्षान्वयो वास्ति; केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वप्रतीतेः । यदप्युक्तं परैः[8]:—

क्योंकि उस विपक्ष-व्यावृत्तिका नाम ही अविनाभावरूपता है। इतर रूपोंके सद्भाव होनेपर भी अर्थात् पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व इन दो रूपोंके पाये जानेपर भी उस विपक्षाद्-व्यावृत्तिके अभाव होनेपर हेतुके अपने साध्यकी सिद्धिके प्रति गमकपना नहीं है, अतः साध्यके साथ अविनाभाववाली उस विपक्षव्यावृत्तिको ही हेतुका निर्दोष लक्षण प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि उसके सद्भावमें अन्य दो रूपोंकी निरपेक्षतासे भी हेतुके साध्यके प्रति गमकता बन जाती है।

भावार्थ—जैसे माता-पिताके ब्राह्मण होनेसे पुत्रके भी ब्राह्मणत्वका अनुमान किया जाता है। अथवा नदीमें नीचेकी ओर जलका पूर दिखाई देनेसे ऊपरकी ओर जलवर्षाका अनुमान किया जाता है। इन दोनों ही उदाहरणोंमें न पक्षधर्मत्व है और न सपक्षसत्त्व है, फिर भी माता-पिताकी ब्राह्मणता और अधोदेशमें नदीके पूरका दर्शन ये दोनों ही हेतु पुत्रकी ब्राह्मणता और ऊपरी प्रदेशमें हुई जलवृष्टिरूप साध्यके गमक हैं ही।

आचार्य अद्वैतवादियोंका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यद्यपि वे परम ब्रह्मके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ नहीं मानते हैं, तथापि इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा बन नहीं सकता, इस अन्यथानुपपत्तिके बलसे उनके भी प्रमाण नामक पदार्थकी मान्यता प्राप्त होती ही है। यथा 'अद्वैतवादीके प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण बन नहीं सकता' इस अनुमानमें न पक्षधर्मत्व है और न सपक्षसत्त्व है; केवल अविनाभावमात्रसे हेतुका गमकपना प्रतीतिमें आरहा है। तथा बौद्धादिकोंने

१. सत्याम् । २. साध्याविनाभाववती विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव । ३. निर्दोषम् । ४. प्रतिपादनीयम् । ५. पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा । सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥१॥ नदीपूरोऽप्यधोदेशे दृष्टः सन्नुपरिस्थिताम् । नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥२॥ इत्यत्र पक्षसपक्षसत्त्वद्वयाभावेऽपि विपक्षाद् व्यावृत्तिबलादेव पित्रोः ब्राह्मणत्वाधोदेशस्थनदीपूरौ पुत्रब्राह्मणतोपरिसञ्जातवृष्ट्योर्गमकाविति । ६. तेषां प्रमाणानि प्राग् न सन्तीदानीमापद्यन्ते, तस्य प्रमाणवत्त्वधर्मस्याङ्गीकाराभावात्पक्षधर्मत्वं नास्ति, तथापि गम्यगमकभावोऽस्ति । ७. अनुमाने । ८. बौद्धादिभिः ।

पक्षधर्मताऽभावेऽपि 'काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रासादः' इत्यत्रापि 'गमकत्वापत्तिरिति'[2], तदप्यनेन[3] निरस्तम्; अन्यथानुपपत्तिबलेनैवापक्षधर्मस्यापि साधुत्वाभ्युपगमात्[4]। न चेह[5] 'साऽस्ति। ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगन्तव्यम्[7]; तस्मिन् 'सत्य-सति'[9] त्रिलक्षणत्वेऽपि हेतोर्गमकत्वदर्शनात्। इति न त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम्, अव्यापकत्वात्। सर्वेषां[10] क्षणिकत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्य सपक्षेऽसतोऽपि स्वयं [11]सौगतैर्गमकत्वाभ्यु-पगमात्।

एतेन[12] पञ्चलक्षणत्वमपि यौगपरिकल्पितं न हेतोरुपपत्ति[13]मियर्तीत्यभिहितं बोद्धव्यम्। पक्षधर्मत्वे सत्यन्वय[14] [15]व्यतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च

जो यह दूषण कहा है कि यदि पक्षधर्मत्वरूप हेतुका लक्षण नहीं मानेंगे, तो 'काककी कृष्णतासे प्रासाद (भवन) धवल वर्णका है' सो यहाँ काककी कृष्णतारूप हेतुके भी भवनके धवलरूप साध्यके गमकताकी आपत्ति प्राप्त होगी, इस दोषापत्तिका भी परिहार अन्यथानुपपत्तिरूपलक्षणके द्वारा कर दिया गया है; क्योंकि अन्यथानुपपत्तिके बलसे ही पक्षमें नहीं रहनेवाले भी हेतुके साधुता (समीचीनता) स्वीकार की गई है। वह अन्यथानुपपत्ति यहाँपर अर्थात् 'काककी कृष्णतासे प्रासाद धवल है' इस प्रयोगमें नहीं है। इसलिए अविनाभावको ही हेतुका प्रधान लक्षण मानना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर और त्रैरूप्यके नहीं होनेपर भी हेतुके गमकपना देखा जाता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि त्रैरूप्य हेतुका लक्षण नहीं है; क्योंकि वह अव्यापक है। जैसे कि आप बौद्धोंने 'सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् रूप हैं' इस अनुमानसे सभी पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेमें सपक्षका अभाव होनेसे सत्त्व हेतुके उसमें नहीं रहने पर भी स्वयं उसे गमक माना है।

इसी हेतुके त्रैरूप्यलक्षणके निराकरणसे यौग-परिकल्पित हेतुका पञ्च-लक्षणत्व भी युक्तिकी संगतिको प्राप्त नहीं होता है, यह भी कहा गया है।

---

१. पक्षधर्मतां विना गम्यगमकभावो नास्ति। अस्ति चेदत्र गमकत्वमस्तु। २. अत्रान्यथानुपपत्तिर्नास्ति, दूषणमापादयति। भवतु। ३. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणद्वारेण। ४. इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेरिति हेतोः पक्षधर्मता नास्ति, तथाप्यस्यान्यथानुपपत्ति-बलात्साधुत्वस्वीकारात्। ५. काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रासाद इत्यत्र। ६. अन्यथानुपपत्तिः। ७. अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभाव इति समायातम्। ८. अविनाभावनियमे सति। ९. त्रिरूपेऽसति। १०. पदार्थानाम्। ११. हन्त विस्मरणशीलत्वत्स्य किं कर्तव्यम्? १२. त्रैरूप्यनिराकरणद्वारेण। १३. युक्तिघटनाम्। १४. सपक्षे सत्त्वम्। १५ विपक्षाद् व्यावृत्तिः।

लक्षणानि, तेषामप्यविनाभावप्रपञ्चत्वं बाधितविषयस्याविनाभावायोगात् ; सत्प्रतिपक्षस्यैवेति, साध्याभासविषयत्वेनासम्यग्घेतुत्वाच्च, यथोक्तपक्षविषयत्वाभावात्तद्दोषेणैव दुष्टत्वात् । अतः स्थितम्—साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति ।

इदानीमविनाभावभेदं दर्शयन्नाह—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १२ ॥

जानना चाहिए। पक्षधर्मत्वके रहते हुए अन्वयपना अर्थात् सपक्षसत्त्व, और व्यतिरेकपना अर्थात् विपक्षव्यावृत्ति ये तीन रूप, तथा चौथा अबाधितविषयत्व और पाँचवाँ असत्प्रतिपक्षत्व, हेतुके ये पाँच लक्षण यौग मानते हैं। सो ये सभी अविनाभावके ही विस्तार हैं; क्योंकि बाधितविषयके अविनाभावका आयोग है, जैसे कि सत्प्रतिपक्षके अविनाभाव सम्भव नहीं है।

भावार्थ—जिसका साध्यरूप विषय प्रमाणसे बाधित न हो, उसे अबाधित विषय कहते हैं। और जिस हेतुका प्रतिपक्षी साधक हेतु न हो उसे असत्प्रतिपक्ष कहते हैं। बौद्ध-सम्मत तीन रूपोंके साथ इन दोनोंको मिलाकर यौग लोग पाञ्चरूप्यको हेतुका लक्षण कहते हैं। आचार्य उनके कथनकी निरर्थकता यह कहकर बतला रहे हैं, कि ये सभी लक्षण अविनाभावके विस्तार रूप ही हैं क्योंकि जिस हेतुका विषय प्रमाणसे बाधित है, और जिस हेतुके प्रतिपक्षका साधक हेतु पाया जाता है, उन दोनोंमें ही अविनाभावका अभाव है।

दूसरे, साध्याभासको विषय करने से असम्यक् हेतुपना भी है, अर्थात् जो हेतु असत्य साध्यको विषय करता है, वह समीचीन हेतु नहीं है; क्योंकि वह यथोक्त पक्षको विषय नहीं करता है; अतः वह पक्षके दोषसे ही दुष्ट है। इस प्रकार—साध्यके साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो वही समीचीन हेतु है यह सिद्ध हुआ।

अब अविनाभावके भेदोंको दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—सहभाव नियम और क्रमभाव नियमको अविनाभाव कहते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—एकसाथ रहनेवाले साध्य साधनके सम्बन्धको सहभाव नियम

---

१. अविनाभावस्य पर्यायनाम, स्वरूपमेवेत्यर्थः । २. अबाधितविषयस्याविनाभावयोगो वर्तते, बाधितविषये नास्ति । ३. कुतः । ४. अविनाभाव-। ५. अग्निरनुष्णः कृतकत्वात् । ६. पक्षदोषेणैव । ७. अव्यभिचारित्वम् ।

तत्र सहभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥ १३ ॥

सहचारिणो रूप-'रसयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिति । सप्तम्या विषयो निर्दिष्टः ।

क्रमभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कृत्तिकोदय-शकटोदययोः कार्यकारणयोश्च धूम-धूमध्वजयोः क्रमभावः

कहते हैं और कालके भेदसे क्रमपूर्वक होनेवाले साध्य-साधनके सम्बन्धको क्रमभाव नियम कहते हैं। इस प्रकार अविनाभावके दो भेद हो जाते हैं।

अब आचार्य सहभाव नियमका विषय दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थोंमें सहभाव नियम होता है ॥ १३ ॥

सहचारी अर्थात् साथमें रहनेवाले रूप और रस में सहभावनियम होता है; क्योंकि नीबू-आम आदि पदार्थोंमें रूप रसको छोड़कर या रस रूपको छोड़कर नहीं पाया जाता है, किन्तु दोनों साथ ही साथ रहते हैं। इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक जो वृक्षत्व और शिंशपात्व है, उनमें भी सहभाव नियम पाया जाता है। वृक्षत्व व्यापक है और शिंशपात्व व्याप्य है, वृक्षत्वको छोड़कर शिंशपात्व कभी नहीं पाया जायगा, अतः इनमें भी सहभावनियम जानना चाहिए। सूत्रमें सप्तमी विभक्तिके द्वारा विषयका निर्देश किया गया है।

अब क्रमभावनियमके विषयको दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वचर और उत्तरचरमें तथा कार्य और कारणमें क्रमभाव-नियम होता है ॥ १४ ॥

कृत्तिका नक्षत्रका उदय एक मुहूर्त पहले होता है और शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय एक मुहूर्त पीछे होता है; अतः ये दोनों नक्षत्र क्रमशः पूर्वचर और उत्तरचर कहलाते हैं। उदय होनेकी अपेक्षा दोनोंमें क्रम-भाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है। इसलिए कारण और कार्यमें भी क्रमभावसम्बन्ध है।

---

१. मातुलिङ्गे रूपं रसं विहाय न तिष्ठति, रसो रूपं विहाय न तिष्ठति, सहैव

नन्वेवम्भूतस्याविनाभावस्य न प्रत्यक्षेण ग्रहणम्; तस्य सन्निहितविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन; प्रकृतापरानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थावतारात्[1]। आगमादेरपि [2]भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वान्न ततोऽपि [3]तत्प्रतिपत्तिरित्या[4]शङ्कायामाह—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥१५॥

तर्काद् यथोक्तलक्षणादूहात्तन्निर्णय[5] इति।

[6]अथेदानीं साध्यलक्षणमाह—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्[7] ॥१६॥

यहाँ पर कोई शङ्काकार कहता है कि इस प्रकारके अविनाभावका ग्रहण न तो प्रत्यक्षसे होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष तो सन्निकटवर्ती वर्तमान पदार्थको विषय करता है। और न अनुमानसे अविनाभावका ग्रहण होता है; क्योंकि उससे ग्रहण माननेपर दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—प्रकृत अनुमानसे अविनाभावका ग्रहण होगा, या अन्य अनुमानसे। प्रकृत अनुमानसे मानने पर इतरेतराश्रयदोष आता है—कि पहले अविनाभावका ज्ञान हो जाय, तब अनुमानकी उत्पत्ति हो और जब अनुमान उत्पन्न हो जाय, तब अविनाभावका ज्ञान हो। यदि दूसरे अनुमानसे अविनाभावका ग्रहण माना जावे, तो उसके भी अविनाभावका ग्रहण अन्य अनुमानसे मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा। आगमादि प्रमाणोंका भिन्न विषय सुप्रसिद्ध ही है, अतः उनसे भी अविनाभावका ज्ञान नहीं हो सकता। फिर अविनाभावका ज्ञान किस प्रमाणसे माना जाय? इस प्रकारकी आरेका (शङ्का) के होनेपर आचार्य उसका समाधान करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—तर्क प्रमाणसे उस अविनाभावका निर्णय होता है ॥१५॥

तर्कसे अर्थात् जिसका लक्ष्य पहले कहा जा चुका है, ऐसे ऊहप्रमाणसे उस अविनाभावका निर्णय अर्थात् परिज्ञान होता है।

अब आचार्य साध्यका लक्षण कहते हैं—

सूत्रार्थ—इष्ट, अबाधित और असिद्ध-पदार्थको साध्य कहते हैं ॥१६॥

स्थितिः। १. अनुमानेनाविनाभावग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयस्तथाहि—सत्यामविनाभावप्रतिपत्तावनुमानस्यात्मलाभः, आत्मलाभे चाविनाभावप्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तिश्चेत्तस्याप्यनुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्था स्यात्। २. एकस्मिन् वस्तुनि प्रमाणसंप्लवोऽस्ति, तथापि मुख्यवृत्त्या तत्तन्नियतस्य प्रमाणस्य स एव विषयः। ३. अविनाभावस्य। ४. आशङ्कायाम्। ५. अविनाभावनिर्णयः। ६. हेतुलक्षणकथनान्तरम्। ७. साध्यं लक्ष्यम्, इष्टमबाधितमसिद्धं लक्षणम्। यदा असिद्धं साध्यम्, तदा इष्टमबाधितविशेषणसहितमेव ज्ञातव्यम्।

[1]अत्रापरे[2] दूषणमाचक्षते—आसन-शयन-भोजन-यान-[3]मैथुनादेरपीष्टत्वात्तदपि साध्यमनुषज्यत इति। तेऽप्यतिबालिशाः, अप्रस्तुतप्रलापित्वात्। अत्र हि साधनमधिक्रियते[4], तेन[5] साधनविषयत्वेनेप्सितमिष्टमुच्यते।

इदानीं स्वाभिहितसाध्यलक्षणस्य विशेषणानि सफलयन्नसिद्धविशेषणं समर्थयितुमाह—

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां[6] साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्[7]॥१७॥

तत्र सन्दिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणेनोभयकोटिपरामर्शिसंशयाकलितं वस्तु उच्यते। विपर्यस्तं तु विपरीतावभासिविपर्ययज्ञानविषयभूतं रजतादि। अव्युत्पन्नं[8]

भावार्थ—जिसे वादी सिद्ध करना चाहता है उसे इष्ट कहते हैं। जिसमें प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाणसे बाधा न आती हो, उसे अबाधित कहते हैं। और जो किसी प्रमाणसे सिद्ध न हुआ हो उसे असिद्ध कहते हैं; क्योंकि सिद्ध का साधन करनेसे कोई लाभ नहीं है। अतः जिसमें सूत्रोक्त तीनों बातें पाई जावें, ऐसा पदार्थ ही साध्य होता है।

इस साध्यके लक्षणमें नैयायिकादि अन्य वादी यह दूषण देते हैं कि यदि इष्टको साध्य मानते हैं तो आसन, शयन, भोजन, गमन, मैथुनादिक भी इष्ट हैं, अतः उनके भी साध्यपनेका प्रसङ्ग आता है? आचार्य कहते हैं कि ऐसा दूषण देनेवाले अतिमूर्ख हैं, क्योंकि वे अप्रस्तुत-प्रलापी हैं—विना अवसर की बात करते हैं। यहाँपर साधनका अधिकार अर्थात् प्रकरण है, इसलिए साधनके विषयरूपसे इच्छित वस्तुको ही इष्ट कहा गया है।

अब आचार्य अपने द्वारा कहे हुए साध्यके लक्षणके विशेषणोंकी सफलता (सार्थकता) बतलाते हुए असिद्ध विशेषणका समर्थन करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थोंके साध्यपना जिस प्रकारसे माना जा सके, इसलिए साध्यके लक्षणमें असिद्धपद दिया है॥१७॥

किसी स्थानपर अन्धकार आदिके निमित्तसे खड़े हुए पदार्थको देखकर यह स्थाणु (लकड़ीका ठूंठ) है अथवा पुरुष है? इस प्रकार किसी एक का निश्चय न होने से उभय कोटि (पक्ष) के परामर्श करनेवाला संशय से संयुक्त पदार्थको संदिग्ध कहते हैं। यथार्थसे विपरीत वस्तुका निश्चय करनेवाले विपर्यय ज्ञानके विषयभूत सीपमें चांदी आदिक पदार्थ विपर्यस्त

१. साध्यलक्षणे। २. नैयायिकाः। ३. मैथुन-। ४. सन्मुखीक्रियते। ५. साधनाधिकारेण। ६. अनध्यवसितानां पदार्थानाम्। ७. प्रतिपादितम्। ८. अनध्यवसितं तु गच्छत्तृणस्पर्शः।

तु नामजाति[2]संख्यादिविशेषापरिज्ञानेनानिर्णीतविषयानध्यवसायग्राह्यम्[2]। एषां[3] साध्यत्वप्रतिपादनार्थमसिद्धपदोपादानमित्यर्थः।

अधुनेष्टाबाधितविशेषणद्वयस्य साफल्यं दर्शयन्नाह—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥१८॥

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः, प्रत्यक्षादिबाधितश्चाश्रावणत्वादिः। आदिशब्देनानु[4]माना[5]गम-[6]लोक[7]स्ववचनबाधितानां ग्रहणम्। तदुदाहरणं चाकिञ्चित्करस्य हेत्वाभासस्य निरूपणवसरे स्वयमेव ग्रन्थकारः[8] प्रपञ्चयिष्यतीत्युपरम्यते।

[9]तत्रासिद्धपदं[10] प्रतिवाद्यपेक्षयैव, इष्टपदं तु वाद्यपेक्षयेति [11]विशेषमुपदर्शयितुमाह—

कहलाते हैं। नाम, जाति, संख्या आदिके विशेष परिज्ञान न होनेसे अनिर्णीत विषयवाले अनध्यवसाय ज्ञानसे ग्राह्य पदार्थको अव्युत्पन्न कहते हैं। इन संदिग्ध आदि तीनों प्रकारके पदार्थोंके साध्यपना प्रतिपादन करनेके लिए साध्यके लक्षणमें असिद्ध पदका ग्रहण किया गया है, ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

अब आचार्य इष्ट और अबाधित इन दो विषयोंकी सफलता दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित पदार्थोंके साध्यपना न माना जाय, इसलिए इष्ट और अबाधित ये दो विशेषण दिये गये हैं ॥१८॥

मीमांसकके लिए शब्दको अनित्य कहना अनिष्ट है; क्योंकि वह शब्दको नित्य मानता है। शब्दको अश्रावण कहना अर्थात् वह कानसे नहीं सुना जाता है ऐसा कहना प्रत्यक्ष-बाधित है, क्योंकि वह कानसे सुना जाता है। आदि शब्दसे अनुमान-बाधित, आगम-बाधित, लोक-बाधित और स्ववचनबाधित पदार्थोंका ग्रहण करना चाहिए। इन अनुमान-बाधित आदिकोंके उदाहरण आगे अकिंचित्कार हेत्वाभासके निरूपणके समय ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे, इसलिए यहांपर उनका कथन नहीं करते हैं।

---

१. एकद्वित्र्यादिस्पर्शनम्। २. अनिश्चयेन गच्छत्तृणस्पर्श इव मार्गे गच्छतः पुरुषस्य कस्यचित्स्पर्शनं जातं तदा किमपि न चिन्तितम्, अथवा किञ्चिद् भविष्यतीति चिन्तितम्। पश्चाच्चिन्तयति मम कस्य स्पर्शनं जातम्; तृणस्यैव विषयस्य वेदनानुदयात्। ३. सन्दिग्धादीनाम्। ४. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्। ५. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः, पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्। ६. शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत्। ७. माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्। ८. सूत्रकारो माणिक्यनन्दिदेवः। ९. त्रयाणां मध्ये। १०. वादिनः साध्यं प्रसिद्धं प्रतिवादिनस्त्वसिद्धमिति। ११. भेदम्।

न[1] चासिद्धवदिष्टं[2] प्रतिवादिनः[3] ॥१९॥

अयमर्थः—न हि सर्वे सर्वापेक्षया विशेषणम्, अपि तु किञ्चित्[4] कमप्युद्दिश्य[5] भवतीति। असिद्धवदिति व्यतिरेकमुखेनोदाहरणम्। यथा—असिद्धं प्रतिवाद्यपेक्षया, न तथेष्टमित्यर्थः।

कुत एतदित्याह—

[6]प्रत्यायनाय हीच्छा[7] वक्तुरेव ॥२०॥

इच्छायाः खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते। प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेवेति।

साध्यके लक्षणमें कहे हुए उन तीन विशेषणोंमेंसे असिद्ध पद तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे है और इष्ट पद वादीकी अपेक्षासे है, ऐसा विशेष बतलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्धके समान इष्ट विशेषण प्रतिवादीकी अपेक्षासे नहीं है ॥१९॥

सूत्रका यह अर्थ है—सभी विशेषण सभीकी अपेक्षासे नहीं होते, अपितु कोई विशेषण किसीकी (वादीकी) अपेक्षासे होता है और कोई विशेषण किसी (प्रतिवादी) की अपेक्षासे होता है। असिद्धवत् यह उदाहरण व्यतिरेक मुखसे दिया गया है। जैसे असिद्धविशेषण प्रतिवादीकी अपेक्षासे कहा गया है, उस प्रकारसे इष्ट विशेषण नहीं, अर्थात् वह वादीकी अपेक्षासे दिया गया है, ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

ऐसा अर्थ क्यों लिया जाय इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि दूसरेको समझानेके लिए इच्छा वक्ता अर्थात् वादी को ही होती है, प्रतिवादीको नहीं ॥२०॥

इच्छाका विषयभूत पदार्थ इष्ट कहा जाता है। दूसरेको ज्ञान करानेकी इच्छा वक्ताके ही होती है।

भावार्थ—जो पहले अपने पक्षको स्थापित करता है, उसे वादी कहते हैं और जो उसका निराकरण करता है, उसे प्रतिवादी कहते हैं। अतः अपने पक्षको समझानेकी इच्छा वादीके ही होती है, प्रतिवादीके नहीं।

१. यथा प्रतिवादिनोऽसिद्धं तद्वदिष्टं न प्रतिवादिन इति व्यतिरेकेण प्रतिपादितम्। २. इष्टपदग्रहणं वाद्यपेक्षयैव, यथा प्रतिवाद्यपेक्षयाऽसिद्धपदग्रहणम्। ३. किन्तु वादिन एव। ४. विशेषणम्। ५. वादिनं प्रतिवादिनं वा। ६, यथैकस्य जनस्य पुत्रापेक्षया पितृव्यपदेशः, पित्रपेक्षया पुत्रव्यपदेश इति। ७. परप्रतिबोधनाय। ८. इत्थमेवेष्टमित्यर्थः।

[1]तच्च साध्यं धर्मः किं वा तद्विशिष्टो धर्मीति[2] प्रश्ने तद्भेदं दर्शयन्नाह—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२१॥

सोपस्काराणि[3] वाक्यानि भवन्ति। ततोऽयमर्थो लभ्यते—[4]व्याप्तिकालापेक्षया तु साध्यं धर्मः[5]। क्वचित्प्रयोगकालापेक्षया[6] तु तद्विशिष्टो धर्मी[7] साध्यः

अस्यैव धर्मिणो नामान्तरमाह—

पक्ष इति यावत् ॥२२॥

ननु धर्म-धर्मिसमुदायः पक्ष[8] इति [9]पक्षस्वरूपस्य [10]पुरातनैर्निरूपितत्वाद्धर्मि-

---

वह साध्य क्या धर्म होता है, अथवा धर्म-विशिष्ट धर्मी? ऐसा प्रश्न होनेपर उसका भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—कहींपर धर्म साध्य होता है और कहीं पर धर्म-विशिष्ट धर्मी साध्य होता है ॥२१॥

सूत्र-वाक्य अध्याहार-अर्थवाले होते हैं। इसलिए सूत्रका यह अर्थ प्राप्त होता है कि व्याप्तिकालकी अपेक्षा तो धर्म साध्य होता है और कहींपर प्रयोग-कालकी अपेक्षा धर्मसे विशिष्ट धर्मी साध्य होता है।

भावार्थ—जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता। इस प्रकारसे जब किसी शिष्यादिको साध्य-साधनका ज्ञान कराया जाता है, तब उसे व्याप्तिकाल कहते हैं। इस व्याप्तिकालमें अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है। इस पर्वतमें अग्नि है, क्योंकि वह धूमवाला है, इस प्रकारसे अनुमानके प्रयोग करनेको प्रयोगकाल कहते हैं, उस समय अग्निरूप धर्मसे विशिष्ट पर्वत ही साध्य होता है।

अब आचार्य इसी धर्मीका पर्यायवाची दूसरा नाम कहते हैं—

सूत्रार्थ—उसी धर्मीको पक्ष कहते हैं ॥ २२ ॥

शङ्का—धर्म और धर्मीके समुदायको पक्ष कहते हैं, ऐसा पक्षका स्वरूप

१. परप्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः। २. यथोक्तविशेषणविशिष्टो धर्मो धर्मी वेति विकल्पद्वयम्। ३. साध्याहाराणि। ४. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः। ५. प्रयोग-कालेऽपि धर्मः साध्यः; यथाऽस्ति सर्वज्ञः। ६. पर्वतोऽयं वह्निमान् अत्र वह्निविशिष्टः पर्वतः साध्यः। ७. प्रयोगकालापेक्षयापि धर्मी साध्यो भवति, धर्मिणः साध्यत्वे प्रयोगकाल एव नियमः। ८. ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यभिधीयते। व्याप्तिकाले भवेद्धर्मः साध्य-सिद्धौ पुनर्द्वयम् ॥१॥ प्रयोगकाले। ९. साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः। १०. अकलङ्क-देवादिभिः।

णस्तद्वचने कथं न [1]राद्धान्तविरोध इति ? नैवम्; साध्यधर्माधारतया विशेषितस्य धर्मिणः पक्षत्ववचनेऽपि दोषानवकाशात्। [2]रचनावैचित्र्यमात्रेण [3]तात्पर्यस्यानिराकृतत्वात् सिद्धान्ताविरोधात्।

अत्राह सौगतः—भवतु नाम धर्मी पक्षव्यपदेशभाक्; तथापि सविकल्पकबुद्धौ परिवर्तमान एव, न वास्तवः[4]। 'सर्व एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन[5] धर्म-धर्मिन्यायेन न 'बहिः सदसत्त्वमपेक्षते' इत्यभिधानादिति तन्निरासार्थमाह—

प्राचीन आचार्योंने निरूपण किया है, इसलिए धर्मीको ही पक्ष कहनेपर सिद्धान्तसे विरोध कैसे नहीं होगा ?

समाधान—नहीं होगा, क्योंकि साध्यधर्मके आधारसे विशेषित धर्मीको पक्ष कहनेपर भी किसी दोषका अवकाश नहीं है। शब्द-रचनामात्रकी विचित्रतासे तात्पर्यका निराकरण नहीं होता, अतः सिद्धान्तसे अविरोध है।

भावार्थ—यद्यपि सूत्रकारने केवल धर्मीको पक्ष कहा है, तथापि उनका अभिप्राय साध्यधर्मसे विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहनेका है। इससे धर्म-धर्मीके समुदायका अर्थ आ ही जाता है, अतः प्राचीन सिद्धान्तसे कोई विरोध नहीं आता।

यहाँपर बौद्ध कहते हैं कि भले ही धर्मी को पक्ष इस नामसे कहा जाय, तथापि वह धर्मी सविकल्पकबुद्धिमें ही वर्तमान है, वास्तविक नहीं, क्योंकि सर्व ही अनुमान-अनुमेयका व्यवहार विकल्पबुद्धिसे गृहीत धर्म-धर्मीके न्यायसे होता है अतः वह अनुमान-अनुमेयका व्यवहार बाहिरी सत् या असत् वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—बौद्धोंकी मान्यता है कि अनुमान एक विकल्प है; क्योंकि वह सामान्यको ग्रहण करता है। अनुमानमें जो धर्म और धर्मीका ग्रहण होता है वह विकल्प-बुद्धिके द्वारा ही होता है और विकल्प-बुद्धि (कल्पना-ज्ञान) अर्थके विना भी वासना-(संस्कार) मात्रसे उत्पन्न होजाती है। अतः अनुमान-अनुमेयके व्यवहारमें बाह्य पदार्थकी सत्ता या असत्ताकी अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् बाह्य वस्तुकी सत्ता या असत्ताकी अपेक्षाके विना ही विकल्प-बुद्धिसे गृहीत धर्म और धर्मीके द्वारा अनुमान अनुमेयका व्यवहार होता है। इससे बौद्धोंके मतानुसार यह सिद्ध हुआ कि

---

१. सिद्धान्त-। २. धर्मधर्मिसमुदायः पक्ष, इति रचनावैचित्र्यम्। ३. अर्थस्य। ४. यथा केशोण्डुकज्ञानमिति। ५. विकल्पबुद्धिगृहीतेन। सन्तानात् अपरामृष्टभेदाः सन्तानिन एव सन्तानो जलप्रवाहवद्यथा गतो जलप्रवाहो गत एव, पुनरन्य एवाऽऽगमिष्यति; तथापि सन्तानरूपेण एक एव व्यपदिश्यते। ६. बाह्यं वस्तु वर्तते तथापि क्षणिकं निर्विकल्पकज्ञानविषयम्; स्थिरस्थूलस्तस्य सदसत्त्वं नास्ति।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२३॥

अयमर्थः—नेयं विकल्पबुद्धिर्बहिरन्तर्वाऽनासादितालम्बन[1]भावा[2] धर्मिणं व्यवस्थापयति; [3]तदवास्तवत्वेन [4]तदाधारसाध्य-साधनयोरपि वास्तवत्त्वानुपपत्तेस्त[5]द्बुद्धेः[6] [7]पारम्पर्येणापि वस्तुव्यवस्था[8]निबन्धनत्वायोगात्। ततो [9]विकल्पेनान्येन[10] वा व्यवस्था-

---

धर्मीका प्रतिभास विकल्प-बुद्धिसे होनेके कारण उसकी सत्ता वास्तविक नहीं है।

आचार्य उनके इस कथनका निराकरण करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मी प्रसिद्ध अर्थात् प्रमाणसे सिद्ध होता है, काल्पनिक नहीं ॥ २३ ॥

बाह्य और अन्तरङ्ग पदार्थके आलम्बनभावसे रहित यह विकल्प बुद्धि धर्मीकी व्यवस्था नहीं करती है; क्योंकि उस धर्मीके अवास्तविक होनेसे उसके आधारभूत साध्य और साधनके भी वास्तविकता नहीं बन सकती है। इसलिए अनुमान-बुद्धिके परम्परासे भी वस्तुकी व्यवस्थाके कारणपनेका अयोग है।

विशेषार्थ—बौद्धोंके यहाँ दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्षका विषय स्वलक्षण है और अनुमानका विषय सामान्य है। उनका सामान्य नैयायिक आदिके सामान्यके समान वस्तु नहीं है, किन्तु अवस्तु है। तब प्रश्न यह होता है कि अवस्तुको विषय करनेके कारण अनुमानमें अप्रमाणता क्यों नहीं है। इसका उत्तर बौद्ध इस प्रकार देते हैं कि अनुमान-बुद्धि परम्परासे वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्तिका कारण होती है। अतः उसमें अप्रमाणताका प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। वह इस प्रकार है कि अनुमानमें विकल्पबुद्धिके द्वारा पहले धूम-सामान्यका ग्रहण होता है, फिर धूम-सामान्यसे अग्नि-सामान्यका ग्रहण होता है। इसके पश्चात् धूम-स्वलक्षणका और

१. अवलम्बनेति पाठान्तरम्। २. अप्राप्तविषयभावाः। ३. धर्मिणोऽवास्तवत्वेन। ४. पक्ष आधारो ययोस्तौ साध्यसाधनौ तयोः। ५. विकल्पग्राह्यधर्मिबुद्धेरिति प्रतिपादनानन्तरम्। ६. अनुमानबुद्धेः। ७. तथा धूमस्वलक्षणाद् दहनस्वलक्षणं तस्मात्तदनुभवस्तस्माद्धूमविकल्पस्तस्माद्वह्निविकल्प इति पारम्पर्येण ?। (धूमसामान्याद् वह्निसामान्यम् तस्माद् धूमविकल्पः, तस्माद् वह्निविकल्पः, तदनन्तरं धूमस्वलक्षणम्, तस्माद् वह्निस्वलक्षणं प्रत्येतीति पारम्पर्येण।) ८. तर्हि बौद्धानामनुमानं नष्टं ततो निर्विकल्पप्रत्यक्षप्रामाण्यमनुमानेन माऽस्तु। ९. विकल्पबुद्ध्या। १०. प्रमाणान्तरेण।

पितः[1] पर्वतादिर्विषयभावं[2] भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यत इति स्थितं प्रसिद्धो धर्मीति। तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्विकल्पतः[3] क्वचित्प्रमाणतः[4] क्वचिच्चोभयत[5] इति नैकान्तेन[6] विकल्पारूढस्य प्रमाणप्रसिद्धस्य वा धर्मित्वम्।

[7]ननु धर्मिणो विकल्पात्प्रतिपत्तौ किं तत्र साध्यमित्याशङ्कायामाह—

[8]विकल्पसिद्धे तस्मिन्[9] सत्तेतरे साध्ये ॥२४॥

धूम-स्वलक्षणसे अग्नि-स्वलक्षणका ग्रहण होता है। अतः परम्परासे वस्तुकी प्राप्तिमें कारण होनेसे अनुमानमें प्रमाणता है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि बौद्धों ने अनुमान बुद्धिको जो परम्परासे वस्तु-व्यवस्थाका कारण माना है, वह नहीं बन सकता है। क्योंकि जब धर्मीकी सत्ता अवास्तविक है, तब साध्य और साधनमें भी अवास्तविकताकी प्राप्ति होगी। अर्थात् साध्य और साधनका आधार ही जब अवास्तविक है तब आधेयभूत साध्य और साधन वास्तविक कैसे हो सकते हैं? इसलिए चाहे धर्मीको व्यवस्था विकल्पसे हो, या अन्य किसी प्रमाणसे हो, वह धर्मी तभी कहा जा सकता है, जब उसकी सत्ता वास्तविक मानी जाय। धर्मीको सत्ता वास्तविक माननेपर ही वह विकल्प बुद्धि या अन्य किसी प्रमाणका विषय हो सकता है और तभी उसके द्वारा उसकी व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यह बात स्थिर हुई कि धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि कहींपर विकल्पसे, कहींपर प्रमाणसे तथा कहींपर प्रमाण और विकल्प दोनोंसे होती है। इसलिए यह कोई एकान्त नहीं है कि केवल विकल्पसे गृहीत अथवा प्रमाणसे प्रसिद्ध पदार्थके ही धर्मीपना हो।

यहाँपर भाट्ट कहते हैं कि धर्मीकी विकल्पसे प्रतिपत्ति माननेपर उसमें साध्य क्या होगा? ऐसी आशङ्काके होनेपर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता और असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं॥ २४॥

---

१. निर्णीतः। २. विषयभावोऽस्ति चेद्धर्मी भवति, अन्यथा धर्मी न भवति, धर्मी नास्तीति वक्तुं न पार्यतेऽनुमानभङ्गो भवति यतः। ३. अनिश्चितसंवाद-विसंवादो विकल्पः शब्द-प्रत्यक्षयोः। ४. प्रत्यक्षादेः। ५. विकल्प-प्रमाणाभ्याम्। ६. नियमेन।

७. भाट्टः प्राह। ८. प्रमाणाप्रमाणसाधारणी शाब्दी प्रतीतिर्विकल्पः। ९. पक्षे मानसप्रत्यक्षसिद्धे।

तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सत्ता च तदपेक्षयेतराऽसत्ता च ते द्वेऽपि साध्ये; [1]सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणबलेन योग्यानुपलब्धिबलेन[2] चेति शेषः ।

अत्रोदाहरणमाह—

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥२५॥

सुगमम् ।

ननु[3] धर्मिण्यसिद्धसत्ताके[4] [5]भावाभावोभय[6]धर्माणा[7]मसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादनुमानविषयत्वायोगात् [8]कथं सत्तेतरयोः साध्यत्वम्? तदुक्तम्

जिस पक्षका किसी प्रमाणसे न तो अस्तित्व ही सिद्ध हो और न नास्तित्व ही सिद्ध हो, उस पक्षको विकल्पसिद्ध कहते हैं। उस विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता और उसकी अपेक्षा इतर जो असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं। सुनिश्चित असम्भव-बाधक प्रमाणके बलसे तो सत्ता साध्य है और योग्यकी अनुपलब्धिके बलसे असत्ता साध्य है, इतना वाक्य शेष है अर्थात् सूत्रमें नहीं कहा, सो ऊपरसे लेना चाहिए।

अब आचार्य विकल्पसिद्धका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—सर्वज्ञ है और खर-विषाण नहीं है ॥२५॥

यह सूत्र सुगम है।

भावार्थ—सर्वज्ञ है, यहाँपर सर्वज्ञ विकल्पसिद्ध धर्मी है, और उसका कोई सुनिश्चित बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता, इस हेतुसे उसकी सत्ता सिद्ध की जाती है। इसी प्रकार खर-विषाण नहीं है, यहाँपर खरविषाण भी विकल्पसिद्ध धर्मी है, और वह प्राप्त होनेके योग्य होकर भी पाया नहीं जाता, इस हेतुसे उसकी असत्ता सिद्ध की जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता और असत्ता दोनों साध्य हैं।

शङ्का—मीमांसक कहते हैं कि जिसकी सत्ता ही असिद्ध है ऐसे धर्मीके माननेपर उसमें साध्यसिद्धिके लिए दिया गया हेतु यदि धर्मी का भावरूप धर्म है तो वह असिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु यदि सर्वज्ञका भावरूप धर्म है तो सर्वज्ञके समान वह भी असिद्ध होगा। यदि उक्त हेतु धर्मीका अभावरूप धर्म है तो वह विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा। क्योंकि सर्वज्ञके अभाव धर्मरूप हेतुसे सर्वज्ञका

---

१. अस्ति सर्वज्ञः सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् प्रसिद्धवेदार्थ-ज्ञानिवत् । २. नास्ति खरविषाणं दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेर्घटवत्, नास्त्यत्र भूतले घट इति दृश्यानुपलब्धिबलेन वा । ३. मीमांसकः प्राह । ४. प्रमाणप्रत्यक्षाभावादविद्यमाने । ५. अस्तित्व- । ६. भावाभाव- । ७. हेतूनाम् । ८. आक्षेपः ।

[1]असिद्धो [2]भावधर्मश्चेद् [3]व्यभिचार्युभयाश्रितः[4] ।
[5]विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[6] सा सत्ता [7]साध्यते कथम्[8] ॥२१॥ इति

तदयुक्तम्; मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव [9]धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात्[10] । न च [11]तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि[12] प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्[13]; तदभ्युपेतमपि [14]वैयात्याद्यदा [15]परो न प्रतिपद्यते[16] तदाऽनुमानस्य साफल्यात् । न च मानसज्ञानाद् गगनकुसुमादेरपि सद्भावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः[17]; तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययव्यपा[18]कृतसत्ताकवस्तुविषयतया

अभाव ही सिद्ध होगा । और यदि उक्त हेतु सर्वज्ञका भाव और अभावरूप उभयधर्मवाला है तो वह अनैकान्तिक हो जायगा । क्योंकि उभय धर्मरूप हेतु सर्वज्ञके सद्भावके समान अभावको भी सिद्ध करेगा । जैसा कि कहा है—

यदि सुनिश्चितासम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु सर्वज्ञका भावरूप धर्म है, तो वह व्यभिचारी है । और यदि अभावके धर्मरूप है तो वह विरुद्ध है । ऐसी दशामें वह सर्वज्ञकी सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है ॥२१॥

समाधान—आपका उपर्युक्त कथन अयुक्त है; क्योंकि मानस-प्रत्यक्षमें भावरूप ही धर्मी प्रतिपन्न है अर्थात् प्रसिद्ध है । यदि कहा जाय कि जैसे मानस प्रत्यक्षमें धर्मीकी भावरूपसे प्रत्यक्षता है, तो उसी प्रकार उसका सत्त्वरूप धर्म भी प्रसिद्ध होगा अतः उसकी सिद्धिके लिए फिर अनुमानका प्रयोग करना व्यर्थ है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि हमारे द्वारा स्वीकार किया गया भी सर्वज्ञका सद्भाव धृष्टतासे जब कोई दूसरा व्यक्ति अङ्गीकार नहीं करता तब उसे सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी सार्थकता है ही । यदि

---

१. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादिति हेतुर्यदि सर्वज्ञभावधर्मश्चेत्तदा सर्वज्ञवद्धेतुरप्यसिद्धः, को हि नाम सर्वज्ञभावधर्ममिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् । २. हेतुर्यदि सर्वज्ञाभावधर्मश्चेत् । ३. हेतुर्यदि सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेत्तदा व्यभिचारी सपक्ष-विपक्षयोर्वृत्तेः । ४. हेतुर्यदि सर्वज्ञभावाभावधर्माश्रितश्चेत् । ५. हेतुर्यदि सर्वज्ञाभावधर्मश्चेत् । तथा विरुद्धो यतः सर्वज्ञाभावधर्मात्सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव साधनात् । ६. सर्वज्ञभावस्य । ७. स सत्तां साधयेत्कथमिति पाठान्तरम् । ८. सर्वज्ञास्तित्वनिराकरणार्थं कारिकेयम् ।

९. सर्वज्ञस्य । १०. प्रसिद्धत्वादस्तित्वं साध्यते । ११. सर्वज्ञ- । १२. धर्मस्यापि । १३. तथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षे भावरूपेण प्रत्यक्षत्वं तथा धर्मस्यापि प्रसिद्धत्वं वर्तते, किमनुमानेनेति मीमांसकाशङ्कनं परिहरति । १४. धार्ष्ट्यात् । १५. सर्वज्ञाभाववादी । १६. नाङ्गीकुरुते । १७. यथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षेण भावरूपत्वं परिहरति । (यथा धर्मिणो मानसप्रत्यक्षे भावरूपेण प्रसिद्धत्वं तथा धर्मस्यापि प्रसिद्धत्वं वर्तते, किमनुमानेनेति मीमांसकस्य दूषणमनूद्य दूषयति—) १८. विशेषेण निराकृतः व्यपाकृतः ।

मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्[1]। कथं तर्हि [2]तुरगशृङ्गादे[3]र्धर्मित्वमिति न चोद्यम्; धर्मिप्रयोगकाले [4]बाधकप्रत्ययानुदयात् [5]सत्त्वसम्भाव[6]नोपपत्तेः। न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सत्त्वं प्रति संशीतिः[7], सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र[8] संशयायोगात्।

इदानीं प्रमाणोभयसिद्धे[9] धर्मिणि किं साध्यमित्याशङ्कायामाह—

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता[10] ॥२६॥

कहें कि मानस ज्ञानसे आकाश-कुसुमादिके भी सद्भावकी सम्भावना है और उसके माननेपर अति प्रसङ्ग दोष आता है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि आकाश-कुसुमका ज्ञान बाधक प्रतीतिसे निराकरण कर दी गयी है सत्ता जिसकी ऐसी वस्तुको विषय करनेसे मानसप्रत्यक्षाभास है।

शङ्का—तो तुरङ्ग-शृङ्ग (घोड़ेके सींग) आदिके धर्मीपना कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्मीके प्रयोगकालमें बाधक प्रतीतिके उदय न होनेसे तुरङ्ग-शृङ्गादिके सत्त्वकी सम्भावना बन जाती है।

यदि कहा जाय कि सर्वज्ञ आदिकमें साधकप्रमाणका अभाव होनेसे उसकी सत्तामें सन्देह है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाणके बलसे जैसे सुख आदिके सद्भावका निश्चय है, उसी प्रकारसे सर्वज्ञके सद्भावका भी निश्चय है, अतः उसमें संशय सम्भव नहीं है।

अब प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीमें क्या साध्य है, ऐसी आशङ्का के होनेपर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीमें साध्य धर्मसे विशिष्टता अर्थात् संयुक्तता साध्य होती है ॥२६॥

---

१. अत्र गगनकुसुमादौ मानसप्रत्यक्षाभासत्वं कुतः? तत्र सर्वज्ञास्तित्वे मानसप्रत्यक्षत्वं कुतः? अनुमानसद्भावात्। गगनकुसुमादौ अनुमानाभावात् प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतिपादितम्। तथाहि—गगनकुसुमादिकं नास्ति दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेरिति गगनकुसुमादिसद्भावावेदकानुमानाभावात्तत्र सञ्जातमानसप्रत्यक्षस्य मानसप्रत्यक्षाभासत्वात्। २. तुरङ्गविषाणादेर्धर्मित्वं मास्त्विति शङ्कां परिहरति। ३. अयमादिशब्दः खरविषाणादिकमुररीकुर्वीत। ४. खरविषाणादिकं नास्ति, दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेरिति बाधकप्रत्ययानुदयात्। ५. अस्तित्वं धर्मि। ६. अश्वशृङ्गादेः। ७. सर्वज्ञसाधकं प्रमाणमस्ति, ततः सर्वज्ञास्तित्वे संशयो नास्ति। ८. सर्वज्ञास्तित्वे। ९. प्रमाणसिद्धे प्रमाणविकल्पसिद्धे च धर्मिणि। १०. साध्या।

'साध्ये' इतिशब्दः प्राक्[1] द्विवचनान्तोऽप्यर्थवशादेकवचनान्ततया सम्बध्यते 'प्रमाणं चोभयं च विकल्पप्रमाणद्वयम्[4]', ताभ्यां सिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मविशिष्टता साध्या। अयमर्थः—प्रमाणप्रतिपन्नमपि वस्तु[5] 'विशिष्टधर्माधारतया [6]विवादपदमारोहतीति[7] साध्यतां नातिवर्तत[8] इति[10]। एवमुभयसिद्धेऽपि योज्यम्।

प्रमाणोभयसिद्धं धर्मिद्वयं क्रमेण दर्शयन्नाह—

अग्निमानयं देशः[11] परिणामी शब्द[12] इति यथा ॥२७॥

'विकल्पसिद्धे' इत्यादि पूर्व सूत्रमें 'साध्ये यह द्विवचनान्त प्रयोग भी यहाँपर अर्थके वशसे एक वचनान्तके रूपसे सम्बद्ध किया गया है। प्रमाण और उभय अर्थात् विकल्प और प्रमाण इन दोनोंसे सिद्ध धर्मीमें साध्यधर्म विशिष्टता साध्य है। इसका यह अर्थ है कि प्रमाणसे जानी गई भी वस्तु विशिष्ट धर्मके आधाररूपसे विवादका विषय हो जाती है, अतः वह साध्यपनेका उल्लंघन नहीं करती है, अर्थात् साध्यकी कोटिमें आ जाती है। इसी प्रकार उभयसिद्धमें भी लगा लेना चाहिए।

अब आचार्य प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध इन दोनों धर्मियोंको क्रमसे दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे यह प्रदेश अग्निवाला है और शब्द परिणामी है ॥२७॥

यहाँ अग्निवाला पर्वत आदि प्रदेश प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है और शब्द उभयसिद्ध है; क्योंकि अल्पज्ञानवाले पुरुष अनियत दिग्देश-काल-व्याप्त सभी शब्दोंका निश्चय नहीं कर सकते। तथा सर्वदर्शीके अनियत दिग्देश-काल वर्ती शब्दोंके निश्चय होनेपर भी उसके लिए अनुमानका प्रयोग अनर्थक है।

---

१. पूर्वसूत्रे। २. अर्थक्रियावशाद्विभक्तिपरिणामः। ३. प्रसिद्धम्। ४. विकल्प-प्रमाणयोर्द्वयम्। ५. पर्वतादि। ६. अग्न्यादि-। ७. अग्निमत्त्वानग्निमत्त्वरूपम्। ८. हेतोः। ९. तदा धर्मविशिष्टता साध्या। १०. न निराक्रियते। ११. पर्वतादिदेशो हि प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धोऽग्निरूपविशिष्टधर्माधारतया तु साध्यो जातः। १२. यथा नियतदिग्देशवर्तमानकालावच्छिन्नाः शब्दाः श्रावणप्रत्यक्षसिद्धाः, न हि तथाऽनियतदिग्देशातीतानागतकालावच्छिन्नाः शब्दाः अस्माभिर्निश्चेतुं शक्यन्ते; तस्मात् श्रावणप्रत्यक्षसिद्धा वर्तमानशब्दाः प्रमाणसिद्धाः, अन्ये तु विकल्पसिद्धाः।

देशो हि प्रत्यक्षेण सिद्धः, शब्दस्तूभयसिद्धः। न हि प्रत्यक्षेणार्वाग्दर्शिभि[1]रनियतदिग्देशकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दा निश्चेतुं पार्यन्ते। सर्वदर्शिनस्तु तद्विषयेऽपि[2] तं[3] प्रत्यनुमानानर्थक्यात्।

[4]प्रयोगकालापेक्षया धर्मविशिष्टधर्मिणः साध्यत्वमभिधाय व्याप्तिकालापेक्षया साध्यनियमं दर्शयन्नाह—

व्याप्तौ[5] तु[6] साध्यं धर्म[7] एव ॥२८॥

सुगमम्।

धर्मिणोऽपि साध्यत्वे को दोष इत्यत्राह—

[8]अन्यथा तदघटनात्[9] ॥२९॥

भावार्थ—शब्द परिणमनशील है, यहाँपर नियत दिग्देशवर्ती वर्त्तमान कालवाले शब्दकी परिणमनशीलता तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है किन्तु और अनियत दिग्देशवर्ती वर्त्तमान भूत भविष्यत् कालवाले शब्दोंकी परिणमनशीलता विकल्पसे सिद्ध है, अतः शब्दको उभयसिद्ध धर्मी जानना चाहिए।

इस प्रकार प्रयोगकालकी अपेक्षासे धर्मविशिष्ट धर्मीको कह करके अब आचार्य व्याप्तिकालकी अपेक्षासे साध्यके नियमको दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्याप्तिकालमें तो धर्म ही साध्य होता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकारकी व्याप्तिके समय अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है, धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य नहीं होता।

यदि धर्मीको भी साध्य माना जावे तो क्या दोष है? आचार्य इस शङ्काका समाधान करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्यथा व्याप्ति घटित नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

---

१. किञ्चिद्दर्शिभिः पुरुषैः। २. अनियतदिग्देशाद्यवच्छिन्नशब्दविषयेऽपि। ३. सर्वज्ञं प्रति। ४. अनुमानप्रयोगापेक्षया। ५. यत्र तत्र धूमस्तत्र यत्र वह्निरिति व्याप्तौ। ६. तु भेदे प्रयोगकाले धर्मोऽपि साध्यो भवति, अस्ति सर्वज्ञः। न तु व्याप्तौ धर्मी साध्यः। ७. अग्निरेव, न हि वह्निविशिष्टपर्वतः। ८. व्याप्तौ धर्मिणः साध्यत्वे। ९. व्याप्त्यघटनात्। न हि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमान् पर्वतः, इति व्याप्तिः शक्या कर्तुम्; प्रत्यक्षादिना विरोधादनुमानासम्भवादिति व्याप्तौ साध्यविशिष्टधर्मिणः साध्यत्वेन हेतोरन्वयासिद्धेः।

उक्तविपर्ययेऽन्यथाशब्दः । धर्मिणः साध्यत्वे तदघटनात् व्याप्त्यघटनादिति हेतुः । न हि धूमदर्शनात्सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुम् ; प्रमाणविरोधात्[१] ।

[२]ननु अनुमाने पक्षप्रयोगस्यासम्भवात्[३] प्रसिद्धो धर्मीत्यादि[४]वचनमयुक्तम् ; तस्य[५] [६]सामर्थ्यलब्धत्वात् । [७]तथापि तद्वचने[८] पुनरुक्तताप्रसङ्गात् । अर्थादापन्नस्यापि[९] पुनर्वचनं पुनरुक्तमित्यभिधानादिति [१०]सौगतस्तत्राह—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय [११]गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३०॥

साध्यमेव धर्मस्तस्या[१२]धारस्तत्र सन्देहो महानसादिः पर्वतादिर्वेति । [१३]तस्यापनोदो

यहाँ अन्यथा शब्द ऊपर कहे गये अर्थके विपरीत अर्थमें दिया गया है । अर्थात् यदि व्याप्तिके समय धर्मको साध्य न बनाकर धर्मीको साध्य बनाया जावे तो व्याप्ति बन नहीं सकती, यह हेतु जानना चाहिए । इसका कारण यह है कि जहाँ-जहाँ धूम दिखाई दे, वहाँ सभी स्थानोंपर अग्निवाला पर्वत ही हो, ऐसी व्याप्ति नहीं की जा सकती है; क्योंकि ऐसा माननेमें प्रमाणसे विरोध आता है ।

यहाँ बौद्धोंका कहना है कि अनुमानमें पक्षका प्रयोग करना असम्भव है, इसलिए 'प्रसिद्धो धर्मी' इत्यादि वचन कहना अयुक्त है । पक्ष तो हेतुकी सामार्थ्यसे ही जाना जाता है, फिर भी यदि पक्षका कथन करते हैं, तो पुनरुक्त दोषका प्रसङ्ग आता है; क्योंकि अर्थसे प्राप्त होनेवाले पदार्थके पुनः कहनेको पुनरुक्त दोष कहते हैं, ऐसा कहा गया है । आचार्य इसका उत्तर देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्यधर्मके आधारमें उत्पन्न हुए सन्देहको दूर करनेके लिए गम्यमान भी पक्षका प्रयोग किया जाता है ॥ ३० ॥

साध्य वही हुआ धर्म, उसका आधार जो पक्ष उसमें यदि सन्देह हो जाय कि इस साध्यरूप धर्मका आधार प्रकृतमें महानस आदि है, अथवा

१. साध्यसाधनभावासम्भवात् । २. बौद्धः प्राह । ३. पक्षस्य हेतुसामर्थ्यलब्धत्वात्तद्वचनमयुक्तम् । ततः केवलो हेतुरेव हि वाच्यः । तथा चोक्तम्—तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते (सिद्धान्ते) तदवेदिनः । ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥१॥ ४. सूत्रम् । ५. पक्षस्य । ६. हेतुलब्धत्वात् ; साध्यसाधनसामर्थ्यप्राप्तत्वात् । त्रैरूप्यलिङ्गदर्शनेन अर्थादायातत्वात् । ७ सामर्थ्यलब्धत्वेऽपि । ८. धर्मिवचने । ९. पदार्थस्य । १०. तात्पर्यमिदम्—बौद्धवादिनोक्तम्—अग्निमान् । तं प्रतिवादिनोक्तम्—अग्निमान्न भवति, कथमग्निमत्त्वं ब्रूषे ? इत्युक्ते बौद्धवादी एकेनाप्यवयवेन हेतुना व्यवस्थापयत्यनुमानं धूमवत्त्वात् । बौद्धस्य मते एकावयवेन साध्यसिद्धिः । ११. व्याप्तिदर्शनद्वारेण । १२. पक्षः । १३. साध्यधर्माधारसन्देहस्य ।

व्यवच्छेदस्तदर्थं गम्यमानस्यापि[1] साध्य[2]साधनयोर्व्याप्यव्यापक[3]भावप्रदर्शनान्यथानुपपत्ते[4]-स्तदाधारस्य गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनं प्रयोगः ।

अत्रोदाहरणमाह —

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत्[5] ॥३१॥

साध्येन विशिष्टो धर्मी पर्वतादिस्तत्र साधनधर्मावबोधनाय[6] पक्षधर्मोपसंहारवत् पक्षधर्मस्य[7] हेतोरुपसंसार 'उपनयस्तद्वदिति । अयमर्थः—साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन तदाधारावगतावपि[9] [10]नियतधर्मिसम्बन्धिता[11]प्रदर्शनार्थं यथोपनयस्तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बधितावबोधनाय पक्षवचनमपीति । किञ्च—हेतुप्रयोगेऽपि [12]समर्थनमवश्यं वक्त-

---

पर्वत आदि है तो उस सन्देहके अपनोद अर्थात् व्यवच्छेद करनेके लिए गम्यमान भी—अर्थात् साध्य-साधनके व्याप्य-व्यापकभावरूप सम्बन्धका प्रदर्शन अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिए हेतुकी सामर्थ्यसे ज्ञात होनेवाले भी—पक्षका प्रयोग करना चाहिए ।

अब आचार्य इस विषयमें उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे साध्यसे युक्त धर्मीमें साधनधर्मके ज्ञान करानेके लिए पक्षधर्मके उपसंहाररूप उपनयका प्रयोग किया जाता है ॥ ३१ ॥

साध्य जो अग्निमत्त्व धर्म उससे विशिष्ट (संयुक्त) जो धर्मी पर्वतादिक उसमें साधनधर्मके ज्ञान करनेके लिए पक्षधर्मके उपसंहारके समान—पक्षधर्म जो हेतु उसके उपसंहारको उपनय कहते हैं—उसके समान । सूत्रका यह अर्थ है कि साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाले साधनके दिखलानेसे उसके आधारके अवगत हो जानेपर भी नियत धर्मीके साथ सम्बन्धपना बतलानेके लिए जैसे उपनयका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकारसे साध्यका विशिष्ट धर्मीके साथ सम्बन्धपना बतलानेके लिए पक्षका वचन भी आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि आपके मतानुसार हेतुका प्रयोग करनेपर भी समर्थन

---

१. साध्यसाधनसामर्थ्याज्ज्ञायमानस्यापि । २. यदि पक्षप्रयोगो न क्रियते तर्हि साध्यसाधनयोः व्याप्यव्यापकभावप्रदर्शनं विना न प्रवर्तते, अतः पक्षप्रयोगः कर्तव्य एव । ३. बौद्धमतमुद्भाव्य दूषयति । ४. पक्षं विना पक्षवचनप्रतिपादनमन्तरेणानेन हेतुना गम्यमानत्वात् । ५. धूमवांश्चायमिति यावत् । ६. प्रतिपादनाय । ७. साधनरूपस्य न तु साध्यरूपस्य । ८. तथा चायं धूमवान् । ९. साध्याधारपक्षावगतेऽपि, धर्मिणि परिज्ञातेऽपि । १०. सर्वं क्षणिकं तर्हि नियतस्य किमायातम् ? संवशब्दस्तर्हि हेतुना प्रसिद्धस्य प्रतिपादनं वृथैव । ११. भावे त्वतलौ । १२. समर्थनम् ।

ध्यम्; असमर्थितस्य हेतुत्वायोगात्। तथा च समर्थनोपन्यासादेव हेतोः 'सामर्थ्यसिद्धत्वाद्धेतुप्रयोगोऽनर्थकः[2] स्यात्। हेतुप्रयोगाभावे कस्य समर्थनमिति चेत्[3] पक्षप्रयोगाभावे क्व हेतुर्वर्ततामिति [4]समानमेतत्। तस्मात्कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन[5] पक्षधर्मत्वादिभेदेन[6] च त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानेन[7] पक्षप्रयोगोऽप्यभ्युपगन्तव्य एवेति।

अवश्य करना चाहिए, क्योंकि जिसका समर्थन न किया गया हो वह हेतु नहीं हो सकता। ऐसी दशामें हम जैनोंका कहना है कि जब समर्थनके उपन्यास (प्रतिपादन) से ही हेतु सामर्थ्य-सिद्ध है तब फिर भी हेतुका प्रयोग करना अनर्थक है। यदि आप कहें कि हेतुका प्रयोग नहीं करनेपर समर्थन किसका होगा? तो हम कहेंगे कि पक्षका प्रयोग नहीं करनेपर हेतु कहाँ रहेगा? इस विषयमें प्रश्नोत्तर समान हैं। इसलिए कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भके भेदसे, तथा पक्षधर्मत्वादिके भेदसे तीन प्रकारका हेतु कहकर और ऊपरसे समर्थन करनेवाले आप बौद्धोंको पक्षका प्रयोग भी स्वीकार करना चाहिए।

भावार्थ—बौद्ध लोग व्युत्पन्न पुरुषके लिए अनुमानके प्रयोग कालमें केवल हेतुका ही प्रयोग आवश्यक मानते हैं, पक्षका प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। उनके लिए आचार्यने यह कहा है कि पक्षके कहे विना साध्यके आधारमें सन्देह हो सकता है, उसके दूर करनेके लिए पक्षके प्रयोगकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह कही है कि बौद्धलोग हेतुका प्रयोग करनेके बाद ऊपरसे उसका समर्थन भी करते हैं। हेतुमें सम्भव असिद्ध, विरुद्धादि दोषोंका परिहार करके उसके साध्य सिद्ध करनेकी योग्यताके वचनको समर्थन कहते हैं। इसपर आचार्यने यह कहा है कि समर्थन करनेसे ही हेतु स्वतः सिद्ध है, फिर उसका भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसपर बौद्धोंने कहा कि हेतुके कहे विना समर्थन किसका होगा? तो आचार्यने उत्तर दिया कि पक्षका प्रयोग किये विना हेतु कहाँ रहेगा? इस प्रकार इस विषयमें आप लोग जितने भी प्रश्न उठावेंगे उनका उत्तर भी समान ही होगा। अतः आप लोग जब तीन प्रकारके हेतुका प्रयोग करके भी समर्थन आवश्यक समझते हैं, तब पक्षका प्रयोग आप लोगोंको करना ही चाहिए।

---

१. तस्य सामर्थ्यस्य लघुत्वात्। २. तथापि हेतुप्रयोगवचने पुनरुक्तता स्यात्; 'अर्थादापन्नस्यापि पुनर्वचनं पुनरुक्तम्' इत्यभिधानात्। ३. भो बौद्ध, एवं ब्रूषे चेत्? ४. उभयत्र समानम्। ५. बौद्धमते हेतुस्त्रिधा। ६. पक्षवृत्ति-सपक्षसत्त्व-विपक्षाद्व्यावृत्तिरूपास्त्रयो हेतवो द्वितीयप्रकारेण। ७. बौद्धेनेति शेषः।

अमुमेवार्थमाह—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३२॥

को[1] वा वादी प्रतिवादी चेत्यर्थः । किलार्थे[2] वा शब्दः । युक्त्या[3] पक्षप्रयोगस्यावश्यम्भावे कः किल न पक्षयति, पक्षं न करोति ? अपि तु करोत्येव । किं कृत्वा ? हेतुमुक्त्वैव, न पुनरनुक्त्वेत्यर्थः । समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषपरिहारेण स्वसाध्य साधन[4]-सामर्थ्य-प्ररूपण[5]प्रवणं[6] वचनम् । तच्च[7] हेतुप्रयोगोत्तरकालं परेणाङ्गीकृतमित्युक्त्वेति वचनम् ।

[9]ननु भवतु पक्षप्रयोगस्तथापि पक्षहेतुदृष्टान्तभेदेन त्र्यवयवमनुमानमिति साङ्ख्यः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयभेदेन चतुरवयवमिति मीमांसकः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमन-

अब आचार्य इसी उपर्युक्त अर्थको उनका उपहास करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—कौन ऐसा मनुष्य है जो कि तीन प्रकारके हेतुको कह करके उसका समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे ॥ ३२ ॥

कौन ऐसा वादी या प्रतिवादी पुरुष है, यह 'कः' पदका अर्थ है । 'वा' शब्द निश्चयके अर्थमें है । युक्तिसे पक्षका प्रयोग अवश्यम्भावी होनेपर कौन ऐसा वादी या प्रतिवादी है, जो पक्षका प्रयोग न करे, अपितु सभी करेंगे । क्या करके ? हेतुको कहके । अर्थात् हेतुके बिना कहे नहीं । हेतुके असिद्धत्व आदि दोषोंका परिहार करके अपने साध्यके साधन करनेकी सामर्थ्यके निरूपण करनेमें प्रवीण वचनको समर्थन कहते हैं । यह समर्थन हेतु प्रयोगके उत्तरकालमें बौद्धोंने स्वयं अङ्गीकार किया है, इस लिए सूत्रमें 'उक्त्वा' यह पद कहा है ।

अब यहाँपर सांख्य कहते हैं कि अच्छा पक्षका प्रयोग करना मान लिया जाय, तथापि अनुमानके दो अवयव (अङ्ग) नहीं, किन्तु पक्ष, हेतु और दृष्टान्त (उदाहरण) के भेदसे तीन अवयव अनुमानके मानना चाहिए । मीमांसक कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनयके भेदसे अनुमानके चार अवयव मानना चाहिए । यौग कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनके भेदसे पाँच अवयव अनुमानके मानना चाहिए । आचार्य इन सबके मतोंका निराकरण करते हुए स्वमत-सिद्ध प्रतिज्ञा

१. लौकिकः परीक्षको वा । २. निश्चयार्थे । ३. बौद्धैः खलु हेतोः समर्थनमङ्गीक्रियते, तत्तु पक्षप्रयोगाभावे न सम्भवति, तस्यासिद्धादिदोषपरिहाररूपत्वात् । असिद्धादिदोषपरिहारस्तु पक्षप्रयोगे सत्येव सम्भवति, नासतीति युक्त्या । ४. स्वेन हेतुना साध्यं तस्य सामर्थ्यं हेतुसमर्थनोपन्याससामर्थ्यं तस्य प्ररूपणं तत्र प्रवणं वचनम् । ५. साधकं पुस्तकान्तरस्थमिदं प्रतीतम् । ६. प्रकटीकरण- । ७. समर्थम् । ८. समर्थनम् । ९. साङ्ख्यादिः ।

भेदात्पञ्चावयवमिति यौगः[1]। तन्मतमपाकुर्वन् स्वमतसिद्धमवयवद्वयमेवोपदर्शयन्नाह—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं[2] नोदाहरणम् ॥३३॥

एतयोः पक्षहेत्वोर्द्वयमेव नातिरिक्त[4]मित्यर्थः। एवकारेणैवोदाहरणादिव्यवच्छेदे[5] सिद्धेऽपि परमतनिरासार्थं पुनर्नोदाहरणमित्युक्तम्।

[6]तद्धि किं [7]साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुतस्विद्[8] हेतोरविनाभावनियमार्थमाहोस्विद्[9] व्याप्तिस्मरणार्थमिति[10] विकल्पान्[11] क्रमेण दूषयन्नाह—

न हि [12]तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र[13] यथोक्त[14]हेतोरेव व्यापारात् ॥३४॥

तदुदाहरणं साध्यप्रतिपत्तेरङ्गं कारणं नेति सम्बन्धः। तत्र साध्यप्रतिपत्तौ यथोक्तस्य साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेतोर्व्यापारादिति।

और हेतु ये दो ही अनुमानके अवयव हैं यह दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं —

सूत्रार्थ—ये दोनों ही अनुमानके अङ्ग हैं, उदाहरणादिक नहीं ॥३३॥

पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमानके अङ्ग है अतिरिक्त नहीं, यह सूत्रके पूर्वार्धका अर्थ है। सूत्र पठित 'एव' पदसे उदाहरणादिका व्यवच्छेद सिद्ध होनेपर भी अन्य मतोंके निराकरण करनेके लिए उदाहरणादिक नहीं, ऐसा पुनः कहा है।

इतनेपर भी जो लोग उदाहरणका प्रयोग आवश्यक मानते हैं, आचार्य उससे पूछते हैं कि क्या साध्यका ज्ञान करानेके लिए उदाहरणका प्रयोग आवश्यक है, अथवा हेतुका अविनाभाव-नियम बतलानेके लिए, अथवा व्याप्तिका स्मरण करनेके लिए ? इस प्रकार तीन विकल्प उठाकर आचार्य क्रमसे दूषण देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह उदाहरण साध्यका ज्ञान करानेके लिए कारण नहीं है; क्योंकि साध्यके ज्ञानमें यथोक्त हेतुका ही व्यापर होता है ॥ ३४ ॥

वह उदाहरण साध्यकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) का अङ्ग अर्थात् कारण नहीं है, ऐसा सूत्रके अर्थका सम्बन्ध करना चाहिए। क्योंकि उस साध्यके

---

१. एकद्वित्रिचतुःपञ्चावयवं लिङ्गकं विदुः। सौगताऽर्हत×द्विसाङ्ख्यभाट्टयौगा* यथाक्रमम् ॥१॥ ×सेश्वर-निरीश्वरभेदात्। *नैयायिक-वैशेषिकाः। २. पक्षहेतुद्वयमेव। ३. कारणम्। ४. अधिकम्। ५. स्वमतनिश्चयो जायते। ६. तदुदाहरणमागत्य किं करोति ? ७. परिज्ञानार्थम्। ८. अथवा। ९. पुनरथवा। १०. गत्यन्तराभावाद्। ११. विकल्पत्रयान्। १२. उदाहरणम्। १३. साध्यपरिज्ञाने। १४. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य।

द्वितीयविकल्पं[1] [2]शोधयन्नाह—

[3]तदविनाभावनिश्चयार्थं[4] वा[5] विपक्षे[6] बाधकादेव[7] तत्सिद्धेः ॥३५॥

तदिति [अनु-] वर्तते, नेति च। तेनायमर्थः—तदुदाहरणं तेन साध्येनाविनाभावनिश्चयार्थं वा न भवतीति; विपक्षे[8] बाधकादेव[9] तत्सिद्धेरविनाभावनिश्चयसिद्धेः।

किञ्च[10]—[11]व्यक्तिरूपं निदर्शनं[12] तत्कथं [13]साकल्येन [14]व्याप्तिं गमयेत्? व्यक्त्यन्तरेषु[15] व्याप्त्यर्थं पुनरुदाहरणान्तरं मृग्यम्। तस्यापि [16]व्यक्तिरूपत्वेन [17]सामस्त्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वादपरापर-[18]तदन्तरापेक्षायामनवस्था[19] स्यात्।

ज्ञान करानेमें यथोक्त अर्थात् साध्यके साथ अविनाभावरूपसे निश्चित हेतुका व्यापार होता है।

अब आचार्य दूसरे विकल्पका शोधन कहते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह उदाहरण अविनाभावके निश्चयके लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्षमें बाधकप्रमाणसे ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

इस सूत्रका अर्थ करते हुए 'तत्' और 'न' इन दो पदोंकी अनुवृत्ति करना चाहिए। तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि वह उदाहरण उस साध्यके साथ अविनाभावसम्बन्धका निश्चय करनेके लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विपक्षमें बाधकप्रमाणके बलसे ही उसकी सिद्धि हो जाती है; अर्थात् अविनाभावका निश्चय हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि उदाहरण एक व्यक्तिरूप होता है, वह सर्वदेशकालके उपसंहारसे व्याप्तिका ज्ञान कैसे करायगा? अन्य व्यक्तियों में व्याप्तिके ज्ञान करानेके लिए अन्य उदाहरणका अन्वेषण करना आवश्यक होगा? पुनः वह अन्य उदाहृण भी व्यक्तिरूप होगा, अतः सर्व देशकालके उपसंहारसे

---

१. हेतोरविनाभावनियमार्थं वेति। २. शुद्धिं कुर्वन्। ३. साध्याविनाभाव-। ४. एतदर्थं वा, नेति वा शब्दः। ५. तन्न। ६. हेतोरविनाभावसिद्धिर्विपक्षे महाह्रदे नास्तीति बाधकादेव सिद्धिर्नतूदाहरणेन। ७. वन्ह्यभाववति महाह्रदे धूमत्वस्य हेतोर्बाधकसद्भावादेव। ८. जलाशयादौ। ९. तर्कादेव। १०. दूषणान्तरम्। ११. सामान्ये बहवो विशेषाः सन्ति, तेष्वेको विशेषो व्यक्तिः। विशेषरूपम्। १२. उदाहरणम्। १३. सर्वदेशकालोपसंहारेण। १४. सामान्यरूपाम्। १५. अन्यविशेषेषु। १६. विशेषाधारत्वेनात्र महानसे वर्ततेऽन्यत्राप्येवमेव। १७. यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यनेन। १८. अन्यान्योदाहरणान्तरापेक्षायाम्। १९. व्याप्तिसन्देहापनोदाय यद्युदाहरणं मृग्यं तदा तत्रापि सामान्येन व्याप्तिसन्देहापनोदायोदाहरणान्तरेण भवितव्यमित्येवमनवस्था स्यात्।

एतदेवाऽऽह—

[1]व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि[2] [3]तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं[4] स्याद् [5]दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥३६॥

[6]तत्रापि उदाहरणेऽपि तद्विप्रतिपत्तौ सामान्यव्याप्तिविप्रतिपत्तावित्यर्थः। शेषं व्याख्यातम्॥

तृतीयविकल्पे दूषणमाह—

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं [7]तथाविधहेतुप्रयोगादेव [8]तत्स्मृतेः ॥३७॥

वह भी व्याप्तिका निश्चय करानेके लिए अशक्य होगा। इस प्रकार अन्य अन्य उदाहरणोंकी अपेक्षा करनेपर अनवस्थादोष प्राप्त होगा। अतः अविनाभावके निश्चयके लिए भी उदाहरणकी आवश्यकता नहीं है।

आचार्य इसी बातको उत्तर सूत्र-द्वारा प्रकट करते हैं—

सूत्रार्थ—निदर्शन (उदाहरण) व्यक्तिरूप होता है और व्याप्ति सामान्यसे सर्व-देशकालकी उपसंहारवाली होती है। अतः उस उदाहरणमें भी विवाद होनेपर अन्य दृष्टान्तकी अपेक्षा पड़नेसे अनवस्था दोष प्राप्त होगा॥ ३६॥

उस उदाहरणमें भी, तद्विप्रतिपत्ति अर्थात् सामान्य व्याप्तिमें विवाद होनेपर यह अर्थ लेना चाहिए। सूत्रके शेष पदोंका अर्थ पहले कहा ही जाचुका है।

अब आचार्य तीसरे विकल्पमें दूषण कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्याप्तिका स्मरण करनेके लिए भी उदाहरणका प्रयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि साध्यके विना नहीं होनेवाले हेतुके प्रयोगसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है॥ ३७॥

---

१. विशेषाधारत्वेन विशेषरूपम्। २. उदाहरणेऽपि। ३. व्याप्ति-। ४. उदाहरणं व्यक्तिरूपं तत्र स्थिता व्याप्तिः सामान्यरूपा, अन्यत्र प्रदेशे ईदृशी व्याप्तिर्भविष्यति, तत्र सन्देहस्तन्निरासार्थमुदाहरणं वक्तव्यम्। तत्रापि सामान्यव्याप्तिसद्भावस्तत्परिहारार्थं पुनरुदाहरणं मृग्यमेवमनवस्था। ५. अविद्यापेक्षया, न तु प्रतिपाद्यापेक्षया, तेषामुदाहरणप्रतिपादने मतिर्विश्राम्यति यतो नाग्रे प्रसरति। ६. उदाहरणं वाच्यम्, तथाऽन्यत्र प्रदेशे वर्तते। तत्राप्युदाहरणं वाच्यमेवमनवस्था महानसे धूमाऽग्न्योर्व्याप्तिर्वर्तते, तथाऽन्यत्र प्रदेशे भवितव्यम्, तत्रोदाहरणं वक्तव्यम्, पुनरन्यत्र। ७. साध्याविनाभावि-। ८. व्याप्ति-।

[1]गृहीतसम्बन्धस्य [2]हेतुप्रदर्शनेनैव व्याप्तिसिद्धिः । अगृहीतसम्बन्धस्य[3] [4]दृष्टान्तशतेनापि न [5]तत्स्मरणम्; अनुभूतविषयत्वात्स्मरणस्येति भावः ।

तदेवमुदाहरणप्रयोगस्य साध्यार्थं प्रति नोपयोगित्वम्; प्रत्युत[7] संशयहेतुत्वमेवेति दर्शयति—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने [8]सन्देहयति ॥३८॥

तदुदाहरणं परं केवलमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यविशिष्टे धर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति सन्देहवती करोति। [9]दृष्टान्तधर्मिणि साध्यव्याप्तसाधनोपदर्शनेऽपि साध्यधर्मिणि[10] तन्निर्णयस्य[11] कर्तुमशक्यत्वादिति शेषः ।

जिसने साध्यके साथ साधनका सम्बन्ध ग्रहण किया है, ऐसे पुरुषको तो हेतुके दिखलानेसे ही व्याप्तिकी सिद्धि हो जायगी । और जिसने अविनाभावके सम्बन्धको ग्रहण नहीं किया है, ऐसे पुरुषको सैकड़ों दृष्टान्तोंसे भी व्याप्तिका स्मरण नहीं होगा; क्योंकि स्मरण तो पहले अनुभव किये हुए पदार्थका ही होता है, ऐसा इस सूत्रका भाव है ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उदाहरणका प्रयोग साध्यके लिए उपयोगी नहीं है; प्रत्युत संशयका ही कारण है, यह बात आचार्य दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—उपनय और निगमनके विना यदि केवल उदाहरणका प्रयोग किया जाय, तो वह साध्यधर्मवाले धर्मीमें साध्यके सिद्ध करनेमें सन्देह करा देता है ॥ ३८ ॥

वह उदाहरण पर अर्थात् केवल कहा गया साध्यधर्मी अर्थात् साध्यविशिष्ट धर्मीमें साध्यके साधन करनेमें सन्देहवाला कर देता है । दृष्टान्त-

---

१. निश्चितसम्बन्धस्य पुरुषस्य । २. दृष्टान्तस्तु व्याप्तिं स्मारयतीति साङ्ख्याभिप्रायं दूषयति । गृहीतसम्बन्धस्यागृहीतसम्बन्धस्येति विकल्पद्वयम् । ३. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः । ४. महानसे केवलं धूमाग्निसम्बन्धं जानाति, परन्त्वनियतरूपाया व्याप्तिर्यत्रधूमस्तत्राग्निरिति सम्बन्धग्रहणं यस्य नास्ति तस्य । ५. नालिकेरद्वीपायातस्य पुंस इव, उदाहरणप्रयोगे अनेकदूषणप्रसङ्गात्; एवमुक्तन्यायेन । ६. व्याप्तिस्मरणम् । ७. व्यावृत्त्य विशेषतः । ८. हेतुप्रयोगादेव यदि साध्यसाधने सन्देहो न भवेत्तर्हि तथा चायं तस्मात्तथेत्युपनयनिगमने किमर्थे ! ९. महानसादौ । १०. पर्वतादौ महानसवद् धूमदर्शनादग्निरस्ति न वेति सन्देहो भवति । अविनाभावे हेतावपि न सन्देहः, किन्तु अविनाभाविहेतुनैव व्याप्तिर्यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिधूमत्वसाधनेन, न तूदाहरणेन । पर्वतादौ । ११. साध्यव्याप्तसाधननिर्णयस्य ।

अमुमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन समर्थयमानः प्राह—

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥३६॥

[1]अन्यथा संशयहेतुत्वाभावे[2] [3]कस्माद्धेतो[4]रुपनयनिगमने प्रयुज्येते।

अपरः[5] प्राह—उपनयनिगमनयोरप्यनुमानाङ्गत्वमेव; तदप्रयोगे[6] निरवकरसाध्य-संवित्तेरयोगादिति। तन्निषेधार्थमाह—

न च ते तदङ्गे; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥४०॥

ते उपनयनिगमनेऽपि वक्ष्यमाणलक्षणे तस्यानुमानस्याङ्गे न भवतः; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययो[7]र्वचनादेवेत्येवकारेण [8]दृष्टान्तादिकमन्तरेणेत्यर्थः[9]।

धर्मीमें साध्य व्याप्त साधनके दिखलानेपर भी पर्वतादिक साध्यधर्मीमें साध्य-व्याप्त साधनका निर्णय करना अशक्य है, इतना वाक्य सूत्रमें शेष (अनुक्त) समझना चाहिए।

अब इसी ही अर्थको व्यतिरेक-मुखसे समर्थन करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्यथा उपनय और निगमनका प्रयोग क्यों किया जाता ॥३९॥

अन्यथा अर्थात् यदि उदाहरणका प्रयोग संशयका कारण न होता, तो किस कारणसे उपनय और निगमनका प्रयोग किया जाता?

यहाँपर यौग कहते हैं कि उपनय और निगमन भी अनुमानके ही अङ्ग हैं; क्योंकि उनका प्रयोग नहीं करनेपर असंदिग्धरूपसे साध्यका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। उनके इस कथनका निषेध करनेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उपनय और निगम भी अनुमानके अङ्ग नहीं हैं; क्योंकि हेतु और साध्यके बोलनेसे ही साध्य धर्मवाले धर्मीमें संशय नहीं रहता है ॥४०॥

जिनका लक्षण आगे कहा जानेवाला है, ऐसे वे उपनय और निगमन भी उस अनुमानके अङ्ग नहीं हैं; क्योंकि साध्यधर्मीमें हेतु और साध्यके वचनसे ही सन्देह नहीं रहता है। यहांपर दिए गये 'एव' पदसे दृष्टान्तादिकके विना यह अर्थ लेना चाहिए।

---

१. उदाहरणं हि यदि साध्यविशिष्टधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहवती न करोति चेत्। २. उदाहरणस्य। ३. किमर्थम्। ४. निमित्तात्, कारणात्।

५. यौगः प्राह। ६. निःसंशय-। ७. संशयो न भविष्यति। ८. आदिपदेनोपनयनिगमने। ९. साध्यसंवित्तिः।

[1]किञ्चाभिधायापि[2] दृष्टान्तादिकं [3]समर्थनमवश्यं वक्तव्यम्; असमर्थितस्याहेतुत्वादिति। तदेव[4] वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु; साध्यसिद्धौ [5]तस्यैवोपयोगात्। नोदाहरणादिकम्। एतदेवाऽऽह—

समर्थनं [6]वा वरं [7]हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु; साध्ये तदुपयोगात्।

प्रथमो वाशब्द एवकारार्थे। द्वितीयस्तु पक्षान्तरसूचने। शेषं सुगमम्।

ननु दृष्टान्तादिक[8]मन्तरेण मन्दधियामवबोधयितुमशक्यत्वात् कथं पक्षहेतुप्रयोगमात्रेण[9] तेषां साध्यप्रतिपत्तिरिति? तत्राह—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे[10] शास्त्र एवासौ,
न[11] वादेऽनुपयोगात्[12] ॥४२॥

दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त आदिकको कह करके भी आपकी मान्यताके अनुसार समर्थन अवश्य ही कहना चाहिए; क्योंकि जिस हेतुका समर्थन न हुआ हो, वह हेतु ही नहीं हो सकता। इसलिए वह समर्थन ही हेतुका उत्तम रूप है और उसे ही अनुमानका अवयव मानना चाहिए; क्योंकि साध्यकी सिद्धिमें उसका ही उपयोग है। उदाहरण आदिको नहीं कहना चाहिए। आचार्य इसी बातको दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—समर्थन ही हेतुका वास्तविक रूप है, अतः वही अनुमानका अवयव माना जाय; क्योंकि साध्यकी सिद्धिमें उसीका उपयोग होता है ॥४१॥

सूत्र-पठित प्रथम 'वा' शब्द एवकारके अर्थमें है और द्वितीय 'वा' शब्द अन्य पक्षकी सूचना करता है। शेष सूत्रार्थ सुगम है।

यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि दृष्टान्तादिकके विना मन्दबुद्धि जनोंको ज्ञान कराना अशक्य है; अतः पक्ष और हेतुके प्रयोगमात्रसे उन्हें साध्यका ज्ञान कैसे हो जायगा? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—मन्द बुद्धिवाले बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिए उन उदाहरणादि तीन अवयवोंके मान लेनेपर भी शास्त्रमें ही उनकी स्वीकारता है, वादमें नहीं; क्योंकि वाद (शास्त्रार्थ) में उनका उपयोग नहीं है ॥४२॥

---

१. सङ्ख्याविघटनदूषणमस्ति। २. कथयित्वा। ३. विपक्षे बाधकप्रमाणसमर्थनम्। ४. समर्थनमेव। ५. समर्थनस्य हेतुरूपस्य। ६ दर्शनमेव समर्थनमेव, न पक्षधर्मत्वादि। ७. हेतुरूपमेवावयवो भवतु। हेतुलक्षणं कीदृशम्? दृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणत्रिरूपत्वप्रदर्शनस्वरूपम्। ८. आदिपदेनोपनयनिगमनग्रहणम्। ९. दृष्टान्तोपनयनिगमनाभावे मात्रग्रहणम्।

१०. दृष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाभ्युपगमे। ११. उपगमः। १२. अप्रयोजनात्।

बालानामल्पप्रज्ञानां व्युत्पत्त्यर्थं तेषामुदाहरणादीनां त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ तस्योपगमो न वादे। न हि वादकाले शिष्या व्युत्पाद्याः, व्युत्पन्नानामेव [1]तत्राधिकारादिति।

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगम इत्यादिना शास्त्रेऽभ्युपगतमेवोदाहरणादित्रयमुपदर्शयति—

दृष्टान्तो द्वेधा— अन्वय-व्यतिरेकभेदात् ॥४३॥

दृष्टौ अन्तौ[4] साध्यसाधनलक्षणौ [5]धर्मौ [2]अन्वयमुखेन व्यतिरेकद्वारेण वा यत्र[3] स दृष्टान्त इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाकरणात्। स द्वेधैवोपपद्यते।

तत्रान्वयदृष्टान्तं दर्शयन्नाह—

[8]साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते[6] सोऽन्वयदृष्टान्तः[9] ॥४४॥

अल्प बुद्धिवाले बालकोंके ज्ञान करानेके लिए उन उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंके स्वीकार कर लेनेपर भी शास्त्रके पठन-पाठनकालमें ही उनका उपयोग है, वादमें नहीं। वादके समय शिष्योंको समझाया नहीं जाता; क्योंकि वादमें तो व्युत्पन्न पुरुषोंका ही अधिकार होता है।

बाल-व्युत्पत्तिके लिए उन तीनोंको स्वीकार किया गया है, अतः शास्त्रमें स्वीकृत उन उदाहरणादिक तीनों अवयवोंका स्वरूप बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दृष्टान्त दो प्रकारका है—अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेकदृष्टान्त ॥४३॥

जहाँपर साध्य और साधन लक्षणवाले दोनों धर्म अन्वयमुखसे अथवा व्यतिरेकरूपसे देखे जावें, वह दृष्टान्त कहलाता है, दृष्टान्तकी ऐसी अन्वर्थ संज्ञा जानना चाहिए। वह दृष्टान्त दो प्रकारका ही सम्भव है।

उनमें से अन्वय दृष्टान्तको दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जहाँपर साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति दिखलाई जावे, वह अन्वयदृष्टान्त है ॥४४॥

---

१. वादे। २. हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वमन्वयः। ३. साध्याभावे हेत्वभावो व्यतिरेकः। ४. अन्तः पदार्थसामीप्यधर्मसत्त्यन्यनीतिषु इति धनञ्जयः। ५. धर्मः पुण्यं यमन्यायस्वभावाचारसोमपाः। ६. न तत्रोपलब्धिहेतोर्विवक्षा। ७. वस्तुनि। ८. सामान्यतः स्वरूपं दृष्टान्तेनोक्तम्, विशेषतस्तु तत्स्वरूपं साध्यव्याप्तमित्यादिना दर्शयति। ९. यथाऽग्नौ साध्ये महानसादिः।

[1]साध्येन व्याप्तं नियतं[2] साधनं हेतुर्यत्र दर्श्यते [3]व्याप्तिपूर्वकतयेति भावः[4]।

द्वितीयभेदमुपदर्शयति—

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः[5] ॥४५॥

[6]असति असद्भावो[7] व्यतिरेकः। तत्प्रधानो दृष्टान्तो व्यतिरेकदृष्टान्तः[8]। साध्याभावे साधनस्याभाव एवेति [9]सावधारणं द्रष्टव्यम्।

क्रमप्राप्तमुपनयस्वरूपं निरूपयति—

हेतोरुपसंहार उपनयः[10] ॥४६॥

पक्षे इत्यध्याहारः। तेनायमर्थः—हेतोः पक्षधर्मतयोपसंहार उपनय इति।

निगमनस्वरूपमुपदर्शयति—

साध्यके साथ निश्चयसे व्याप्ति रखनेवाला साधन जहाँपर दिखलाया जावे वह अन्वयदृष्टान्त है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर।

अब दृष्टान्तके दूसरे भेदको बतलाते हैं

सूत्रार्थ—जहाँपर साध्यके अभावमें साधनका अभाव कहा जावे, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है ॥४५॥

साध्यके अभावमें साधनका अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है। व्यतिरेकप्रधान दृष्टान्तको व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं होता, यथा जलाशय। इस प्रकार साध्यके अभावमें साधनका अभाव हो ही, ऐसा अवधारणरूप एवकार यहाँपर जानना चाहिए।

अब क्रम-प्राप्त उपनयका स्वरूप-निरूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—हेतुके उपसंहारको उपनय कहते हैं ॥४६॥

यहाँपर पक्ष इस पदका अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होता है कि हेतुका पक्षधर्मरूपसे उपसंहार करना अर्थात् 'उसी प्रकार यह धूमवाला है' इस प्रकारसे हेतुका दुहराना उपनय है।

अब आचार्य निगमनका स्वरूप दिखलाते हैं—

---

१. जन्यजनकादिभावेन। २. अविनाभावित्वेन निश्चितम्। ३. धूमजलयोर्व्याप्तिः स्यादिति शङ्कां परिहरति—न धूमजलयोर्व्याप्तिस्तत्र जन्यजनकत्वाभावात्। यो यज्जन्यस्तेन तस्य व्याप्तिरिति नियमात्। ४. अभिप्रायः। भावः पदार्थचेष्टात्मसत्ताभिप्रायजन्मसु। ५. यथाऽग्नौ साध्ये महाह्रदादिः। ६. साध्याभावे। ७. साधनाभावः। ८. मध्यमपदलोपी समासः। ९. एवकारः। सामान्यनियमं सावधारणम्। १०. साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरुच्चार्यते हेतुर्येन स उपनयः।

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्[1] ॥४७॥

उपसंहार इति [अनु-] वर्तते। प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनमित्यर्थः। ननु शास्त्रे दृष्टान्तादयो वक्तव्या एवेति[2] नियमानभ्युपगमा-त्कथं[3] [4]तत्त्रयमिह सूरिभिः [5]प्रपञ्चितमिति न चोद्यम्; स्वयमनभ्युपगमेऽपि प्रतिपाद्या-नुरोधेन[6] जिनमतानुसारिभिः प्रयोगपरिपाट्याः[7] प्रतिपन्नत्वात्[8]। सा[9] चाज्ञात[10]तत्स्व-रूपैः[11] कर्तुं न शक्यत इति [12]तत्स्वरूपमपि शास्त्रेऽभिधातव्यमेवेति।

तदेवं मतभेदेन द्वि-त्रि-चतुः पञ्चावयवरूपमनुमानं द्विप्रकारमेवेति दर्शयन्नाह—

तदनुमानं द्वेधा ॥४८॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञाके उपसंहारको निगम कहते हैं ॥४७॥

इस सूत्रमें उपसंहार पदकी अनुवृत्ति की गई है। प्रतिज्ञाका उपसंहार अर्थात् साध्य धर्म-विशिष्टताके साथ कि धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला है, इस प्रकार प्रतिज्ञाका दुहराना निगमन है।

शङ्का—शास्त्रमें दृष्टान्त आदिक कहना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं माना गया है, फिर आचार्योंने यहांपर उन तीनोंका कथन क्यों किया है?

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वयं नहीं स्वीकार करके भी प्रतिपाद्य (शिष्य) के अनुरोधसे जिनमतका अनुसरण करनेवाले आचार्योंने प्रयोगकी परिपाटीको स्वीकार किया है। जिन्होंने उन उदाहर-णादिकोंका स्वरूप नहीं जाना है, वे लोग प्रयोग-परिपाटीको कर नहीं सकते हैं। अतः उनकी जानकारीके लिए उनका स्वरूप भी शास्त्रमें कहना ही चाहिए। इसलिए यहाँपर उदाहरणादिका स्वरूप आचार्यने कहा है।

इस प्रकार मत-भेदकी अपेक्षा दो, तीन, चार और पांच अवयवरूप जो अनुमान है वह दो प्रकारका ही है यह दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकारका है ॥४८॥

---

१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते येन तन्निगमनमिति। २. साङ्ख्यादयः प्राहुः। ३. यदा शिष्यो व्युत्पन्नो भवति तदा शास्त्र-प्रतिपादनकाले दृष्टान्तादिकं प्रतिपाद्यं न भवति, प्रयोजनाभावात्। यदा तु शिष्योऽव्युत्पन्नो भवति तदा शास्त्रे तेभ्य उपदेशादिति। ४. भवतां जैनानाम्। ५. दृष्टान्तोपनयनिगमन-त्रयमिति। ६. विस्तारितम्। ७. शिष्यानुरोधेन। ८. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्ग-मङ्गयते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः ॥ १ ॥ ९. अङ्गीकारकृतत्वात्। १०. प्रयोगपरिपाटी। ११. दृष्टान्तादीनाम्। १२. पुरुषैः। १३. अनुमानस्वरूपमपि।

तद्द्वैविध्यमेवाऽऽह—

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥

स्वपरविप्रतिपत्तिनिरासफलत्वाद् द्विविधमेवेति भावः।

स्वार्थानुमानभेदं दर्शयन्नाह—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५०॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति प्रागुक्तं लक्षणं यस्य तत्तथोक्तमित्यर्थः।

द्वितीयमनुमानभेदं दर्शयन्नाह—

[1]परार्थं तु [2]तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५१॥

अब आचार्य उन दोनों भेदोंको बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान ॥४९॥

स्व और परके विवादको निराकरण करना ही दोनों प्रकारके अनुमानों का फल है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

भावार्थ—स्व-विषयक विवादका निराकरण करना स्वार्थानुमानका फल है और परके विवादका निराकरण करना परार्थानुमानका फल है।

अब स्वार्थानुमानका स्वरूप बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमानका लक्षण कहा जा चुका है ॥५०॥

साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, ऐसा जो पहले अनुमानका लक्षण कह आये हैं, वही स्वार्थानुमानका स्वरूप जानना चाहिए।

भावार्थ—दूसरेके उपदेश विना स्वतः ही साधनसे साध्यका जो अपने लिए ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

अब अनुमानके दूसरे भेदका स्वरूप बतलानेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस स्वार्थानुमानके विषयभूत अर्थका परामर्श करनेवाले वचनोंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं ॥५१॥

---

१. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणस्य परार्थानुमानेऽपि सद्भावात् स्वार्थपरार्थानुमानयोः को भेद इति शङ्कायामाह। [अथवा] ननु परार्थमविशेषरूपं भवति विशेषे सामान्यं प्रवर्तनीयम्, प्रागुक्तं लक्षणमत्रापि वक्तव्यम्? सामान्यं विहाय विशेषस्तु प्रवर्तते एवं चेत् परार्थ मुनार्थानुमानं भवति, इति शङ्का सा परिहर्तव्या? वचनमपि साधनं न भवति, अविनाभावप्रतिपादकत्वात् साधकत्वं तत्सामान्यमागतम्। २. धूमाद्वन्हिविज्ञानमनुमानमित्यर्थपरामर्शि यद्वचनं तस्माद्वचनरूपसाधनात्

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधनलक्षणः । तं[1] [2]परामृशतीत्येवं शीलं तदर्थ-परामर्शि । तच्च तद्वचनं च तस्माज्जातमुत्पन्नं विज्ञानं[3] परार्थानुमानमिति । ननु[4] वचना-त्मकं[5] परार्थानुमानं प्रसिद्धम् । तत्कथं तदर्थप्रतिपादकवचनजनितविज्ञानस्य परार्थानुमान-त्वमभिदधता[6] न संगृहीतमिति न वाच्यम्; [7]अचेतनस्य [8]साक्षात्प्रमितिहेतुत्वाभावेन [9]निरुपचरितप्रमाणभावाभावात् । [10]मुख्यानुमानहेतुत्वेन [11]तस्योपचरिता[12]नुमानव्यपदेशो[13] न वार्यत एव ।

उस स्वार्थानुमानका अर्थ जो साध्य-साधन लक्षणवाला पदार्थ, उसे परामर्श अर्थात् विषय करना है स्वभाव जिसका उसे तदर्थ-परामर्शि कहते हैं। ऐसे तदर्थ-परामर्शि वचनोंसे जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्था-नुमान है, ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ--दूसरेके वचनोंके द्वारा साधनसे जो साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है और दूसरोंके वचनके बिना ही स्वयं साधनसे जो साध्य-का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है, यही दोनोंमें भेद है।

शङ्का---नैयायिक कहते हैं कि वचनात्मक परार्थानुमान होता है यह बात प्रसिद्ध है, फिर अनुमानके विषयभूत अर्थके प्रतिपादक वचनोंसे उत्पन्न हुए विज्ञानको परार्थानुमान कहनेवाले आचार्यने उक्त लक्षणका संग्रह क्यों नहीं किया ?

समाधान---ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अचेतन वचन साक्षात् प्रमिति अर्थात् अज्ञानकी निवृत्तिमें कारण नहीं हो सकते हैं, अतः उन वचनों के निरुपचरित (मुख्य) रूपसे प्रमाणताका अभाव है। हाँ, ज्ञानरूप मुख्य

(परोपदेशात्) यद्धूमाद्वन्हिविज्ञानं जायते तत्परार्थानुमानम् । वचनमन्तरेण यद्धूमादि-साधनादग्न्यादिसाध्यविज्ञानं भवति तत्स्वार्थानुमानमित्यनयोर्भेदः । १. तदर्थम् । २. द्योत-यति विषयीकरोति । ३. पर्वतोऽयं वन्हिमान् धूमवत्त्वादिति वचनश्रवणादेव पूर्वं धूमज्ञानं भवति, पश्चात्ततो वन्हिविज्ञानमित्यभिप्रायः । न तु वचनस्य साक्षादनुमानत्वं वचनाज्जातस्य ज्ञानस्यानुमानत्वं वचनस्योपचारत्वेनेति भावः । ४. नैयायिकः प्राह । ५. पञ्चावयवरूपम् । ६. कथयता जैनेन । ७. वचनस्य । ८. अज्ञाननिवृत्ति- । ९. मुख्य- । १०. ज्ञानरूपा-नुमानस्य । ११. वचनस्य । १२. यथा विषयिधर्मस्य विषय उपचारात्पदार्थस्यापि प्रत्यक्षता, कार्यस्य कारण उपचारादिन्द्रियस्यापि प्रत्यक्षता, यद्वा इन्द्रियार्थसम्बन्धस्यापि प्रत्यक्षेणोपचारित्वम्, अथवा घटस्यैवैकापेक्षया प्रत्यक्षत्वं तज्जन्यं भवति, तथापि तस्योप-चारता, तथा वचनस्याप्युपचारनिमित्तं प्रतिपादकप्रतिपाद्यापेक्षयाऽनुमानकार्यकरणत्वमिति । १३. नाम ।

[1]तदेवोपचरितं परार्थानुमानत्वं[2] तद्वचनस्या[3]ऽऽचार्यः प्राह—

[4]तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५२॥

उपचारो हि मुख्याभावे[5] सति [6]प्रयोजने निमित्ते[7] च प्रवर्तते[8]। [9]तत्र वचनस्य परार्थानुमानत्वे निमित्तं तद्धेतुत्वम्। तस्य [10]प्रतिपाद्यानुमानस्य [11]हेतुस्तद्धेतुः; तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मान्निमित्तात्तद्वचनमपि परार्थानुमानप्रतिपादकवचनमपि परार्थानुमानमिति सम्बन्धः; [12]कारणे कार्यस्योपचारात्। [13]अथवा तत्प्रतिपादकानुमानं[14] हेतुर्यस्य[15] तत्तद्धेतुः;

अनुमानके हेतु होनेसे उन वचनोंकी उपचरित (गौण) अनुमानसंज्ञाको कोई रोक नहीं सकता है। अर्थात् वचनोंको गौणरूपसे परार्थानुमान कहा जा सकता है।

परार्थानुमानके प्रतिपादक वचनोंकी उपचारसे परार्थानुमानसंज्ञा है, यह बतलानेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—परार्थानुमानके कारण होनेसे परार्थानुमानके प्रतिपादक वचनोंको भी परार्थानुमान कहते हैं ॥५२॥

मुख्यका अभाव होनेपर, तथा प्रयोजन और निमित्तके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होति है, ऐसा नियम है। यहाँ वचनका परार्थानुमानपनेमें कारणपना ही उपचारका निमित्त है। अतः प्रतिपाद्य जो शिष्य उसके लिए जो अनुमान सो परार्थानुमान, उसका प्रतिपादक वचन भी परार्थानुमान है, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए। यहाँ अनुमानके कारण वचनोंमें ज्ञानरूप कार्यका उपचार किया गया है। अथवा परार्थानुमानका प्रतिपादक जो वक्ता पुरुष उसका स्वार्थानुमान है कारण जिसके ऐसा जो परार्थानुमानका वचन

---

१. उक्तमेव। २. मुख्यप्रमाणता ज्ञानस्यैव। मुख्यानुमानहेतुत्वादिति चेति वा। ३. परार्थानुमानप्रतिपादकवचनस्य। ४. विज्ञानलक्षणपरार्थानुमानवचनमपि परार्थानुमानं तद्धेतुत्वात्। ५. वचने ज्ञानलक्षणमुख्यानुमानस्याभाव इति मुख्यार्थबाधः। [अयमर्थः-] मुख्याभाव-प्रयोजन-निमित्तेषु त्रिषु मध्ये वचनं ज्ञानं न भवति, इति मुख्यार्थबाधः वचनज्ञानस्य निमित्तम्। ६. वचनस्यानुमानत्वे प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव। तात्पर्यं फलमित्यर्थस्तत्रोपचारः प्रवर्तते। ७. हेतौ। वचनं ज्ञानस्य निमित्तमिति। ८. त्रयं विहाय न प्रवर्तते। ९. मुख्याभाव-प्रयोजन-निमित्तेषु। १०. परार्थानुमानस्य। ११. प्रतिपादकत्वाद्वचनं हेतुः, निमित्तकारणमित्यर्थः। १२. अग्नौ। वचनात्मके कारणे कार्यस्य विज्ञानलक्षणस्य परार्थानुमानस्योपचारात्। १३. प्रकारान्तरेणाह। १४. प्रतिपादकज्ञानलक्षणं स्वार्थानुमानम्। १५. वचनस्य।

तस्य भावस्तत्त्वम्। ततस्तद्वचनमपि[1] तथेति[2] सम्बन्धः। अस्मिन् पक्षे[3]कार्ये[4]कारणस्योपचार इति शेषः। [5]वचनस्यानुमानत्वे च प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एव; [6]ज्ञानात्मन्यनंशे[7] [8]तद्-व्यवहारस्याशक्यकल्पनात्। तदेवं साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणम्।

तदनुमानं द्वेधेत्यादिना [9]तत्प्रकारं च सप्रपञ्चमभिधाय साधनमुक्त[10]लक्षणापेक्षयैकमप्यतिसंक्षेपेण भिद्यमानं द्विविधमित्युपदर्शयति—

स[11] हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥

सुगममेतत्।

वह भी अनुमान है, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए। इस पक्षमें कार्यमें कारणका उपचार किया गया है, इतना अर्थ सूत्रमें शेष है। वचनको अनुमानपना कहनेमें प्रयोजन यह है कि प्रतिज्ञा, हेतु आदिक अनुमानके अवयव हैं, ऐसा शास्त्रमें व्यवहार है। ज्ञानात्मक और निरंश अर्थात् अवयव-रहित अनुमानमें प्रतिज्ञा, हेतु आदिके व्यवहारकी कल्पना करना अशक्य है। अतः वचनोंके द्वारा ही प्रतिज्ञादि अवयवोंके प्रयोगरूप व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है, इससे उसके प्रतिपादक वचनोंको भी परार्थानुमान संज्ञा दी गई है। इस प्रकार साधनसे साध्यका जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है, ऐसा अनुमानका सामान्य लक्षण जानना चाहिए।

वह अनुमान दो प्रकारका है, इत्यादि रूपसे उसके भेदोंको भी विस्तारसे कहकर ऊपर कहे गये लक्षणकी अपेक्षा यद्यपि वह साधन एक प्रकारका ही है, तथापि अतिसंक्षेपसे भेद करनेपर वह दो प्रकारका है, यह बात आचार्य उत्तर सूत्रके द्वारा दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभावलक्षणवाला वह हेतु दो प्रकारका है—एक उपलब्धिरूपहेतु और दूसरा अनुपलब्धिरूप हेतु ॥ ५३ ॥

यह सूत्र सुगम है।

---

१. स्वार्थानुमानज्ञानस्यार्थपरामर्शि वचनमपि। २. स्वार्थानुमानमिति सम्बन्धः, कार्ये कारणस्योपचारात्। ३. स्वार्थानुमानवचनलक्षणे कार्ये। ४. स्वार्थानुमानविज्ञानलक्षणस्य कारणस्योपचारः। ५. ज्ञानस्य प्रतिज्ञाद्यवयवा भवन्त्वित्याशङ्कायामाह। ६. अनुमाने। ७. निरवयवे। ८. प्रतिज्ञादिव्यवहारस्य। ९. अनुमानभेदम्। १०. अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणापेक्षया। ११. योऽधिकारापन्नोऽविनाभावलक्षणलक्षितः प्राक् प्रतिपादितः सः।

तत्रोपलब्धि[1]र्विधि[2]साधिकैव । अनुपलब्धिः[3] [4]प्रतिषेधसाधिकैवेति परस्य नियमं [5]विघटयन्नुपलब्धेरनुपलब्धेश्चाविशेषेण विधि-[6]प्रतिषेधसाधनत्वमाह—

[7]उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५४॥

गतार्थमेतत् ।

इदानीमुपलब्धेरपि संक्षेपेण विरुद्धाविरुद्धभेदाद् द्वैविध्यमुपदर्शयन्नविरुद्धोपलब्धेर्विधौ साध्ये विस्तरतो भेदमाह—

इनमेंसे उपलब्धि नाम विद्यमानताका है, अतः बौद्ध लोग उपलब्धिरूप हेतुको विधि अर्थात् सद्भावका साधक मानते हैं। इसी प्रकार अनुपलब्धि नाम अविद्यमानताका है, अतः उसे वे लोग प्रतिषेध अर्थात् अभावका ही साधक मानते हैं। आचार्य दूसरे मतावलम्बियोंके उक्त नियमका निषेध करते हुए बतलाते हैं कि उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप दोनों ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनोंके साधक हैं—

सूत्रार्थ—उपलब्धिरूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनोंका साधक है, तथा अनुपलब्धिरूप हेतु भी दोनोंका साधक है ॥ ५४ ॥

इस सूत्रका अर्थ कहा जा चुका है।

भावार्थ—उपलब्धिरूप हेतुके दो भेद हैं—अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। इनमें पहला विधिसाधक है और दूसरा प्रतिषेधसाधक। इसी प्रकार अनुपलब्धिरूपहेतुके भी दो भेद हैं—अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि। इनमेंसे पहला निषेधसाधक है और दूसरा विधिसाधक। इस प्रकार उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप दोनों हेतु विधि और निषेध दोनोंके साधक होते हैं।

अब आचार्य उपलब्धिरूप हेतुके भी संक्षेपसे विरुद्ध-अविरुद्धके भेदसे दो भेद बतलाते हुए अविरुद्धोपलब्धिके विधिको सिद्ध करनेमें विस्तारसे भेद बतलाते हैं—

---

१. प्राप्तिः । २. अस्तित्वम् । ३. निषेधः । ४. न त्वत्रान्वयव्यतिरेकदृष्टान्तयोर्विवक्षा, किन्तु हेतोरपेक्षा । ५. निषेधयन् आचार्यः । ६. उपलब्धिर्विधिं साधयति प्रतिषेधं च । तथाऽनुपलब्धिर्निषेधं साधयति विधिं च । तस्मादुभयोरपि विधिप्रतिषेधत्वं वर्तते । ततस्तयोर्विशेषाभावः इति दर्शयति । ७. अविनाभावनिमित्तो हि साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावः । यथा चोपलब्धेर्विधौ साध्येऽविनाभावाद्गमकत्वं तथोपलब्धेः प्रतिषेधेऽपि साध्येऽविनाभावाद् गमकत्वम् । अनुपलब्धेश्च यथा प्रतिषेधे साध्येऽविनाभावाद् गमकत्वं तथाऽनुपलब्धेर्विधावपि साध्येऽविनाभावाद् गमकत्वमिति ।

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ[1] षोढा-[2]व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५५॥

पूर्वं च उत्तरं च सह चेति द्वन्द्वः। पूर्वोत्तरसह इत्येतेभ्यश्चर इत्यनुकरणनिर्देशः,[3] द्वन्द्वात् श्रूयमाणश्चरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तेनायमर्थः—पूर्वचरोत्तरचरसहचरा इति। पश्चाद् व्याप्यादिभिः सह द्वन्द्वः।

अत्राह सौगतः—विधिसाधनं[4] द्विविधमेव, स्वभाव-[5]कार्यभेदात्। कारणस्य तु कार्याविनाभावाभावादलिङ्गत्वम्[6]। नावश्यं कारणानि[7] कार्यवन्ति भवन्तीति वचनात्। अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य[9] कार्यम्प्रति गमकत्वमित्यपि नोत्तरम्; सामर्थ्यस्यातीन्द्रियतया[10] विद्यमानस्यापि निश्चेतुमशक्यत्वादिति। [11]तदसमीक्षिताभिधानमिति दर्शयितुमाह—

सूत्रार्थ—विधि-साधनकी दशामें अविरुद्धोपलब्धि छह प्रकारकी है—१. अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, २. अविरुद्धकार्योपलब्धि, ३. अविरुद्धकारणोपलब्धि, ४. अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, ५. अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि और ६. अविरुद्धसहचरोपलब्धि ॥५५॥

सूत्र पठित पूर्व, उत्तर और सह पदका द्वन्द्व समास करना, पश्चात् पूर्व, उत्तर और सह पदके साथ चर शब्दका अनुकरण निर्देश करना। इस प्रकार द्वन्द्व समाससे पीछे सुना गया चर शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ होता है—पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। पश्चात् व्याप्य आदि पदोंके साथ द्वन्द्व समास करना चाहिए।

यहाँपर बौद्ध कहते हैं कि स्वभावहेतु और कार्यहेतुके भेदसे विधि-साधक हेतु दो ही प्रकारका है; क्योंकि कारणका कार्यके साथ अविनाभावका अभाव होनेसे उसे हेतु नहीं माना जा सकता। सभी कारण कार्यवाले अवश्य होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा वचन है। यदि आप जैन लोग कहें कि मणि-मन्त्रादिसे जिसकी सामर्थ्य रोकी नहीं गई है, ऐसा कारण कार्यके प्रति गमक होता है, सो यह भी कोई उत्तर नहीं है; क्योंकि सामर्थ्य अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय-गोचर नहीं है, अतः विद्यमान रहते हुए भी उसका निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए कारणरूप हेतुका मानना ठीक नहीं है। उनका यह कथन सम्यक् विचार किए विना है, यह दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

---

१. अस्तित्वे साध्ये। २. शिंशपा-पलाशवृक्षस्य। ३. पश्चान्निर्देशः। ४. विधि-साधनहेतुः। ५. वृक्षत्वशिंशपात्वयोः। ६. धूमाग्न्योः। ७. असाधनत्वम्। ८. दण्डादीनि। ९. मणिमन्त्रादिनाऽप्रतिहतसामर्थ्यस्य। १०. अप्रत्यक्षतया। ११. पूर्वोक्तम्।

[1]रसादेकसामग्र्यनुमानेन [2]रूपानुमानमिच्छद्भि[3]रिष्टमेव [4]किञ्चि-त्कारणं हेतुर्यत्र[5] सामर्थ्याप्रतिबन्ध[6]-कारणान्तरावैकल्ये[7] ॥५६॥

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका [8]सामग्र्यनुमीयते। ततो[9] रूपानुमानं भवति। [10]प्राक्तनो हि रूपक्षणः सजातीयं रूपक्षणान्तरं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं[11] हेतुः प्राक्तनस्य रूपक्षणस्य सजातीय-रूपक्षणान्तराव्यभिचारात्। [12]अन्यथा रससमानकालरूपप्रतिपत्तेरयोगात्[13]। न[14] ह्यनुकूल[15]-

सूत्रार्थ—रससे एक सामग्रीके अनुमान-द्वारा रूपका अनुमान स्वीकार करनेवाले बौद्धोंने कोई विशिष्ट कारणरूप हेतु माना ही है, जिसमें कि सामर्थ्य-का प्रतिबन्ध नहीं है और दूसरे कारणोंकी विकलता नहीं है ॥५६॥

आस्वाद्यमान रससे उसकी उत्पादक सामग्रीका अनुमान किया जाता है कि इस रसकी उत्पादक सामग्री उत्पन्न हो चुकी है, अन्यथा इस समय रसका स्वाद न आता। तत्पश्चात् उससे रूपका अनुमान होता है। वह यह कि पूर्वकालीन रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षणरूप कार्यको उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय रस-लक्षण कार्यको करता है, इस प्रकारसे रूपका अनुमान स्वीकार करनेवाले बौद्धोंने कोई कारणरूप हेतु माना ही है; क्योंकि पूर्व-कालवर्ती रूपक्षणका सजातीय उत्तरकालवर्ती अन्य रूपक्षणके साथ कोई व्यभिचार नहीं पाया जाता। अन्यथा (यदि व्यभिचार पाया जाता तो) रसके समकालमें ही रूपका ज्ञान नहीं हो सकता था। हम जैन लोग केवल

---

१. अन्धकारावगुण्ठिते प्रदेशे आस्वाद्यमानो रसः स्वसमानसमयकारणकार्यो भवति, एवंविधरसत्वात्, साम्प्रतिकरसवत्, इति रूप-रसयोः एकसामग्र्यनुमानम्। २. इदानीं रूपानुमानं विचारापन्ने मातुलिङ्गे रससमानकालीनं रूपमस्ति, एकसामग्र्य-धीनत्वात् सम्प्रतिपन्नरसवत्। पूर्वरूपक्षणं सजातीयमुत्तररूपक्षणं जनयन्नेव विजातीयमुत्तर-रसक्षणं जनयति, कारणक्षणत्वाद् अनुभूतरसक्षणवत्। आस्वाद्यमानो रसः स्वसमान-कालीनपूर्वरूपक्षणसहकृतसमनन्तररसक्षणजन्यः, कार्यक्षणत्वाद् अनुभूयमानरसक्षणवत्। ३. सौगतैरिति शेषः। ४. विशिष्टम्; नानुकूलादिरूपम्। ५. कारणे। ६. मन्त्रौषधादिना प्रतिबन्धः। ७. पूर्वक्षणमुत्तरक्षणस्य कारणमन्त्यक्षणो यदान्यक्षणोत्पादको न भवति तदा वैकल्यं पूर्वक्षणापेक्षयाऽन्त्यक्षणः कारणान्तरं तदेव यदा विकलमिति। सहकारिणां क्षित्यादीनां वैकल्यमित्यर्थः। ८. रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिति योजना। ९. पश्चात्। १०. पूर्वरूपक्षणः सजातीयोत्तररूपक्षणं जनयन्नेव विजातीयोत्तर-रसक्षणं जनयति कारणक्षणत्वादनुभूतरसक्षणवदिति। ११. कारणं हेतुं साधनमङ्गीकर्त-व्यम्। १२. व्यभिचरति चेत्। १३. रूपरसयोः समानकालीनप्रतिपत्तेरयोगात्। १४. बौद्धमतमनूद्य जैनाः कथयन्ति। १५. दण्डादि।

[1]मात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं[2] वा कारणं[3] लिङ्गमिष्यते; येन[4] मणिमन्त्रादिना सामर्थ्यप्रतिबन्धात्कारणान्तरवैकल्येन वा कार्यव्यभिचारित्वं[5] स्यात्। [6]द्वितीयक्षणे कार्य[7]प्रत्यक्षीकरणेनानुमानानर्थक्यं[8] वा; कार्याविनाभावितया निश्चितस्य विशिष्टकारणस्य [9]छत्रादेर्लिङ्गत्वेनाङ्गीकरणात्[10]। यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरावैकल्यं निश्चियते, तस्यैव लिङ्गत्वं; नान्यस्येति नोक्तदोषप्रसङ्गः।

अनुकूल, अथवा अन्त्यक्षण-प्राप्त अर्थात् कार्य उत्पन्न होनेके अव्यवहित पूर्वक्षणवाले कारणको लिङ्ग (हेतु) नहीं मानते, जिससे कि मणि-मन्त्रादिके द्वारा सामर्थ्यके प्रतिबन्धसे, अथवा अन्य सहकारी कारणोंको बिकलतासे वह कार्यके साथ व्यभिचारपनेको प्राप्त हो। अथवा द्वितीय क्षणमें कार्यके प्रत्यक्ष करनेसे अनुमानकी व्यर्थता हो; क्योंकि हमने कार्यके साथ अविनाभावरूपसे निश्चित विशिष्ट कारणरूप छत्रादिको लिङ्गरूपसे स्वीकार किया है। जिसमें सामर्थ्यका अप्रतिबन्ध और कारणान्तरोंकी अविकलता निश्चित की जाती है, उसके ही लिङ्गपना माना है, अन्यके नहीं; इस प्रकार उक्त दोषका प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता।

विशेषार्थ—यह पहले बतला चुके हैं कि बौद्ध लोग कारणरूप हेतुको नहीं मानते। आचार्यने उनकी मान्यताके अनुसार यह सिद्ध किया है, कि वे लोग भी कारणरूप हेतुको मानते ही हैं। उनकी मान्यता यह है कि वर्तमानकालवर्ती रससे उसकी एक सामग्री (उत्पादक सामग्री) का अनुमान होता है और एक सामग्रीके अनुमानसे रस-समान-कालवर्ती रूपका अनुमान होता है। उत्तर रसक्षण और उत्तर रूपक्षण दोनोंकी सामग्री एक ही है; क्योंकि दोनों ही पूर्वरसक्षण और पूर्वरूपक्षणसे उत्पन्न होते हैं। उत्तररूपक्षणकी उत्पत्तिमें पूर्वरूपक्षण उपादानकारण और पूर्वरसक्षण सहकारी

---

१. मात्रग्रहणेन कार्येण सह कारणस्याविनाभावनिराकरणत्वमिति। २. द्वितीयक्षणम्, कार्याव्यवहितपूर्वक्षणप्राप्तं तन्तुसंयोगरूपमिति। ३. यथा प्रदीपक्षणा बहवो जायन्ते विनश्यन्ति च, तथापि प्रदीपस्य विनाशकाले योऽसावन्त्यक्षण उत्तरक्षणं न जनयति तादृग्विधस्याङ्गीकारो नास्ति। ४. कथम्? ५. यथा बीजं कारणान्तरविकलं क्षितिपवनसलिलातपयोगरहितमङ्कुरं न प्ररोहतीत्यर्थान्तरम्। ६. तदेव नाङ्गीक्रियतेऽत उक्तदूषणं न। ७. बौद्धमतमनूद्य दूषयति। ८. कारणेन कार्यं प्रत्यक्षं भविष्यतीति। ९. किं कारणमवलम्ब्यानुमानानर्थक्यं ब्रूषे? तदेव कारणं नास्ति बौद्धेन त्वयाऽनुमानभङ्गात्कारणस्य लिङ्गत्वं नाङ्गीक्रियते, अस्ति चाङ्गीकारस्त्वन्मते. अनुमानस्य च नास्ति वैयर्थ्यमिति। १०. आदिपदेन चन्द्रसूर्यादेः। ११. अनुमानं वर्तते, वैयर्थ्यं न।

इदानीं पूर्वोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेष्वनन्तर्भावाद्[1] भेदान्तरत्वमेवेति दर्शयति—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं[2][3] तदुत्पत्तिर्वा[4], कालव्यवधाने[5] तदनुपलब्धेः[6][7] ॥५७॥

कारण है। इसी प्रकार उत्तररसक्षणकी उत्पत्तिमें पूर्वरसक्षण उपादान-कारण और पूर्वरूपक्षण सहकारीकारण है। आचार्य उनके द्वारा मानी गई इस व्यवस्थासे ही कारणहेतुको उनके द्वारा माना जाना सिद्ध करते हैं। वह इस प्रकार कि किसी व्यक्तिने गहन अन्धकारमें आमको चखा। वह उसके मीठे रसके स्वादसे विचारता है कि इसका रूप पीला होना चाहिए। यहाँ वर्तमान रसक्षण पूर्व रसक्षण रूप उपादान-कारणसे और पूर्वरूपक्षणरूप सहकारी कारणसे उत्पन्न हुआ है। यतः पूर्व रूपक्षण सजातीय उत्तररूपक्षणरूप कार्यको उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय उत्तररसक्षण रूप कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी होता है, अतः कारणभूत पूर्व-रूपक्षणसे कार्यस्वरूप उत्तररूपक्षणका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध रससे एक सामग्रीके अनुमान-द्वारा रूपका अनुमान करते हैं, इसलिए उन्हींकी मान्यतासे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने भी कारणरूप हेतुको माना ही है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धमतमें प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनश्वर है, अतः वे प्रतिक्षणवर्ती वस्तुका 'क्षण' नामसे व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार रससे तज्जनक सामग्रीका और कारणरूप सामग्रीसे रूपका अनुमान माननेवाले बौद्धोंने कारणरूप हेतु स्वयं माना ही है, जहांपर कि कारणकी सामर्थ्य किसी मणि-मन्त्रादिसे रोकी न गई हो, अथवा अन्य किसी सहकारी कारणकी कमी न हो। जहाँ कारणकी शक्ति किसी मणि-मन्त्रादिसे रोक दी जायगी, अथवा किसी सहकारी कारणकी कमी होगी, वहाँ कारण कार्यका गमक नहीं होगा, अन्यथा अवश्य ही गमक होगा।

अब पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही हैं; क्योंकि उनका स्वभाव हेतु, कार्य और कारणहेतुओंमेंसे भी अन्तर्भाव नहीं होता, यह बात आचार्य दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंका साध्यके साथ तादात्म्य

---

१. अन्तर्भावाभावादिति वा पाठः। २. साध्यसाधनयोः। पूर्वोत्तरकालवर्त्तिनोरिति वा पाठान्तरम्। ३. तत्साधनमात्मा स्वरूपं यस्य साध्यस्यासौ तदात्मा, तस्य भावस्तादात्म्यमिति। ४. तस्मात्कारणादुत्पत्तिर्यस्य कार्यस्यासौ तदुत्पत्तिः। ५. साध्यसाधनयोः परस्परम्। ६. तादात्म्यतदुत्पत्त्योः। ७. तादात्म्यतदुत्पत्ती कृत्तिकोदयशकटोदययोर्न भवतः, शकटोदयकालेऽनन्तरं वा कृत्तिकोदयानुपलब्धेः। यद्यत्कालेऽनन्तरं वा नास्ति,

तादात्म्यसम्बन्धे साध्यसाधनयोः स्वभावहेतावन्तर्भावः, तदुत्पत्तिसम्बन्धे च कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते । न च 'तदुभयसम्भवः; कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः । सह-भाविनोरेव तादात्म्यसम्भवात्, 'अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य[3] दृष्टत्वात्; व्यवहितयोस्तदघटनात्[4] ।

सम्बन्ध नहीं है, अतः स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं होता । तथा तदुत्पत्ति-सम्बन्ध भी नहीं है, अतः कार्यहेतु और कारण हेतुमें भी अन्तर्भाव नहीं होता; क्योंकि ये दोनों सम्बन्ध कालके व्यवधान (अन्तराल) में नहीं होते हैं ॥५७॥

साध्य-साधनमें तादात्म्य सम्बन्धके होनेपर स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव होता है और तदुत्पत्तिसम्बन्धके होनेपर कार्य या कारण हेतुमें अन्तर्भाव होता है । किन्तु पूर्वचरहेतु और उत्तरचरहेतुमें परस्पर न तादात्म्यसम्बन्ध है और न तदुत्पत्तिसम्बन्ध सम्भव है; क्योंकि कालके व्यवधान होनेपर ये दोनों सम्बन्ध नहीं पाये जाते हैं । साथ रहनेवाले दो अभिन्न पदार्थोंमें तादात्म्य सम्बन्ध होता है और कालके व्यवधानसे रहित पूर्वक्षण और उत्तर-क्षणमें कारण और कार्यपना देखा जाता है । किन्तु जिनमें कालका व्यवधान होता है, उनमें तादात्म्य और कार्य-कारण सम्बन्ध घटित नहीं होता है ।

भावार्थ—ज्ञान और आत्मा जैसे दो अभिन्न पदार्थोंमें जो सम्बन्ध होता है, उसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं । एक पदार्थसे दूसरे पदार्थकी उत्पत्ति को तदुत्पत्तिसम्बन्ध कहते हैं । एक मुहूर्त्तके बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो रहा है, यह पूर्वचर हेतुका उदाहरण है । एक मुहूर्त्तके पूर्व ही भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृतिका उदय हो रहा है, यह उत्तरचर हेतुका उदाहरण है । इन दोनों ही उदाहरणोंमें एक नक्षत्रके उदयसे दूसरे नक्षत्रके उदयमें एक मुहूर्त्तकालका व्यवधान है, अतः इनमें न तो तादात्म्यसम्बन्ध सम्भव है कि जिससे उनका स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव किया जा सके । और न तदुत्पत्तिसम्बन्ध ही सम्भव है कि जिससे उनका कार्यहेतु या कारणहेतुमें अन्तर्भाव किया जा सके । अतः पूर्वचर और उत्तरचर ये दोनों हेतु भिन्न ही हैं, यह सिद्ध हुआ ।

न तस्य तेन तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा । यथा भविष्यच्छकटचक्रयस्मिकाले गावणादस्तादात्म्यतदुत्पत्त्यमतः । नास्ति च शकटोदयकालेऽनन्तरं वा कृत्तिकोदयादिकं तस्मात्तयोस्तादात्म्य-तदुत्पत्ती न स्तः । १. तादात्म्यतदुत्पत्ति— । २. अव्यवहितयोः । ३. कारणकार्यभावस्य । ४. तादात्म्य-कार्यकारणभावयोरघटनात् ।

[1]ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो दृश्यत एव; यथा [2]जाग्रत्प्रबुद्धदशा[3]भाविप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोर्[4]वेति। [5]तत्परिहारार्थमाह—

[6]भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ[7] प्रति[8] हेतुत्वम् ॥५८॥

सुगममेतत्।

यहां बौद्धोंका कहना है कि कालके व्यवधानमें भी कार्य-कारणभाव देखा ही जाता है, जैसे कि जाग्रद्दशा और प्रबुद्धदशाभावी प्रबोध (ज्ञान) में, तथा मरण और अरिष्टमें कार्यकारणभाव देखा जाता है। आचार्य उनके इस कथनका परिहार करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—भावी मरण और अतीत जाग्रद्बोधके भी अरिष्ट और उद्बोधके प्रति कारणपना नहीं है ॥५८॥

यह सूत्र सुगम है।

भावार्थ—बौद्धोंका अभिप्राय यह है कि रात्रिमें सोते समयका ज्ञान प्रातःकालके ज्ञानमें कारण होता है और आगामीकालमें होनेवाला मरण इस समयमें होनेवाले अरिष्टों (अपशकुनों और उत्पातों) का कारण है, इससे सिद्ध है कि कालके व्यवधानमें भी कार्य-कारणभाव होता है। आचार्यने उनका परिहार करते हुए यह कहा है कि दोनोंमें जो आप कार्य कारण-भाव बतला रहे हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य कारणभाव तभी सम्भव है जब कि कारणके सद्भावमें कार्य उत्पन्न हो। जब सोनेसे पूर्व समयका ज्ञान नष्ट ही होगया है, तब वह प्रातःकालके प्रबोधका कारण कैसे हो सकता है। इसी प्रकार आगामी कालमें होनेवाला मरण जब अभी हुआ ही नहीं है, तब वह इस समय होनेवाले अपशकुनादिका भी कारण कैसे हो सकता है; क्योंकि आपके द्वारा दिये गये दोनों उदाहरणोंमें कालका अन्तराल बीचमें पाया जाता है और जहाँ कालका अन्तराल पाया जाता है वहाँपर कार्य-कारणभाव हो नहीं सकता।

---

१. बौद्धः प्राह। २. निशि जाग्रदवस्थायां किमपि कार्यं विचारितं तत्कारणम्, पश्चात्प्रभाते प्रबुद्धावस्थायां तत्कार्यं करोति तत्कार्यम्; इति कालव्यवधानेऽपि कारणभावः कार्यभावश्च दृश्यते। पूर्वं जाग्रदवस्थायां ज्ञानं तदेव प्रबुद्धावस्थानन्तरज्ञानस्य कारणमिति भावः। स्वापात्पूर्वावस्था जाग्रदवस्था, स्वापात् पश्चादवस्था प्रबुद्धावस्था। ३. अवस्था। ४. मरणात्पूर्वमरिष्टं भवति, तत्र मरणं कारणं तस्मादरिष्टं कार्यं जातमत्रापि तथा। अरिष्टमुत्पात इत्यर्थः। ५. तस्य, व्यवहितयोः कार्यकारणभावदर्शनस्य। ६. भाविमरणस्यातीतजाग्रदवस्थाबोधस्य च। ७. उद्बोधः प्रबुद्धावस्थाबोधः। ८. अरिष्टं प्रबुद्धावस्थाज्ञानं च प्रति न कारणत्वम्। ९. बौद्धस्य।

[1]अत्रैवोपपत्तिमाह—

[2]तद्व्यापाराश्रितं हि [3]तद्भावभावित्वम् ॥५९॥

हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वम्। तच्च तद्व्यापाराश्रितम्, तस्मान्न [4]प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः। अयमर्थः—अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि[5] [6]सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यम्प्रति कारण-व्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते[7] कुलालस्येव[8] कलशम्प्रति। न चातिव्यवहितेषु[9] तद्व्यापारा-श्रितत्वमिति।

सहचरस्याप्युक्त[10]हेतुष्वनन्तर्भावं दर्शयति—

आचार्य इसी विषयमें युक्ति देते हैं—

सूत्रार्थ—कारणके व्यापारके आश्रित ही कार्यका व्यापार हुआ करता है॥ ५९॥

सूत्रोक्त 'हि' शब्द 'यस्मात्' के अर्थमें है। यतः कारणके सद्भावमें कार्यके होनेको तद्भावभावित्व कहते हैं और कार्यका होना कारणके व्यापारके अधीन है, अतः प्रकृत जो अतीत जाग्रद्बोध और भावी उद्बोध, तथा भावी मरण और वर्तमान अरिष्ट इनमें कार्य-कारणभाव नहीं है। कहनेका आशय यह है कि सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेकसे जाना जाता है। सो ये दोनों कार्यके प्रति कारणके व्यापारकी अपेक्षामें ही घटित होते हैं। जैसे कि कुलाल (कुम्भकार) का कलश (घट) के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, अर्थात् कुम्भकारके होनेपर ही कलशकी उत्पत्ति होती है और कुम्भकारके अभावमें कलशकी उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु जिन पदार्थोंमें कालका अति व्यवधान होता है, उनमें कारणके व्यापारका आश्रितपना नहीं होता है। इसलिए न तो सोते समयके ज्ञान और प्रातः-काल उठते समयके ज्ञानमें कार्यकारणभाव है और न मरण और अरिष्टमें ही; ऐसा जानना चाहिए।

अब सहचरहेतुका भी उक्त हेतुओंमें अन्तर्भाव नहीं है आचार्य यह दिखलाते हैं—

---

१. हेतुत्वाभावे। २. कारण-। ३. कार्य-। ४. पूर्वोत्तरप्रकरणयोर्मरणारिष्टयोर्जा-ग्रद्बोधभाविबोधयोः, किन्त्वविनाभावमेवायातम्। ५. निश्चयेन। ६. बीजाङ्कुरादौ। ७. घटेते। ८. यथा कुलालस्य कलशं प्रत्यन्वयव्यतिरेकत्वं वर्तते, यतः सति कुलाले कलशस्यो-त्पत्तिर्जायते, अन्यथा न जायते। व्यापारसव्यपेक्षौ यथा। ९. पदार्थेषु। १०. स्वभाव-कार्यकारणेषु।

[1]सहचारिणोरपि [2]परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च[3] ॥६०॥

हेत्वन्तरत्वमिति शेषः। अयमभिप्रायः—परस्परपरिहारेणोपलम्भात्तादात्म्या[4]-सम्भवात्स्वभावहेतावनन्तर्भावः। [5]सहोत्पादाच्च न कार्यं कारणं वेति। न च समानसमय-वर्तिनोः[6] कार्यकारणभावः, सव्येतरगोविषाणवत्[7]। कार्यकारणयोः[8] प्रतिनियमाभाव-प्रसङ्गाच्च। तस्माद्धेत्वन्तरत्वमेवेति[9]।

सूत्रार्थ—सहचारी पदार्थ परस्परके परिहारसे रहते हैं, अतः सहचर-हेतुका स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और वे एक साथ उत्पन्न होते हैं, अतः उसका कार्यहेतु और कारणहेतुमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है ॥ ६० ॥

सूत्रमें 'हेत्वन्तरत्व' यह पद शेष है अर्थात् सहचरहेतुको भिन्न ही हेतु मानना चाहिए। सूत्रका अभिप्राय यह है कि जिन दो पदार्थोंकी परस्पर परिहाररूपसे विभिन्नता पाई जाती है, उनमें तादात्म्यसम्बन्ध असम्भव है, अतः उनका स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। तथा सह-चारी पदार्थोंके एक साथ उत्पन्न होनेसे कार्यहेतु अथवा कारणहेतुमें भी अन्त-र्भाव नहीं किया जा सकता है। जैसे गायके समान समयवर्ती अर्थात् एक कालमें होनेवाले सव्य (वाम) और इतर (दक्षिण) विषाण (सींग) में कार्य-कारणभाव नहीं माना जाता। इसी प्रकार फलादिकमें एक साथ उत्पन्न होनेवाले रूप और रसमें भी कार्य-कारणभाव नहीं माना जा सकता। यदि एक साथ उत्पन्न होनेवाले गायके दोनों सींगोंमें और रूप-रसमें कार्य-कारण-भाव माना जावे, तो फिर कार्य-कारणके प्रतिनियमरूप व्यवस्थाके अभावका

---

१. सह युगपदेकस्मिन् काले चरतः प्रवर्तेते इत्येवंशीलौ प्रकरणाद् रूपरसौ, तयोः। २. सहभाविनोरेव तादात्म्यमिति नियमाद् रूपरसयोरपि तादात्म्यं ततश्च स्वभावहेतावन्तर्भावः स्यादिति शङ्कापरिहारार्थं परस्परपरिहारेणावस्थानादित्युक्तम्। रूपरसयोर्हि स्वरूपभेदपरस्परपरिहारेणावस्थानान्न तादात्म्यम्, तदभावे न स्वभावहेता-वन्तर्भावः। ३. अनन्तरपूर्वोत्तरक्षणभाविकारणकार्ययोर्धूमधूमध्वजयोरन्तर्भावाभावश्च सहोत्पादादिति पदोपादानमिति। ४. शिंशपा-वृक्षत्वयोरेककालीनत्वाद्यथा तादात्म्यं न तथा रूपरसयोर्यतो वृक्षत्वपरिहारेण यथा शिंशपात्वस्यानुपलब्धिर्न तथा रूपरसयोरुप-लब्धिर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात्तयोः। रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसो रूपं तु चक्षुरिन्द्रियग्राह्यमिति। ५. एककालोत्पादात्। ६. रूपरसयोः। ७. समसमयभाविनोः सव्येतरगोविषाण-योर्नहि कार्यकारणभावत्वं विद्यते, तथा रूपरसयोरपि न सम्भवति। ८. कार्यं विहाय कारणं तिष्ठति, न च तथाऽत्र वर्तते, तत्सहचारिणोः कारणेऽनन्तर्भावः। ९. सहचारिणोः कारणान्तरत्वमिति।

इदानीं व्याप्यहेतुं क्रमप्राप्तमुदाहरन्नुक्तान्वयव्यतिरेकपुरस्सरं [1]प्रतिपाद्याशयवशात्प्रतिपादितप्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकं प्रदर्शयति—

[2]परिणामी शब्दः[3]; कृतकत्वात्[4]। य एवं स एवं दृष्टो[5] यथा घटः[6]। कृतकश्चायम्[7], तस्मात्परिणामीति[8]। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टो[9] यथा वन्ध्यास्तनन्धयः[10]। कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ॥६१॥

स्वोत्पत्तावपेक्षितव्यापारो हि भावः[11] कृतक[12] उच्यते। तच्च कृतकत्वं न[13] कूटस्थनित्यपक्षे[14], नापि [15]क्षणिकपक्षे। किन्तु परिणामित्वे सत्येवेत्यग्रे[16] वक्ष्यते।

प्रसङ्ग आयगा। अर्थात् उनमें, यह कार्य है और यह उसका कारण है, ऐसी व्यवस्थाका कोई नियम नहीं बन सकेगा। इसलिए सहचर हेतुको भिन्न ही हेतु मानना चाहिए।

अब आचार्य क्रम-प्राप्त अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप व्याप्यहेतुका उदाहरण देते हुए उक्त अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक शिष्यके आशय (अभिप्राय) के वशसे प्रतिज्ञा, हेतु आदिक पाँचों अवयवोंको दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कृतक है (हेतु)। जो कृतक होता है, वह परिणामी देखा जाता है, जैसे घट (अन्वय-दृष्टान्त)। कृतक यह शब्द है (उपनय)। इसलिए परिणामी है (निगमन)। जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं देखा जाता है, जैसे कि वन्ध्याका पुत्र (व्यतिरेकदृष्टान्त)। कृतक यह शब्द है (उपनय)। अतः वह परिणामी है (निगमन)॥ ६१॥

जो पदार्थ अपनी उत्पत्तिमें अन्यके व्यापारकी अपेक्षा रखता है, वह

---

१. शिष्याभिप्रायवशात्। २. पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, सोऽस्यास्तीति स परिणामी। पूर्वावस्थामप्यजहन् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्। स्वस्मादप्रच्युतो धर्मी परिणामी स उच्यते ॥१॥ ३. पक्षः। ४. हेतुः। ५. अन्वयव्याप्तिः। ६. अन्वयदृष्टान्तः। ७. उपनयः। ८. निगमनम्। ९. व्यतिरेकव्याप्तिः। १०. व्यतिरेकदृष्टान्तः। ११. पदार्थः। १२. एतल्लक्षणप्रतिपादनेन कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः स्यादभूत्वाभावित्वं अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वं कारणव्यापारानुविधायित्वं निरस्तं भवति। एवं कृतकत्वस्यार्थोऽत्र प्रतिपादितः सर्वत्र ज्ञातव्यः। १३. एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थ इत्यमरः। एकस्वभावरूपतया यो बालाद्यवस्थारहितत्वेन भूतभविष्यद्वर्तमानकालव्यापी तस्याऽऽत्मादेः नाम कूटस्थ इति भावः। १४. एकस्वभावे नित्यपक्षे। १५. तदानीं नष्टत्वात् पूर्वाकारग्रहणाभावाच्च। प्रतिक्षणविनाशि क्षणिकमिति। १६. विषयपरिच्छेदे सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय इत्यस्मिन् सूत्रव्याख्यानावसरे।

कार्यहेतुमाह—

अस्त्यत्र देहिनि [1]बुद्धिर्व्याहारादेः [2] ॥६२॥

कारणहेतुमाह—

अस्त्यत्र छाया छत्रात्[3] ॥६३॥

कृतक कहलाता है। यह कृतकपना न तो कूटस्थ नित्यपक्षमें सम्भव है और न क्षणिक पक्षमें। किन्तु पदार्थको परिणामी माननेपर ही सम्भव है, यह बात आगे कहेंगे।

भावार्थ—ऊपर कृतकका जो स्वरूप कहा गया है, उसका परिणामित्वके साथ व्याप्य-व्यापकसम्बन्ध है जो अल्प देशमें रहे, उसे व्याप्य कहते हैं और जो बहुत देशमें रहे उसे व्यापक कहते हैं। कृतकत्व केवल पुद्गलद्रव्यमें रहनेसे व्याप्य है और परिणामित्व आकाशादि सभी द्रव्योंमें पाये जानेसे व्यापक है। जो प्रतिसमय परिणमनशील होकर भी अर्थात् पूर्व आकारका परित्याग कर और उत्तर आकारको धारण करते हुए भी दोनों अवस्थाओंमें अपने स्वत्वको कायम रखता है, उसे परिणामी कहते हैं। ऐसा परिणामीपना न तो सांख्याभिमत सर्वथा कूटस्थ नित्य रहनेवाले पदार्थोंमें सम्भव है और न बौद्धाभिमत सर्वथा क्षणिक पदार्थोंमें ही सम्भव है। किन्तु उत्पाद-व्ययके होते हुए भी ध्रुव (स्थिर) रहनेवाले जैनाभिमत पदार्थोंमें ही सम्भव है। प्रकृत सूत्रमें कृतकत्व हेतुके द्वारा शब्दके परिणामित्व सिद्ध किया गया है। यतः कृतकत्व व्याप्य है, अतः यह व्याप्यहेतु अपने व्यापक परिणामित्व-साध्यको सिद्ध करता है।

अब आचार्य अविरुद्धकार्योपलब्धिरूप हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस देही (शरीर-धारक प्राणी) में बुद्धि है; क्योंकि बुद्धिके कार्य वचनादिक पाये जाते हैं। यहाँपर बुद्धि साध्य है और उसका अविरोधी कार्य वचनादिक हेतु है, वह अपने साध्यकी सिद्धि करता है यह अविरुद्धकार्योपलब्धिका उदाहरण है ॥ ६२ ॥

अब अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ छाया है, क्योंकि छायाका अविरोधी कारण छत्र पाया जाता है। अतः यह अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतुका उदाहरण है ॥ ६३ ॥

---

१. बुद्धिपदेनाऽऽत्मा बोद्धव्यः। २. व्याहारो वचनम्, व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः इत्यमरः। आदिशब्दात् व्यापाराकारविशेषादिपरिग्रहः। वचनचातुर्यादेव। ३. कारणकारणादेरत्रैवान्तर्भावस्तथाहि—महोऽश्वत्थानां कण्टविक्षेपकारी धूमवदग्नि-

अथ पूर्वचरहेतुमाह—

उदेष्यति शकटं[1] कृत्तिकोदयात्[2] ॥६४॥

मुहूर्त्तान्ते इति सम्बन्धः।

अथोत्तरचरः—

उद्गाद्भरणिः प्राक्तत एव[3] ॥६५॥

अत्रापि मुहूर्तात्प्रागिति सम्बन्धनीयम्; तत एव कृत्तिकोदयादेवेत्यर्थः।

सहचरलिङ्गमाह—

अब अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिरूप हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ मुहूर्त्तान्त पदका अध्याहार करना चाहिए। शकट नाम रोहिणी नक्षत्रका है। अतः यह अर्थ हुआ कि एक मुहूर्तके पश्चात् रोहिणीका उदय होगा; क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो रहा है ॥ ६४ ॥

भावार्थ—प्रतिदिन क्रमसे एक-एक मुहूर्त्तके पश्चात् अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि नक्षत्रोंका उदय होता है। जब जिसका उदय विवक्षित हो, तब उसके पूर्ववर्ती नक्षत्रको पूर्वचर और उत्तरवर्ती नक्षत्रको उत्तरचर जानना चाहिए। प्रकृतमें रोहिणीका उदय साध्य है, वह उसके पूर्वचर कृत्तिकाके उदयरूप हेतुसे सिद्ध किया जारहा है, अतः यह अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

अब अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—भरणीका उदय एक मुहूर्तके पूर्व ही हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय पाया जाता है ॥ ६५ ॥

यहाँपर भी 'मुहूर्त्तात् प्राक्', पदका अध्याहार करना चाहिए। तथा 'तत एव' पदसे कृत्तिकोदयका अर्थ लेना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ हुआ कि एक मुहूर्तके पूर्व ही भरणीका उदय हो चुका है; क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय हो रहा है। यतः भरणीसे कृत्तिका नक्षत्र उत्तरचर है, अतः यह अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

अब अविरुद्धसहचरोपलब्धि हेतुको कहते हैं—

मत्त्वात्। कण्ठादिविक्षेपस्य कारणं धूमस्तस्य कारणं वह्निरिति। १. रोहिणी। २. पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव संगृहीतम्, तथाहि—उदेष्यति कृत्तिकाऽश्विन्युदयात्। कृत्तिकायाः पूर्वचरो भरण्युदयस्तत्पूर्वचरोऽश्विन्युदय इति। ३. उत्तरोत्तरचराद्यनेनैव संगृहीतम्, तथाहि—उदगाद्भरणिः शकटोदयात्। भरण्युत्तरचरः कृत्तिकोदयः, तदुत्तरचरः शकटोदय इति।

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्[1] ॥६६॥

विरुद्धोपलब्धिमाह—

विरुद्धतदुपलब्धिः[2] प्रतिषेधे[3] तथा[4] ॥६७॥

प्रतिषेधे साध्ये प्रतिषेध्येन[5] विरुद्धानां[6] सम्बन्धिनस्ते व्याप्यादय[7]स्तेषामुपलब्धय इत्यर्थः । तथेति षोढेति भावः ।

तत्र साध्यविरुद्धव्याप्योपलब्धिमाह—

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥६८॥

सूत्रार्थ—इस मातुलिङ्ग (बिजौरा) में रूप है; क्योंकि उसका अविरोधी सहचर रस पाया जा रहा है। अतः यह अविरुद्धसहचरोपलब्धिहेतुका उदाहरण है ॥ ६६ ॥

अब आचार्य विरुद्धोपलब्धिके भेद कहते हैं--

सूत्रार्थ—प्रतिषेध सिद्ध करनेवाली विरुद्धोपलब्धिके भी छह भेद हैं ॥ ६७ ॥

प्रतिषेध साध्य करनेपर प्रतिषेध्यसे विरुद्ध पदार्थोंके सम्बन्धी जो व्याप्यादिक हैं, उनकी उपलब्धियाँ तथा अर्थात् छह प्रकारकी होती हैं, ऐसा सूत्रका भाव जानना चाहिए ।

भावार्थ—अविरुद्धोपलब्धिके समान विरुद्धोलब्धिके भी छह भेद हैं—१ विरुद्धव्याप्योपलब्धि, २ विरुद्धकार्योपलब्धि, ३ विरुद्धकारणोपलब्धि, ४. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, ५. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और ६. विरुद्धसहचरोपलब्धि । ये सभी हेतु प्रतिषेधके साधक हैं ।

अब साध्यसे विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँपर शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि उष्णता पाई जाती है ॥६८॥

---

१. साध्यसमकालस्य संयोगिन एकार्थसमवायिनश्चात्रैवान्तर्भावो भवति । संयोगि लिङ्गं यथाऽऽत्मनोऽस्तित्वे विशिष्टशरीरात् । आत्मनः संयुक्तं शरीरं तदात्मनोऽस्तित्वं ज्ञापयति संयोगिलिङ्गस्य नैयायिकमतानुसरणे तु कार्यहेतावन्तर्भाव इति । २. प्रतिषेध्येन साध्येन यद्विरुद्धं तत्सम्बन्धिनां तेषां व्याप्यादीनामुपलब्धिरिति । ३. नास्तित्वे साध्ये । ४. षोढा, अविरुद्धोपलब्धिवत् षट्प्रकारा । ५. प्रतिषेद्धुं योग्यं वस्तु प्रतिषेध्यं तेन सह । ६. पदार्थानाम् । ७. आदिशब्देन कार्यकारणपूर्वोत्तरसहचराः परिगृह्यन्ते ।

शीतस्पर्शप्रतिषेध्येन[1] हि विरुद्धोऽग्निः, तद्व्याप्यमौष्ण्यमिति ।

विरुद्धकार्योपलम्भमाह—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥६९॥

अत्रापि प्रतिषेध्यस्य साध्यस्य शीतस्पर्शस्य विरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूम इति ।

विरुद्धकारणोपलब्धिमाह—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७०॥

सुखविरोधि दुःखम्, तस्य कारणं हृदयशल्यमिति ।

विरुद्धपूर्वचरमाह—

नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥७१॥

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयः, तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति ।

विरुद्धोत्तरचरं लिङ्गमाह—

यहाँ शीतस्पर्श प्रतिषेध्य है, उसकी विरोधी अग्नि है उसकी व्याप्य उष्णता पाई जा रही है, अतः यह विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतुका उदाहरण है ।

अब विरुद्धकार्योपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँपर शीतस्पर्श नहीं है; क्योंकि धूम है ॥६९॥

यहाँ भी प्रतिषेधके योग्य साध्य जो शीतस्पर्श उसकी विरुद्ध जो अग्नि उसका कार्य धूम पाया जाता है, अतः यह विरुद्धकार्योपलब्धिहेतुका उदाहरण है ।

अब विरुद्धकारणोपलब्धिका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस प्राणीमें सुख नहीं है; क्योंकि हृदयमें शल्य पाई जाती है ॥७०॥

सुखका विरोधी दुःख है, उसका कारण हृदयकी शल्य पाये जानेसे यह विरुद्धकारणोपलब्धिहेतुका उदाहरण है ।

अब विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्तके पश्चात् रोहिणीका उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी रेवतीनक्षत्रका उदय हो रहा है ॥७१॥

यहाँपर शकट (रोहिणी) के उदयका विरोधी अश्विनीका उदय है, उसका पूर्वचर रेवतीनक्षत्र है उसका उदय पाये जानेसे यह विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिहेतुका उदाहरण है ।

अब विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतुको कहते हैं—

---

१. शीतस्पर्शसाध्येन सह । २. सहभावात्कारणे हेतौ कार्ये हेतौ वाऽनन्तर्भावाद् व्यतिरिक्तो व्याप्यहेतुरिति । ३. वाणफलकः ।

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्[1] ॥७२॥

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयः, तदुत्तरचरः पुष्योदय इति।

विरुद्धसहचरमाह—

नास्त्यत्र भित्तौ [2]परभागाभावोऽ[3]र्वाग्भागदर्शनात् ॥७३॥

परभागाभावस्य [4]विरुद्धस्तद्भावः[5], [6]तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति।

[7]अविरुद्धानुपलब्धिभेदमाह—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे[8] सप्तधा—स्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥७४॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणीका उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्रका उदय पाया जा रहा है ॥७२॥

यहाँपर भरणीके उदयका विरोधी पुनर्वसुनक्षत्रका उदय है, उसका उत्तरचर पुष्यनक्षत्रका उदय पाये जानेसे यह विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हेतुका उदाहरण है।

अब विरुद्धसहचरोपलब्धि हेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस भित्ति (दीवाल) में परभाग (उस ओरके भाग) का अभाव नहीं है; क्योंकि अर्वाग्भाग (इस ओरका भाग) दिखाई दे रहा है ॥७३॥

यहाँपर दीवालके परभागके अभावका विरोधी उसका सद्भाव है, उसका सहचारी इस ओरका भाग पाया जाता है, अतः यह विरुद्धसहचरोपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

अब आचार्य अविरुद्धानुपलब्धिके भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रतिषेध अर्थात् अभावको सिद्ध करनेवाली अविरुद्धानुपलब्धिके सात भेद हैं—१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, २. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, ३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, ४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि, ५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, ६. अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि और ७. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि ॥७४॥

---

१. किन्तु यामात्पूर्वमुदगात्। २. द्वितीय-। ३. प्रथम-। ४. अभावस्तु निषेध्यस्तद्विरुद्धो भावः। ५. परभागसद्भावः। ६. अस्तित्व-। ७. प्रतिषेध्येन साध्येनाविरुद्धस्यानुपलब्धिः। प्रतिषेध्ये साध्येऽनुपलब्धिर्विरुद्धा न भवति। ८. अभावसाध्ये।

स्वभावादिपदानां द्वन्द्वः, तेषामनुपलम्भ इति पश्चाच्छष्ठीतत्पुरुषसमासः[1] ।

[2]स्वभावानुपलम्भोदाहरणमाह—

नास्त्यत्र भूतले [3]घटोऽनुपलब्धेः[4] ॥७५॥

अत्र पिशाच-[5]परमाण्वादिभिर्व्यभिचारपरिहारार्थमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सतीति विशेषणमुन्नेयम्[6] ।

व्यापकानुपलब्धिमाह—

सूत्र-पठित स्वभाव, व्यापक आदि पदोंका पहले द्वन्द्व समास करना, पीछे उनका अनुपलम्भपदके साथ षष्ठीतत्पुरुष समास करना चाहिए।

अब पहले अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतुका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस भूतलपर घट नहीं है; क्योंकि उपलब्धियोग्य स्वभावके होनेपर भी वह नहीं पाया जा रहा है ॥७५॥

यहाँपर पिशाच और परमाणु आदिकसे व्यभिचारके परिहारार्थ 'उपलब्धिलक्षण प्राप्तिके योग्य होनेपर भी' इतना विशेषण ऊपरसे लगाना चाहिए।

भावार्थ—यदि कोई ऐसा कहे कि यहाँपर भूत-प्रेतादि नहीं हैं, अथवा परमाणु नहीं है; क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है; तो यह अनुपलब्धिरूपहेतु व्यभिचारी है अर्थात् सन्दिग्धानैकान्तिक है। सम्भव है कि वे भूत-पिशाचादि या परमाणु आदि यहाँपर हों और उनका अदृश्य या सूक्ष्म स्वभाव होनेसे हमें उनकी उपलब्धि न हो रही हो। अतः इस प्रकारके व्यभिचारके दूर करनेके लिए आचार्यने उक्त विशेषण लगानेको कहा है। यतः घटका स्वभाव उपलब्धिके योग्य है, फिर भी वह घट यहाँ उपलब्ध नहीं हो रहा है, अतः यह अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिरूप हेतुका उदाहरण है।

अब अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

---

१. पश्चात्तास इति पाठान्तरम्। तत्रायमर्थः—'ता' इत्युक्ते षष्ठी 'स' इत्युक्ते समासः षष्ठीसमास इत्यभिप्रायः। ता इति षष्ठीविभक्तेः संज्ञा जैनेन्द्रे (व्याकरणे) स इति समासस्य च। २. केवलं घटरहितस्वभावभूतलं दृष्ट्वाऽनुमिनोतीति स्वभावानुपलब्धिः। ३. प्रतिषेध्यस्य घटस्याविरुद्धस्तत्स्वभावस्तस्यानुपलम्भात्। ४. दृश्यस्वभावत्वे सत्यनुपलब्धेरिति। ५. ये उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे सति नोपलभ्यन्ते त एव निषेध्याः, न पुनः पिशाचादयस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तित्वायोगात्। तथा सति प्रभाववता योगिना पिशाचादिना वा प्रतिबन्धाद् घटादेरनुपलब्धिर्न विरुध्यते। ६. निश्चेतव्यम्।

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥७६॥

शिंशपात्वं हि वृक्षत्वेन व्याप्तम्; तदभावे तद्व्याप्यशिंशपाया अप्यभावः।

कार्यानुपलब्धिमाह—

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥७७॥

अप्रतिबद्धसामर्थ्यं हि कार्यम्प्रत्यनुपहतशक्तिकत्वमुच्यते। तदभावश्च कार्यानुपलम्भादिति।

कारणानुपलब्धिमाह—

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥७८॥

पूर्वचरानुपलब्धिमाह—

सूत्रार्थ—यहाँपर शीशम नहीं है; क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जा रहा है ॥७६॥

शिंशपात्व वृक्षत्वके साथ व्याप्त है अर्थात् शिंशपात्व व्याप्य है और वृक्षत्व व्यापक है। जब यहाँपर व्यापक वृक्षत्वका ही अभाव है, तो उसके व्याप्य शिंशपात्वका भी अभाव है। इस प्रकार शिंशपात्वके व्यापक वृक्षत्वके नहीं पाये जानेसे यह अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि हेतुका उदाहरण है।

अविरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँपर अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है; क्योंकि धूम नहीं पाया जाता ॥७७॥

जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है, ऐसा कारण अपने कार्यके प्रति अनुपहत (अप्रतिहत) शक्तिवाला कहा जाता है, अर्थात् वह अपने कार्य करनेमें समर्थ समझा जाता है। यहाँपर अप्रतिहत शक्तिवाली अग्निका अभाव उसके अविरोधी कार्य धूमके नहीं पाये जानेसे सिद्ध है, अतः यह अविरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

अब अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँपर धूम नहीं है; क्योंकि धूमके अविरोधी कारण अग्निका अभाव है, अतः यह अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है ॥७८॥

अब अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

१. आर्द्रेन्धनसंयोगे सति। २. अत्र धूमरूपकार्यकारित्वमेव सामर्थ्यम्। ३. आर्द्रेन्धनसंयोगे सत्यपि धूमस्यादर्शनात्। ४. यद्विशेषणम्। ५. धूमम्। ६. अग्नेः। ७ कुतः।

न भविष्यति[1] मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥७९॥

उत्तरचरानुपलब्धिमाह—

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ॥८०॥

तत एव कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेवेत्यर्थः ।

सहचरानुपलब्धिः प्राप्तकालेत्याह—

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो[2] नामानुपलब्धेः[3] ॥८१॥

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिर्विधौ सम्भवतीत्याचक्षाणस्तद्भेदास्त्रय एवेति तानेव प्रदर्शयितुमाह—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्तके पश्चात् रोहिणीका उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नहीं पाया जाता । यहाँपर रोहिणीके उदयका अविरोधी पूर्वचर जो कृत्तिकाका उदय है, उसके नहीं पाये जानेसे यह अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतुका उदाहरण है ॥७९॥

अब अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिहेतुका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्तसे पहले भरणीका उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी उसके उदयके अविरोधी उत्तरचरकृत्तिका का उदय नहीं पाया जाता है । अतः यह अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है ॥८०॥

यहाँ सूत्र-पठित 'तत एव' पदसे कृत्तिकाके उदयको अनुपलब्धिका अर्थ लिया गया है ।

अब अविरुद्धसहचरानुपलब्धिहेतुके कहनेका काल प्राप्त हुआ है अतः उसे कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस समतुला अर्थात् समान (ठीक) तौलनेवाली ताखड़ी या तराजूमें उन्नाम (एक ओर ऊँचापन) नहीं है; क्योंकि उन्नामका अविरोधी सहचर नाम (दूसरी ओर नीचापन) नहीं पाया जाता । अतः यह अविरुद्ध सहचरानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है ॥८१॥

विरुद्धकार्यानुपलब्धि आदि हेतु विधिमें सम्भव हैं, अर्थात् सद्भावके साधक हैं, और उसके भेद तीन ही हैं, यह बतलानेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

१, नोदेष्यतीति वा पाठः । २. उच्चत्वम् । ३. नम्रता । यदोन्नामस्तदाऽवनाम इति सहचरत्वम् ।

'विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ[1] त्रेधा–[2]विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धि-भेदात् ॥८२॥

विरुद्धकार्याद्यनुपलब्धिर्विधौ सम्भवतीति विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिरिति ।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलब्धिमाह—

यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानुपलब्धेः[3] ॥८३॥

व्याधिविशेषस्य हि विरुद्धस्तदभावः, तस्य कार्यं निरामयचेष्टा, तस्या अनुपलब्धि-रिति ।

विरुद्धकारणानुपलब्धिमाह—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥८४॥

दुःखविरोधि सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगस्तदनुपलब्धिरिति ।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिमाह—

सूत्रार्थ—विधि (सद्भाव) के सिद्ध करनेमें विरुद्धानुपलब्धिके तीन भेद हैं—१ विरुद्धकार्यानुपलब्धि, २ विरुद्धकारणानुपलब्धि और ३ विरुद्धस्व-भावानुपलब्धि ॥ ८२ ॥

साध्यसे विरुद्ध पदार्थके कार्यका नहीं पाया जाना विरुद्धकार्यानुप-लब्धि है । साध्यसे विरुद्ध पदार्थके कारणका नहीं पाया जाना विरुद्धकारणा-नुपलब्धि है । और साध्यसे विरुद्ध पदार्थके स्वभावका नहीं पाया जाना विरु-द्धस्वभावनुपलब्धि है । यतः ये तीनों ही हेतु अपने साध्यके सद्भावको सिद्ध करते हैं, अतः उन्हें विधिसाधक कहा गया है ।

उनमेंसे पहले विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे इस प्राणीमें व्याधिविशेष है; क्योंकि निरामय (रोग-रहित) चेष्टा नहीं पाई जाती है ॥ ८३ ॥

व्याधिविशेषके सद्भावका विरोधी उसका अभाव है, उसका कार्य निरामयचेष्टा अर्थात् निरोगीपना है, उसकी यहाँपर अनुपलब्धि है, अतः यह विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतुका उदाहरण है ।

अब विरुद्धकारणानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस प्राणीमें दुःख है; क्योंकि इष्ट संयोगका अभाव है ॥८४॥

दुःखका विरोधी सुख है, उसका कारण इष्ट-संयोग है । उसकी विवक्षित प्राणीमें अनुपलब्धि है, अतः यह विरुद्धकारणानुपलब्धि हेतुका उदाहरण है ।

---

१. विधेयेन साध्येन विरुद्धस्य कार्यादेरनुपलब्धिः । २. साध्ये । ३. विरुद्ध-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ४. अनुपलब्धिरूपो हेतुरुपलब्धिं साधयति ।

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः[1] ॥८५॥

अनेकान्तात्मकविरोधी नित्याद्येकान्तः; न पुनस्तद्विषयविज्ञानम्[2], तस्य[3] मिथ्याज्ञानरूपतयोपलम्भसम्भवात्[4]। [5]तस्य स्वरूपमवास्तवा[6]कारस्तस्यानुपलब्धिः।

अब विरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतुको कहते हैं—

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है, अर्थात् अनेक धर्मवाली है, क्योंकि वस्तुका एकान्तस्वरूप पाया नहीं जाता ॥ ८५ ॥

अनेकान्तात्मक साध्यका विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त है, न कि एकान्तपदार्थको विषय करनेवाला विज्ञान; क्योंकि मिथ्याज्ञानके रूपसे उसकी उपलब्धि सम्भव है। नित्यादि एकान्तरूप पदार्थका स्वरूप अवास्तविक है अतः उसकी अनुपलब्धि है, इससे यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

भावार्थ—यहाँ टीकाकारने अनेकान्तात्मक पदका विरोधी नित्याद्येकान्तको कहा है, न कि एकान्तके विषय करनेवाले ज्ञानको। इसका अभिप्राय यह है कि नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्तरूप वस्तुओंको विषय करनेवाला मिथ्याज्ञान पाया जाता है। जैसे किसी व्यक्तिको सीपमें चाँदीका ज्ञान हुआ। यहाँ वह सीप तो वास्तविक सीप ही है, अतः वह अनेकान्तात्मक ही है। किन्तु उसमें जो चाँदीका ज्ञान हुआ है, वह मिथ्या है। प्रकृतमें वस्तुका अनेकान्तात्मक स्वभाव विवक्षित है, उसका विरोधी एकान्त स्वभाव पाया नहीं जाता, अतः यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतुका उदाहरण है।

१. वस्तु नित्यमेवानित्यमेवेति वस्तुन एकान्तरूपस्यानुपलब्धेः। २. एकान्तपदार्थविषयं ज्ञानं न एकान्तात्मकं, तस्योपलब्धित्वात्। ३. यदि नित्याद्येकान्तस्वरूपपदार्थो नास्ति, तर्हि तद्विषयं विज्ञानं कथं सम्भवतीति शङ्कां परिहरति। ४. एकान्तपदार्थविज्ञानस्य। ५. नित्याद्येकान्तवस्तुनोऽनुपलब्धिर्वर्तते, न पुनर्नित्याद्येकान्तावस्तुविषयं करोति यद् ज्ञानं तस्यानुपलब्धिस्तस्य विपरीतादिमिथ्याज्ञानरूपतया सम्भवात्। यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानमिति। तत्र शुक्तिका शुक्तिकैव, न रजतम्। परन्तु तत्र रजतज्ञानं भवति। तथा पदार्थोऽनेकान्तस्वरूपः, परन्तु तत्र नित्याद्येकान्तरूपमिथ्याज्ञानं जायते। यथा वा विलक्षणा स्त्री इत्युक्तम्, तदा पुरुषापेक्षया, न पुरुषज्ञानापेक्षया वा। किन्तु पुरुषापेक्षयैव। तथाऽत्र पदार्थापेक्षया तद्ज्ञानमपि नित्याद्येकान्तरूपं भवति, किन्तु विशेषतस्तन्मिथ्याज्ञानस्योपलब्धिर्वर्तते; न तु एकान्तरूपलक्षणपदार्थस्योपलब्धिः साधनरूपस्य। ६. नित्याद्येकान्तरूपस्य पदार्थस्य। ७. असत्यभूतः। अवस्तु-सम्बन्धीत्यर्थः।

ननु च 'व्यापकविरुद्धकार्यादीनां[1] परम्परयाऽविरोधिकार्यादिलिङ्गानां च[2] बहुलमुपलम्भसम्भवात्तान्यपि किमिति नाचार्यैरुदाहृतानीत्याशङ्कायामाह—

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्[3] ॥८६॥

अत्रैवैतेषु कार्यादिष्वित्यर्थः ।

तस्यैव साधनस्योपलक्षणार्थ[4]मुदाहरणद्वयं प्रदर्शयति—

अभूदत्र चक्रे शिवकः[5] स्थासात् ॥८७॥

यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि व्यापक विरुद्धकार्यादिहेतु और परम्परासे अविरोधी कार्यादि हेतुओंका पाया जाना बहुलतासे सम्भव है। आचार्योंने उनके उदाहरण क्यों नहीं दिये ? सूत्रकार उसकी शङ्काका समाधान करते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—परम्परासे जो साधनरूप हेतु सम्भव हैं, उनका इन ही हेतुओं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए ॥ ८६ ॥

'अत्रैव'का अर्थ इन ही उपर्युक्त कार्यादिहेतुओंमें लेना चाहिए।

अब आचार्य उन्हीं हेतुओंके उपलक्षणके लिए दो उदाहरण दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—इस चक्रपर शिवक हो गया है; क्योंकि स्थास पाया जा रहा है ॥ ८७ ॥

भावार्थ—जब कुम्भकार घड़ेको बनाता है, तब घड़ा बननेसे पहले शिवक छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायें पैदा होती हैं, अन्तमें घड़ा रूप पर्याय उत्पन्न होती है। उनमेंसे सबसे पहले कुम्भकार मिट्टीके पिण्डको चाकपर रखता है, उस पिण्डाकार पर्यायका नाम शिवक है, उसके पीछेवाली पर्यायका नाम छत्रक है और उसके पश्चात् होनेवाली पर्यायका नाम स्थास है। इसी व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर सूत्रकारने उदाहरण प्रस्तुत किया है कि इस चाकपर शिवकरूप पर्याय हो चुकी है; क्योंकि अभी

---

१. कारणविरुद्धकार्यादीनामित्यर्थः । २. नास्त्यत्र शीतस्पर्शसामान्यव्याप्तः शीतस्पर्शविशेषो धूमात्, निषेध्यस्य शीतस्पर्शविशेषस्य हि व्यापकं शीतस्पर्शसामान्यं कार्यमौष्ण्यं तस्य तद्विरुद्धोऽग्निस्तस्य कार्यं धूम इति । ३. नास्त्यौष्ण्यं रोमाञ्चात् । व्यापकोऽग्निस्तद्विरुद्धं कार्यमौष्ण्यं तस्य विरुद्धं कार्यं शैत्यं तस्य परम्परया कार्यं रोमाञ्चः, तस्य बहुलमुपलम्भसम्भवात् । ४. परिज्ञानार्थम् । स्वस्य स्वसदृशस्य च ग्राहकमुपलक्षणम् । स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वं वा, स्वार्थबोधकत्वे सतीतरार्थबोधकत्वं वा । अन्तर्भावनीयार्थमिति । ५. शिवकच्छत्रस्थासकोशकुशूलाः घटस्य पूर्वपर्यायाः ।

[1]एतच्च किंसञ्ज्ञिकं[2] क्वान्तर्भवतीत्यारेकायामाह—

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥८८॥

अन्तर्भावनीयमिति सम्बन्धः। शिवकस्य हि कार्यं छत्रकम्, तस्य कार्यं स्थास इति।

दृष्टान्तद्वारेण द्वितीयहेतुमुदाहरति—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्ध-कार्यं[3] विरुद्धकार्योपलब्धौ[4] यथा[5] ॥८९॥

मृगक्रीडनस्य हि कारणं मृगस्तस्य विरोधी मृगारिस्तस्य कार्यं तच्छब्दनमिति। इदं यथा विरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवति, तथा [6]प्रकृतमपीत्यर्थः।

स्थासरूप पर्याय विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि शिवकका कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है, अतः यह स्थास शिवकके कार्यका परम्परासे कार्य है, साक्षात् नहीं, क्योंकि साक्षात् कार्य तो छत्रक है।

उक्त हेतुकी क्या संज्ञा है और किस हेतुमें उसका अन्तर्भाव होता है, ऐसी आशङ्का होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—कार्यके कार्यरूप उक्त हेतुका अविरुद्ध कार्योपलब्धिमें अन्तर्भाव करना चाहिए ॥ ८८ ॥

यहाँ 'अन्तर्भावनीयम्' पदका अध्याहार करना चाहिए। उक्त उदाहरणमें शिवकका कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है। इस प्रकार यह स्थास शिवकके कार्यका अविरोधी कार्य होनेसे परम्परया अविरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भूत होता है।

अब आचार्य दृष्टान्तके द्वारा परम्पराहेतुका दूसरा उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—पर्वतकी इस गुफामें मृगकी क्रीड़ा नहीं है; क्योंकि मृगके शत्रु सिंहका गर्जन सुनाई देरहा है। यह कारण-विरुद्ध कार्यरूप हेतु है, सो विरुद्धकार्योपलब्धिमें इसका अन्तर्भाव करना चाहिए ॥ ८९ ॥

मृग क्रीड़ाका कारण मृग है, उसका विरोधी मृगारि (सिंह) है, उसका कार्य उसकी गर्जना है। यह उदाहरण जैसे परम्परासे विरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भूत होता है, उसी प्रकारसे पूर्वोक्त कार्यकार्यरूप हेतुका अविरुद्धकार्योपलब्धिमें अन्तर्भाव जानना चाहिए।

---

१. इदं लिङ्गम्। २. कार्यकार्यसञ्ज्ञिकमिति। ३. साधनम्। ४. अन्तर्भावः। ५. तथा कार्यकार्यं कार्याविरुद्धोपलब्धावन्तर्भावनीयमिति सम्बन्धः। ६. कार्यकार्यलिङ्गं, कारणकारणादिनामहेतुः।

बालव्युत्पत्त्यर्थं पञ्चावयवप्रयोग इत्युक्तम्। व्युत्पन्नम्प्रति कथं प्रयोगनियम इति शङ्कायामाह—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्या[1]ऽन्यथानुपपत्त्यैव[2] वा ॥९०॥

व्युत्पन्नस्य व्युत्पन्नाय वा प्रयोगः, क्रियत इति शेषः। तथोपपत्त्या तथा साध्ये सत्येवोपपत्तिस्तयाऽन्यथानुपपत्त्यैव वाऽन्यथा साध्याभावेऽनुपपत्तिस्तया।

तामेवानुमानमुद्रामुन्मुद्रयति[3]—

अग्निमानयं देशस्तथैव[4] धूमवत्त्वोपपत्तेर्[5]धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा[6] ॥९१॥

ननु तदतिरिक्त[7]दृष्टान्तादेरपि व्याप्तिप्रतिपत्तावुपयोगित्वात् व्युत्पन्नापेक्षया कथं तदप्रयोग इत्याह—

यहाँ कोई कहता है कि बाल-व्युत्पत्तिके लिए अनुमानके पाँचों अवयवोंका प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा आपने कहा है। व्युत्पन्न पुरुषके प्रति प्रयोगका क्या नियम है? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—व्युत्पन्न-प्रयोग तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिके द्वारा करना चाहिए ॥९०॥

सूत्र-पठित 'व्युत्पन्न-प्रयोग' इस पदका समास व्युत्पन्नका प्रयोग ऐसा षष्ठीतत्पुरुष, अथवा व्युत्पन्नके लिए प्रयोग ऐसा चतुर्थीतत्पुरुष करना चाहिए। सूत्रमें 'क्रियते' यह पद शेष है। साध्यके होनेपर ही साधनके होनेको तथोपपत्ति कहते हैं और साध्यके अभावमें साधनके अभावको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं—

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्निवाला है; क्योंकि तथैव अर्थात् अग्निवाला होनेपर ही धूमवाला हो सकता है। अथवा अग्निके अभावमें धूमवाला हो नहीं सकता ॥९१॥

भावार्थ—जो न्यायशास्त्रमें व्युत्पन्न (प्रवीण) हैं, उनके लिए अनुमानका प्रयोग प्रतिज्ञाके साथ तथोत्पत्ति या अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुसे ही करना चाहिए; क्योंकि उनके लिए उदाहरणादिक शेष अवयवोंके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि साध्य-साधनके अतिरिक्त दृष्टान्त आदिका प्रयोग भी व्याप्तिके ज्ञान करानेमें उपयोगी है, फिर व्युत्पन्न पुरुषोंकी

---

१. अन्वयव्याप्त्या। २. व्यतिरेकव्याप्त्या। अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति। ३. प्रकटयति, प्रकटीकरोति। ४. अग्निमत्त्वे सत्येव। ५. अन्वयव्याप्तिः। ६. व्यतिरेकव्याप्तिः। ७. साध्यसाधनादतिरिक्तस्य दृष्टान्तादेः।

हेतुप्रयोगो[1] हि यथा व्याप्तिग्रहणं[2] विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते[3] ॥९२॥

हि शब्दो यस्मादर्थे। यस्माद्यथा व्याप्तिग्रहणं व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेणैव हेतुप्रयोगो विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैस्तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या वाऽवधार्यते दृष्टान्तादिकमन्तरेणैवेत्यर्थः। यथा दृष्टान्तादेर्व्याप्तिप्रतिपत्तिम्प्रत्यनङ्गत्वं[4] तथा [5]प्राक् प्रपञ्चितमिति नेह पुनः प्रतन्यते।

नापि दृष्टान्तादिप्रयोगः साध्यसिद्ध्यर्थं फलवानित्याह—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥९३॥

चकार एवकारार्थे। निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिरित्यर्थः।

अपेक्षासे उनका अप्रयोग क्यों? अर्थात् प्रयोग क्यों नहीं करते? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—जिसकी साध्यके साथ व्याप्ति निश्चित है, ऐसे ही हेतुका प्रयोग किया जाता है; अतः उतने मात्रसे अर्थात् उस प्रकारके हेतुके प्रयोगसे दृष्टान्तादिकके विना ही व्युत्पन्न पुरुष व्याप्तिका निश्चय कर लेते हैं ॥९२॥

सूत्र-पठित 'हि' शब्द 'यस्मात्' इस अर्थमें है। यतः जैसे व्याप्तिका ग्रहण हो जाय, उस प्रकारसे अर्थात् तथोपपत्ति, अथवा अन्यथानुपपत्तिके द्वारा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिके ग्रहणका उल्लंघन न करके ही हेतुका प्रयोग किया जाता है, अतः उतने मात्रसे अर्थात् दृष्टान्तादिकके विना ही व्युत्पन्न पुरुष व्याप्तिका अवधारण कर लेते हैं। जिस प्रकारसे दृष्टान्तादिक व्याप्तिकी प्रतिपत्तिके लिए कारण नहीं है, उस प्रकारका कथन पहले 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते समय कर आये हैं, अतः यहाँ पर उनका पुनः विस्तार नहीं किया जाता है।

दृष्टान्तादिकका प्रयोग साध्यकी सिद्धिके लिए फलवान् नहीं है, आचार्य इस बातको बतलानेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उतने मात्रसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है ॥९३॥

सूत्रोक्त 'च' शब्द एवकारके अर्थमें है। उतने मात्रसे अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना निश्चितरूपसे असम्भव है, ऐसे हेतुके प्रयोगमात्रसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। अतः उसके लिए दृष्टान्तादिकका प्रयोग कोई फलवाला नहीं है।

---

१. यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हेतुप्रयोगः। २. हसः (अव्ययीभावसमासः)। तत्कथम्? व्याप्तिग्रहणमनतिक्रम्य वर्तत इति यथा व्याप्तिग्रहणमिति। ३. निश्चीयते। ४. अहेतुकत्वमकारणत्वमित्यर्थः। ५. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणमित्यत्र।

तेन[1] पक्षप्रयोगोऽपि सफल इति दर्शयन्नाह—

तेन पक्षस्तदाधार[2]-सूचनायोक्तः ॥९४॥

यतस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्याप्तिप्रतिपत्तिस्तेन हेतुना[3] पक्षस्तदाधारसूचनाय साध्यव्याप्तसाधनाधारसूचनायोक्तः। ततो यदुक्तं परेण[4]—

[5]तद्भावहेतुभावौ[6] हि दृष्टान्ते[7] तदवेदिन[8]ः।
[9]ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥२२॥

इति तन्निरस्तम्; व्युत्पन्नं प्रति यथोक्तहेतुप्रयोगोऽपि पक्षप्रयोगाभावे साधनस्य [10]नियताधारतानवधारणात्।

और इसी कारणसे पक्षका प्रयोग भी सफल है, यह बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—इसी कारणसे साध्यके विना नहीं होनेवाले साधनका आधार सूचित करनेके लिए पक्ष कहा जाता है ॥९४॥

यतः तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुके प्रयोगमात्रसे व्याप्तिकी प्रतिपत्ति हो जाती है, इस कारण तदाधार-सूचनार्थ अर्थात् साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाले साधनका आधार बतलानेके लिए पक्षका प्रयोग किया जाता है। इसलिए बौद्धोंने जो यह कहा है—

जो पुरुष साध्य-व्याप्त साधनको नहीं जानते हैं, उनके लिए विज्ञजन दृष्टान्तमें तद्-भावको या हेतुभावको कहते हैं। किन्तु विद्वानोंके लिए तो केवल एक हेतु ही कहना चाहिए ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—बौद्ध लोग साध्य और साधनमें तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं। जहाँपर स्वभावहेतु होगा, वहाँपर साध्य-साधनमें तादात्म्य-सम्बन्ध होगा, और जहाँपर कार्यहेतु होगा, वहाँपर साध्य-साधनमें तदुत्पत्ति-सम्बन्ध होगा। कारिकामें प्रयुक्त 'तद्भाव' पदसे स्वभावहेतु और 'हेतुभाव' पदसे कार्य हेतुका अभिप्राय है। दृष्टान्तमें अज्ञजनोंको साध्य-साधन-गत इन दोनों ही सम्बन्धोंका ज्ञान कराया जाता है। अतः अज्ञजनोंके लिए तो हेतु और दृष्टान्तका प्रयोग करना चाहिए। किन्तु विज्ञजन तो

---

१. यथोक्तसाधनेन साध्यसिद्धिर्येन। २. साधनव्याप्तसाध्याधारः। ३. कारणेन। ४. बौद्धेन। ५. साध्यसाधनभावौ। ६. पक्षहेतुभावौ। स्वभावहेतौ साध्यस्य तद्भावः साधनस्वभावत्वम्। कार्यहेतौ साध्यस्य हेतुभावः कारणत्वमित्यर्थः। ७. महानसादौ। ८. साध्यव्याप्तसाधनावेदिनः अव्युत्पन्नस्येत्यर्थः। ९. विद्वद्भिः कथ्येते। १०. पर्वतो वा महानसो वेति।

अथानुमानस्वरूपं प्रतिपाद्येदानीं क्रमप्राप्तमागमस्वरूपं निरूपयितुमाह—

'आप्तवचनादि[2]-निबन्धनमर्थज्ञानमागमः[3] ॥९५॥

साध्य-साधनके सम्बन्धसे परिचित होते हैं, अतः उनके लिए केवल एक हेतुका ही प्रयोग करना चाहिए।

उनका यह कथन निराकरण कर दिया गया है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषके प्रति यथोक्त हेतुका प्रयोग भी पक्ष-प्रयोगके अभावमें साधनके निश्चित नियत आधारताका निश्चय नहीं करता है।

इस प्रकार अनुमानके स्वरूपका प्रतिपादन करके अब आचार्य क्रम-प्राप्त आगमके स्वरूपका निरूपण करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—आप्तके वचन आदिके निमित्तसे होनेवाले अर्थ-ज्ञानको आगम कहते हैं ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ—किसी किसी प्रतिमें 'आप्तवाक्यादि-निबन्धन' ऐसा भी पाठ मिलता है पर उससे अर्थमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि वचनोंके समुदायको ही वाक्य कहते हैं। सूत्रोक्त पदोंकी सार्थकता इस प्रकार है—अर्थज्ञान आगम है, इतना लक्षण कहनेपर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें भी लक्षण चला जाता; क्योंकि उनसे भी पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतः इस अतिव्याप्ति दोषके परिहारार्थ 'वचननिबन्धन' या 'वाक्यनिबन्धन' यह पद दिया। वचन-निबन्धन या वाक्य-निबन्धन अर्थज्ञान आगम है, ऐसा लक्षण करने पर जिस किसी छली-कपटी या सुप्त-उन्मत्त आदि पुरुषोंके वचनोंसे उत्पन्न होनेवाला अर्थज्ञान आगम कहलाने लगता। अतः इस प्रकारके अतिव्याप्ति-दोषके निराकरणार्थ सूत्रमें आप्तपदका ग्रहण किया। आप्तवचननिबन्धनज्ञान

१. अर्थज्ञानमागम इत्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अतस्तत्परिहारार्थं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागम इत्युच्यमानेऽपि याहच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजनेषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरे फलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः स्यादत उक्तमाप्तेति। आप्तवचननिबन्धनज्ञानमागम इत्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके श्रावण-प्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अतस्तत्परिहारार्थमुक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः प्रयोजनरूढ इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनाद्वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात्। आप्तवचननिबन्धन-मर्थज्ञानमागम इत्युच्यमाने परार्थानुमानेऽतिव्याप्तिः, अतस्तत्परिहारार्थमादिपदमिति। २. वाक्यादि, इत्यादि पाठः। शिरोनयनपादादयः। सामीप्येऽर्थव्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा। आदिशब्दं तु मेधावी चतुर्ष्वर्थेषु लक्षयेत् ॥१॥ ३. शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्य-क्षेऽपि वस्तुनि। शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः ॥२॥

यो यत्रावञ्चकः स तत्राऽऽप्तः। आप्तस्य वचनम्। आदिशब्देनाङ्गुल्यादिसञ्ज्ञापरिग्रहः। आप्तवचनमादिर्यस्य तत्तथोक्तम्। तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येति। आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः[1]। अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोह[2]ज्ञानस्या[3]भिप्रायसूचनस्य[4] च निरासः।

आगम है, ऐसा लक्षण कहनेपर यतः आप्तके वचन कानोंसे सुने जाते हैं, अतः श्रवणेन्द्रिय-जनित मतिज्ञानरूप सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे अतिव्याप्ति होती है, उसके परिहारके लिए सूत्र में 'अर्थ' यह पद ग्रहण किया। 'आप्त-वचन-निबन्धन अर्थज्ञान आगम है' इतना लक्षण करनेपर भी परार्थानुमानमें उक्त लक्षणके चले जानेसे अतिव्याप्ति होती, अतः उसके निराकरणके लिए सूत्रमें 'आदि' पदको ग्रहण किया। आदि पदसे शिर, नेत्र हस्त, पाद आदिके द्वारा किया जानेवाला सङ्केत ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार आप्तपदसे वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्तिका अर्थ लेना चाहिए। तदनुसार यह अर्थ हुआ कि आप्तके वचन और उसके सङ्केत आदिसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है, वह आगम कहलाता है।

जो जहाँ अवञ्चक है, वह वहाँ आप्त है, अर्थात् जो निष्कपट है, जिसके वचन किसीको ठगने या धोखा देनेवाले नहीं हैं, वह आप्त कहलाता है। यहाँ अवञ्चक पद उपलक्षण है, अतः जो राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि दोषोंसे रहित है, पर हितका प्रतिपादन करना ही जिसका एक मात्र कार्य है, ऐसा पुरुष ही आप्त कहलानेके योग्य है। आप्तके वचनको 'आप्त वचन' कहते हैं। आदि शब्दसे हाथकी अङ्गुली आदिका सङ्केत ग्रहण करना चाहिए। आप्तके वचनादि जिस अर्थज्ञानके कारण हैं, वह आगम प्रमाण कहलाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। सूत्रमें दिये गये आप्त शब्दसे मीमांसकोंके द्वारा माने गये अपौरुषेयरूप वेदको आगमपनेका व्यवच्छेद किया गया है। सूत्रोक्त 'अर्थज्ञान' इस पदसे बौद्धाभिमत अन्यापोहके और अभिप्राय-सूचक शब्द-सन्दर्भके आगमपनेका निषेध किया है।

१. मीमांसकमतनिरासः। आगमस्तु आप्तपुरुषेण प्रतिपादितो भवतीत्यर्थः। २. अन्यस्मात्पदार्थादन्यस्य पदार्थस्यापोहो निराकरणं तस्य व्यावृत्तिरूपोऽपोहविषय एव शब्दो न त्वर्थं विषय इति बौद्धः। ३. अगोव्यावृत्तिर्गौः, व्यावृत्तिस्तुच्छाऽर्थरूपा न भवति। ४. शब्दसन्दर्भस्य। यथा केनचिदुक्तम् 'घटमानयेति', तदा जलानयनार्थाभिप्रायं मनसि कृत्वाऽऽनयति, तदा तदभिप्रायस्यार्थत्वं नास्ति।

'नन्वसम्भवीदं लक्षणम्; शब्दस्य[1] नित्यत्वेनापौरुषेयत्वादाप्तप्रणीतत्वायोगात्[2]। तन्नित्यत्वं[4] च तदवयवानां वर्णानां व्यापकत्वान्नित्यत्वाच्च। न च तद्व्यापकत्वमसिद्धम्;

विशेषार्थ—मीमांसक लोग वेदोंको आगम प्रमाण मानते हैं और उन्हें अपोरुषेय कहते हैं अर्थात् वेद किसी पुरुषके बनाये हुए नहीं हैं, किन्तु सदासे—अनादिकालसे—इसी प्रकारके चले आरहे हैं। उनकी इस मान्यताका आगे विस्तारसे खण्डन किया जायगा। सूत्रमें आप्त पदके देनेसे वेद न अपौरुषेय है और न इस कारण वह आगम है, यह सूचित किया गया है। बौद्ध लोग अन्यापोह ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। विवक्षित पदार्थसे अन्य पदार्थके अपोह अर्थात् व्यावृत्ति या निराकरण करनेको अन्यापोह कहते हैं। उनका कहना है कि 'गो' शब्द विधिरूपसे गायका बोध नहीं कराता है, किन्तु 'अगो' की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् यह गायरूप पदार्थ अश्व नहीं, गज नहीं, इत्यादिरूपसे अन्यका निषेध कहते हुए व्यतिरेकरूपसे गोपदार्थका ज्ञान कराता है। आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकारकी व्यावृत्ति तो तुच्छ-अभावरूप है, किसी अर्थके रूप नहीं है, अतः उसे आगमप्रमाण नहीं माना जा सकता। आगे टीकाकारने इस अन्यापोहका विस्तारसे खण्डन किया है। इसी प्रकार कितने ही लोग शब्दसे सूचित होनेवाले अभिप्रायको ही आगमप्रमाण मानते हैं। जैसे किसीने कहा 'घड़ा लाओ'; यह सुनकर कोई सोचता है कि जल पीनेके लिए घड़ा मंगाया है, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर वह घड़ा ले आता है। आचार्य कहते हैं कि उसका यह अभिप्रायरूप ज्ञान भी आगम प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि सम्भव है कि घड़ा मंगानेवालेका अभिप्राय जल भरनेके घटसे भिन्न किसी अन्य पदार्थसे रहा हो। अतः सूत्रोक्त लक्षण ही आगमका यथार्थ लक्षण जानना चाहिए।

यहाँ मीमांसक कहते हैं कि आगमका यह लक्षण असम्भव दोषसे युक्त है; क्योंकि शब्द नित्य होनेसे अपोरुषेय है, अतः उसके आप्तप्रणीतपना बन नहीं सकता है। शब्दोंके नित्यता उसके अवयवभूत वर्णोंके व्यापक और नित्य होनेसे सिद्ध है। और वर्णोंके व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि एक देशमें प्रयुक्त गकार आदि वर्णका प्रत्यभिज्ञानसे अन्य देशमें भी ग्रहण

---

१. मीमांसकः प्राह। २. वर्णात्मकास्तु ये शब्दा नित्याः सर्वगतास्तथा। पृथग्द्रव्यतया ते तु न गुणाः कस्यचिन्मताः ॥१॥ ३. रागद्वेषादिकालुष्यं पुरुषेषूपलभ्यते। अतो प्रामाण्यशङ्काऽपि निष्कलङ्के प्रसज्यते ॥२॥ ४. शब्दनित्यत्वम्।

एकत्र[1] प्रयुक्तस्य गकारादेः प्रत्यभिज्ञया[2] देशान्तरेऽपि ग्रहणात्। स एवायं गकार इति नित्यत्वमपि तयैवावसीयते[3], कालान्तरेऽपि तस्यैव गकारादेर्निश्चयात्। [4]इतो वा नित्यत्वं शब्दस्य [5]सङ्केतान्यथानुपपत्तेरिति।

तथाहि[6]—गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केतः शब्द इदानीमन्य एवोपलभ्यत इति [7]तत्कथमर्थप्रत्ययः स्यात्? न चासौ न[8] भवतीति स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्यान्यत्रापि[9] सुलभत्वाच्च[10]। [11]न च वर्णानां शब्दस्य[12] वा नित्यत्वे [13]सर्वैः

किया जाता है कि यह वही गकार है, जिसे मैंने पहले सुना था, इस प्रकारसे वर्णोंकी नित्यता भी उसी प्रत्यभिज्ञानके द्वारा जानी जाती है; क्योंकि इसी प्रत्यभिज्ञानके द्वारा कालान्तरमें भी उसी गकारादि वर्णका निश्चय किया जाता है, अर्थात् यह वही वर्ण है, जिसे आजसे छह मास पूर्व मैंने सुना था। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी व्यापकता और नित्यता सिद्ध है। अथवा इस शब्दसे यह पदार्थ ग्रहण करना चाहिए, इस प्रकारका सङ्केत अन्यथा हो नहीं सकता, इस अन्यथानुपपत्तिसे भी शब्दकी नित्यता सिद्ध है।

आगे मीमांसक अपने उपर्युक्त कथनका और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यदि शब्दको अनित्य माना जाय, तो जिस पुरुषने जिस शब्दका सङ्केत ग्रहण किया था, कालान्तरमें वह शब्द तो नष्ट हो गया और इस समय जो शब्द सुना जारहा हैं वह अन्य ही है जिसमें सङ्केत ग्रहण किया नहीं गया है। तब उस अगृहीत सङ्केतवाले शब्दसे अर्थका ज्ञान कैसे हो सकेगा? और, अर्थका ज्ञान न होता हो, ऐसा है नहीं; अर्थात् अर्थका ज्ञान होता ही है। इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य है। तथा यह वही शब्द है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान अन्यत्र अर्थात् वर्णोंके समान शब्दोंमें सुलभ है। यदि कहा जाय कि वर्णोंके अथवा शब्दके नित्यता माननेपर सभी लोगोंको सर्वदा उनके सुननेका प्रसङ्ग आगया, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि वर्णोंकी

---

१. एकस्मिन् देशे। २. यस्तत्र मया श्रुतो गकारः स एव मयाऽत्र श्रूयत इति भावः। ३. ज्ञायते। ४. प्रकारान्तरेण नित्यत्वं व्यवस्थापयन्नाह। ५. खुर-ककुद-लाङ्गूल-सास्नादिमत्यर्थे गोशब्दस्य सङ्केतोऽन्यथा न भवति तस्मान्नित्यत्वं शब्दस्य। ६. एतदेव विवृणोति—यदि अनित्यत्वं ब्रूषे तर्हि दूषणमापतति। ७. अगृहीतसङ्केतशब्दात्। ८. किन्त्वर्थप्रत्ययो भवतीत्यर्थः, नित्यत्वाच्छब्दस्य। ९. वर्णेष्विव शब्देऽपि। १०. यथा प्रत्यभिज्ञानस्य वर्णानां नित्यत्वे सुलभत्वं तथा शब्दनित्यत्वेऽपि सुलभत्वमिति। ११. नैयायिकानां शङ्कामनूद्य दूषयति। १२. तटस्थस्य शङ्का। १३. जनैः।

सर्वदा श्रवणप्रसङ्गः; सर्वदा [1]तदभिव्यक्तेरसम्भवात् । [2]तदभिव्यञ्जकवायूनां [3]प्रतिनियतत्वात्[4] । न च [5]तेषामनुपपन्नत्वम्[6]; प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्[7] । तथाहि—वक्तृमुखनिकटदेशवर्तिभिः[8] स्पार्शनेनाध्यक्षेण[9] व्यञ्जका वायवो गृह्यन्ते । दूरदेशस्थितेन[10] मुखसमीपस्थिततूल[11]चलनादनुमीयन्ते । [12]श्रोतृश्रोत्रदेशे शब्दश्रवणान्यथानुपपत्ते[13]रर्थापत्त्यापि [14]निश्चीयन्ते ।

किञ्च[15]—[16]उत्पत्तिपक्षेऽपि समानोऽयं दोषः । तथाहि—ताल्वाकाशसंयोगा

या शब्दोंकी अभिव्यक्ति सर्वदा असम्भव है । उनकी अभिव्यक्तिकी असम्भवताका कारण यह है कि वर्णों और शब्दोंकी अभिव्यञ्जक वायु प्रतिनियत हैं । अर्थात् प्रत्येक वर्ण अपने तालु, ओष्ठ आदि भिन्न-भिन्न स्थानोंसे उत्पन्न होता है, अतः तत्सम्बन्धी वायु भी भिन्न-भिन्न ही हैं । जब जिस शब्द या वर्णकी अभिव्यञ्जक वायु होती है तब उस वर्ण या शब्दकी अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा नहीं । यदि कहा जाय कि वर्णों और शब्दोंकी अभिव्यञ्जक वायु पाई नहीं जाती, सो कह नहीं सकते; क्योंकि उनका अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है । मीमांसक आगे इसीको सिद्ध करते हैं—शब्द या वर्ण जब बोले जाते हैं, तब उनकी अभिव्यञ्जक वायु वक्ताके मुखके समीप बैठे हुए पुरुष स्पार्शन प्रत्यक्षसे ग्रहण करते हैं । वक्तासे दूर बैठे हुए पुरुष-द्वारा वक्ताके मुखके समीप स्थित वस्त्रादिके हिलनेसे उनका अनुमान किया जाता है । तथा श्रोताके कर्णप्रदेशमें शब्दका श्रवण अन्यथा हो नहीं सकता, इस अर्थापत्तिके द्वारा भी उनका निश्चय किया जाता है ।

यहाँ मीमांसक नैयायिकको सम्बोधन करके कहते हैं कि आपने जिस प्रकार हमारे अभिव्यक्ति पक्षको लेकर वर्ण और शब्दोंके नित्यता माननेपर उनके सर्वदा सुने जानेका दूषण दिया है, सो यह दोष तो आपके उत्पत्ति पक्षमें अर्थात् शब्दोंके अनित्यता माननेमें भी समान है । देखो—जिस

---

१. वर्णानां शब्दस्य वा । २. वर्णानां शब्दस्य वाऽभिव्यक्त्यसम्भवश्च । ३. प्रतिवर्णं ताल्वोष्ठपुटादिसम्बन्धिवायोर्भिन्नत्वात् । ४. यदा वायुर्वर्तते तदा तदभिव्यक्तिर्भवति, अन्यथा न; ताल्वोष्ठपुटादिव्यापारे सत्येव वायूनामुत्पत्तिरिति भावः । ५. तदभिव्यञ्जकवायूनाम् । ६. अप्राप्तित्वम् । ७. प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वात् । ८. पुरुषैः । ९. स्पर्शनेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षेण । १०. पुरुषेण । ११. वस्त्र- । १२. पुरुष- । १३. वर्णाभिव्यञ्जकवायुं विना शब्दश्रावणं न घटत इत्यर्थः । १४. तदभिव्यञ्जकवायवः । १५. भो नैयायिक ! त्वयाऽभिव्यक्तिपक्षे वर्णशब्दानां नित्यत्वे सर्वदा सर्वेषां श्रवणं भवत्विति दूषणमुद्भावितं तदुत्पत्तिपक्षेऽपि मया तथैवोद्भाव्यते । १६. अनित्यपक्षेऽपि ।

दसमवायि[1]कारणादाकाशाच्च [2]समवायिकारणाद्दिग्देशाद्यविभागेनोत्पद्यमानोऽयं शब्दो न सर्वैरनुभूयते, अपि तु नियत-दिग्देशस्थैरेव[3]। [4]तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि। नाप्यभिव्यक्ति-साङ्कर्यम्[5]; उभयत्रापि[6] समानत्वादेव। तथाहि—अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्यथाऽन्यो वर्णो[7] न क्रियते, [8]तथा [9]ध्वन्यन्तरसारिभि[10]स्ताल्वादिभिरन्यो [11]ध्वनिर्नारभ्यते[12]। इत्युत्पत्त्यभि-व्यक्त्योः समानत्वे[13] नैकत्रैव पर्यनुयोगावसर[14] इति सर्वं सुस्थम्।

प्रकार वायु और आकाशके संयोगरूप असमवायिकारणसे तथा आकाशरूप समवायिकारणसे दिशा-देश आदिके अविभागसे उत्पन्न होनेवाला यह शब्द सभी जनोंको सुननेमें नहीं आता है, अपि तु नियत दिशा और देशमें स्थित पुरुषोंके द्वारा ही वह सुना जाता है। उसी प्रकार अभिव्यञ्जक वायुके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला भी शब्द सभीको सुननेमें नहीं आता, किन्तु नियत दिशा और देशमें स्थित पुरुषोंको वह सुननेमें आता है। यदि कहा जाय कि शब्दोंको नित्य मानकर उनकी अभिव्यक्ति माननेपर उनकी अभिव्यक्तिका साङ्कर्य हो जायगा, अर्थात् जैसे अन्धकारमें स्थित घटादि पदार्थ दीपकके प्रकाशमें एक साथ प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार यदि वर्ण और शब्द नित्य हों, तो अभिव्यञ्जक कारणोंके मिलते ही उन सबकी अभिव्यक्ति भी एक साथ ही हो जाना चाहिए; सो नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा अभिव्यक्ति-साङ्कर्य तो उभयत्र समान है, अर्थात् आपके अनित्यपक्षमें भी लागू होता है। देखो—जिस प्रकार अन्य तालु आदिके संयोगसे अन्य वर्ण उत्पन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु नियत तालु आदिके संयोगसे निश्चित वर्ण ही उत्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार अन्य ध्वनिका अनुसरण करनेवाले तालु आदिकोंसे अन्य

१. सहकारिकारणात्। २. उपादानकारणात्। ३. जनैः। ४. यथोत्पद्य-मानः शब्दो न सर्वैरनुभूयते, तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि न सर्वैरपि तु नियतदिग्देशस्थै-रेव। व्यक्तिपक्षेऽपि तथैव भो यौग। यदि नित्यः शब्दोऽभिव्यक्त्या व्यक्तो भवति चेद् युगपत् सर्वे शब्दा व्यक्ता भवन्तु चेदुभयत्र समानम्। ५. युगपद् यथा प्रदीपस्यान्धकारप्रदेशवर्त्तिघटपटादिप्रकाशकत्वं तथाऽभिव्यक्तेः श्रोत्रदेशवर्त्तिसकलशब्द-राशिप्रकाशकत्वं न साङ्कर्यम्। ६. अनित्यपक्षेऽपि। ७. उच्चार्यमाणो नान्यः। ८. यं शब्दमनुसरति तमभिव्यनक्ति ताल्वादिः। ९. वाद्यान्तरसारिभिः। १०. कारणान्तरसारि-भिस्ताल्वोष्ठपुटादिसम्बन्धिवायुभिरुच्चार्यमाण एव वर्ण आरभ्यते, नान्यो ध्वनिरिति। ११. अन्यस्मिन् ज्ञानसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत्। गोशब्दे ज्ञानसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ॥१॥ १२. नाभिव्यज्यते। १३. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थनिरूपणे ॥२॥ इति वचनात्। १४. प्रश्नावसरः।

[1]माभूद्वर्णानां तदात्मकस्य वा शब्दस्य कौटस्थ्यनित्यत्वम्[2]। तथाप्यनादिपरम्पराऽऽयातत्वेन[3] वेदस्य [4]नित्यत्वात् [5]प्रागुक्तलक्षणस्याव्यापकत्वम्[6]। न च [7]प्रवाहनित्यत्वमप्रमाणकमेवास्येति[8] युक्तं वक्तुम्। अधुना[9] [10]तत्कर्तुरनुपलम्भादतीतानागतयोरपि कालयोस्तदनुमापकस्य[11] लिङ्गस्याभावात्। [12]तदभावोऽपि सर्वदाप्यतीन्द्रियसाध्य[13]साधनसम्बन्धस्येन्द्रियग्राह्यत्वायोगात्। प्रत्यक्षप्रतिपन्नमेव हि लिङ्गम्। 'अनुमानं हि [14]गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशसन्दर्शनात्, [15]असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' इत्यभिधानात्।

ध्वनि भी अभिव्यक्त नहीं की जा सकती; किन्तु नियत ध्वनि ही अभिव्यक्त की जा सकती है। इस प्रकार उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों पक्षोंमें समानता होनेसे किसी एक पक्षमें प्रश्न या आक्षेपका अवसर नहीं है, इसलिए मीमांसक कहते हैं कि हमारा सर्व कथन ठीक है।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि वर्णोंके अथवा वर्णात्मक शब्दके कूटस्थ नित्यता न भी रहे, तथापि अनादि-परम्परासे आया हुआ होनेके कारण वेदके नित्यता है अतः आपके आगमका पूर्वोक्त लक्षण अव्यापक है। और, वेदरूप आगमकी प्रवाह-नित्यता अप्रामाणिक है, ऐसा आप जैन लोग कह नहीं सकते। इसका कारण यह है कि अभी वर्तमानकालमें तो वेदके कर्त्ताका अनुपलम्भ (अभाव) है, तथा अतीत और अनागतकालमें उसके अनुमापक लिङ्ग (हेतु) का अभाव है। उसका अभाव भी इसलिए है कि अतीन्द्रिय साध्य और साधनका सम्बन्ध कभी भी इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। कहनेका भाव यह कि वेदकर्त्तारूप साध्य जब आज है ही नहीं, तब वह हमारे इन्द्रियोंके विषयसे परे होनेके कारण अतीन्द्रिय है, और इसी कारण उसका अविनाभावी लिङ्ग भी अतीन्द्रिय है। लिङ्ग (साधन) तो प्रत्यक्षके द्वारा परिज्ञात ही होता है। जिसने साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्धको ग्रहण किया है अर्थात् जाना है ऐसे पुरुषके ही साधनरूप एक देशके देखनेसे असन्निकृष्ट अर्थात् इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित ऐसे परोक्ष पदार्थमें जो बुद्धि होती है, उसे अनुमान कहते हैं, ऐसा कहा गया है।

१. अर्धाङ्गीकारेण मीमांसको ब्रूते। २ एकस्वभावनित्यत्वम्। ३. परमार्थतया। ४. अपौरुषेयत्वात्। ५. आप्तवचनादिनिबन्धनस्य। ६. दूषणम्। ७. परम्परागतत्वम्। ८. आगमस्य, वेदस्य। ९. वर्तमानकाले। १०. वेदकर्तुः। ११. कर्तुरनुमापकस्य। १२. कुतो लिङ्गाभावः। १३. अतीतानागतवेदकर्ता साध्यः, स त्वतीन्द्रियस्तस्यसाधनमप्यतीन्द्रियमिति। १४. पुरुषस्य १५. परोक्षे।

नाप्यर्थापत्तेस्तत्सिद्धिः[1], अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावात्। [2]उपमानोपमेययोरप्रत्यक्षत्वाच्च नाप्युपमानं साधकम्। केवलमभाव[3]प्रमाणमेवावशिष्यते[4]; तच्च[5] [6]तदभावसाधकमिति। न च [7]पुरुषसद्भाववद[8]स्यापि[9] दुःसाध्यत्वात्संशयापत्तिः; तदभावसाधकप्रमाणानां सुलभत्वात्[10]। अधुना[11] हि [12]तदभावः प्रत्यक्षमेव[13]। अतीतानागतयोः कालयोरनुमानं तदभावसाधकमिति। तथा च—

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।
कालशब्दाभिधेयत्वादिदानीन्तनकालवत्[14] ॥२३॥

अर्थापत्तिसे भी वेदके कर्त्ताकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि अनन्यथाभूत अर्थका अभाव है। उपमान और उपमेयके अप्रत्यक्ष होनेसे उपमान-प्रमाण भी वेद-कर्त्ताके अभावका साधक नहीं है। केवल एक अभाव-प्रमाण ही अवशिष्ट रहता है, सो वह वेदकर्त्ताके अभावका ही साधक है। यदि कहा जाय कि वेदकर्त्तारूप पुरुषका सद्भाव सिद्ध करना दुःसाध्य है, उसी प्रकार वेदके कर्त्ताका अभाव सिद्ध करना भी दुःसाध्य है, अतः संशयकी आपत्ति आती है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि वेदकर्त्ताके अभावके साधक अनेक प्रमाण सुलभ है। देखो—वर्तमानकालमें वेदके कर्त्ताका अभाव तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, क्योंकि आज किसीको भी वेदका कर्त्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। तथा अतीत और अनागतकालमें वेदकर्त्ताके अभावका साधक अनुमान प्रमाण पाया जाता है, जो कि इस प्रकार है—

अतीत और अनागतकाल वेद-कारसे अर्थात् वेदको बनानेवाले पुरुषसे रहित हैं, क्योंकि वे 'काल' शब्दके वाच्य हैं, जैसे कि इस समयका वर्तमान-काल। यदि पूछा जाय कि फिर वेदका अध्ययन कैसे सम्भव है, तो उसका

---

१. वेदकर्तुः सिद्धिः। २. उपमानमीश्वरस्तच्छब्द उपमेयभूतः किञ्चिज्ज्ञो न भवतीत्युपमेयस्य सादृश्यात। ३. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥१॥ ४. उद्ध्रियते। ५. अभावप्रमाणम्। ६. कर्तुरभाव-। ७. यथैकस्य वेदकर्तुः पुरुषस्य साधकमेकमपि प्रमाणं न, तथाऽन्यकर्तुः साधकप्रमाणाभावात् संशयप्राप्तिर्न कर्तुरभावसाधकानि प्रमाणानि बहूनि सन्ति। ८. कर्तुरभावस्यापि। ९. भो मीमांसक! आप्तपुरुषसद्भावो दुःसाध्यः प्रतिपादितः, तद्वद्वेदस्यापि अपौरुषेयत्वेऽपि संशयस्तद्-ग्राहकप्रमाणाभावात् इति शङ्कामनूद्य दूषयति। १०. यथा वेदस्य कर्तुः पुरुषस्य साधकमेकमपि प्रमाणं नास्ति, तथा तदभाव-साधकानि प्रमाणानि न सन्तीति चेन्न, तदभावसाधकानां बहूनां प्रमाणानां सद्भावात्। एतदेव विवृणोति। ११. वर्तमानकाले। १२. पुरुषाभावे वेदकर्तुरभावः। १३. प्रमाणप्रत्यक्षमेव। १४. वर्तमानकालवत्।

वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्[1]।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥२४॥ इति

तथा अपौरुषेयो वेदः, [2]अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे [3]सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवत्। [4]अर्थापत्तिरपि प्रामाण्यलक्षणस्यार्थस्यानन्यथाभूतस्य दर्शनात्तदभावे[5] निश्चीयते[6]; धर्माद्यतीन्द्रियार्थविषयस्य वेदस्यार्वाग्दर्शिभिः[7] कर्तुमशक्यात्। [8]अतीन्द्रियार्थदर्शिनश्चाभावात्प्रामाण्यमपौरुषेयतामेव [9]कल्पयतीति।

अत्र प्रतिविधीयते[10]—यत्तावदुक्तं वर्णानां व्यापित्वे नित्यत्वे च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति, तदसत्; प्रत्यभिज्ञायास्तत्र[11] प्रमाणत्वायोगात्। [12]देशान्तरेऽपि [13]तस्यैव वर्णस्य

उत्तर यह है कि वेदका अध्ययन, तदध्ययन-पूर्वक है, क्योंकि वह वेदाध्ययनका वाच्य है। जैसे कि वर्तमानकालका अध्ययन ॥२३-२४॥

तथा वेद अपौरुषेय है; क्योंकि विच्छेद-रहित सम्प्रदाय (परम्परा) के होनेपर भी उसके कर्त्ताका अस्मरण है, अर्थात् वेदके पठन-पाठनकी परम्परा सदासे चली आ रही है, तथापि उसके कर्त्ताका न किसीको स्मरण है, न किसीने देखा, सुना या कहा है। जैसे आकाशके कर्त्ताका किसीको स्मरण नहीं है। अर्थापत्ति भी प्रामाण्यलक्षण अनन्यथाभूत अर्थके दर्शनसे अर्थात् सद्भावसे वेदके कर्त्ताका अभाव निश्चय कराती है; क्योंकि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय करनेवाले वेदका अल्पज्ञ पुरुषोंके द्वारा प्रणयन करना अशक्य है। दूसरे; धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके दर्शी सर्वज्ञका अभाव होनेसे वेदकी प्रमाणता उसकी अपौरुषेयताको ही सिद्ध करती है। इस प्रकार मीमांसकने आप्त-प्रणीत आगमकी प्रमाणताका निषेध करके वेदकी अपौरुषेयता और प्रमाणताकी सिद्धि की।

अब आचार्य उपर्युक्त कथनका प्रतिवाद करते हैं—सर्व प्रथम आपने जो कहा कि वर्णोंके व्यापित्व और नित्यत्व सिद्ध करनेमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाण

---

१. वेदाध्ययनपूर्वकम्; कर्तुः प्रणीतं न, परम्परागतत्वात्। २. अविनष्टोपदेशपारम्पर्ये सति नवाभावे जीर्णकूपादिना व्यभिचारः स्यात्, गगनं गगनमित्युपदेशपरम्परा। ३. अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्युक्ते जीर्णकूपप्रासादादिभिर्व्यभिचारस्तद्व्यवच्छेदार्थं अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे सतीत्युक्तम्। ४. अपौरुषेयो वेदः प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरित्यर्थापत्त्यापि वेदकर्तुरभावो निश्चीयते। ५. वेदकर्तुरभावे। ६. साधिका इति। ७. किञ्चिज्ज्ञैः पुरुषैः। ८. सर्वज्ञस्य। ९. साधयति। १०. उत्तरं दीयते। ११. वर्णानां व्यापित्वे नित्यत्वे च। १२. यदि प्रत्यभिज्ञायास्तत्र व्यापित्वे नित्यत्वे च प्रमाणत्वं तर्हि। १३. पूर्वं व्यापित्वपक्षमवलम्ब्य दूषयति।

सत्त्वे खण्डशः प्रतिपत्तिः स्यात्[1] । न हि सर्वत्र व्याप्त्या [2]वर्तमानस्यैकस्मिन् प्रदेशे सामस्त्येन ग्रहणमुपपत्तियुक्तम्[3]; [4]अव्यापकत्वप्रसङ्गात् । [5]घटादेरपि व्यापकत्वप्रसङ्गश्च[6] । शक्यं हि वक्तुमेवम्—घटः सर्वगतश्चक्षुरादिसन्निधानादनेकत्र देशे प्रतीयत इति ।

[7]ननु [8]घटोत्पादकस्य [9]मृत्पिण्डादेरनेकस्योपलम्भादनेकत्वमेव[10] । तथा महदणु-परिमाणसम्भवाच्चेति । [11]तच्च वर्णेष्वपि[12] समानम्; तत्रापि प्रतिनियतताल्वादिकारण-

---

है; सो यह कहना असत्य है; क्योंकि वर्णोंके व्यापित्व या नित्यत्व सिद्ध करने में प्रत्यभिज्ञानके प्रमाणता नहीं है । यदि प्रत्यभिज्ञानको वर्णोंके व्यापित्व और नित्यत्वमें प्रमाण माना जाय, तो इस देशके समान अन्य देशमें भी उसी एक वर्णका सत्त्व माननेपर उसकी खण्ड-खण्ड रूपसे प्रतिपत्ति (प्राप्ति) होगी ? किन्तु खण्डशः प्रतिपत्ति होती नहीं है; क्योंकि एक देशमें एक वर्ण अपने अखण्ड-रूपसे ही ग्रहण करनेमें आता है । यदि वर्ण सर्वत्र व्याप्तिसे वर्तमान हो, अर्थात् सर्व-व्यापक हो, तो एक प्रदेशमें उसका सामस्त्यरूपसे ग्रहण युक्तियुक्त नहीं हो सकता । और यदि आप एक प्रदेशमें वर्णका अपने पूर्णरूपसे ग्रहण करना मानते हैं, तो अव्यापकपनेका प्रसङ्ग आता है, अर्थात् फिर वर्णको व्यापक नहीं माना जा सकता । यदि इतनेपर भी आप वर्णको व्यापक मानेंगे, तो घटादिकके भी व्यापकपनेका प्रसङ्ग आता है । अर्थात् जैसे एक वर्णके एक देशमें पूर्णरूपसे सुने जानेपर भी उसके अन्य देशमें भी पूर्णरूपसे सुने जाने पर व्यापकपना बन जाता है, उसी प्रकारसे घटका भी व्यापकपना सिद्ध हो जायगा । फिर ऐसा कहना शक्य है कि घट सर्वव्यापक है; क्योंकि नेत्रादिके सन्निधान (सामीप्य) से वह एक होते हुए भी अनेक स्थानोंपर प्रतीतिमें आता है ।

मीमांसक कहते हैं कि घटकी सर्वव्यापकता घटित नहीं होती; क्योंकि घटके उत्पादक मृत्पिण्ड, चक्र, कुम्भकार आदि अनेक कारण पाये जाते हैं, और बड़ा-छोटा परिमाण भी पाया जाता है, अतः घटके अनेकता ही है । आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह कारणकी विभिन्नता तो अका-

१. नास्ति च खण्डशः प्रतिपत्तिः । २. वर्णस्य । ३. युक्तियुक्तम् । ४. अन्यथा । ५. वर्णस्य व्यापकत्वेऽप्येकस्मिन् प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते चेत् । ६. यथा शब्दे एकस्मिन् प्रदेशे स्थिते पुनरन्यस्मिन् शब्देऽन्यस्मिन् देशे श्रूयमाणे सति व्यापकत्वं तथा घटस्यापि स्यादिति समः समाधिः । ७. मीमांसकः प्राह । ८. घटोदाहरणं न घटते, यतो घटोत्पादककारणभेदेन घटस्यानेकत्वम्, वर्णस्यैकत्वमिति । ९. चक्रचीवर-कुलालादेः । १०. यत्त्वनेकं तदव्यापकमिति । ११. कारणभेदत्वम् । १२. अकारादिवर्णेष्वपि ।

कलापस्य [1]तीव्रादिधर्मभेदस्य च सम्भवाविरोधात्। ताल्वादीनां व्यञ्जकत्वमत्रैव निषेत्स्यत इत्यास्तां तावदेतत्।

अथ[2] व्यापित्वेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना[3] वृत्तिमत्त्वान्न [4]दोषोऽयमिति चेन्न; तथा[5] सति सर्वथैकत्वविरोधात्[6]। न हि देशभेदेन युगपत्सर्वात्मना [7]प्रतीयमानस्यैकत्वमुपपन्नम्; प्रमाणविरोधात्[8]। तथा च प्रयोगः—प्रत्येकं गकारादिवर्णोऽनेक एव; [9]युगपद्भिन्नदेशतया तथैव[10] सर्वात्मनोपलभ्यमानत्वात्, घटादिवत्। न सामान्येन व्यभिचारः[11],

---

रादि वर्णोंमें भी समान है; क्योंकि उनमें भी प्रतिनियत तालु कण्ठ आदि कारण-कलाप (समूह) के और तीव्र-मन्द, उदात्त-अनुदात्त-आदि धर्म भेदके सम्भव होनेमें कोई विरोध नहीं है। यदि कहें कि तालु आदि तो वर्णोंके व्यञ्जक हैं, उत्पादक नहीं; सो तालु आदिककी व्यञ्जकताका हम इसी प्रकरण में आगे निषेध करेंगे, अतः यह कथन यहीं समाप्त करते हैं।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि वर्णोंके व्यापकता माननेपर भी उनके सर्वत्र सर्वात्मरूपसे अर्थात् पूर्णस्वरूपसे पाये जानेपर खण्डशः प्राप्तिरूप आपके द्वारा दिया गया दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि आपका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि व्यापक और सर्वत्र सर्वात्मरूपसे वृत्तिमत्त्व माननेपर वर्णकी सर्वथा एकताका विरोध आता है। कहनेका भाव यह है कि व्यापक वस्तु चाहे, वह वर्ण हो, या अन्य कोई पदार्थ हो, वह यदि एक स्थानपर पूर्णरूपसे रहे और दूसरे स्थान पर भी पूर्णरूपसे रहे, तो उसको अनेकता स्वतः सिद्ध है। देश-भेदसे एक साथ सर्वात्मरूपसे प्रतीत होनेवाले वर्णकी एकता बन नहीं सकती; क्योंकि वैसा माननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरोध आता है। उसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—गकार आदि प्रत्येक

---

१. उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतरूपः। २. मीमांसकः प्राह। ३. साकल्येन। ४. खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणः। किन्तु नैयायिकाभिमतसामान्ये खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणमिदं दूषणं भवतु, तन्मते तस्यैकत्वे सत्यनेकसमवायित्वात्। न तु मम भो जैन ५. व्यापित्वेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना वृत्तिमत्त्वे। ६. यदि व्यापकं एकस्मिन् प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते, पुनरन्यत्र प्रदेशे सर्वात्मना वर्तते, तर्ह्यनेकत्वमागतम्। ७. वर्णस्य। ८. एक एव घटः प्रत्यक्षेणैकस्मिन् देशे उपलभ्यमाने न हि स एव तदैवान्यत्रोपलभ्यते तथा वर्णोऽपीति प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधः। ९. एकस्यैव घटस्य सर्वत्रानुक्रमेण प्रवृत्तिः सर्वात्मनाऽस्ति, तथापि युगपत् प्रवृत्तिर्नास्तीति व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं युगपद्-ग्रहणमिति। १०. प्रत्येकम्। ११. सामान्यस्यापि प्रतिव्यक्ति भेदात्। यत एकमेव सामान्यं अनेकत्र प्रतीयते।

तस्यापि[1] सदृश[2]परिणामात्मकस्यानेकत्वात्[3]। नापि पर्वताद्यनेकप्रदेशस्थतया युगपदनेकदेशस्थितपुरुषपरिदृश्यमानेन चन्द्रार्कादिना व्यभिचारः, [4]तस्यातिदविष्ट[5]तयैकदेशस्थितस्यापि भ्रान्तिवशादनेकदेशस्थत्वेन प्रतीतेः। न चाभ्रान्तस्य[6] भ्रान्तेन व्यभिचारकल्पना युक्तेति। नापि जलपात्रप्रतिबिम्बेन[7], तस्यापि[8] चन्द्रार्कादिसन्निधिमपेक्ष्य [9]तथापरिणममानस्यानेकत्वात्। तस्मादनेकप्रदेशे युगपत्सर्वात्मनोपलभ्यमानविषयस्यैक[10]स्यासम्भाव्यमानत्वात्तत्र[11] प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणमिति स्थितम्।

वर्ण अनेक ही हैं; क्योंकि एक साथ भिन्न-भिन्न देशोंमें प्रत्येक वर्ण अपने पूर्णरूपसे पाया जाता है। जैसे कि घटादिक पदार्थ भिन्न-भिन्न देशमें अपने पूर्णरूपसे पाये जानेसे अनेक हैं। यदि आप कहें कि सामान्य नामक पदार्थ एक होते हुए भी सर्वत्र प्रतीतिमें आता है, अतः उससे उक्त हेतुमें व्यभिचार आता है, सो ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि हम जैन लोग सदृशपरिणात्मक उस सामान्यको भी अनेक ही मानते हैं, यौगोंके समान एक नहीं मानते। यदि कहें कि पर्वतादि अनेक प्रदेश-स्थितरूपसे एक साथ अनेक देशस्थ पुरुषोंके द्वारा दिखाई देनेवाले एक चन्द्र या एक सूर्य आदिसे आपके हेतुमें व्यभिचार आता है, सो ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि अति दूरवर्ती होनेसे एक देशस्थ भी चन्द्र-सूर्यादिककी भ्रान्तिके वशसे अनेक देशस्थ रूपसे प्रतीति होती है। और अभ्रान्तको भ्रान्तसे व्यभिचार-कल्पना करना युक्त नहीं है। अर्थात् गकारादि वर्णोंकी एक साथ भिन्न-भिन्न देशोंमें अपने पूर्णरूपसे जो अनेकत्वकी प्रतीति होती है, वह अभ्रान्त है। किन्तु चन्द्र-सूर्यादिकी भिन्न-भिन्न देशोंमें जो अनेकत्वकी प्रतीति होती है, वह भ्रान्त है, अतः भ्रान्तप्रतीतिसे अभ्रान्तप्रतीतिमें व्यभिचार नहीं दिया जा सकता है। और

---

१. सामान्यस्यापि। २. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। ३. विशेषं विशेषभूतं सामान्यं पृथगेव जैनमतम्। यतः खण्डमुण्डादिषु सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं प्रतिव्यक्ति भिन्नमेव। ४. चन्द्रार्कादेः। ५. अतिदूरतया। ६. गकारादिवर्णस्य युगपद्भिन्नदेशत्वेन सर्वात्मनोपलभ्यमानत्वमभ्रान्तम्, सूर्यस्य तु दविष्ठतया नानात्वेनोपलभ्यमानत्वं भ्रान्तम्; अतो न तस्य तेन व्यभिचार इति। ७. भो मीमांसक! सर्वेषु जलाशयेषु चन्द्रप्रतिबिम्बं पृथक् पृथक् वर्तते तदा तानि प्रतिबिम्बानि बहूनि भवन्ति, तदा तानि प्रतिबिम्बानि चन्द्राः न वा? चन्द्राश्चेत् पृथक् चन्द्राः, न भवन्ति चेत् किं भ्रान्तत्वमायातम्? तथैकः शब्दो व्यापकश्चेत्, अन्यत्र श्रूयमाणाः शब्दाः शब्दा भवन्ति चेदनेकत्वम्। न भवन्ति चेद् भ्रान्ता एव। किञ्च—जनैरुच्चार्यमाणः शब्दः पृथगेव। ८. प्रतिबिम्बस्यापि। ९. चन्द्राद्याकारेण प्रतिबिम्बरूपेण। १०. शब्दादेर्वस्तुनः ११. व्यापित्वे।

तथा नित्यत्वमपि न प्रत्यभिज्ञानेन निश्चीयत इति। नित्यत्वं हि 'एकस्यानेकक्षणव्यापित्वम्। तच्चान्तराले[1] सत्तानुपलम्भेन[2] न शक्यते निश्चेतुम्। न च प्रत्यभिज्ञानबलेनैवान्तराले [3]सत्तासम्भवः, [4]तस्य [5]सादृश्यादपि सम्भवाविरोधात्। न[6] च घटादावप्येवं प्रसङ्गः; [7]तस्योत्पत्तावपरापरमृत्पिण्डान्तरलक्षणस्य कारणस्यासम्भाव्यमानत्वेनान्तराले[8] सत्तायाः साधयितुं शक्यत्वात्। अत्र[9] तु कारणानामपूर्वाणां व्यापारे सम्भावनाऽतो नान्तराले सत्तासम्भव[10] इति।

न जलसे भरे हुए पात्रमें दिखाई देनेवाले चन्द्र सूर्यादिके प्रतिबिम्बसे व्यभिचार आता है; क्योंकि चन्द्र-सूर्यादिके सामीप्यकी अपेक्षा कर जलके तथारूपसे परिणत उस प्रतिबिम्बके भी अनेकता है। इसलिए अनेक प्रदेशमें एक साथ सर्वात्मरूपसे उपलब्ध होनेवाले गकारादिका एक होना असम्भव है; अतः उसके व्यापित्वमें प्रवर्तमान प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

जिस प्रकार वर्णोंकी व्यापकता प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार उनकी नित्यता भी प्रत्यभिज्ञानसे निश्चित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि एक वस्तुके अनेक क्षेत्रोंमें रहनेको नित्यता कहते हैं। सो गकारादि वर्णोंकी वह नित्यता उच्चारण किये गये और उच्चारण किये जानेवाले वर्णोंके अन्तरालमें सत्ताके नहीं पाये जानेसे निश्चय नहीं की जा सकती है। और प्रत्यभिज्ञानके बलसे अन्तरालमें वर्णोंकी सत्ताका पाया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सादृश्यसे भी प्रत्यभिज्ञानके सम्भव होनेमें कोई विरोध नहीं आता। और, घटादिकमें भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं आता; क्योंकि घटकी उत्पत्तिमें अन्य अन्य मृत्पिण्डरूप लक्षणवाले कारणकी असम्भावनासे अन्तरालमें सत्ता सिद्ध करना शक्य है। किन्तु शब्दमें अपूर्व कारणोंके व्यापारकी सम्भावना है, अतः अन्तरालमें वर्णोंकी सत्ता सम्भव नहीं है।

१. गकारादेः। २. उच्चार्यमाणोच्चरिष्यमाणानां गकारादीनामन्तराले। ३. गकारादीनां सद्भावानुपलम्भेन। ४. सत्तोपलम्भस्य। ५. प्रत्यभिज्ञानस्य। प्रत्यभिज्ञा सादृश्ये सम्भवति यतस्तर्हि सादृश्यं साधयति। ६. गोसदृशोऽयं गवय इत्यादिवत्सादृश्येऽपि सम्भवति प्रत्यभिज्ञानं यतः। ७. एकं दृष्ट्वा दिनान्तरे तमेव पश्यतोऽपि पुरुषस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञानबलादेव सम्भवे तस्यापि नान्तराले सत्तासम्भव इत्याशङ्कायामाह। ८. घटस्य। ९. प्रभातकाले यो घटो दृष्टस्तमेव मध्याह्नकाले पश्यति जन इत्यन्तराले घटसत्तासम्भवः। १०. शब्दे। ११. प्रभातकाले शब्दः श्रुतः, पश्चान्मध्याह्नकाले कारणान्तरेणोत्पद्यमानोऽन्य एव शब्दः श्रूयते न तु घटवद् यदा मृत्पिण्डादिर्घट उत्पन्नस्तदा तदनन्तरं कालान्तरे प्रत्यभिज्ञानेनान्तराले सत्ता ज्ञायते, कारणान्तरेण अनुत्पद्यमानत्वात्। इति न घटवदन्तराले शब्दसत्ताप्रसङ्गः।

यच्चान्यदुक्तम्—'सङ्केतान्यथानुपपत्तेः शब्दस्य नित्यत्वमिति', इदमप्यनात्मज्ञ-भाषितमेव; अनित्येऽपि[1] योजयितुं शक्यत्वात्। 'तथाहि—गृहीतसङ्केतस्य दण्डस्य प्रध्वंसे सत्यगृहीतसङ्केत इदानीमन्य एव दण्डः समुपलभ्यत इति दण्डीति न स्यात्[3]। तथा धूमस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्य नाशे अन्यधूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानाभावश्च[4]। 'अथ सादृश्यात्तथा प्रतीतेर्न दोष इति चेदत्रापि[7] सादृश्यवशादर्थप्रत्यये[8] को दोषः ? येन[9]

भावार्थ—किसी व्यक्तिने प्रातःकाल किसी घटको देखा, पुनः सायंकाल उसी घटको देखा, तब वह एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे निश्चय करता है कि यह वही घट है। इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञानमें वह घट एक ही है, अतः प्रातः से सायंकाल तकके अन्तरालमें उसकी सत्ता बनी रहती है। किन्तु शब्दके विषयमें ऐसा नहीं है, प्रातःकाल जो 'गौ' आदि शब्द सुना, वह अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ था, और सायंकाल जो वही शब्द पुनः सुन रहे हैं, वह अपने अन्य ही कारणोंसे उत्पन्न हुआ सुन रहे है। प्रातःकालका शब्द तो बोलनेके अनन्तर ही नष्ट हो चुका है, उसकी सत्ता सायंकाल तकके अन्तरालमें नहीं बनी रह सकती, अतः अन्तरालमें उसकी सत्ता सम्भव नहीं है। सायंकाल जो ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही शब्द है, जो मैंने प्रातःकाल सुना था, वह उसके एकत्वसे नहीं होती, किन्तु सादृश्यसे होती है। अतः वर्णोंको एक नित्य और व्यापक न मानकर अनेक, अनित्य और अव्यापक ही मानना चाहिए, तभी सर्व व्यवस्था ठीक बन सकती है, अन्यथा नहीं।

और जो आपने कहा—कि सङ्केत अन्यथा हो नहीं सकता, अतः शब्दके नित्यता है, सो यह भी आपका कथन अनात्मज्ञ-भाषितके समान ही है; क्योंकि यह बात तो अनित्य दण्डादिमें भी लगाई जा सकती है। तथाहि—जिसका सङ्केत ग्रहण किया था, उस दण्डके विनष्ट हो जानेपर जिसका सङ्केत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा अन्य ही दण्ड इस समय पाया जाता है, इसलिए उस पुरुषको यह दण्डी है, ऐसा व्यपदेश नहीं होना चाहिए। तथा जिस धूमके साथ व्याप्ति ग्रहण की थी उसके नाश हो जानेपर कालान्तरमें अन्य धूमके देखनेसे अग्निका ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय—कि सादृश्यसे दण्डी आदिकी प्रतीति होती है अर्थात् जैसा दण्ड उस पुरुषके

१. दण्डादावपि। २. एतदेव विवृणोति। ३ अस्ति च दण्डीति व्यपदेशः। ४. अस्ति च वह्निज्ञानमिति। ५. मीमांसकः प्राह। ६. पूर्वदण्डदृष्टेऽपि तत्सदृशान्यदण्डनिमित्ताद्दण्डीति प्रतीतिर्भवति। ७. शब्देऽपि। ८. अर्थनिश्चये। ९. येन कारणेन।

नित्यत्वेऽत्र[1] दुरभिनिवेश आश्रीयते[2]। तथा [3]कल्पनायामन्तराले [4]सत्त्वमप्यदृष्टं[5] न[6] कल्पितं[7] स्यादिति।

यच्चान्यदभिहितम्—[8]व्यञ्जकानां [9]प्रतिनियतत्वान्न युगपत् श्रुतिरिति, तदप्य-शिक्षितलक्षितम्; [10]समानेन्द्रियग्राह्येषु [11]समानधर्मसु [12]समानदेशेषु [13]विषयिविषयेषु[14] नियमायोगात्[15]। तथाहि—[16]श्रोत्रं समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नानामर्थानां[17]

पास पहले था, इस समय उसके पास वैसा ही अन्य दण्ड पाया जाता है, अतः उसे दण्डी कहा जाता है। और, जैसा धूम व्याप्ति-ग्रहणके कालमें देखा था, वैसा ही धूम इस समय भी दिखाई दे रहा है, अतः उससे अग्नि का ज्ञान हो जाता है, इसलिए आपने जो दोष दिया है वह लागू नहीं होता। यदि ऐसा आप कहते हैं, तो यहाँपर भी अर्थात् शब्दमें भी सादृश्यके वशसे अर्थके निश्चयमें क्या दोष है? जिससे कि यहाँ आप शब्दकी नित्यतामें दुराग्रहका आश्रय कर रहे हैं। और सादृश्यके वशसे अर्थके निश्चयकी कल्पना कर लेनेपर फिर अन्तरालमें नहीं दिखाई देनेवाले शब्दके सत्त्वकी कल्पना भी नहीं करना पड़ेगी। कहनेका सारांश यह—कि शब्दके नित्य माननेपर ही आपको इस प्रकारकी अदृष्ट कल्पनाएँ करना पड़ती हैं।

और जो आपने कहा—कि व्यञ्जक वायुओंके प्रतिनियत होनेसे शब्दोंका सुनना एक साथ नहीं होता, इत्यादि। सो यह भी आपका कथन अशिक्षित पुरुषके कथनके समान प्रतीत होता है; क्योंकि समान एक श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जानेवाले, उदात्त-अनुदात्त आदि समान धर्मवाले, आकाशरूप समान देशवाले विषय-विषयीमें अर्थात् शब्द और श्रोत्रेन्द्रियमें प्रतिनियत कारणोंसे अभिव्यक्तिका नियम नहीं बन सकता। अतः उनका एक साथ ही ग्रहण होना चाहिए। आचार्य आगे यही बात अनुमान-प्रयोग से स्पष्ट करते हैं—श्रोत्रेन्द्रिय समान देश, समान इन्द्रिय-ग्राह्य और समान-

१. शब्दे। २. अस्तीति करोति। ३. सादृश्यवशादर्थकल्पनायाम्। ४. वर्णसत्त्वम्। ५. इन्द्रियागोचरम्। ६. नामधातुः परमार्थभूतं न स्यात्। ७. येनापि प्रकारेण सत्ता कल्पिता स्यात्, न तु स्वभावतः सत्ता वर्तते तेनापि न कल्पितं स्यात्। ८. वायूनाम्। ९. प्रतिवर्णनिश्चितत्वात्। १०. श्रोत्रेन्द्रिय-। ११. उदात्तादिसमानधर्मयुक्तेषु। १२. आकाशलक्षणैकप्रदेशाभिव्यक्तेषु। १३. विषयि इन्द्रियम्। १४. विषयाः शब्दाः। १५. प्रतिनियतकारणादभिव्यक्तेर्नियमायोगाद् युगपद् ग्रहणं भवति। १६. विकल्पद्वयम्—प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं श्रोत्रं वा, शब्दाः वा? १७. गकारादीनां शब्दानाम्।

ग्रहणाय [1]प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्य[2] न भवति, इन्द्रियत्वात्, चक्षुर्वत्। [4]शब्दा वा [5]प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति, समानदेश-समानेन्द्रियग्राह्य-समानधर्मापन्नत्वे[6] सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात्; घटादिवत्। [7]उत्पत्तिपक्षेऽप्ययं दोषः समान[8] इति न वाच्यम्; मृत्पिण्ड-दीपदृष्टान्ताभ्यां कारक-[9]व्यञ्जकपक्षयोर्विशेषसिद्धे[10]रित्यलमतिजल्पितेन।

धर्मवाले अर्थों अर्थात् गकारादि शब्दोंके ग्रहण करनेके लिए प्रतिनियत पृथक्-पृथक् लक्षणवाली वायुके संस्कारसे संस्कारित नहीं होती है; क्योंकि वह इन्द्रिय है। जो-जो इन्द्रियाँ हैं, वे-वे अपने विषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए प्रतिनियत संस्कारोंसे संस्कारित नहीं होती हैं, जैसे कि नेत्रेन्द्रिय एक ही अंजनादिकके संस्कारसे अपने विषय रूपको ग्रहण करती है उसे भिन्न-भिन्न रूपोंके देखनेके लिए भिन्न-भिन्न संस्कारोंकी आवश्यकता नहीं होती। यह अनुमान श्रोत्रेन्द्रियको पक्ष बनाकर दिया है। अब शब्दको पक्ष बनाकर अनुमानका प्रयोग करते हैं—शब्द प्रतिनियत संस्कारोंसे संस्कारित नहीं होते हैं; क्योंकि समान देश, समान इन्द्रिय-ग्राह्य और समान धर्मवाले होकर एक साथ श्रोत्रेन्द्रियसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं। जैसे कि घट पटादि पदार्थ विभिन्न या विशिष्ट संस्कारोंसे संस्कारित हुए विना ही समान देशादिमें स्थित होनेपर एक चक्षुरादि इन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं। यदि कहा जाय कि उत्पत्ति पक्षमें भी ये उपर्युक्त दोष समान हैं, सो ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि मृत्पिण्ड और दीपकके दृष्टान्तसे कारक और व्यञ्जक पक्षमें

१. पृथक् पृथक् वायुलक्षणम्। २. एकेनैव संस्कारेण संस्कृतं मत् अर्थानां ग्राहकं भवतीति नियमः। ३. वर्णं वर्णं प्रति नियतो निश्चितोऽभिव्यञ्जको वायुः स एव संस्कारकस्तेन। ४. पूर्वानुमाने श्रोत्रमिन्द्रियं पक्षः, अत्र तु शब्दाः पक्षः। ५. पृथक् पृथक् लक्षणम्। ६. पिशाचादीनां व्यभिचारपरिहारार्थम्। ७. यथा युगपत् सर्ववर्णश्रावणमापादितं तथा युगपदुत्पत्तिः स्यादिति दूषणं कारकव्यञ्जकपक्षयोः समानं न भवति। ८. यथैकेनाभिव्यञ्जकेन वायुना युगपदभिव्यज्यमानानां प्रकटीक्रियमाणानां शब्दानां युगपत् श्रवणदूषणं सङ्करश्च प्रतिपादितः, तथैकेनोत्पादककारणेन सर्वेषां कार्याणां घटादीनां युगपदुत्पत्तिः सङ्करश्च भवेत्। इति कारक-व्यञ्जकयोः समानं दूषणम्। ९. एको हि मृत्पिण्डः कर्तुरिच्छावशेन घटाद्यन्यतममेव कार्यमारभते। व्यञ्जकस्तु प्रदीपः कटप्रकाशेच्छया प्रेरितः स्वसंयुक्तं घटादिकमपि प्रकटयत्येव। १०. मृत्पिण्डस्तु युगपत् घटाद्यन्यतमवस्तुकारकः। प्रदीपस्तु विद्यमानस्य घटादेः सर्वस्याभिव्यञ्जक इत्युत्पत्त्यभिव्यञ्जकयोः समानत्वं कुतः? किन्तु विशेषसिद्धिर्वर्तते, यत एकमृत्पिण्डादेक एव घट उत्पद्यते, न तथा दीपादेक एव प्रकाशते।

यच्चान्यत्—प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमिति[1] तत्र[2] किं शब्दमात्रस्यानादि-नित्यत्वमुत [3]विशिष्टानामिति ? आद्यपक्षे य एव शब्दाः लौकिकास्त एव वैदिका इत्यल्प-मिदमभिधीयते वेद एवापौरुषेय इति। किन्तु सर्वेषामपि शास्त्राणामपौरुषेयतेति। [4]अथ

विशेषता (विभिन्नता) सिद्ध है; अतः इस विषयमें अधिक कहनेसे विराम लेते हैं।

भावार्थ—मीमांसक कहते हैं कि जिस प्रकार एक अभिव्यञ्जक वायुसे प्रतिनियत शब्दके अभिव्यक्त होनेपर अन्य समस्त शब्दोंकी अभिव्यक्तिका जो सङ्करदोष आपने प्रतिपादन किया है, उसी प्रकारसे एक घटके उत्पादक कारणसे अन्य सभी घटरूप कार्योंकी एक साथ उत्पत्तिरूप सङ्करदोषका प्रसङ्ग आपको भी प्राप्त होता है, इसलिए शब्दोंके कारक और व्यञ्जकपक्षमें दोष समान ही हैं। आचार्यने उनके इस कथनका निराकरण करनेके लिए मृत्पिण्ड और दीपकका दृष्टान्त दिया है। जैसे एक घड़ा बनानेकी इच्छासे कुम्भकारने मिट्टीका एक पिण्ड चाकपर रखा, तो उससे घड़ारूप एक ही कार्य उत्पन्न होगा, अन्य नहीं। और जैसे किसीने अन्धकारमें रखे हुए किसी एक घड़ेको ढूँढ़नेके लिए दीपक जलाया, वह दीपक उस घड़ेको तो प्रकाशित करेगा ही, साथ ही समीपमें रखे हुए अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करेगा। कहनेका भाव यह कि एक मृत्पिण्ड एक कालमें एक ही घटका कारण है; किन्तु दीपक विद्यमान सभी पदार्थोंका प्रकाशक या अभिव्यञ्जक है। इसी प्रकार शब्दकी व्यञ्जक एक वायु जब उसे अभिव्यक्त करे, तब सभी शब्दोंकी अभिव्यक्ति एक साथ होना चाहिए, सो होती नहीं है। इस प्रकार यह दोष केवल अभिव्यक्ति पक्षमें ही आता है, उत्पत्ति पक्षमें नहीं आता। अतः उत्पत्ति और अभिव्यक्ति या व्यञ्जक और कारक पक्षमें समानता नहीं है, किन्तु विभिन्नता ही सिद्ध होती है।

और जो आप मीमांसकोंने प्रवाहकी नित्यतासे वेदके अपौरुषेयता कही, सो वेदकी इस अपौरुषेयताके विषयमें हम आपसे पूछते हैं कि आप शब्दमात्रके अनादि नित्यता मानते हैं कि कुछ विशिष्ट शब्दोंके ? प्रथम पक्षके माननेपर तो जो शब्द लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं, इसलिए सभीको नित्य मानना चाहिए, फिर आप यह अल्प (कम) हो कहते हैं कि वेद ही अपौ-रुषेय है और लौकिक शब्द अपौरुषेय नहीं। किन्तु संसारके सभी सच्चे-झूठे शास्त्रोंको अपौरुषेय कहना चाहिए। यदि आप विशिष्ट आनुपूर्वीसे आये हुए

१. अभिहितं मीमांसकेन। २. वेदस्यापौरुषेयत्वे। ३. विशेषशब्दानाम्।
४. मीमांसकस्य द्वितीयः पक्षः।

विशिष्टानुपूर्विका[1] एव शब्दा[2] अनादित्वेनाभिधीयन्ते; तेषामवगतार्थानामनवगतार्थानां वा अनादिता स्यात्? यदि तावदुत्तरः [3]पक्षस्तदाऽज्ञानलक्षणमप्रामाण्यमनुषज्यते। अथ आद्य[4] पक्ष आश्रीयते, तद्व्याख्यातारः किञ्चिज्ज्ञा भवेयुः सर्वज्ञा वा? प्रथमपक्षे [5]दुरधिगमसम्बन्धानामप्यन्यथा[6]ऽप्यर्थस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यं स्यात्। तदुक्तम्—

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः[7] ॥२५॥

किञ्च—किञ्चिज्ज्ञव्याख्यातार्थविशेषाद् "'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यस्य 'खादेच्छ्वमांसम्' इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात्, संशयलक्षणमप्रामाण्यं वा[9]।

विशिष्ट शब्दोंको ही अर्थात् वैदिक शब्दोंको ही अनादिरूपसे कहते हैं, तो हम पूछते हैं कि जिन शब्दोंका अर्थ जान लिया है ऐसे वैदिक शब्दोंके अनादिता है; अथवा जिनका अर्थ जाना नहीं है, ऐसे शब्दोंके अनादिता है? इनमेंसे यदि दूसरा पक्ष मानते हैं, तब तो आपके अज्ञानरूप अप्रमाणताका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। यदि पहला पक्ष स्वीकार करते हैं तो हम पूछते हैं कि उन विशिष्ट शब्दोंके व्याख्यान करनेवाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ हैं? प्रथम पक्षके माननेपर तो जिन वैदिक वाक्योंके अर्थका सम्बन्ध दुरधिगम है, अर्थात् बड़ी कठिनतासे जाना जा सकता है, वे अल्पज्ञ व्याख्याता लोग उनके अर्थकी अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं; अतः फिर भी मिथ्यास्वरूपवाला अप्रामाण्य प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है—

मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है, ऐसा शब्द स्वयं नहीं बोलते हैं। शब्दोंका यह अर्थ तो पुरुषोंके द्वारा ही कल्पना किया जाता है। और, यतः पुरुष रागादि दोषोंसे पीड़ित या दूषित होते हैं अतः वे राग-द्वेषादिके वशीभूत होकर शब्दोंके अर्थकी अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं ॥२५॥

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुषके द्वारा व्याख्यान किये गये अर्थविशेषसे 'स्वर्गकी इच्छावाला पुरुष अग्निहोत्रका हवन करे' इस वेद-वाक्यका अर्थ 'कुत्तेका मांस खावे' ऐसा भी क्यों न सम्भव मान लिया जाय?

---

१. विशिष्टानुक्रमायाताः। २. वैदिका इति भावः। ३. पक्षीक्रियते। सूचीकटाहन्यायेनोत्तरपक्षस्य प्रथमतः प्रतिपादनम्। ४. विशिष्टानुपूर्विका ये शब्दास्तेषामवगतानामेवानादिता स्यात्। ५. वेदवाक्यानाम्। ६. विपरीतत्वेनापि। ७. रागद्वेषमोहैर्बाधिताः। ८. अग्निं हन्तीति अग्निहा श्वा, तस्योत्रं मांसं जुहुयात्खादेत्। अथवाऽगति गच्छतीत्यग्निः श्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं मांसम्। अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात्खादेत्स्वर्गकामः पुमान् द्विजः। ९. किं न स्यादिति शेषः।

'अथ सर्वविद्विदितार्थ[1] एव वेदोऽनादिपरम्पराऽऽयात[2] इति चेत् 'हन्त[3] धर्मे[4] चोदनैव[5] प्रमाणम्[6] इति हतमेतत्; अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थस्य पुरुषस्य सद्भावे च तद्वचनस्यापि[7] चोदनावत्तदवबोधकत्वेन[8] प्रामाण्याद्वेदस्य[9] पुरुषाभावसिद्धेस्त[10]त्प्रति-बन्धकं स्यात्।

अथ तद्व्याख्यातॄणां किञ्चिज्ज्ञत्वेऽपि[11] यथार्थव्याख्यानपरम्परया अनवच्छिन्न-

---

भावार्थ—अल्पज्ञ पुरुष रागादिके वशीभूत होकर उक्त वेद वाक्यका ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्निको जो हने वह 'अग्निहा' अर्थात् कुत्ता है, उसका अन्न जो मांस उसे जुहुयात् अर्थात् खावे। अथवा 'अगति गच्छति' इस निरुक्तिके अनुसार जो चले उसे अग्नि अर्थात् कुत्ता कहते हैं। 'हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं' इस निरुक्तिके अनुसार होत्रका अर्थ मांस है। अग्नि अर्थात् कुत्तेके मांसको खावे, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है। किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नहीं होगा, अतः अल्पज्ञ व्याख्याताका मानना ठीक नहीं है।

अथवा अल्पज्ञ पुरुषके द्वारा व्याख्यात अर्थमें संशय हो सकता है कि इसने जो अर्थ किया है, वह ठीक है या नहीं? इस प्रकार संशय लक्षण-वाली अप्रमाणता भी प्राप्त हो सकती है।

यदि दूसरा पक्ष अङ्गीकार करें कि वेद-वाक्योंके अर्थके व्याख्याता सर्वज्ञ हैं और सर्वज्ञके द्वारा वेदका विदित या व्याख्यात अर्थ ही अनादि-परम्परासे आ रहा है; तब तो महान् खेदकी बात है कि 'यज्ञादि धर्म-कार्यमें वेदवाक्य ही प्रमाण है' आपका यह कथन नष्ट हो जाता है। क्योंकि धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ पुरुषके सद्भाव मान लेनेपर उसके वचन भी वेद-वाक्यके समान ही अतीन्द्रिय धर्मादि पदार्थोंके अवबोधक हो जानेसे प्रमाणताको प्राप्त हो जायेंगे, तब आप लोग जो वेदको अपौरुषेय कहते हैं, सो वेदकी इस पुरुषाभाव सिद्धिरूप अपौरुषेयताका प्रति-बन्धक अर्थात् विघातक यह प्रमाणभूत सर्वज्ञका वचन ही हो जाता है।

यदि वेदकी अपौरुषेयता समाप्त न हो जाय इस भयसे वेद-वाक्योंके

---

१. द्वितीयः पक्षः। २. सर्वज्ञेन विदितोऽर्थो यस्येति। सर्वज्ञज्ञातार्थ एव। ३. अर्थ-पाठाभ्यामभ्यस्तः। ४. खेदे। ५. यज्ञादौ। ६. प्रेरणैव वेद-वाक्यस्था, वेदवाक्यमेवेत्यर्थः। ७. अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थपुरुषवचनस्यापि। ८. अतीन्द्रियार्थधर्मावबोधकत्वेन। ९. ततश्च। १०. प्रमाणभूतसर्वज्ञवचनम्। ११. अनेन कर्मणा स्वर्गो भवतीति ज्ञात्वा प्रतिपादितश्चेद्योग्यम्।

सन्तानत्वेन सत्यार्थ एव वेदोऽवसीयत इति चेन्न; किञ्चिज्ज्ञानामतीन्द्रियार्थेषु[1] निःसंशयव्याख्यानायोगादन्धेनाऽऽकृष्यमाणस्यान्धस्यानिष्टदेशपरिहारेणाभिमतपथप्रापणानुपपत्तेः[2]।

किञ्च[3]—अनादिव्याख्यानपरम्पराऽऽगतत्वेऽपि वेदार्थस्य गृहीतविस्मृतसम्बन्धवचनाकौशलदुष्टाभिप्रायतया[4] व्याख्यानस्यान्यथैव[5] करणादविसंवादा[6]योगादप्रामाण्यमेव स्यात्। दृश्यन्ते ह्यधुनातना[7] अपि ज्योतिःशास्त्रादिषु रहस्यं यथार्थमवयन्तोऽपि[8] [9]दुरभिसन्धेरन्यथा व्याचक्षाणाः। केचिज्जानन्तोऽपि वचनाकौशलादन्यथोपदिशन्तः।

व्याख्याता सर्वज्ञ न मानकर अल्पज्ञ ही मानें और कहें कि उनके द्वारा कही गई यथार्थ (वास्तविक) अर्थकी व्याख्यान-परम्परा अनादिकालसे लगातार अविच्छिन्न सन्तानरूपसे चली आ रही है, अतः आज भी वेदका सत्य अर्थ ही जाना जा रहा है, ऐसा हमारा निश्चय है। सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष धर्मादिरूप अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें असन्दिग्धरूपसे व्याख्यान नहीं कर सकते हैं। जैसे कि एक अन्धेके द्वारा आकृष्यमाण (खींचा जाता हुआ) अन्धा अनिष्ट देशको छोड़कर कभी भी अभीष्ट देशको नहीं पहुँच सकता। अर्थात् वह तो कहीं न कहीं मार्गसे विमुख होकर गड्ढे में गिरेगा ही। इसी प्रकार अल्पज्ञ पुरुषके द्वारा व्याख्यात अर्थमें भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ चूक अवश्य होगी।

दूसरे, थोड़ी देरके लिए वेदका अर्थ अनादिकालसे चली आ रही व्याख्यान-परम्परा द्वारा आया हुआ मान भी लें, तो भी गुरुसे गृहीत अर्थका सम्बन्ध विस्मृत हो जानेसे, या वचनकी अकुशलतासे, अथवा दुष्ट अभिप्रायसे यदि अर्थका व्याख्यान अन्यथा (विपरीत) कर दिया जाय, तो उसमें यथार्थ तत्त्वकी प्रकाशकताका अभाव हो जानेसे अविसंवादकता न रहेगी और इसलिए वह व्याख्यात अर्थ अप्रमाण ही हो जायगा। आज-कल ऐसे व्याख्याता देखे जाते हैं जो ज्योतिषशास्त्रादिके यथार्थ रहस्यको जानते हुए भी दुष्ट अभिप्रायसे उसका अन्यथा व्याख्यान करते हैं। कितने ही व्याख्याता यथार्थ अर्थको जानते हुए भी वचनोंकी कुशलता न होनेसे अन्यथा उपदेश देते हुए देखे जाते हैं। तथा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ-

---

१. यागादिजनितधर्मादिषु। २. देशापरिप्रापणानुपपत्तेरिति पुस्तकान्तरे पाठः। ३. दूषणान्तरं दीयते। ४. गृहीतविस्मृतसम्बन्धतया वचनाकौशलतया दुष्टाभिप्रायतया। ५. विपरीतत्वेनैव। ६. अविप्रतिपत्त्ययोगात्, तत्त्वप्रकाशकायोगात्। ७. एतत्कालसम्बन्धिनोऽपि व्याख्यातारः। ८. जानन्तोऽपि। ९. दुष्टाभिप्रायत्वात्।

केचिद्विस्मृतसम्बन्धा अयाथातथ्यमभिदधाना इति। कथमन्यथा[1] भावना-[2]विधि[3]नियोग[4] [5]वाक्यार्थ[6]विप्रतिपत्तिर्वेदे स्यान्मनु-याज्ञवल्क्यादीनां [7]श्रुत्यर्थानुसारिस्मृतिनिरूपणायां वा[8]। [9]तस्मादनादिप्रवाहपतितत्वेऽपि वेदस्यायथार्थत्वमेव स्यादिति स्थितम्।

का सम्बन्ध भूल जानेसे अयाथातथ्य अर्थात् यथार्थ अर्थसे रहित जिस किसी भी प्रकारका अर्थ कहते हुए देखनेमें आते हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो वेदमें भावना, विधि और नियोगरूप वाक्यार्थका विवाद कैसे सम्भव था? अथवा, मनु, याज्ञवल्क्य आदिकी श्रुति (वेदवाक्य) के अर्थका अनुसरण करनेवाली स्मृतिकी निरूपणाओंमें विभिन्नता कैसे होती? इसलिए अनादि-कालीन आचार्य-परम्परारूप प्रवाहसे समागत होनेपर भी वेदके अयथार्थता ही है, यह स्थित (निश्चित) हुआ।

भावार्थ—वेदमें यज्ञ-यागादिके विधायक जो वाक्य पाये जाते हैं वे प्रायः लिङ्, लोट् लकारवाले और तव्यप्रत्ययान्त पाये जाते हैं। यथा जुहुयात् जुहोतु और होतव्यम्। भावनावादी भाट्ट लोगोंका कहना है कि इन विभिन्न लकारोंमें प्रयुक्त होनेपर भी सबका अर्थ भावना-परक ही लेना चाहिए। पर नियोगवादी प्राभाकरोंका कहना है कि इन सबका अर्थ नियोग अर्थात् आज्ञा रूप ही है अर्थात् स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषको यज्ञ करनेका आदेश 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा दिया गया है। किन्तु विधिवादी जैमिनीयोंका कहना है कि उक्त वाक्योंका अर्थ विधि-परक ही

---

१. अन्यथा प्रतिपादनं नास्ति चेत्कथं विवादः परस्परम्? २. भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषो भावना। तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रति-पन्नस्य वस्तुनः (द्रव्यादेः)। प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥ १ ॥ सा द्विविधा—शब्दभावना, अर्थभावना च। शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः। इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ॥ २ ॥ भाव्यकर्तृकार्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। ३. ब्रह्म परमपुरुष एव विधिः। परमपुरुषव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु नास्ति विधि-वादिनो मते। ४. निरवशेषो हि योगो नियोगः, नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येन यागादौ कर्मणीति। ५. पूर्वाचार्यो हि धात्वर्थं वेदे भट्टस्तु भावनाम्। प्रभाकरो नियोगं तु शङ्करो विधिमब्रवीद् ॥ १ ॥ भावनावादी भाट्टः, विधिवादी ब्रह्माद्वैतवादी, नियोग-वादी प्रभाकरः। ६. तत्किमर्थं भाट्टानां भावनैव वाक्यार्थः, ब्रह्माद्वैतवादिनां विधिरेव वाक्यार्थः, प्राभाकराणां नियोग एव वाक्यार्थः? ७. वेदार्थ। ८. विप्रतिपत्तिः कथं स्यात्। अकिञ्चिज्ज्ञत्वात् तेभ्योऽपि मनु-याज्ञवल्क्यादिभ्यः पूर्वं वेदस्य सद्भावात् तेषामपि परिज्ञानभेदादन्यथा प्रतिपादितमस्ति। ९. यतोऽयथार्थत्वं सर्वत्र।

यच्चोक्तम् 'अतीतानागतावित्यादि' तदपि [1]स्वमतनिर्मूलनहेतुत्वेन विपरीतसाधना-त्तदाभासमेवेति[2]। तथाहि—

अतीतानागतौ कालौ वेदार्थज्ञविवर्जितौ ।
[3]कालशब्दाभिधेयत्वादधुनातनकालवत् ॥२६॥ इति

किञ्च—कालशब्दाभिधेयत्वमतीतानागतयोः कालयोर्ग्रहणे सति भवति। तद्[4]ग्रहणं च [5]नाध्यक्षतस्तयो[6]रतीन्द्रियत्वात्। [7]अनुमानतस्तद्ग्रहणेऽपि न साध्येन[8] सम्बन्धस्तयो[9]-

---

ग्रहण करना चाहिए, भावना और नियोगके रूपमें नहीं। इस प्रकार वेदके वाक्यार्थके विषयमें इन सबका मतभेद पाया जाता है। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदिने वेदवाक्योंके परस्पर भिन्न अर्थ किये हैं। इस प्रकार परम्परागत माननेपर भी अर्थमें विषमता या विभिन्नता देखी जाती है, अतः उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

और जो आपने 'अतीतानागतौ कालौ' इत्यादि श्लोकको प्रमाण रूपसे उपस्थित कर अतीत-अनागतकालको वेदके कर्त्तासे रहित बतलाया, सो आपका यह कथन भी आपके ही मतके निर्मूलन करनेका अर्थात् जड़-मूलसे उखाड़नेका कारण है, अतः विपरीत अर्थका साधन करनेसे अनुमानाभास ही है; क्योंकि हम उसे इस प्रकारसे भी कह सकते हैं—

अतीत और अनागतकाल वेदार्थके जाननेवालेसे रहित हैं; क्योंकि अतीत और अनागतकाल काल-शब्दके वाच्य हैं। जो काल-शब्दका वाच्य होता है, वह वेदार्थज्ञसे रहित होता है, जैसे कि वर्तमानकाल वेदार्थज्ञसे रहित है ॥२६॥

दूसरी बात यह है कि अतीत और अनागतकालोंके ग्रहण करनेपर ही वे काल-शब्द के वाच्य हो सकते हैं। किन्तु अतीत और अनागतकालोंका ग्रहण प्रत्यक्षसे तो होता नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। यदि कहा जाय कि अनुमानसे उन दोनों कालोंका ग्रहण होता है। यथा—अतीत और अनागत काल हैं, क्योंकि उनमें कालपना पाया जाता है, जैसे कि वर्तमान कालमें कालपना पाया जाता है। और चूंकि मध्यवर्ती वर्तमानकाल देखा जाता है; अतः उसके पहले और पीछे होनेवाले अतीत और अनागत-

---

१. मीमांसकमत-। २. अनुमानाभासमिति। ३. साधनं हेतुः। ४. अतीतानागतकालग्रहणम्। ५. भवतीति शेषः। ६. अतीतानागतकालयोः। ७. अथानुमानतस्तयोर्ग्रहणं भवति। तथाहि—अतीतानागतकालौ स्तः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत्। मध्यवर्तिवर्तमानकालदर्शनादुभयोर्ग्रहणम्। ८. वेदकार-विवर्जिताविति साध्यम्। ९. अतीतानागतकालयोः।

निश्चेतुं पार्यते;[1] प्रत्यक्षगृहीतस्यैव[2] [3]तत्सम्बन्धाभ्युपगमात्[4]। न च कालाख्यं द्रव्यं [5]मीमांसकस्यास्ति। [6]प्रसङ्गसाधनाददोष इति चेन्न;[7] [8]परम्प्रति [9]साध्यसाधनयोर्व्याप्य-[10]व्यापकभावाभावात्। [11]इदानीमपि देशान्तरे वेदकारस्याष्टकादेः[12] [13]सौगतादिभिरभ्युपगमात्[14]।

कालका भी सद्भाव सिद्ध है। इस प्रकारके अनुमानसे कालका ग्रहण हो जाने-पर भी उन दोनों कालोंका वेदकार-विवर्जितरूप साध्यके साथ सम्बन्ध निश्चित करना शक्य नहीं है; क्योंकि साध्य और साधनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष-गृहीत साधनके ही स्वीकार किया गया है। वह यहांपर नहीं; अतः यह कैसे माना जा सकता है कि अतीत और अनागत काल वेदके कर्त्तासे रहित थे। और मीमांसकके मतमें तो काल नामक द्रव्य माना ही नहीं गया है। (अतः 'अतीतानागतौ कालौ' इत्यादि अनुमानमें प्रयुक्त 'कालशब्दाभिधेयत्वरूप' साधनका स्वरूपसे ही अभाव होनेसे वह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है।) यदि कहें कि प्रसङ्ग-साधनसे कोई दोष नहीं, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि परके प्रति साध्य और साधनमें व्याप्य और व्यापकभावका अभाव है।

भावार्थ—जो लोग वेदका कर्त्ता मानते हैं, वे लोग काल-शब्दाभि-

१. कालशब्दाभिधेयमस्ति, अतीतानागतकालत्वाद्वर्तमानकालवत्, इत्यनु-मानेन साध्येन कालशब्दाभिधेयेनातीतानागतकालत्वस्य सम्बन्धो निश्चेतुं न शक्यते। २. साधनस्य। ३. साध्यसाधनसम्बन्धस्य। ४. तथा तत्र नास्ति। ५. मीमांसकमते कालद्रव्यस्यास्वीकारादतीतानागतकालौ वेदकार-विवर्जितौ कालशब्दाभिधेयत्वादित्य-नुमाने कालशब्दाभिधेयस्य स्वरूपेणैवासत्त्वात्स्वरूपासिद्धोऽयं हेतुरिति भावः। ६. साध्यसाधनयोः व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीय-कोऽनादिभूतो यत्र कथ्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। परेष्ट्याऽनिष्टापादनं प्रसङ्गसाधनमिति। ७. एवं ब्रूषे चेन्न, युक्तं न भवति। ८. वेदस्य कर्ताऽस्तीति वादिनं प्रति। ९. वेद-कारविवर्जितत्वकालशब्दाभिधेयत्वयोः। १०. अधुना वेदकर्तुरग्रहणं चेत् अतीतानागतयो-रपि कर्तुरग्रहणं कार्यम्। ११. इदानीन्तनकालदृष्टान्तबलेन व्याप्यव्यापकभावो भवत्येवेत्यत आह। १२. देवविशेषस्य। १३. बौद्धमते अष्टकदेवेन बौद्धमताश्रयेण वेदः कृतो वर्तते। सोऽप्ययमेव वेद एवं कथ्यते। काणादादिनाम कर्तारं चतुराननं जैनाः कालासुरं बौद्धाश्चा-ष्टकं तत्कर्तारं स्मरन्त्येव। तत्कर्तारं हि काणादाः स्मरन्ति चतुराननम्। जैनाः कालासुरं बौद्धाश्चाष्टकान्सकलाः सदा॥ १॥ इति श्लोकवार्तिके निरूपितत्वात्। १४. इदानीन्तन-कालवदिति दृष्टान्तः प्रतिवाद्यसिद्धः, सौगतैरधुनापि तत्कर्तुः स्वीकारादिति भावः।

यदप्यपरं—'वेदाध्ययनमित्यादि' तदपि विपक्षेऽपि[1] समानम्—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥२७॥ इति

यच्चान्यदुक्तम्—'अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति'; [2]तत्र [3]जीर्णकूपारामादिभिर्व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वविशेषणेऽपि विशेष्यस्या-

---

धेयत्वरूप हेतुका वेदार्थज्ञ विवर्जितत्वरूप साधकके साथ व्याप्य-व्यापकरूप सम्बन्ध नहीं मानते हैं, अतः उनके लिए उक्त साधन अपने साध्यकी सिद्धि नहीं करता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

यदि कहें कि वर्तमानकालके दृष्टान्तके बलसे व्याप्य-व्यापकभाव बन जायगा; सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि इस समय भी देशान्तरमें सौगत आदिने अष्टक आदिको वेदका कर्त्ता स्वीकार किया है।

भावार्थ—मीमांसकका यह कहना था कि जैसे आज वेदका कर्त्ता नहीं पाया जाता, वैसे ही भूतकालमें भी कोई वेदका कर्त्ता नहीं हुआ है, क्योंकि किसीको भी वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं है। इसके प्रतिवादमें आचार्य बतला रहे हैं कि आज भी बौद्ध लोग अष्टकदेवको वेदका कर्त्ता मानते हैं, काणाद (वैशेषिक-नैयायिक) ब्रह्माको और जैन लोग कालासुरको वेदके कर्त्तारूपसे स्मरण करते हैं, अतः उनका उक्त हेतु ठीक नहीं है।

और जो आप मीमांसकोंने 'वेदाध्ययनं सर्वं' इत्यादि श्लोकको प्रमाणरूपसे उपस्थित कर वेदाध्ययनकी अनादिपरम्पराको सिद्धकर अपौरुषेयता सिद्ध करना चाही है, सो यह कथन विपक्षमें भी अर्थात् पौरुषेयपक्षमें भी समान है। क्योंकि हम कह सकते हैं कि—

महाभारतका सर्व अध्ययन गुरुके अध्ययनपूर्वक है; क्योंकि वह अध्ययन पदका वाच्य है; जैसे कि वर्तमानकालका अध्ययन ॥ २७ ॥

इस प्रकार आपका सभी कथन विपक्षमें समान है।

और जो आपने कहा कि 'वेदाध्ययनकी अविच्छिन्न सम्प्रदाय (परम्परा) होनेपर भी उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं है; इत्यादि, सो इस हेतुमें जीर्ण-शीर्ण कूप, उद्यान आदिसे होनेवाले व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वविशेषणके लगानेपर भी विशेष्य पद जो अस्मर्यमाणकर्तृकत्व है, वह विचार किये जानेपर सिद्ध नहीं होता, अतः उसके

---

१. पौरुषेयेऽपि। २. हेतौ। ३. यतो जीर्णकूपादौ विच्छिन्नसम्प्रदायत्वं वर्तते।

स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विचार्यमाणस्यायोगादसाधनत्वम्। कर्तुरस्मरणं हि वादिनः प्रतिवादिनः सर्वस्य वा? वादिनश्चेदनुपलब्धेरभावाद्वा[1]? आद्ये पक्षे पिटकत्रयेऽपि[2] [3]स्यादनुपलब्धेरविशेषात्। तत्र[4] परैः[5] तत्कर्तुरङ्गीकारान्नो[6] चेदत एवात्रापि[7] न तदस्तु[8]। अभावादिति चेदस्मा[10]त्तदभाव[11]सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्—सिद्धे हि तदभावे[12] तन्निबन्धनं[13]

समीचीन साधनपना (हेतुपना) नहीं है। इस विषयमें हम आपसे पूछते हैं कि वेदके कर्त्ताका स्मरण वादीको नहीं, या प्रतिवादीको नहीं, अथवा सभीको नहीं? यदि वादीको नहीं, तो क्या उसकी उपलब्धि नहीं होनेसे वादीको कर्त्ताका अस्मरण है, अथवा अभाव होनेसे वादीको कर्त्ताका स्मरण नहीं है? इनमेंसे पहला पक्ष माननेपर बौद्धोंके पिटकत्रयमें भी अपौरुषेयता प्राप्त हो जायगी; क्योंकि वेदके समान उसके कर्त्ताकी भी अनुपलब्धि है।

भावार्थ—बौद्धोंके यहाँ अभिधम्मपिटक सुत्तपिटक और विनयपिटक ये तीन पिटकत्रय कहलाते हैं। टिप्पणकारने ज्ञानपिटक, वन्दनपिटक और चैत्यपिटकको पिटकत्रय कहा है। इन तीनों पिटकोंके कर्त्ता आज अनुपलब्ध हैं। अतः जैसे कर्त्ताकी अनुपलब्धिसे मीमांसक वेदकी अपौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं, वैसे ही पिटकत्रयको भी अपौरुषेय मानना चाहिए, यह आचार्यने उन्हें दूषण दिया है।

यदि कहा जाय कि पिटकत्रयका तो बौद्धोंने कर्त्ता स्वीकार किया है अतः उन्हें अपौरुषेय नहीं माना जा सकता। तो हम भी कहते हैं कि काणाद आदिने भी वेदका कर्त्ता स्वीकार किया है, अतः वेदको भी अपौरुषेय नहीं मानना चाहिए। यदि अभावरूप दूसरा पक्ष लिया जाय कि कर्त्ताका अभाव होनेसे स्मरण नहीं है, तो कर्त्ताके अस्मरणसे वेदके कर्त्ताका अभाव सिद्ध करनेमें इतरेतराश्रय दोष प्राप्त होता है। यथा—जब वेदके कर्त्ताका अभाव सिद्ध हो जाय, तब उसके निमित्तसे वेदके कर्त्ताका अस्मरण सिद्ध हो, और जब वेदके कर्त्ताका अस्मरण सिद्ध हो जाय, तब वेदके कर्त्ताका अभाव सिद्ध हो। यदि

---

१. वा शब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। तेनायमर्थः सम्पादितो भवति—यदभावाद्वा वादिनः कर्तुरस्मरणमनुपलब्धेर्वा कर्तुरस्मरणमिति। २. बौद्धग्रन्थविशेषेऽपि। ज्ञानपिटक-वन्दनपिटक-चैत्यपिटकानां त्रयमिति पिटकत्रयम्। ३. अपौरुषेयत्वम्। ४ पिटकत्रये। ५. बौद्धैः। ६. पिटकत्रयस्य कर्ताऽस्ति, परन्तु स्मरणं नास्तीति बौद्धैः स्वीकारात्। तेषां कर्तुरस्मरणं न, इति चेत्स्मरणमस्त्येवेति भावः। ७. अनुपलब्धेरविशेषादपि पिटकत्रयेऽपौरुषेयत्वं मा भूदिति चेत् अनुपलब्धिमाश्रित्य कर्तुरस्मरणं प्रतिपाद्यते चेत् पिटकवद्वेदेऽप्यापतितम्। ८. वेदेऽपि। ९. अनुपलब्ध्याविशेषात् पिटकत्रयवद्वेदेऽप्यपौरुषेयत्वं मास्तु। १०. कर्तुरस्मरणात्। ११. वेदकर्तुरभावसिद्धौ। १२. वेदकर्तुरभावे। १३. अभावकारणकम्।

[1]तदस्मरणमस्माच्च[2] तदभाव[3] इति। [4]प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेस्तदभावान्नेतरेतराश्रयत्व-मिति चेन्न; [5]प्रामाण्येनाप्रामाण्यकारणस्यैव पुरुषविशेषस्य निराकरणात् [6]पुरुष-मात्रस्यानिराकृतेः। [7]अथातीन्द्रियार्थदर्शिनो[8]ऽभावादन्यस्य[9] च प्रामाण्यकारणत्वानुपपत्तेः सिद्ध एव सर्वथा पुरुषाभाव इति चेत्कुतः[10] सर्वज्ञाभावो विभावितः[11]? [12]प्रामाण्यान्यथानुप-पत्तेरिति[13] चेदितरेतराश्रयत्वम्[14]। कर्तुरस्मरणादिति चेच्चक्रकप्रसङ्गः[15]।

कहा जाय कि प्रामाण्यकी अन्यथानुपपत्तिसे वेदके कर्त्ताका अभाव है, अर्थात् यदि वेदका कर्त्ता मान जाय, तो उसके प्रमाणता नहीं बन सकती, अतः इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमाणताकी अन्यथानुपपत्तिसे तो अप्रमाणताके कारणभूत पुरुष विशेषका ही निराकरण किया गया है, उससे पुरुषमात्रका निराकरण नहीं होता।

पुनः मीमांसक कहते हैं कि अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखनेवाले सर्वज्ञका अभाव है, और अन्य अल्पज्ञ पुरुषके प्रमाणताका कारणपना नहीं बनता है; अतः पुरुषमात्रका ही अभाव है? इसपर आचार्य उनसे पूछते हैं कि आपने सर्वज्ञका अभाव कैसे जान लिया? प्रामाण्यान्यथानुपपत्तिसे कहें, तो इतरे-राश्रयदोष आता है। अर्थात् जब सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो जाय, तब वेदकी प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो और जब वह सिद्ध हो जाय, तब सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो। यदि वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं होनेसे सर्वज्ञका अभाव कहें, तो चक्रकनामके दोषका प्रसङ्ग आता है।

विशेषार्थ—किसी एक बातके तीन वार या बार-बार आवृत्ति करने अर्थात् दुहरानेको चक्रकदोष कहते है। जैसे गाड़ीका चक्र घूमनेपर उसके मध्यवर्ती आरे बार-बार सामने आते हैं, उसी प्रकार जब कोई नवीन युक्ति न

---

१. वेदकर्तुरस्मरणम्। २. वेदकर्तुरस्मरणाच्च। ३. वेदकर्तुरभाव इति। ४. कर्त्रभावे सिद्धे हि वेदस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति। ५. वेदकर्तुरभावात् [illegible]-यत्वम्। ६. प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः [illegible] अप्रामाण्य[illegible] कर्ता भवति, न तु सामान्य-पुरुषनिराकरणम्। ७. प्रामाण्यकारणत्वम्। ८. सर्वज्ञस्य। ९. किञ्चिज्ज्ञस्य, अल्पज्ञस्य। १०. हेतोः। ११. ज्ञातः। १२. वेदस्य। १३. सामान्यपुरुषकृतत्वेन। १४. सिद्धे हि सर्वज्ञाभावे प्रामाण्यान्यथानुपपत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सर्वज्ञाभाव इति। १५. [illegible] सिद्धादव्यवधानेन [illegible] चक्रकत्वम्। अथवा पूर्वस्य पूर्वापेक्षितमध्यमापेक्षितो-त्तरापेक्षितत्वम्। अथवा [illegible]सापेक्षत्वनिबन्धनप्रसङ्गत्वमिति। वेदकर्तुर-स्मरणात्सर्वज्ञाभावः सिद्ध्येत्, सर्वज्ञाभावे सिद्धे वेदप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिः सिद्ध्येत्। तस्यां च सिद्धायां कर्तुरभावः सिद्ध्येदिति पुनः पुनः प्रसङ्गान्नैकस्यापि सिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः। त्रिभिरावर्तनं चक्रकदूषणमिति।

[1]अभावप्रमाणादिति चेन्न; [2]तत्साधकस्यानुमानस्य प्राक्[3] प्रतिपादितत्वादभाव-प्रमाणोत्थानायोगात् प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावप्रमाणप्रवृत्तेः ।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
[4]वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।२८॥

इति परै[5]रभिधानात् । ततो न वादिनः कर्तु[6]रस्मरणमुपपन्नम् । नापि प्रति-वादिनोऽसिद्धेः । तत्र[7] हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारमिति । नापि सर्वस्य, वादिनो वेद-कर्तुरस्मरणेऽपि प्रतिवादिनः स्मरणात् ।

दी जाय और एकसे आश्रित दूसरी और दूसरीसे आश्रित तीसरी युक्ति कही जाय और उसकी सिद्धिके लिए पुनः पहली युक्ति और उसकी सिद्धिके लिए फिर उन्हीं युक्तियोंका प्रयोग किया जाय, तब चक्रकदोष माना जाता है। प्रकृतमें आचार्यने वेद-कर्त्ताके अस्मरणसे सर्वज्ञका अभाव माननेपर चक्रक दूषण दिया है कि वेदके कर्त्ताका जब अस्मरण सिद्ध हो जाय, तब सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो, जब सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो जाय, तब वेदकी प्रामाण्यान्यथा-नुपपत्ति सिद्ध हो और जब वह सिद्ध हो जाय तब वेदके कर्त्ताका अभाव सिद्ध हो। कहनेका सारांश यह कि बार-बार उन्हीं बातोंको दुहरानेपर किसी एककी भी सिद्धि नहीं होती है।

यदि मीमांसक कहें कि अभावप्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञके साधक अनुमानका पूर्वमें अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे' इत्यादि सूत्रकी व्याख्यामें प्रतिपादन किया जा चुका है, इसलिए सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेके लिए तो अभावप्रमाणका उत्थान ही नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि पाँचों प्रमाणोंके अभावमें अभाव-प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। जैसा कि आप मीमांसकोंने स्वयं कहा है—

जिस वस्तुके स्वरूपमें प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ वस्तुकी असत्ता जाननेके लिए अभाव-प्रमाणकी प्रमाणता है॥ २८॥

इसलिए वादीके कर्त्ताका अस्मरण तो बनता नहीं है। और न प्रति-वादीके ही बनता है; क्योंकि उनके हेतु असिद्ध है, अर्थात् प्रतिवादी तो

---

१. सर्वज्ञाभावः । २. सर्वज्ञसाधकस्य । ३. सावरणत्वे करणजन्यत्वे चेत्यादिस्थले सर्वज्ञसद्भावज्ञापकमनुमानं प्रयुक्तम् । तत्सम्भवादभावस्याप्रवृत्तिरिति । ४. पूर्वं सर्वज्ञसद्भावेऽनुमानं प्रतिपादितम्, तत्सम्भवादभावस्याप्रवृत्तिः । ५. केवलभूतल-सत्तावबोधार्थम् । ६. मीमांसकैः । ७. वेदे ।

ननु[1] प्रतिवादिना वेदेऽष्टकादयो बहवः कर्तारः स्मर्यन्ते; अतस्तत्स्मरणस्य[2] विवाद-विषयस्याप्रामाण्यात्सर्वस्य कर्तुरस्मरणमिति चेन्न; कर्तृविशेषविषय एवासौ विवादो न[3] कर्तृसामान्ये। अतः सर्वस्य कर्तुरस्मरणमप्यसिद्धम्। सर्वात्मज्ञानरहितो[4] वा[5] कथं सर्वस्य कर्तुरस्मरणमवैति? तस्मादपौरुषेयत्वस्य वेदे व्यवस्थापयितुमशक्यत्वान्न[6] तल्लक्षणस्याव्यापकत्वमसम्भवितत्वं वा सम्भवति। पौरुषेयत्वे पुनः प्रमाणानि बहूनि सन्त्येव।

"[7]सजन्ममरणर्षिगोत्र[8]चरणादिनामश्रुते-[9]
[10]रनेकपदसंहितप्रतिनियमसन्दर्शनात्"[11]।

वेदके कर्त्ताका स्मरण करते ही हैं। यदि तीसरा पक्ष लें कि सभीके अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनोंके ही कर्त्ताका स्मरण नहीं है, सो यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वादीके वेद-कर्त्ताका अस्मरण होनेपर भी प्रतिवादीके तो वेदके कर्त्ताका स्मरण है ही।

शङ्का—यतः प्रतिवादीके द्वारा वेदके अष्टक आदि बहुतसे कर्त्ता स्मरण किये जाते हैं, अतः विवादका विषयभूत उनका स्मरण अप्रामाण्य होनेसे सभीके कर्त्ताका अस्मरण ही मानना चाहिए।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि कर्त्ता-विशेषके विषयमें ही वह विवाद है, न कि कर्त्ता-सामान्यके विषयमें। अतः सभीके कर्त्ताका अस्मरण कहना असिद्ध है।

और सर्व आत्माओंके ज्ञानके जाननेसे रहित यह असर्वज्ञ मीमांसक सभीके कर्त्ताका स्मरण कैसे जानता है? इसलिए वेदमें अपौरुषेयताकी व्यवस्था करना अशक्य होनेसे हमारे जैनोंके द्वारा कहे गये पूर्वोक्त आगमके लक्षणके अव्यापकता और असम्भवतारूप दोष सम्भव नहीं हैं और वेदके पौरुषेयताके विषयमें बहुतसे प्रमाण पाये ही जाते हैं; क्योंकि—

जन्म और मरणसे सहित ऋषियोंके गोत्र, आचरण आदिके नाम वेद-सूक्तोंमें सुने जाते हैं; अनेक पदोंके समूहरूप पृथक्-पृथक् छन्दरचना आदिके प्रतिनियम भी वेदमें देखे जाते हैं, फलार्थी पुरुषोंके लिए 'स्वर्गका इच्छुक अग्निष्टोमसे यज्ञ करे' इत्यादि प्रवृत्तिरूप और 'पलाण्डु (प्याज,

१. मीमांसकः प्राह। २. कर्तृस्मरणस्य सर्वज्ञवादिनां नैयायिक-सौगत-जैनानां परस्परविवादादप्रामाण्यं तस्मादस्मरणम्। ३. सर्वज्ञसामान्ये विवादो न।

४. सर्वप्राणिनां ज्ञानं तस्य विज्ञानं तेन रहितः। ५. मीमांसकः। ६. पूर्वोक्ताऽऽगमलक्षणस्य। ७. जन्मसहितमरण-। ८. स्वर्गादिफलानाम्। ९. श्रवणात्। १०. ऋषिस्वरूपप्रतिपादनात्तेऽपि सादिकालीनाः। ११. छन्दोरूपेण वाक्यरचनादर्शनात्, रचनाविशिष्ट

[1]फलार्थिपुरुषप्रवृत्ति[2]निवृत्तिहेत्वात्मनां
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव [3]श्रुतिः ॥२९॥ इति वचनात्[4]

अपौरुषेयत्वेऽपि वा न प्रामाण्यं वेदस्योपपद्यते; तद्धेतूनां गुणानामभावात् ।

ननु[5] न गुणकृतमेव[6] प्रामाण्यम्; किन्तु दोषाभावप्रकारेणापि । स[7] च दोषाश्रयपुरुषाभावेऽपि निश्चीयते, न गुणसद्भाव एवेति । तथा चोक्तम्—

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
[8]तदभावः[9] क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥३०॥
तद्गुणैरपकृष्टानां[10] शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥३१॥

इति तदप्ययुक्तम्; [11]पराभिप्रायापरिज्ञानात् । [12]नास्माभिर्वक्त्रभावे वेदस्य

कांदा) न खावे, सुरा (मदिरा) न पीवे' इत्यादि निवृत्तिरूप वचन भी वेद में सुने जाते हैं। इसलिए मनुसूत्र (मनुस्मृति) के समान श्रुति अर्थात् वेदवाक्य भी पुरुषकर्तृक ही हैं ॥२९॥ ऐसा पात्रकेसरीस्वामीका वचन है।

अथवा थोड़ी देरके लिए आपके सन्तोषार्थ जिस किसी प्रकारसे अपौरुषेयता माननेपर भी उसके प्रमाणता नहीं बन सकती है; क्योंकि प्रमाणताके कारणभूत जो गुण हैं, उनका वेदमें अभाव है।

शङ्का—प्रमाणता गुणकृत ही नहीं होती, किन्तु दोषके अभावरूप प्रकारसे भी प्रमाणता होती है। और वह दोषका अभाव दोषके आश्रयभूत पुरुषके अभावमें भी निश्चय किया जाता है; न कि गुणके सद्भावमें ही। जैसा कि कहा है—

शब्दमें दोषका उत्पन्न होना तो वक्ताके अधीन है, यह बात सिद्ध है। दोषोंका अभाव कहीं पर गुणवान् वक्तापनेके अधीन है, क्योंकि वक्ताके गुणोंसे दूर किये गये दोषोंका पुनः शब्दमें आना असम्भव है। अथवा वक्ताके अभावसे दोषोंका अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि दोष निराश्रय नहीं रह सकते हैं ॥३०-३१॥

त्वात्पटवत् । १. स्वर्गादिफलार्थिपुरुष । २. 'अग्निष्टोमेन यजेत्स्वर्गकामः' इत्यादि प्रवृत्तिवाक्यानि; पलाण्डुं न भक्षयेत, सुरां न पिबेत, गौर्न पदास्पृष्टव्येत्यादिनिवृत्तिवाक्यानि । पुनर्मीमांसकैरेकेन भवतीत्युच्यते, एकेन नास्तीत्युच्यते । अतो विवादसद्भावादप्रामाण्यम् । ३. वेदः । ४. बृहत्पञ्चनमस्कारारव्यस्तोत्रे पात्रकेसरिणोक्तम् । ५. मीमांसकः प्राह । ६. वेदे । ७. दोषाभावः । ८. दोषाभावः । ९. वेदे । १०. निराकृतानां दोषाणाम् । ११. जैनाभिप्राय । १२. जैनैः ।

प्रामाण्याभावः समुद्भाव्यते; किन्तु [1]तद्व्याख्यातॄणामतीन्द्रियार्थदर्शनादिगुणाभावे। [2]ततो दोषाणामनपोदितत्वात्[3] प्रामाण्यनिश्चय इति। [4]ततोऽपौरुषेयत्वेऽपि वेदस्य प्रामाण्यनिश्चयायोगात्[5]नेन[6] लक्षणस्याव्यापित्वमसम्भवितत्वं वेत्यल्पमतिजल्पितेन।

[7]ननु [8]शब्दार्थयोः [9]सम्बन्धाभावा[10]दन्यापोह[11]मात्राभिधा[12]यित्वादाप्तप्रणीतादपि शब्दात्कथं वस्तुभूतार्थावगम[13] इत्यत्राह—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥९६॥

सहजा स्वभावभूता योग्यता शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकशक्तिः, [14]तस्यां [15]सङ्केतस्तद्वशाद् हि स्फुटं शब्दादयः[16] प्रागुक्ता[17] वस्तुप्रतिपत्तिहेतव इति।

समाधान—आपका यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि आपने पर अर्थात् जैनोंके अभिप्रायको नहीं समझा है। हम लोग वक्ताके अभावमें वेदकी प्रमाणताका अभाव नहीं कहते हैं; किन्तु उस वेदके व्याख्याताओंके अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने आदिके गुणोंका अभाव है और गुणोंके अभावसे दोषोंका निराकरण सम्भव नहीं है; अतः वेदकी प्रमाणताका निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए अपौरुषेयता होनेपर भी वेदकी प्रमाणताका निश्चय न होनेसे इस अपौरुषेय वेदके द्वारा हमारे आगमके लक्षणके न अव्यापकत्व दोष है और न असम्भवित्व दोष है। अतः अधिक कहनेसे विराम लेते हैं।

यहाँ पर बौद्ध लोग कहते हैं कि शब्द और अर्थके सम्बन्धका अभाव है, अतः शब्द अन्यके निषेध मात्रका अभिधायक है; इसलिये आप्त-प्रणीत भी शब्दसे वस्तुभूत अर्थका ज्ञान कैसे हो सकता है, इस प्रकारकी शङ्काका समाधान करनेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—सहज योग्यताके होनेपर सङ्केतके वशसे शब्दादिक वस्तुके ज्ञान करानेके कारण हैं ॥९६॥

---

१. वेद। २. गुणाभावात्। ३. अनिराकृतत्वात्। ४. तस्मात् कारणात्। ५. अपौरुषेयवेदेन। ६. आगमलक्षणस्य 'आप्तवचनादिनिबन्धनस्य'। ७. इदानीं बौद्धो जल्पति। ८. नामजात्यादियोजनात्मकोऽर्थो नास्ति। ९. पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः (वाच्यवाचकरूपः) सिद्धे (वस्तुनि) का परतन्त्रता। तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥ १०. सम्बन्धाभावः कुत इत्यत आह। ११. अस्मिन् घटादावन्यस्य पटादेरपोहो व्यावृत्तिरभावः। १२. ततश्च। १३. सत्यार्थभूतार्थावगमः। १४ तस्या इति पाठान्तरम्। १५. वाच्यवाचकसम्बन्धः सङ्केतः। अस्मात्पदा-

उदाहरणमाह—

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥९७॥

[1]ननु य एव शब्दाः सत्यर्थे दृष्टास्त एवार्थाभावेऽपि[2] दृश्यन्ते तत्कथ[3]मर्थाभिधायकत्वमिति[4] ? [5]तदप्ययुक्तम्; अनर्थकेभ्यः शब्देभ्योऽ[6]र्थवतामन्यत्वात्[7]। न [8]चान्यस्य व्यभिचारेऽ[9]न्यस्यासौ[10] युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। अन्यथा[11] गोपालघटिकान्तर्गतस्य धूमस्य पावकस्य व्यभिचारे पर्वतादिधूमस्यापि [12]तत्प्रसङ्गात्। 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते' इत्यन्यत्रापि[13] समानम्। सुपरीक्षितो हि शब्दोऽर्थं न व्यभिचरतीति।

सहज अर्थात् स्वाभाविक योग्यता जो शब्द और अर्थकी वाच्य-वाचक-भावरूप शक्ति, उसके होनेपर 'इस पदसे यह अर्थ जानना चाहिए' इस प्रकारके सङ्केतके वशसे निश्चयतः पहले कहे गये आप्त-प्रणीत शब्दादिक वस्तुके ज्ञान करानेमें कारण होते हैं।

आचार्य इसका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे मेरु आदिक शब्द अपने वाच्यभूत अर्थके ज्ञान करानेमें कारण हैं ॥९७॥

शङ्का—जो ही शब्द पदार्थके होनेपर उनके वाचक देखे जाते हैं वे ही शब्द पदार्थके अभावमें भी गगनारविन्द आदिके वाचक देखे जाते हैं, अतः शब्दोंके अर्थका वाचकपना कैसे माना जाय ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं; क्योंकि अर्थ-रहित शब्दोंसे अर्थवाले शब्द भिन्न होते हैं। और अन्यके व्यभिचार पाये जानेपर अन्यके व्यभिचार कहना युक्त नहीं है; अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होगा। यदि अन्यके व्यभिचारमें अन्यत्र व्यभिचारकी कल्पना करेंगे, तो इन्द्रजालियेके घड़ेके अन्तर्गत धूमके सद्भावमें भी पावकका अभाव होनेसे व्यभिचार होनेपर पर्वतादिसे निकलनेवाले धूमके भी व्यभिचारका प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

यदि कहा जाय कि यत्नसे परीक्षा किया गया कार्य अपने कारणका उल्लंघन नहीं करता है, तो यह बात अन्यत्र भी समान है अर्थात् सुपरीक्षित शब्द अपने वाच्यभूत अर्थका व्यभिचारी नहीं होता।

दयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकः सङ्केतः। यथा पृथुबुध्नोदराकारे मृत्पिण्डे घट इति सङ्केतः। १६. आदिशब्देनाङ्गुलिसंज्ञादयः। १७. आप्तनिबन्धनेन समर्थिताः।

१. बौद्धः कथयति। २. गगनारविन्दादौ। ३. मेरुरूपोऽर्थो न विद्यते, कुतः प्रवृत्तिः। ४. शब्दानाम्। ५. रामादयो न सन्ति, तथापि तद्वाचकाः शब्दाः वर्तन्त इति कथमर्थाभिधायिकत्वं शब्दानामिति चेन्न; न हि तैः तेषामस्तित्वं साध्यते, किन्तु स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति न दोषः। ६. शब्दानाम्। ७. पृथक्त्वात्। ८. अनर्थकशब्दस्य। ९. अर्थवतः। १०. व्यभिचारः। ११. अन्यस्य व्यभिचारेऽप्यन्यत्र परिकल्पनायाम्। १२. व्यभिचार। १३. शब्देऽपि।

[1]तथा चान्यापोहस्य[2] शब्दार्थत्वकल्पनं प्रयासमात्रमेव। न चान्यापोहः शब्दार्थो व्यवतिष्ठते, [3]प्रतीतिविरोधात्। न हि गवादिशब्दश्रवणादगवादिव्यावृत्तिः[4] प्रतीयते। [5]ततः सास्नादिमत्यर्थे प्रवृत्तिदर्शनादगवादिबुद्धिजनकं [6]तत्र शब्दान्तरं[7] मृग्यम्[8]। अथैकस्मादेव[9] गोशब्दादर्थ[10]द्वयस्यापि सम्भावनान्नार्थः शब्दान्तरेणेति चेन्नैवम्; एकस्य[11] परस्परविरुद्धार्थ[12]द्वयप्रतिपादनविरोधात्[13]। किञ्च [14]गोशब्दस्यागो[15]व्यावृत्तिविषयत्वे [16]प्रथममगौरिति प्रतीयेत[17]। न [18]चैवम्, अतो[19] नान्यापोहः शब्दार्थः।

तथा आचार्य बौद्धोंको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अन्यापोह के अर्थात् अन्यके निषेधके शब्दार्थपनेकी कल्पना करना तो आपका प्रयास मात्र ही है। विचार करनेपर अन्यापोह शब्दका अर्थ नहीं ठहरता है; क्योंकि अन्यके निषेधको शब्दका अर्थ माननेपर प्रतीतिसे विरोध आता है। गो आदि शब्दके सुननेसे अगवादिकी व्यावृत्ति प्रतीत नहीं होती है; क्योंकि व्यावृत्ति (निषेध) तो तुच्छाभावरूप है। इसलिए गो शब्दके सुननेपर सास्ना (गलकम्बल) आदिवाले गो पदार्थमें प्रवृत्ति देखे जानेसे अगवादिविषयक बुद्धिका उत्पादक अन्य ही शब्द इस विषयमें ढूंढ़ना चाहिए। यदि कहें कि एक ही गो शब्दसे विधि और निषेधरूप दोनों ही अर्थोंका जानना सम्भव है, अतः भिन्न शब्दके अन्वेषणसे कोई प्रयोजन नहीं है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि एक ही शब्दके परस्पर विरोधी दो अर्थोंका प्रतिपादन माननेमें विरोध आता है। यदि गो शब्दको अगोव्यावृत्तिका विषय करनेवाला माना जाय, तो गो शब्दके सुननेपर पहले अगोकी प्रतीति होना चाहिए। किन्तु अगोकी प्रतीति नहीं होती; प्रत्युत गो शब्दके सुननेसे गो रूप अर्थकी ही प्रतीति होती है; अतः अन्यापोह शब्दका अर्थ सिद्ध नहीं होता है।

---

१. व्यभिचाराभावे च। २. अन्योऽपोह्यते व्यावर्त्यतेऽनेनाभावेनेति। ३. घटमानय इत्युक्ते घटमानयति, अन्यापोहत्वे प्रतीतिविरोधः। यत्र हि प्रतीति-प्रवृत्ति प्राप्तयः समधिगम्यन्ते स शब्दस्यार्थो नान्यः। ४. व्यावृत्तौ तु कोऽपि न प्रवर्तते, यतो व्यावृत्तिः तुच्छाभावरूपा सामान्या च। ५. गवादिशब्दश्रवणात्। ६. गवादौ। ७. गोशब्दाद्भिन्नः शब्दः। ८. सास्नादिमतोऽर्थस्यातोऽप्रतीतिः। ९. शब्दान्तरात्। १० विधि-निषेधरूप-। ११. शब्दस्य। १२. गवाद्यर्थान्यगवादिव्यावृत्तिरूपार्थद्वयस्य। १३. एकान्तवादिनाम्, न तु स्याद्वादिनाम्। १४. गोशब्दस्य गोपिण्डरूपो भावार्थो विषयो नास्ति चेत्। १५. अश्वादि-। १६. अगोनिवृत्तेः पूर्वम्। १७. भवदभिप्रायेण। १८. प्रतीयते। १९. अगौरिति प्रतीत्यभावात्। लोके प्रथमं अगोशब्दस्य प्रतीतिस्तु नास्ति, गौरेव प्रतीयते। अतो भो बौद्ध!

किञ्च—अपोहाख्यं सामान्यं [1]वाच्यत्वेन प्रतीयमानं पर्युदासरूपं[2] प्रसज्यरूपं[3] वा ? [4]प्रथमपक्षे गोत्वमेव नामान्तरेणोक्तं स्यात्; अभावाभावस्य[5] भावान्तरस्वभावेन व्यवस्थितत्वात्[6]। कश्चायमश्वादिनिवृत्तिलक्षणो [7]भावोऽभिधीयते[8] ? न तावत्[9] स्वलक्षणरूपस्तस्य[10] सकल[11]विकल्प[12]वाग्गोचरातिक्रान्तत्वात्। [13]नापि शाबलेयादिव्यक्तिरूपः; [14]तस्यासामान्यत्वप्रसङ्गात्[15]। तस्मात् सकलगोव्यक्तिष्वनुवृत्त[16]प्रत्ययजनकं तत्रैव

दूसरी बात यह है कि जिस अपोह नामके सामान्यको आपलोग वाच्यरूपसे प्रतीत होता हुआ मानते हैं वह पर्युदासरूप हैं, अथवा प्रसज्यरूप है ? प्रथम पक्ष माननेपर तो गोत्व ही नामान्तरसे कहा गया है, क्योंकि अभावका अभाव भावान्तर-स्वभावसे व्यवस्थित होता है, अर्थात् गायके अभावका अभाव शब्दान्तरसे गायका सद्भाव ही है। यदि कहें कि गो शब्द से अश्व आदिकी निवृत्ति लक्षणवाला पदार्थ कहा जाता है, तो हम आपसे पूछते हैं कि यह अश्वादिनिवृत्तिरूप पदार्थ क्या वस्तु है ? स्वलक्षणरूप अर्थात् क्षणिक, निरंश, निरन्वयरूप तो वह पदार्थ माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह स्वलक्षण समस्त विकल्परूप वचनोंका विषय होनेसे अतिक्रान्त है अर्थात्-वचन-अगोचर है। शाबलेय (कबरी) धवली आदि व्यक्तिरूप गोपदार्थ भी अपोहका विषय नहीं माना जा सकता; अन्यथा अपोहके असामान्यपने अर्थात् विशेषपनेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है; क्योंकि बौद्धोंने अपोहको

१. गोशब्दस्यार्थत्वेन। २-३. पर्युदासः प्रसज्यश्च द्वौ नञौ गदिताविह। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥१॥ प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥ २ ॥ उदाहरणमाह—ब्राह्मणमानय। ४. अन्यापोहस्य शब्दार्थत्वेन वाच्यत्वं चेत् सिद्धसाध्यता। यतो यदेवागोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देन भवतोच्यते, तदेवास्माभिर्गोत्वाख्यं भावलक्षणं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभिधीयते। ५. अगौरित्युक्ते महिषादयस्तेषामभावो व्यावृत्तिर्गोपदार्थरूपो भवति, नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थसद्भावरूपत्वादिति। ६. अगोनिवृत्तिलक्षणोऽभावो भावान्तरेण गोत्वेन व्यवतिष्ठते। ७. गोपिण्डरूपः पदार्थ एव पदार्थः। ८. अपि तु न कोऽप्यभावः, किन्तु भाव एव। अगोशब्देन महिषादयस्तेषामभावो व्यावृत्तिः नाभिधीयते, किन्तु गौरेव। ९. क्षणिकनिरंशनिरन्वयरूपः। १०. स्वलक्षणस्य। ११. निर्विकल्पकज्ञानविषयं वस्तु स्वलक्षणरूपमिदं प्रतिपादनानन्तरम्। १२. विकल्पो वाग्गोचरः। १३. भवन्मते परस्परव्यावृत्ताः विशेषा एव तत्त्वम्। १४. अपोहस्य। १५. सामान्यस्यापोहस्याभावोऽसामान्यं तस्य प्रसङ्गात्। परन्त्वपोहः सामान्यस्वरूपः। तदुक्तम्—अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥१॥ अनिष्टापादनं सामान्यं मास्तु, अस्ति च सामान्यम्। १६. गौरयं गौरयमित्यादि।

[1]प्रत्येकं परिसमाप्त्या[2] वर्तमानं [3]सामान्यमेव गो[4]शब्दवाच्यम्। तस्यापोह इति नामकरणे नाममात्रं भिद्येत, नार्थत[5] इति, अतो नाद्यः पक्षः[6] श्रेयान्। [7]नापि [8]द्वितीयः; गोशब्दादेः[9] कचिद्वाह्येऽर्थे प्रवृत्त्ययोगात्। [10]तुच्छाभावाभ्युपगमे [11]परमतप्रवेशानुषङ्गाच्च[12]।

[13]किञ्च—गवादयो ये सामान्यशब्दा[14] ये च [15]शाबलेयादयस्तेषां [16]भवदभिप्रायेण

सामान्यरूप माना है और कबरी, धवली आदिरूपपना तो गोव्यक्ति-विशेष के ही होते हैं। इसलिए समस्त प्रकारकी गोव्यक्तियोंमें 'यह गाय है' यह इस प्रकारके अनुवृत्त प्रत्यय (ज्ञान) को उत्पन्न करनेवाला और उन्हींमें ही एक एक व्यक्तिके प्रति पूर्णरूपसे वर्त्तमान गोत्वसामान्यको ही गोशब्दका वाच्य मानना चाहिए। उसका 'अपोह' ऐसा नाम करनेपर नाममात्रका ही भेद रहेगा, किन्तु अर्थसे कोई भेद नहीं रहेगा। अतः पर्युदासरूप प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। और न प्रसज्यरूप द्वितीय पक्ष भी ठीक है, क्योंकि गोशब्द आदिकी किसी बाहिरी पदार्थमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और अपोहको तुच्छाभावरूप माननेपर आप बौद्धोंके पर-मत अर्थात् नैयायिक मतके प्रवेशका प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

दूसरी बात यह भी है कि गो आदिक जो सामान्य-वाचक शब्द हैं और शाबलेय आदिक जो विशेष-वाचक शब्द हैं उन सबके आपके अभिप्रायसे पर्यायवाचीपना प्राप्त होगा क्योंकि उनके अर्थमें कोई भेद नहीं रहेगा,

---

१. सास्नादिमत्त्वम्। २. सर्वात्मना। ३. अनेन पृथग्विशेषणेन नैयायिकाभिमतसामान्यनिरासः, तन्मते सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायि। जैनमते तु विशेषं विशेषं प्रति सामान्यं पृथगेव। ४. गोत्वम्। ५. किन्तु नामजात्यादियोजनारूपपदार्थो भवतीत्यायातम्। ६. निषेधतात्पर्यत्वात्। ७. अन्यस्य निरपेक्षत्वात् निषेधकृतत्वात् प्रसज्यस्तु नान्यमर्थमपेक्षते। तर्हि पिण्डरूपोऽर्थो नास्ति, तत्र प्रवृत्तिरपोहस्य। ८. प्रसज्यवृत्तिभाक्। ९. गोशब्दादेः किञ्चिद्वस्तु वाच्यं न स्यात्पर्युदासस्यानपेक्षत्वादित्यतः प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावप्रसङ्ग इति भावः। १०. अत्यन्ताभावस्य। ११. नैयायिकमत-। १२. अन्यापोहस्य प्रसज्यरूपस्य तुच्छाभावाङ्गीकारे परमतप्रवेशः।

१३. किञ्च इति दूषणान्तरम्। १४. सामान्यस्याभिधायकाः। १५. विशेषशब्दाः। १६. द्रव्यगुणक्रियारूपाणां भेदोऽस्ति। शाबलेयत्वं नाम गुणस्तस्माद् भेदो भवतीति लोकव्यवहारः, परन्तु भवतामभिप्रायेण तुच्छाभावरूपेण भेदो नष्ट एव।

पर्यायता[1] स्यात्; [2]अर्थभेदाभावाद् [3]वृक्षपादपादिशब्दवत्। न खलु तुच्छाभावस्य[4] भेदो [5]युक्तः; [6]वस्तुन्येव [7]संसृष्टत्वैकत्वनानात्वादि[8]विकल्पानां[9] प्रतीतेः। भेदे [10]वा [11]अभावस्य वस्तुतापत्तिः; [12]तल्लक्षणत्वाद् वस्तुत्वस्य। न[13] चापोह्य[14]लक्षण[15]सम्बन्धिभेदाद् [16]भेदः; [17]प्रमेयाभिधेयादिशब्दा[18]नामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्[19]। [20]व्यवच्छेद्यस्यातद्[21]रूपेणाप्र-

जैसे कि वृक्ष और पादपके अर्थमें कोई भेद नहीं है। तुच्छाभावरूप अपोहके भेदका मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यथार्थ वस्तुमें ही अन्यसे संयुक्तपना, एकत्वपना, नानापना आदि विकल्पोंकी प्रतीति होती है। यदि अभावमें भी भेद मानेंगे तो अपोहरूप अभावके वस्तुपनेकी आपत्ति प्राप्त होगी; क्योंकि भेदात्मकता ही वस्तुत्वका लक्षण है। यदि कहें कि अपोह्यलक्षण-सम्बन्धीके भेदसे अभावमें भेद हो जायगा। अर्थात् गोशब्दके कहनेपर निषेधके योग्य अगो और शाबलेयका अपोह्य अशाबलेय आदिके भेदसे अभावमें भेद मान लेंगे; सो ऐसा आप कह नहीं सकते; अन्यथा प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दोंके भी अप्रवृत्तिका प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

भावार्थ—आप बौद्धोंकी व्यवस्थाके अनुसार अप्रमेयकी व्यावृत्तिसे प्रमेयका, अनभिधेयकी व्यावृत्तिसे अभिधेयका ज्ञान होना चाहिए। किन्तु अप्रमेय और अनभिधेयरूप अपोह्य पदार्थोंका तो असत्त्व है, फिर उनके सम्बन्धसे अपोहमें भेद कैसे माना जा सकेगा। और भेदके अभावमें प्रमेय, अभिधेय आदि विधिरूप शब्दोंकी प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी?

अतः प्रमेय आदि शब्दोंका व्यवच्छेद-योग्य जो अप्रमेयत्व आदि है वह यदि अतद्रूपसे अर्थात् अप्रमेय आदि रूपसे भी अप्रमेय है, तो फिर

१. एकार्थता। २. यतो व्यावृत्तिरेव शब्दार्थोऽस्ति, यदर्थभेदो लोकव्यवहारे दृश्यते, तद्दृष्ट एव। ३. वृक्षपादपादिशब्दानामर्थभेदाभावे यथा पर्यायता। ४. निःस्वभावापोहस्य। प्रसज्यप्रतिषेधस्तु तुच्छाभावं प्रतिपादयति यतः। ५. तथा भवतां मते वस्तु नास्ति, प्रसज्यप्रतिषेधस्याङ्गीकारात्। ६. न तुच्छाभावरूपं। ७. अन्येन संयुक्तत्वम्। ८. आदिना प्रमेयत्वादि। ९. भेदानाम्। १०. अभावे भेदश्चेत्। ११. अपोहस्य। १२. भेदः। १३. इति न वाच्यम्। १४. व्यावर्तनीयपदार्थाः अगवादयः। १५. गौरित्यत्रागोशाबलेयादिभेदादभावभेद इत्यत्र दूषणं। १६. अभावे। १७. अन्यथा अपोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदाद्भेदे मानीति भावः। १८. अप्रमेयाद् व्यावृत्तं प्रमेयम्, अनभिधेयाद् व्यावृत्तमभिधेयमित्यत्राप्रमेयानभिधेयादिरूपापोह्यानामसत्त्वात्कथं सम्बन्धिभेदाद्भेदः? तदभावे च कथं प्रमेयादिशब्दानां प्रवृत्तिरिति। १९. 'प्रवर्तमानानां अप्रवृत्तिताऽस्तु' इति अनिष्टापादनम्। २०. अप्रमेयत्वस्य। २१. यतोऽप्रमेयं स्वरूपेण नास्ति।

प्रमेयादिरूपत्वे[1] ततो[2] व्यवच्छेदायोगात्[3] कथं तत्र[4] सम्बन्धिभेदाद् भेदः ?

किञ्च—[5]शाबलेयादिष्वेकोऽपोहो न प्रसज्येत[6]; किन्तु प्रतिव्यक्ति[7] भिन्न एव स्यात्। अथ शाबलेयादयस्तं[8] न भिन्दन्ति, तर्ह्यश्वादयोऽपि भेदका माभूवन्। यस्यान्तरङ्गाः[9] शाबलेयादयो न भेदकास्तस्याश्वादयो भेदका इत्यतिसाहसम्। [10]वस्तुनोऽपि सम्बन्धिभेदाद् भेदो नोपलभ्यते, [11]किमुतावस्तुनि[12]। तथाहि—एक एव देवदत्तादिः कटककुण्डलादिभिरभिसम्बद्ध्यमानो न नानात्वमास्तिघ्नुवानः[13] समुपलभ्यत इति। भवतु वा सम्बन्धिभेदाद् [14]भेदस्तथापि न [15]वस्तुभूत[16]सामान्यमन्तरेणान्यापोहाश्रयः [17]सम्बन्धी

अप्रमेयादिसे प्रमेय आदिका व्यवच्छेद नहीं बन सकेगा; इसलिए प्रमेय, अभिधेय इत्यादि शब्द-वाच्य अपोहमें सम्बन्धीके भेदसे भेद कैसे माना जा सकेगा ? अर्थात् नहीं माना जा सकेगा।

और विशेष बात यह है कि शाबलेय (कबरी) आदि गायोंमें एक ही अपोह (प्रसज्यरूप अभाव) नहीं रह सकेगा, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिके प्रति भिन्न-भिन्न ही अपोह मानना पड़ेगा। यदि कहें कि शाबलेय आदि गायें अपोहमें भेद नहीं करती हैं, तो हम कहेंगे कि फिर अश्वादिक भी अपोहमें भेद करनेवाले नहीं होना चाहिए। जिस अगोव्यावृत्तिरूप अपोहके अन्तरङ्ग शाबलेय आदिक भेदक नहीं, उसके बहिरङ्ग अश्वादिक भेदक हैं, यह कहना तो अतिसाहस है। जब सम्बन्धीके भेदसे वस्तुके भी भेद नहीं पाया जाता है, तब अपोहरूप अवस्तुमें भेद कैसे सम्भव हो सकता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—एक ही देवदत्त आदि पुरुष कटक-कुण्डल आदिसे सम्बन्धको प्राप्त होकर नानापनेको प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता है; किन्तु वह एक ही रहता है। अथवा थोड़ी देरके लिए सम्बन्धीके भेदसे अपोहमें भेद मान भी लिया जाय, तथापि वह (वास्तविक) गोत्वादि सामान्यरूप पदार्थके माने बिना अन्यापोहका आश्रयभूत सम्बन्धी आप बौद्धोंके यहाँ

१. अप्रमेयाद् व्यावृत्तं प्रमेयम्। इदं प्रमेयं न भवतीति ज्ञात्वा अप्रमेयत्वम्, तदा प्रमेयत्वं न भवति ज्ञानविषयं भवति तदपेक्षयाऽप्रमेयरूपेण प्रमेयता। अपोहस्याप्रमेयादेः। २. अप्रमेयादित्वतः। ३. अभिधेयादिशब्दानाम्। ४. प्रमेयाभिधेयशब्दवाच्येऽपोहेऽभावे। ५. गौरित्यत्रागोरश्वादेर्व्यावृत्तित्वया शाबलेयादावपि कथमन्यव्यावृत्तिः भवतु। ६. अनेके भवन्तु परन्तु तथा नास्ति। ७. अव्ययीभावः। ८. अपोहम्। ९. अव्यभिचारि प्रतिनियतमन्तरङ्गम्। १०. पदार्थस्य। ११. 'किं पुनरवस्तुनि' इत्यपि पाठः। १२. अपोहे। १३. आस्कन्दमानः। १४. अपोहस्य। १५. परमार्थरूप-। १६. गोत्वादि। १७. शाबलेयादिः।

[1]भवितुं भवितुमर्हति। तथाहि—यदि शाबलेयादिषु वस्तुभूतसारूप्याभावो[2]ऽश्वादि-परिहारेण[3] तत्रैव[4] विशिष्टाभिधानप्रत्ययौ[5] कथं स्याताम्[6]। ततः[7] सम्बन्धिभेदाद् भेदमिच्छतापि[8] सामान्यं वास्तवमङ्गीकर्तव्यमिति।

किञ्च—[9]अपोहशब्दार्थपक्षे सङ्केत[10] एवानुपपन्नः; तद्ग्रहणोपायासम्भवात्। न प्रत्यक्षं तद्[11]ग्रहणसमर्थम्; तस्य[12] वस्तुविषयत्वात्। अन्यापोहस्य चावस्तुत्वात्। अनुमानमपि न [13]तत्सद्भावमवबोधयति; तस्य[14] कार्यस्वभावलिङ्गसम्पाद्यत्वात्[15]। अपोहस्य [16]निरुपाख्येयत्वेनानर्थक्रियाकारित्वेन[17] च स्वभावकार्ययोरसम्भवात्। किञ्च गोशब्दस्या-

---

होने योग्य नहीं है। उसका खुलासा यह है कि यदि शाबलेय आदिकोंमें वास्तविक सामान्यका अभाव है, तो अश्व आदिके परिहारसे उसी ही गौमें विशिष्ट शब्दका उच्चारण और ज्ञान ये दोनों कैसे हो सकेंगे? अर्थात् नहीं हो सकेंगे। किन्तु कबरी आदि विशेष शब्दका उच्चारण और ज्ञान होता है; इसलिए सम्बन्धीके भेदसे भेद चाहनेवाले बौद्धोंको सामान्य नामका वास्तविक पदार्थ अङ्गीकार करना चाहिए।

और, अपोह ही शब्दका अर्थ है, ऐसा पक्ष माननेपर शब्द और अपोहमें वाच्य-वाचकसम्बन्धरूप सङ्केत ही नहीं बन सकता है; क्योंकि उस अपोहके ग्रहण करनेका उपाय असम्भव है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस अपोहके ग्रहण करनेमें समर्थ है नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष वस्तुको विषय करता है और अन्यापोह अवस्तुरूप है। अनुमान भी उस अपोहके सद्भावका ज्ञान नहीं कराता है; क्योंकि अनुमान कार्य और स्वभावरूप लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न होता है। और अपोहके निःस्वभाव होनेसे स्वभावहेतु असम्भव है। तथा अर्थक्रियाकारिताके न पाये जानेसे कार्यहेतु असम्भव है। दूसरी बात यह है कि गोशब्दको अगोकी व्यावृत्तिका वाचक माननेपर 'अगौ' ऐसे वाक्य-प्रयोगके समय गोशब्दका क्या वाच्य होगा? क्योंकि अज्ञात पदार्थके विधि

---

१. बौद्धानाम्। २. सामान्याभावः। ३. व्यावृत्त्या। ४. गव्येव। ५. अभिधानं गोशब्दोच्चारणम्। प्रत्ययश्च प्रतीतिर्ज्ञानम्। ६. अयं सास्नादिमान् गौरिति विशिष्टशब्दज्ञाने। ७. अपि तु न स्याताम्, किन्तु वर्तते। ८. सामान्यानभ्युपगमे विवक्षितोऽपोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्ध्यति यतः। ९. सौगतेन। १०. अपोह एव शब्दार्थस्तस्य पक्षे। ११. शब्दापोहयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धः। १२. अपोह-। १३. प्रत्यक्षस्य। १४. अपोह-। १५. अनुमानस्य। १६. जन्यत्वात्। १७. निःस्वभावत्वेन स्वभावलिङ्गाभावः। १८. जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावेन कार्यलिङ्गाभावः।

गोपोहाभिधायित्वे[1]ऽगौरित्यत्र गोशब्दस्य[2] किमभिधेयं स्यात्? [3]अज्ञातस्य [4]विधि-निषेधयोरनधिकारात्। [5]अगोव्यावृत्तिरिति चेदितरेतराश्रयत्वम्—अगोव्यवच्छेदो[6] हि गोनिश्चये भवति, स चागौर्गोनिवृत्त्यात्मा गौश्चागोव्यवच्छेदरूप इति। अगौरित्यत्रोत्तर-पदार्थोऽ[7]प्यनयैव दिशा[8] चिन्तनीयः। नन्वगौरित्यत्रान्य एव विधिरूपो[9] गोशब्दाभिधेय-स्तदाऽपोहः शब्दार्थ इति विघटेन। तस्मादपोहस्योक्तयुक्त्या विचार्यमाणस्यायोगान्न्या-न्यापोहः शब्दार्थ इति स्थितम्—'सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः' इति।

और निषेधका अधिकार नहीं होता है। कहनेका भाव यह कि किसी वस्तुकी प्राप्तिपूर्वक ही निषेध होता है। जब गोपदार्थका परिज्ञान ही नहीं है, तब, 'अगौ' ऐसा कहा ही कैसे जा सकता है। इतनेपर भी यदि आप बौद्धलोग 'अगौ' में गोशब्दका अगोव्यावृत्तिरूप अर्थ ग्रहण करेंगे तो इतरेतराश्रय दोष आता है; क्योंकि अगोका व्यवच्छेद गोके निश्चय होनेपर ही हो सकता है, और वह अगौ गोनिवृत्तिरूप है, तथा गौ अगोव्यवच्छेदरूप है। और, 'अगौ' इस प्रकारके वाक्य-प्रयोगमें गो यह उत्तर पद है, सो उसका भी अर्थ इस ही दिशासे विचारना चाहिए—कि गोकी व्यावृत्तिसे अगोका निश्चय हो और अगोकी व्यावृत्तिसे गोका निश्चय हो, इस प्रकार यहाँपर भी इतरेतराश्रय दोष आता है। यदि कहा जाय कि अगौ ऐसा कहनेपर गोशब्दका वाच्य विधिरूप अन्य ही है, जो कि अगोकी निवृत्तिरूप नहीं है, तब तो शब्दका वाच्य अपोह है, ऐसी आपकी मान्यता विघटित हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त युक्तिसे विचार किया गया अपोह सिद्ध नहीं होता; इसलिए अन्यका अपोह (अभाव) शब्दका अर्थ नहीं है, यह स्थित (सिद्ध) हुआ। अतः सूत्रकारने बहुत ही ठीक कहा है कि गो आदिक शब्द अपनी स्वाभाविक योग्यता और पुरुषकृत सङ्केतके वशसे वस्तुका ज्ञान करानेमें कारण हैं।

---

१. अगोव्यावृत्त्यभिधायित्वे। २. गोशब्दो वर्ततेऽतस्तस्य किं वाच्यं स्यादिति। ३. पदार्थस्य। ४. प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः, अगौरित्यत्र गौरित्यस्य परिज्ञानं नास्ति, कथमगौरिति वदति। ५. दूषणान्तरमाह—भो बौद्ध, एवं ब्रूषे। ६. गौर्निश्चिता भवतीति चेत्पूर्वं गोसकाशात्। ७. गोशब्दार्थः। ८. अनयैव रीत्या गोव्यावृत्त्या अगोनिश्चयः, अगोव्यावृत्त्या गोनिश्चयः। ९. नागोनिवृत्त्यात्मा।

स्मृतिरनु[1]पहतेयं प्रत्यभिज्ञानवक्ता[2],
प्रमिति[3]निरतचिन्ता[4] लैङ्गिकं सङ्गतार्थम्[5]।
[6]प्रवचनमनवद्यं[7] निश्चितं देववाचा[8]
[9]रचितमुचितवाग्भि[10]स्तथ्यमेतेन[11] गीतम् ॥ ६ ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ परोक्षप्रपञ्चस्तृतीयः समुद्देशः ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्मृति निर्दोष है, प्रत्यभिज्ञान आदरणीय है, तर्क प्रमाणके फलरूप प्रमितिके ज्ञान करानेमें निरत है, लैङ्गिक अर्थात् अनुमान सङ्गत अर्थवाला है और प्रवचन (आगम) अनवद्य (दोष-रहित) है। इन पाँचों परोक्षप्रमाणोंका निश्चय अकलङ्कदेवके वचनोंसे माणिक्यनन्दि आचार्यने किया और उचित वचनोंसे उन्होंने सूत्ररूपसे रचा, तथा मैंने (अनन्तवीर्यने) यह तथ्य उपर्युक्त प्रबन्धसे गाया, अर्थात् विशदरूपसे विवरण किया।

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें परोक्षप्रमाणका विवेचन
करनेवाला तृतीय समुद्देश समाप्त हुआ।

०

---

१. निर्दोषा। २. उपादेया। ३. पाठान्तरम्—कृदिह=फलज्ञानकृत्। ४. तर्कः। ५. याथातथ्यम्। ६. आगमः। ७. निर्दोषम्। ८. अकलङ्कदेववाचा। ९. गणधरदेवैः। १०. माणिक्यनन्दिदेवैः। ११. अनन्तवीर्येण।

इति तृतीयः समुद्देशः समाप्तः।

चतुर्थः समुद्देशः

अथ स्वरूपसङ्ख्याविप्रतिपत्तिं निराकृत्य विषयविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥

तस्य प्रमाणस्य ग्राह्योऽर्थो विषय इति यावत्। स एव विशिष्यते[1] सामान्य-विशेषात्मा। सामान्य-विशेषौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, तावात्मानौ यस्येति विग्रहः। तदुभयग्रहण-मात्मग्रहणं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य[2] प्रमाणविषयत्वप्रति-षेधार्थम्।

प्रमाणके स्वरूप और संख्याकी विप्रतिपत्तिका निराकरण करके आचार्य अब विषयकी विप्रतिपत्तिका निराकरण करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाणका विषय है ॥ १ ॥

उस प्रमाणके ग्राह्य पदार्थको तदर्थ कहते हैं, वह प्रमाणका विषय है। वही पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक विशेषणसे विशिष्ट है। सामान्य और विशेषके लक्षण आगे कहे जानेवाले हैं, वे दोनों ही जिसके आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं, उसे सामान्य-विशेषात्मा कहते हैं, ऐसा इस पदका विग्रह है। सामान्य और विशेष इन दोनों पदोंका ग्रहण तथा आत्मपदका ग्रहण केवल सामान्य, केवल विशेष और स्वतन्त्र सामान्य विशेषकी प्रमाण-विषयताके प्रतिषेधके लिए है।

भावार्थ—अद्वैतवादी और सांख्यमतावलम्बी पदार्थको सामान्यात्मक ही मानते हैं। बौद्ध पदार्थको विशेषरूप ही मानते हैं। नैयायिक वैशेषिक सामान्यको एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, विशेषको एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं और उनका द्रव्यके साथ समवायसम्बन्ध मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणके विषयभूत पदार्थके विषयमें जो मत-भेद हैं, उन सबके निराकरणके लिए सूत्रमें सामान्य-विशेषात्मा ऐसा विशेषण पदार्थके लिए दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेष-रूप है और न स्वतन्त्र उभयरूप है; अपितु उभयात्मा है।

---

१. विशेषरूपेण क्रियते। २. इतरनिरपेक्षस्य।

[1]तत्र सन्मात्रदेहस्य[2] परमब्रह्मणो[3] [4]निरस्तत्वात्तदित[5]रद्विचार्यते। तत्र साङ्ख्यैः [6]प्रधानं सामान्यमुक्तम्—

[7]त्रिगुणमविवेकि[8] विषयः[9] [10]सामान्यमचेतनं[11] प्रसवधर्मि[12]।
व्यक्तं तथा[13] प्रधानं [14]तद्विपरीतस्तथा[15] च पुमान्[16] ॥३२॥ इति वचनात्[17]

उपर्युक्त तीनों मतोंमेंसे सत्तामात्र ही जिसका देह अर्थात् स्वरूप है, ऐसे परम ब्रह्मका दूसरे समुद्देशमें निराकरण किया जा चुका है, अतः उससे भिन्न जो प्रकृतिरूप सामान्य है, उसका विचार किया जाता है। सांख्योंने प्रकृतिरूप प्रधानको सामान्य कहा है—

सांख्यमतानुसार प्रधान अर्थात् कारणभूत प्रकृति अव्यक्त है, किन्तु महान्-अहङ्कारादि कार्यरूप प्रकृति व्यक्त है। यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकारका प्रधान त्रिगुणात्मक है, अर्थात् सत्त्व रज और तम इन तीन

---

१. त्रिषु मध्ये। २. सामान्यस्वरूपस्य। सा सत्ता सा महासत्ता यामाहुस्त्व-तलादयः। ३. ब्रह्माद्वैतस्य। ४. सावरणमित्यादिसूत्रव्याख्यानावसरे पूर्वमीमांसकेन सह सर्वज्ञवादे ज्ञातव्यम्। ५. सन्मात्रस्वरूपपरमपुरुषातिरिक्तं सांख्याभिमतं प्रकृतिरूपम्। ६. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्यर्थः। ७. सुख-दुःख-मोहरूपाः सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणा अस्येति त्रिगुणम्। एतेन सुखादिकानामात्मगुणत्वं निराकृतम्। ८. यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते एवं महदादयोऽपि न प्रधानाद्विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूयकारिताऽत्राविवेकिता, न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये; अपि तु सम्भूय। तत्र नैकस्माद्यस्य कस्यचित् केन-चित्सम्भवः। महदादेर्न विविच्यत इत्यविवेकि, अभिन्नमेकरूपं सामान्यविशेष-भिन्नाभिन्न-विचाररहितम्। ९. विषयः ग्राह्यः प्रमाणगोचरः, विज्ञानाद्बहिरिति यावत्। 'ज्ञानाद् ग्राह्यो बहिर्विषय' इति वचनात्। एतेन विज्ञानाद्वैतवादिनां योगाचाराणां मतं निराकृतम्। १०. साधारणं घटादिवदनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। भोग्यत्वेन सर्वपुरुषान् प्रति साधारणम्। ११. सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु विज्ञानवादिवच्चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः। १२. प्रसव आविर्भावः। प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रत्ययः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूप विरूपपरिणामाभ्यां न कदा-चिदपि वियुज्यत इत्यर्थः। तत्त्वान्तरेण परिणामी विरूपपरिणामः, सत्त्वरजस्तमोरूपेण परिणामः सरूपपरिणामः। १३. महदादिकार्यम्, हेतुमन्नित्यमव्यापि महदादेर्लक्षणम्। व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति 'तथा प्रधानम्' इति। यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमित्यर्थः। १४. त्रैगुण्यादिरहितः पुरुषः। १५. तथा व्यक्तं तेन प्रकारेण सर्वविषयः। यद्यप्यत्रैगुण्यादि वैधर्म्यमस्ति, तथाप्यहेतुमत्त्वनित्यत्वादिप्रधानसाधर्म्यं पुरुषस्यास्तीति द्योतनार्थं तथा चेति पाठः। १६. आत्मा। १७. व्यक्ताव्यक्तयोरेव विविधलक्षणत्वे सति।

गुणोंवाला है; क्योंकि इन तीनों गुणोंकी समान अवस्थाको ही प्रकृति कहते हैं। और वह दोनों प्रकारका प्रधान अविवेकी है, अर्थात् प्रकृतिसे अभिन्न है; क्योंकि कारणसे कार्य अभिन्न ही है, सर्वथा भिन्न नहीं। अथवा यह प्रधान सामान्य-विशेषके या भिन्न-अभिन्नके विचारसे रहित है। और वह प्रधान विषयरूप है, अर्थात् ज्ञानका विषय है। सामान्य है, अर्थात् सर्व पुरुषोंका भोग्य है। अचेतन है, अर्थात् चैतन्य-रहित जड़ है। और वह प्रधान प्रसवधर्मी है, क्योंकि प्रधानसे बुद्धि और बुद्धिसे अहङ्कारादि कार्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु पुरुष उक्त प्रकारके प्रधानसे विपरीत स्वभाववाला है, अर्थात् वह सत्त्वादिगुणोंसे रहित, विवेकी, चेतन, अविषय और अनेक होते हुए भी अप्रसवधर्मा है। यद्यपि इस प्रकार पुरुष प्रकृतिसे उक्त बातोंमें विपरीत स्वभाववाला है, तथापि अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापित्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा वह प्रधानके समान सदृशधर्मवाला भी है।

विशेषार्थ—सांख्य लोग संसारके समस्त पदार्थोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे मानते हैं और उसे अचेतन या जड़ात्मक कहते हैं। इस प्रकृतिका ही दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृत कारिकाके प्रारम्भिक तीन चरणोंमें इसी प्रकृति या प्रधानका स्वरूप कहा गया है। यह प्रकृति संसारको उत्पन्न करती है, परन्तु वह स्वयं किसीसे उत्पन्न नहीं होती। वह व्यापक है, एक है, अवयव-रहित है और अनाश्रित है अर्थात् वह स्वतन्त्र है, अपने कार्यरूप व्यापारके लिए किसीके ऊपर आश्रित नहीं है। सृष्टिके प्रारम्भकालमें प्रकृति अपने भीतरसे ही सारे संसारको उत्पन्न करती है और प्रलय कालमें सारे तत्त्वोंको अपने भीतर लय कर लेती है। यह स्वयं किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं होती, अतः अजन्मा है, अर्थात् महान् अहङ्कार आदि अन्य तत्त्वोंकी जननी होकरके भी स्वयं किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं होती। इसका मूलस्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः इसे अव्यक्त कहते हैं और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इसे व्यक्त कहते हैं। पुरुषको छोड़कर शेष समस्त तत्त्वोंके उत्पन्न करनेका प्रधान कारण होनेसे इसको प्रधान भी कहते हैं। पुरुष अर्थात् आत्मा इससे विपरीत स्वरूपवाला है, अर्थात् वह सत्त्वादि गुणोंसे रहित है, विवेकवान् है, अन्यका विषय नहीं, किन्तु अन्यको विषय करनेवाला है; सामान्य अर्थात् एक नहीं किन्तु अनेक है, अचेतन नहीं, किन्तु चेतन है; अन्य तत्त्वोंको उत्पन्न नहीं करता अर्थात् कूटस्थ नित्य है, इस पुरुषकी सत्ता अनुभव-सिद्ध है। प्रत्येक पुरुषको अपने आपकी अनुभूति प्रतिक्षण होती ही रहती है कि

'तच्च केवलं[1] प्रधानं महदादिकार्यनिष्पादनाय प्रवर्तमानं किमप्यपेक्ष्य प्रवर्तते, निरपेक्ष्य वा। प्रथमपक्षे तन्निमित्तं[2] वाच्यम्, यदपेक्ष्य प्रवर्तते। ननु[4] पुरुषार्थ एव तत्र[5] कारणम्; पुरुषार्थेन हेतुना[6] प्रधानं[7] प्रवर्तते। पुरुषार्थश्च द्वेधा; 'शब्दाद्युपलब्धि-[8][9]गुणपुरुषान्तर[10]विवेकदर्शनं वा; इत्यभिधानादिति चेत्सत्यम्। तथा[11] प्रवर्तमानमपि [12]बहुधानकं पुरुषकृतं कञ्चिदुपकारं समासादयत्प्रवर्तेत, अनासादयद्वा? प्रथमपक्षे स उप-

---

'यह मैं हूं, यह मेरी वस्तु है।' इस प्रकारकी अनुभूतिसे प्रत्येक शरीरमें पुरुष (आत्मा)की विभिन्नताओंकी सिद्धि सर्व-विदित है। जिस प्रकार रथके संचालनके लिए सारथी और गाड़ी चलानेके लिए गाड़ीवानका होना आवश्यक है, उसी प्रकार इस जड़ प्रकृतिके संचालनार्थ पुरुषका होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार सांख्य लोग मूलमें दो ही तत्त्व मानते हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृतिको सामान्य तत्त्व भी कहते हैं। आगे आचार्य इसीका खण्डन कर रहे हैं।

सांख्यमतमें तत्त्वव्यवस्था उक्त प्रकारकी है। जैन लोग उनसे पूछते हैं कि विना किसी दूसरेकी सहायताके वह केवल यानी अकेला प्रधान अर्थात् प्रकृतिरूप जड़ तत्त्व महत् आदि कार्योंके उत्पादनके लिए प्रवर्तमान होता हुआ क्या किसीकी अपेक्षा लेकर प्रवर्त्तित होता है, अथवा विना अपेक्षा ही प्रवर्त्तित होता है? प्रथम पक्षके माननेपर वह निमित्त कहना चाहिए कि जिसकी अपेक्षा लेकर वह महत् आदि कार्योंके उत्पादनके लिए प्रवर्तित होता है? इसके उत्तरमें सांख्योंका कहना है पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का प्रयोजन ही उक्त प्रवृत्तिमें कारण है; अतः पुरुषार्थरूप हेतुसे प्रधान अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है। पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है—एक तो शब्द, रूप आदि विषयोंको ग्रहण करना और दूसरा गुण और पुरुषान्तरके विवेकको देखना अर्थात् प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक भेदका दर्शन करना, ऐसा हमारे आगमका वचन है। इसपर आचार्य कहते हैं कि आपका कहना सत्य है; किन्तु यह बतलाइए कि इस प्रकारसे अर्थात् दोनों प्रकारके पुरुषार्थोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता हुआ भी वह बहुधानक (प्रधान) पुरुषकृत किसी उपकारको लेकरके प्रवृत्ति करता है कि पुरुषकृत किसी

---

१. जैनः प्राह। २. अद्वितीयम्। ३. यत्किञ्चिदपेक्ष्य प्रवर्तते तन्निमित्तं प्रतिपादनीयम्। ४. सांख्यः प्राह। ५. प्रवृत्तौ। ६. कारणेन। ७. महदादिकार्य-निष्पादनाय। ८. आदिशब्देन रूपरसगन्धस्पर्शाः। ९. प्रधान-। १०. प्रकृति-पुरुषयोर्भेदविज्ञानदर्शनम्। ११. पुरुषार्थद्वयमपेक्ष्य। १२. प्रकृतिः।

कार[1]स्तस्माद्भिन्नोऽभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तदा तस्येति व्यपदेशाभावः[2] [3]सम्बन्धाभावात् तदभावश्च[4]; [5]समवायादेरनभ्युपगमात्[6]। [7]तादात्म्यं च [8]भेदविरोधीति। अथाभिन्न उपकार इति पक्ष आश्रीयते तदा प्रधानमेव तेन[9] कृतं स्यात्[10]। अथोपकारनिरपेक्षमेव[11] प्रधानं [12]प्रवर्तते, तर्हि मुक्तात्मानम्प्रत्यपि प्रवर्ततेताविशेषात्[13]। एतेन[14] [15]निरपेक्षप्रवृत्ति-पक्षोऽपि प्रत्युक्तस्तत[16] एव। किञ्च सिद्धे प्रधाने सर्वमेतदुपपन्नं स्यात्। न च तत्सिद्धिः [17]कुतश्चिन्निश्चीयत इति।

उपकारको नहीं लेकर प्रवृत्ति करता है ? प्रथम पक्षके माननेपर वह उपकार प्रधानसे भिन्न है, या अभिन्न है ? यदि भिन्न है, तो यह उपकार प्रधानका है ऐसा व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि प्रधानका उपकारसे सम्बन्ध है, सो सांख्योंने समवाय, संयोग आदि किसी सम्बन्धको माना नहीं है, अतः सम्बन्धके अभाव होनेसे उपकारका अभाव रहेगा। यदि कहें कि प्रधान और उपकारमें तादात्म्यसम्बन्ध है सो वह भेदका विरोधी है, अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। और यदि प्रधानसे उपकार अभिन्न है यह दूसरा पक्ष आश्रय करते हैं, तब उसके अर्थात् पुरुषके द्वारा प्रधान ही किया गया ठहरता है, और ऐसी दशामें उसके नित्यपनेकी हानि होती है। यदि कहें कि पुरुषकृत उपकारकी अपेक्षाके विना ही प्रधान महत् आदि कार्योंके निष्पादनके लिए प्रवृत्ति करता है, तो फिर उस प्रधानको मुक्त-आत्माके प्रति भी प्रवृत्ति करना चाहिए; क्योंकि वहाँपर भी उपकार-निरपेक्षता समान ही है। इससे अर्थात् पुरुषकृत उपकारकी अपेक्षाके विना ही प्रधान प्रवृत्ति करता है, इस पक्षके निराकरणसे निरपेक्ष प्रवृत्तिरूप दूसरा पक्ष भी निराकृत कर दिया गया समझना चाहिए, क्योंकि उससे इसमें कोई विशेषता ही नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि प्रधान नामक तत्त्वके सिद्ध होनेपर आपका यह सर्व कथन युक्ति-युक्त सिद्ध होसके। किन्तु उसकी सिद्धि किसी भी प्रमाणसे निश्चित नहीं है।

---

१. बहुधानकात्। २. तदा उपकारो बहुधानकस्येति व्यपदेशस्य कथनस्याभावः, प्रधानस्यायमुपकार इति वक्तुं न शक्यत इति भावः। ३. सम्बन्धाभावश्च कथं सिद्धयेदिति चेन्न, प्रमाणसिद्धत्वात्। ४. उपकाराभावश्च। ५. आदिपदेन संयोगादेः। ६. सांख्यैः। ७. तादात्म्यं चेत्। ८. तन्मते तादात्म्यरूपसम्बन्धः। अयमुपकार इदं प्रधानमिति भेदो न स्यात्। ९. पुरुषेण। १०. तदा नित्यत्वहानिरिति। ११. पुरुषकृतोपकारनिरपेक्षमेव। १२. महदादिकार्यनिष्पादनाय पुरुषार्थे। १३ उपकारनिरपेक्षत्वस्याविशेषात्। १४. पुरुषकृतोपकारनिरपेक्षमेव प्रधानं प्रवर्तते इत्यस्य निराकरणेन। १५. महदादिकार्यनिष्पादनाय निरपेक्ष्य वा प्रधानं प्रवर्तत इति द्वितीयविकल्पं दूषयति। १६. अविशेषादेव। १७. प्रमाणात्।

[1]ननु [2]कार्याणामेकान्वय[3]दर्शनादेककारणप्रभवत्वं भेदानां[4] [5]परिमाणदर्शनाच्चेति। तदप्यचारुचर्चितम्; सुखदुःखमोहरूपतया[6] घटादेरन्वयाभावादन्तस्तत्त्वस्यैव[7] तथोपलम्भात्[8]। अथान्तस्तत्त्वस्य[9] न सुखादिपरिणामः, किन्तु तथापरिणममानप्रधानसंसर्गादात्मनोऽपि [10]तथा प्रतिभास इति। तदप्यनुपपन्नम्; अप्रतिभासमानस्यापि[11] संसर्गकल्पनायां[12] तत्त्वेयत्तया[13] निश्चेतुमशक्तेः। तदुक्तम्—

सांख्य—कार्योंके एक रूप अन्वयके देखे जानेसे तथा महत् आदि भेदोंका परिमाण पाये जानेसे उनका एक कारणसे उत्पन्न होना सिद्ध है। अर्थात् जैसे घट, घटी, सरावा आदिके एक मिट्टीका अन्वयपना देखा जाता है और उनमें छोटा-बड़ा आदिके रूपसे परिमाण भी पाया जाता है; इसी प्रकार महत्-अहङ्कार आदि कार्योंके भी एक प्रकृतिका अन्वय देखे जानेसे, तथा भेदोंमें परिमाण पाये जानेसे प्रधानकी भी सिद्धि होती है।

जैन—आपका यह कथन सुन्दर नहीं है, क्योंकि सुख, दुःख और मोह रूपपनेसे घटादिके अन्वयका अभाव है अर्थात् घटादि जड़ पदार्थोंके सुख-दुःखादिकी प्रतीति नहीं होती है; किन्तु अन्तस्तत्त्वरूप आत्मा या चेतन पुरुषके ही सुख-दुःखादिकी उपलब्धि होती है। यदि कहें कि चेतनरूप जो अन्तस्तत्त्व है, उसके सुखादि परिणाम नहीं हैं, किन्तु सुख-दुःखादि रूपसे परिणमन करनेवाले प्रधानके संसर्गसे आत्माके भी तथा प्रतिभास होता है अर्थात् सुख-दुःखादिकी प्रतीति होती है, सो आपका यह कथन भी युक्ति-सङ्गत नहीं है; क्योंकि अप्रतिभासमान भी प्रधानकी आत्माके साथ संसर्गकी कल्पना करनेपर तत्त्वोंकी संख्याका निश्चय करना अशक्य हो जायगा। जैसा कि कहा है—

---

१. सांख्यः प्राह। २. महदादीनाम्। ३. एकानुगमदर्शनात्। भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥ १ ॥ महदादिव्यक्तमेककारणसम्भूतमेकान्वयदर्शनात्, घटघटीसरावोदञ्चनादिवत्। लघुमहदाद्युभयत्राप्ययं दृष्टान्तः। यथा घटघटीसरावोदञ्चनादिभेदपरिणामदर्शनं मृदेककारणप्रभवम्। प्रधानमस्ति कार्याणामेककारणप्रभवत्वात्, घटघटीसरावोदञ्चनानां मृत्पिण्डम्। ४. कार्याणाम्। ५. महदादिकमेककारणसम्भूतमेकरूपान्वितत्वात्। महदादिकव्यक्तमेककारणसम्भूतं परिमाणदर्शनात्, घटादिवत्। ६. सत्त्वरजस्तमसामुदयाज्जायमानाः परिणामाः सुखादयः प्रधानस्य। ७. चित्तस्याऽन्तरात्मन एव। ८. सुख-दुःख-मोहरूपतयोपलम्भात्। ९. चेतनस्य। १०. सुख-दुःखादिरूपतया। ११. प्रधानस्य। वस्तुनोऽपि स्वभावतः प्रतिभासभेदाभावात्। १२. आत्मना सह संसर्गकल्पनायामविभागो जात एवेति चेत्। १३. तत्त्वसङ्ख्यायाः।

संसर्गादविभाग[1]श्चेदयोगोलकवह्निवत्[2] ।
भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना[3] सर्ववस्तुषु ॥२३॥ इति

यदपि परिमाणाख्यं साधनम्, तदप्येकप्रकृतिकेषु[4] घटघटीशरावोदञ्चनादिष्वनेकप्रकृतिकेषु[5] पटकुटमकुटशकटादिषु [6]चोपलम्भादनैकान्तिकमिति[7] न तत[8]: [9]प्रकृतिसिद्धिः । तदेवं प्रधानग्रहणोपायासम्भवात्सम्भवे वा ततः[10] [11]कार्योदयायोगाच्च । यदुक्तं परेण[12]—

[13]**प्रकृतेर्महान्[14] [15]ततोऽहङ्कार[16]स्तस्माद् गणश्च षोडशकः[17] ।**

यदि लोहेके गोला और अग्निके समान संसर्गसे प्रधान और आत्मामें अविभाग अर्थात् एकत्व माना जाय तो सर्व वस्तुओंमें भेद और अभेदकी व्यवस्था ही विनष्ट हो जायगी ॥ २३ ॥

इस प्रकार तत्त्वोंकी संख्याका कोई नियम नहीं रहेगा ।

और आपने प्रधानकी सिद्धिके लिए जो परिमाण नामक हेतु दिया है; वह मिट्टीरूप एक-प्रकृतिक घट, घटी, सरावा, उदञ्चन आदिकोंमें तथा अनेक-प्रकृतिक पट, कुट, मुकुट आदिकोंमें पाये जानेसे अनैकान्तिक है; अतः उससे प्रधानकी सिद्धि नहीं होती है । इस प्रकार प्रधानके ग्रहणका उपाय असम्भव है । अथवा किसी प्रकार सम्भव भी मान लिया जाय तो उस प्रधानसे महत् आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और जो सांख्योंने कहा है—

प्रकृति अर्थात् प्रधानसे महान् उत्पन्न होता है । (सृष्टिसे लेकर प्रलय-काल तक स्थिर रहनेवाली बुद्धिको महान् कहते हैं ।) महानसे अहङ्कार

---

१. अभेदः । प्रधानात्मनोरेकत्वं भवतु । २. दाहस्फोटकाग्निवत् । ३. विनष्टा । ४. एककारणकेषु । ५. भिन्नकारणकेषु । ६. परिणामोपलम्भात् । ७. महदादिव्यक्तमेककारणकं परिणामोपलम्भादित्यनुमाने परिणामोपलम्भस्य हेतोरेककारणकेषु घटादिषु भिन्नभिन्नकारणकेषु पट-कुण्डलादिषूपलम्भाद् व्यभिचारि साधनम् । ८. परिणामोपलम्भसाधनात् । ९. प्रकृतेः प्रधानस्य । १०. प्रकृतेः । ११. घटादि- । १२. सांख्येन । १३. प्रधानस्य कार्याणि कानीत्युक्ते । प्रकृतिरव्यक्तम्, ततो महत्तत्त्वमुत्पद्यते । १४. आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिः महान् । अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ १ ॥ सर्वो व्यवहर्ता 'अहमत्राधिकृतः' इत्यध्यवस्यति । ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम् । योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः बुद्धेरसाधारणो व्यापारस्तदभेदा बुद्धिः । स च बुद्धेर्लक्षणम्, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् । १५. बुद्धेः । १६. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः । एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ १ ॥ १७. अहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि तन्मात्राणि च पञ्च, सोऽयं षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः ।

[1]तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि[2] ॥३४॥

(अभिमान) उत्पन्न होता है। अहङ्कारसे सोलह गण पैदा होते हैं। (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच ज्ञानेन्द्रियां, वचन, हस्त, पाद, पायु (मल-द्वार) और उपस्थ (मूत्र-द्वार) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, तथा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ, ये सोलह गण कहलाते हैं।) इस सोलह गणके अन्तर्गत जो पञ्च तन्मात्राएँ, उनसे पञ्च भूत उत्पन्न होते हैं ॥३३॥

विशेषार्थ—सांख्योंने मूलमें दो तत्त्व माने हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृतिको वे अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुषको चेतन। पुनः प्रकृतिसे महान्, अहङ्कार और सोलह गण क्रमशः उत्पन्न होते हैं उन सोलह गणोंमेंसे भी शब्दतन्मात्रासे आकाश उत्पन्न होता है, अतः उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है। शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रासे वायु उत्पन्न होती है, अतः उसमें शब्द और स्पर्श ये दो गुण पाये जाते हैं। शब्द और स्पर्शसहित रूपतन्मात्रासे तेज (अग्नि) उत्पन्न होता है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रासहित रस-तन्मात्रासे अप् (जल) पैदा होता है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रससहित गन्ध तन्मात्रासे पृथिवी उत्पन्न होती है, अतः उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार एक प्रकृति अपरनाम प्रधानतत्त्वसे तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। प्रकृति-सहित ये चौबीस तत्त्व अचेतन हैं और पुरुष तत्त्व चेतन है। इस प्रकार अभेदरूपसे दो और भेदरूपसे पच्चीस तत्त्वोंको सांख्य

१. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, पायूपस्थ-(मलद्वार-योनि-लिङ्ग-) वचः पाणिपादाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनोरूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः पञ्च तन्मात्राणि। तदुक्तम्—बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपाद-पायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २ ॥ मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च तन्मात्राणि। तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि। तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्श-गुणः। शब्दस्पर्शसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शसहिताद् रूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्र-सहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते। तदुक्तम्—रूपात्तेजो रसा-दापो गन्धाद् भूमिः स्वरान्नभः। स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यः पञ्चभूतकम् ॥ १ ॥ २. अचेतनान्येव।

इति सृष्टिक्रमः,

[1]मूलप्रकृतिरविकृति[2]र्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः[3] सप्त।
[4]षोडशकस्तु[5] विकारो[6] न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३५॥

इति स्वरूपाख्यानं च वन्ध्यासुतसौरूप्यवर्णनमिवास[7]द्विषयत्वादुपेक्षा[8]मर्हति;

मतावलम्बी मानते हैं। वे वस्तुतः किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति या विनाश नहीं मानते, सबको नित्य मानते हैं। अतः उनके मतानुसार उत्पत्तिका नाम आविर्भाव और विनाशका नाम तिरोभाव है।

सांख्यमतानुसार जगतकी सृष्टिका यह उक्त क्रम है।

मूल प्रकृति विकृति-रहित है, महान् आदिक सात तत्त्व प्रकृति और विकृतिरूप हैं। सोलह गण विकृतिरूप हैं। पुरुष न प्रकृतिरूप है और न विकृतिरूप है ॥३५॥

विशेषार्थ—उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वोंमेंसे मूल प्रकृति तो विकारसे रहित है और अकारणक है। अर्थात इसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है, वह अनादि-निधन है। महान तत्त्व अहङ्कारकी प्रकृति है और मूल प्रकृतिकी विकृति है। अहङ्कारतत्त्व पञ्च तन्मात्राओं और इन्द्रियोंकी प्रकृति है और महान् तत्त्वकी विकृति है। इसी प्रकार पञ्च तन्मात्राएँ आकाश आदि पञ्च भूतोंकी प्रकृति हैं और अहङ्कारकी विकृति हैं। गणरूप सोलह तत्त्व विकृतिरूप ही है; क्योंकि ये सभी अहङ्कारके विकार हैं, अर्थात् अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। पुरुष न किसीसे उत्पन्न होता है और न किसीको उत्पन्न करता है, अतः वह न प्रकृतिरूप ही है और न विकृतिरूप ही है।

सांख्योंके द्वारा पच्चीस तत्त्वोंके स्वरूपका यह वर्णन वन्ध्यापुत्रके सौन्दर्य-वर्णनके समान असत्को विषय करनेसे उपेक्षाके योग्य है; क्योंकि

---

१. मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः, विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम्, समर्थं प्रधानम्; न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। २. अविकार्यकारणञ्च। प्रकृतिरेवेत्यर्थः। ३. प्रधान्यस्य विकाराः। प्रकृतिश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त। महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। अहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्च तन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयः, विकृतयश्चाहङ्कारस्येति। ४. एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि चेति षोडशको विकारो विकार एव। ५. 'तु' शब्दोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च। ६. कार्यम्। ७. प्रधानमेव विषयः प्रधानविषयाभावात्प्रधानमेव नास्ति। ८. माध्यस्थ्यम्।

अमूर्त्तस्याऽऽकाशस्य मूर्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकत्वायोगाच्च । अन्यथा[1] अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकाच्चैतन्यसिद्धेश्चार्वाकमतसिद्धिप्रसङ्गात् साङ्ख्यगन्ध एव न भवेत् । [3]सत्कार्यवाद[2]प्रतिषेधश्चान्यत्र[5] विस्तरेणोक्त इति नेहोच्यते; सङ्क्षेपस्वरूपादस्येति ।

अमूर्त्त आकाश और मूर्त्त पृथिवी आदिका एक कारणसे उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि इतनेपर भी अमूर्त्त आकाश और मूर्त्त पृथिव्यादिकी एक कारणसे उत्पत्तिकी कल्पना की जायगी तो अचेतन भी पञ्चभूत-समूहसे चैतन्यकी सिद्धि मानना पड़ेगी, और तब चार्वाक मतकी सिद्धिका प्रसङ्ग प्राप्त होनेसे सांख्यमतकी गन्ध भी नहीं रहेगी। सत्कार्यवादका प्रतिषेध अन्यत्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें विस्तारसे किया गया है, इसलिए यहाँपर नहीं करते हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ संक्षेप स्वरूपवाला है।

विशेषार्थ—कार्य-कारणके विषयमें सांख्योंकी एक विशिष्ट मान्यता है जो सत्कार्यवादके नामसे प्रसिद्ध है। उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य अपने कारणमें सदा विद्यमान रहता है। इसके लिए उनकी युक्ति यह है कि असत् पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि तिलोंमें तेल न रहता होता, तो उन्हें कोल्हूमें पेरनेपर भी वह नहीं प्राप्त होता। जैसे कि बालूमें तेलका अभाव है, तो बालूके पेरनेपर भी तेल प्राप्त नहीं होता। यदि दूधमें दही, या दहीमें घीका सद्भाव न होता, तो दूधके जमानेपर भी दही और दहीके बिलोनेपर भी घीकी प्राप्ति कदाचित् भी नहीं होती। अतः यही मानना चाहिए कि कारणमें कार्य सत्-रूपसे रहता है। इसप्रकारसे उनके इस कथनका नाम ही सत्कार्यवाद है। इसके निषेधमें जैनोंका यह कहना है कि यदि कारणके भीतर कार्य सत् अर्थात् विद्यमान होता, तो घड़ा बनानेके लिए कुम्भकार, उसके चाक और दंडा आदि किसीकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यदि मिट्टीके पिण्डमें सचमुच घड़ा विद्यमान है, तो फिर वह घड़ेके कार्य जल-आहरण, जल-धारण आदिको क्यों नहीं करता। दूसरे यदि कार्य कारणमें पहलेसे ही विद्यमान है, तो कार्य और कारणके भेदकी कल्पना करना भी व्यर्थ है। तब तो मिट्टी और घड़ा इन दोनोंके लिए एक ही नामका

---

१. प्रधान-। २. अमूर्त्तस्याकाशस्य मूर्त्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकल्पनायां तु । ३. विद्यमानमेव दृश्यते, इति सांख्यो वदति । असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥ ४. न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ २ ॥ इत्यादिना सत्कार्यवादस्य प्रतिषेधादिति । ५. प्रमेयकमलमार्तण्डे ।

[1]तथा विशेषा[2] एव तत्त्वम्[3]; तेषा[4]मसमानेतर[5]विशेषेभ्योऽशेषात्मना[6] [7]विश्लेषात्मकत्वात् सामान्यस्यैक[8]स्यानेकत्र[9] व्याप्त्या[10] वर्तमानस्य सम्भवाभावाच्च।

प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? यदि कहा जाय कि कार्य और कारणमें आकार-गत भेद है अर्थात् दोनोंका आकार भिन्न-भिन्न है, तब तो यही मानना पड़ेगा कि कुम्भकारादि सहकारी कारणोंकी सहायतासे कारणरूप मिट्टीके लौंदेमें ऐसी कोई विशेषता उत्पन्न हो गई है, जो कि मृत्पिण्डरूप मूल कारणमें नहीं थी। यदि कहा जाय कि कारणके भीतर कार्य था तो पहलेसे ही विद्यमान, किन्तु वह आविर्भावरूपसे व्यक्त नहीं था, अपितु वह उसमें तिरोभावरूपसे अव्यक्त था। आचार्यका इसपर यह कहना है कि आविर्भाव और तिरोभावकी कल्पना इन्द्रजालियेके इन्द्रजालके समान सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि मृत्पिण्डरूप कारण ही कुम्भकार आदिके सहयोगसे घटके आकारसे परिणत हो जाता है। ऐसा नहीं है कि मृत्पिण्डरूप कारणमें कहीं घटरूप कार्य छिपा हुआ बैठा था। किन्तु कुम्भकारके प्रयत्नसे वा चाक-दण्ड आदिके सहयोगसे वही मृत्पिण्ड अपनी उस पर्यायको छोड़कर घटरूप पर्यायसे परिणत होता है और मृत्तिकारूप द्रव्य दोनों ही अवस्थाओंमें ज्योंका त्यों बना रहता है। अतः वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही मानना चाहिए। इसका विस्तार जाननेके लिए प्रमेयकमलमार्तण्डको देखना चाहिए।

इस प्रकार सांख्योंके द्वारा माने गये प्रकृतिरूप सामान्यतत्त्वका निराकरण किये जानेपर बौद्ध कहते हैं कि पृथक्-पृथक् परमाणुरूप विशेष ही तत्त्व हैं, जो कि प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य और निरंश हैं; वे विजातीय और सजातीय विशेषोंसे सामस्त्यरूपसे भिन्नस्वरूपवाले हैं; क्योंकि नैयायिकादिकोंके द्वारा परिकल्पित अनेक व्यक्तियोंमें सर्वात्मरूपसे व्याप्त होकर

---

१. ननु सत्कार्यमपि तैरङ्गीकृतम्, तत् किमिति न निषिध्यत इत्याह—तथा इत्युक्तएवं सतीति कोऽर्थः? सामान्यनिराकरणे सति बौद्धो वदति—सांख्यादिपरिकल्पितप्रधानादिनिराकरणवत्। २. यथा सामान्यं सांख्यैस्तत्त्वं प्रतिपाद्यते, तथा विशेषा एव सौगतैः परमाणव एव पर्यायाः स्वीकृताः। प्रतिक्षणं विशरारवो रगरगायमाणाः अनित्याः निरंशाः परस्परासम्बन्धिनः परमाणवः। ३. वस्तुनः स्वरूपम्। ४. विशेषाणाम्। ५. असमानाकारैः समानाकारेभ्यः समस्तात्मना भिन्नात्मकत्वादिति बौद्धाः। विजातीय-सजातीयविशेषेभ्यो, यथा घटे घटान्तरं सजातीयम्, पटादि विजातीयम्। ६. सामस्त्येन। ७. भिन्नात्मकत्वात्। ८. नैयायिकाभिप्रायेण सामान्यमेकम्। ९. शाबलेयादिषु व्यक्तिषु। १०. परिसमाप्त्या, सर्वरूपेण।

[1]तस्यैकव्यक्तिनिष्ठस्य[2] सामस्त्येनोपलब्धस्य[3] तथैव[4] व्यक्त्यन्तरेऽनुपलम्भप्रसङ्गात्। [5]उपलम्भे वा [6]तन्नानात्वापत्ते[7]र्युगपद् भिन्नदेशतया[8] सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवत्[9]; [10]अन्यथा व्यक्तयोऽपि [11]भिन्ना माभूवन्निति। [12]ततो बुद्ध्यभेद[13] एव सामान्यम्। तदुक्तम्—

एकत्र[14] दृष्टो भावो[15] हि क्वचिन्नान्यत्र[16] दृश्यते।
[17]तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत्[18]सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[19] ॥२६॥ इति[20]

वर्त्तमान ऐसे किसी एक सामान्यरूप तत्त्वका होना सम्भव नहीं है। अर्थात् जब कि सामान्य एक ही है, तब वह अनेक विशेषोंमें अपने पूरे स्वरूपके साथ कैसे रह सकता है? जिस समय वह सामान्य एक व्यक्ति-निष्ठ होकर सामस्त्यरूपसे उपलब्ध हो रहा है, उसी समय उसके उसी प्रकार ही सामास्त्यरूपसे व्यक्त्यन्तर अर्थात् अन्य व्यक्तिमें अनुपलम्भका प्रसङ्ग है, अर्थात् वह नहीं पाया जा सकता। और यदि पाया जाता है, तो उसके नानापनेकी आपत्ति प्राप्त होती है, क्योंकि वह एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्ती व्यक्तियोंमें सामस्त्यरूपसे पाया जाता है, जैसे कि खण्डी-मुण्डी आदि गायोंमें एक गोत्व पाया जाता है। अन्यथा अर्थात् एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्तीरूपसे पाये जानेपर भी व्यक्तियां भी भिन्न-भिन्न न होवें। इसलिए सर्वत्र गोव्यक्तियोंमें बुद्धिका अभेद ही सामान्य है, वास्तविक सामान्य कोई वस्तु नहीं है। जैसा कि कहा है—

एक स्थानपर देखा गया पदार्थ अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता है, इसलिए अर्थात् दूसरे स्थानपर उसके दिखाई न देनेसे बुद्धिके अभेदसे

---

१. सामान्यस्य। २. पदार्थ-। ३. दृष्टस्य। सामस्त्येन। ४. तस्मिन्नेव क्षणे। एकस्मिन् क्षणे सामान्यस्य व्यक्त्यन्तरे। ५. सामान्यस्य। ६. सामान्यं नाना युगपद्भिन्नदेशतया सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्व्यक्तिवदिति अनुमानेन साधितं बौद्धेन सामान्यम्। नानात्वं कुतः? ८. सामान्यस्य। ९. खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्, शाबलेयादिव्यक्तिवदिति। १०. नानात्वाभावे सामान्यस्य। युगपद्भिन्नदेशतयोपलब्धेऽपि तस्यैकत्वे। ११. एकस्य योगात्। १२. कल्पितविकल्पेनैव व्यक्त्यन्तरेऽभेदसामान्यस्य। १३. सर्वत्र गोव्यक्तिषु बुद्ध्यभेद एव सामान्यं न तु वास्तवम्। १४. एकस्थाने। १५. धर्मस्य भावः। १६. द्वितीयस्थाने। १७. एकत्र दृष्टस्य भावस्य तदैव द्वितीयस्थानेऽदर्शनात्। १८. स्वतन्त्रम्। १९. बुद्धिभेदं विहाय। अभेदे हेतुरयम्। २०. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देश-कालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह गम्यते॥ इति प्रतिपादनात्। इति किल तवाभिमतमिति किल तत्सौगतमेवानुवदति। तादात्म्य-तदुत्पत्तिस्वरूपस्य।

[1]ते च विशेषाः परस्परासम्बद्धा एव, [2]तत्सम्बन्धस्य विचार्यमाणस्यायोगात् । [3]एकदेशेन सम्बन्धे[4] अणुषट्केन युगपद् योगादणोः[5] षडंशतापत्तेः । सर्वात्मनाभिसम्बन्धे[6] पिण्डस्याणुमात्रकत्वापत्तेः[7] । अवयविनिषेधाच्चासम्बद्धत्वमेषा[8]मुपपद्यत एव । [9]तन्निषेधश्च [10]वृत्तिविकल्पादिबाधनात् । तथाहि[11] [12]अवयवा अवयविनि वर्तन्त इति नाभ्युपगतम्[13] । अवयवी चावयवेषु वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते, सर्वात्मना वा ? एकदेशेन [14]वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गः[15] । [16]तत्राप्येक[17]देशान्तरेणावयविनो वृत्तावनवस्था[18] । सर्वात्मना

भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है। कहनेका भाव यह कि बुद्धिमें अभेदकी कल्पना ही सामान्य है ॥ ३६ ॥

पुनः बौद्ध कहते हैं कि वे विशेष परस्परमें सम्बन्धसे रहित ही हैं, क्योंकि उन विशेषोंका सम्बन्ध विचार किये जानेपर सिद्ध नहीं होता है। उन परमाणुरूप विशेषोंका परस्परमें सम्बन्ध एक देशसे माननेपर छहों दिशाओंमें स्थित छह परमाणुओंके साथ एक परमाणुका सम्बन्ध होनेसे उसके छह अंश होनेकी आपत्ति प्राप्त होती है। परन्तु परमाणुको निरंश माना गया है। और यदि विशेषोंका सर्वात्मरूपसे सम्बन्ध मानते हैं, तो उन परमाणुओंका परस्परमें प्रवेश हो जानेसे पिण्डके अणुमात्रपनेकी आपत्ति आती है। तथा अवयवीके निषेधसे उन विशेषोंके असम्बद्धपना भी प्राप्त होता है। और अवयवीका निषेध वृत्ति-विकल्प कहिए अवयवीका अवयवोंमें विचार करने और अनुमानसे बाधा आनेके कारण किया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—बौद्ध नैयायिकोंसे कहते हैं कि अवयव अवयवीमें रहते हैं, ऐसा तो आपलोगोंने माना नहीं है। और अवयवी अवयवोंमें रहता हुआ क्या एक देशसे रहता है, अथवा सम्पूर्णरूपसे रहता है ? एक देशसे रहनेपर उसके दूसरे भी अवयव होनेका प्रसङ्ग आता है। उन दूसरे अवयवोंमें

---

१. नैयायिकमतं दूषयति बौद्धः । २. विशेषाणां परस्परसम्बन्धस्य । ३. सम्बन्धश्चेदेकदेशेन सर्वात्मना वेति शङ्कायामाह । ४. सति । ५. एकाणुर्निरंशः । ६. परस्परानुप्रवेशात् । ७. एकाश्रितत्वात् । ८. विशेषाणाम् । ९. अवयविनिषेधश्च । १०. अवयवेषु अवयविनः प्रवर्तने तस्य वीचारः, आदिशब्देनानुमानग्रहणं ताभ्यां वृत्तिविकल्पाभ्यामुत्तरग्रन्थे निषिद्धयमानत्वात् । ११. वृत्तिविकल्पादिबाधनं विवृणोति । १२. बौद्धो नैयायिकं प्राह । १३. नैयायिकेन त्वया न प्रतिज्ञातम् । १४. पटाभावेऽपि तन्तुसद्भावात् । १५. एकदेशस्य । १६. अवयवान्तरेषु । १७. अवयविन एकदेशत्वात् । १८. अवयवेष्ववयविन एकदेशेन वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गोऽवयवान्तरेष्वेकदेशेन वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गः, तत्राप्येकदेशेन वृत्तावयवान्तरप्रसङ्ग इत्यनवस्था ।

वर्तमानोऽपि प्रत्यवयवं 'स्वभावभेदेन वर्तेत, आहोस्विदेकरूपेणेति ? प्रथमपक्षे अवयवि-बहुत्वापत्तिः[2]। द्वितीयपक्षे तु अवयवानामेकरूपत्वापत्तिरिति[3]। प्रत्येकं[4] परिसमाप्त्या[5] वृत्तावप्यवयविबहुत्वमिति।

तथा[6] यद्दृश्यं सन्नोपलभ्यते तन्नास्त्येव; यथा गगनेन्दीवरम्। नोपलभ्यते चावयवेष्ववयवीति। [7]तथा 'यदग्रहे यद्बुद्ध्यभावस्ततो नार्थान्तरम्[8]', यथा वृक्षाग्रहे

भी अन्य एक देशसे अवयवीकी वृत्ति माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यदि कहें कि सम्पूर्णरूपसे अवयवी अवयवोंमें रहता है, ऐसा मानते हैं। तो हम पूछेंगे कि एक एक अवयवके प्रति स्वभावभेदसे अर्थात् अनेक स्वभावों से रहेगा; अथवा एकरूपसे रहेगा ? प्रथम पक्ष माननेपर अवयवियोंके बहुत होनेकी आपत्ति आती है। द्वितीय पक्ष माननेपर अवयवोंके एकरूप होनेकी आपत्ति आती है। पृथक्-पृथक् एक-एक अवयवके प्रति अवयवीके सम्पूर्ण-रूपसे वृत्ति माननेपर अवयवियोंके बहुत होनेकी आपत्ति आती है। इस-प्रकार वृत्तिविकल्पसे अवयवीके माननेमें बाधा आती है।

अब अनुमानसे बाधा दिखलाते हैं—अवयवोंमें अवयवी पाया ही नहीं जाता है; क्योंकि देखने योग्य होनेपर भी वह उपलब्ध नहीं है। जो देखनेके योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता है, वह है ही नहीं; जैसा आकाश-कमल। इसी प्रकार अवयवोंमें अवयवी नहीं पाया जाता है। (इस लिए वह है ही नहीं।) इस अनुमानसे यह सिद्ध किया कि अवयवोंमें अव-यवी नहीं। अब दूसरे अनुमानसे यह सिद्ध करते हैं कि अवयवोंसे अवयवी का भेद भी नहीं है यथा—अवयवोंसे अवयवी भिन्न पदार्थ भी नहीं है; क्योंकि अवयवोंके ग्रहण न होनेपर 'यह अवयवी है' ऐसी बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है। जिसके अग्रहणमें जिसकी बुद्धिका अभाव है, वह उससे भिन्न पदार्थ नहीं है। जैसे वृक्षोंके ग्रहण न होनेपर वनका अभाव है। इस लिए उक्त

१. अनेकस्वभावैः। २. प्रत्यवयवमवयविनो हि स्वभावभेदान्नानात्वं स्यादेवेति। ३. सर्वेष्वप्यवयवेष्वेकरूपेण वर्तनादवयवानामेकत्वं स्यादेव, स्वभावभेदा-भावात्। सामान्यरूपता अङ्गुल्यादीनामस्तु। ४. अवयवमवयवं प्रति। स्वभावभेदेन वा, अभेदेन वा विकल्पौ माऽऽस्तां तथापि दूषयति। ५. साकल्येन।

६. अवयवेषु अवयवी नास्त्येव दृश्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानत्वात्। एतावता ग्रन्थेन वृत्तिविकल्पनं कृतं तेन अवयविबाधनं जातं यथा तथा व्याप्तिपूर्वकेणानुमानेनावयवी बाध्यते। ७. तथाऽनुमानं अवयवेभ्योऽवयवी नार्थान्तरं अवयवानामग्रहेऽवयविबुद्ध्य-भावात्। ८. यस्याग्रहणे। ९. पूर्वानुमानेनावयवेष्ववयवी नास्तीत्यस्य सिद्धिः। अनेन त्ववयवेभ्योऽवयविनो भेदोऽपि नास्तीति वदति।

वनमिति । [1]ततश्च निरंशा एवान्योन्यासंस्पर्शिणो रूपादिपरमाणवः, ते च एकक्षण-स्थायिनो न नित्याः; विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणात्[2] । प्रयोगश्च[3]—यो यद्भावं[4] प्रत्य-न्यानपेक्ष[5]: स तत्स्वभावनियतः[6]; यथाऽन्त्या[7] कारणसामग्री [8]स्वकार्ये । [9]नाशो हि मुद्गरादिना क्रियमाणस्ततो[10] भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते ? भिन्नस्य करणे घटस्य स्थितिरेव स्यात् । [11]अथ विनाशसम्बन्धान्नष्ट इति व्यपदेश इति चेद् भावाभावयोः[12]कः सम्बन्धः ? न तावत्तादात्म्यम्; [13]तयोर्भेदात् । नापि [14]तदुत्पत्तिरभावस्य कार्याधारत्वाघटनात्[15] ।

दोनों अनुमानोंसे यह सिद्ध हुआ कि रूपादि परमाणु निरंश और परस्परमें असंस्पर्शी (संस्पर्श या सम्बन्ध-रहित) ही हैं । और वे एकक्षणस्थायी हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि वे अपने विनाशके प्रति किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखते । इसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है-(सर्व पदार्थ क्षणिक हैं; क्योंकि वे अपने विनाशशील स्वभावके प्रति अन्यकी अपेक्षासे रहित हैं ।) जो जिस भावके प्रति अन्य कारणकी अपेक्षासे रहित है, वह तत्स्वभावनियत है, जैसे तन्तु- संयोगलक्षणवाली अन्तिम कारण-सामग्री अपने पटरूप कार्यकी उत्पत्तिमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखती है ।

यहाँपर कोई शङ्का करता है कि हे, बौद्धो, देखो घटादिकके विनाशमें मुद्गरादिक अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा पड़ती ही है, उसे लक्ष्य करके बौद्ध पूछते हैं कि मुद्गरादिकके द्वारा किया जानेवाला विनाश घटादिकसे भिन्न किया जाता है, अथवा अभिन्न किया जाता है ? विनाशके भिन्न करनेपर घटकी स्थिति ही रहेगी; क्योंकि वह भिन्न ही किया गया है । यदि कहा जाय कि विनाशके सम्बन्धसे 'घट नष्ट हुआ' ऐसा कहा जाता है, तो हम पूछते हैं कि पदार्थके सद्भाव और अभावमें क्या सम्बन्ध है ? तादात्म्यसम्बन्ध

---

१. प्रथमानुमानादवयवेष्ववयविनोऽभावः साधितः, इति अवयविनो निषेधा-त्तथा सम्बन्धनिषेधादिति हेतुद्वयाद् रूपादिपरमाणवो निरंशा एव । २. कारणनिर-पेक्षात् । ३. सर्वे भावाः क्षणिकाः तत्स्वभावं प्रत्यन्यानपेक्षणात् । ४. विनाश-भावम् । ५. कारणनिरपेक्षः । ६. स विनाशस्वभावनियतः । ७. अन्त्यतन्तुसंयोग-लक्षणा अन्त्या कारणसामग्री । ८. पटोत्पत्तौ । ९. अत्रापरस्य शङ्का—भो बौद्ध, घटादौ नाशेऽस्त्येवान्यापेक्षा, अन्यत एव मुद्गरादेर्नाशो भवति, इत्याशङ्क्य बौद्धो विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति नैयायिकम् । अथवा नैयायिकोक्ततुच्छाभावमङ्गीकृत्य तं दूषयति—विनाशे घटादौ । अन्यानपेक्षत्वमसिद्धमिति चेदाह । १०. घटादेः स्वकार्यात् । ११. नैयायिकः—भिन्नो भवति, तथापि तेन सह घटस्य सम्बन्धात् घटोऽपि नष्ट इति व्यपदेशः । १२. घटविनाशयोः । १३. भावाभावयोः । १४. नाप्यभावस्य घटादुत्पत्तिर्येन कार्यकारणभावसम्बन्धः स्यात् । १५. यथा भावरूपस्य

अभिन्नस्य[1] करणे घटादिरेव कृतः स्यात्। [2]तस्य च प्रागेव निष्पन्नत्वाद् व्यर्थं करणमित्यन्यानपेक्षत्वं सिद्धमिति विनाशस्वभावनियतत्वं[3] [4]साधयत्येव। सिद्धे चानित्यानां[5] [6]तत्स्वभावनियतत्वे तदितरेषामात्मादीनां [7]विप्रतिपत्त्यधिकरणभावापन्नानां सत्त्वादिना साधनेन [8]तद्-दृष्टान्तादवत्येव क्षणस्थितिस्वभावत्वम्। तथाहि—[9]यत्सत्तत्सर्वमेकक्षणस्थितिस्वभावम्; यथा घटः[10]। सन्तश्चामी भावा[11] इति।

तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि सद्भाव और अभावमें भेद है। तदुत्पत्ति-सम्बन्ध भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभावके कार्यका आधारपना घटित नहीं होता। अर्थात् जैसे भावरूप घटकी मृत्पिण्डसे उत्पत्ति होती है, तो वह मृत्पिण्ड घटरूप कार्यका आधार यानी कारण कहलाता है। किन्तु अभाव तो अवस्तुरूप है; इसलिए वह किसी कार्यका आधार नहीं हो सकता। यदि कहें कि मुद्गरादिकसे घटका विनाश अभिन्न किया जाता है, तो उससे घटादिक ही किये गये सिद्ध होते हैं तब विनाश और घटमें भेद नहीं रहता। और घट तो पहले ही निष्पन्न हो चुका है, अतः उसका करना व्यर्थ है, इस प्रकार विनाशके अन्यकी अपेक्षा-रहितता सिद्ध हो जाती है, जो कि परमाणुरूप विशेषोंके विनाशस्वभावकी नियतताको साधन करती ही है। और अनित्य परमाणुओंके विनाशस्वभावनियतता सिद्ध होनेपर उनसे भिन्न विवादापन्न आत्मा आदिक पदार्थोंके सत्त्व आदि हेतुओंके द्वारा घटादि विशेषके दृष्टान्तसे एक क्षणस्थितिवाले स्वभावपनेकी सिद्धि होती ही है। आगे इसी बातको अनुमानसे सिद्ध करते हैं—(सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं।) जो सत् है, वह सर्व एकक्षणस्थिति-स्वभावरूप है; जैसे कि घट। (वस्तुतः घट क्षणिक ही है, उसका पृथुबुध्नोदररूप कुछ काल तक स्थिर रहनेवाला जो आकार दिखलाई देता है और क्षणभंगुरताकी प्रतीति नहीं होती है, उसका कारण अविद्या-जनित भ्रान्ति ही है।) और ये परमाणुरूप पदार्थ सत् हैं, इसलिए वे क्षणिक हैं। यह बहिर्व्याप्तिरूप अनुमान है।

घटस्य मृत्पिण्डादुत्पत्तिरस्ति, तदा तस्य कार्याधारित्वम्। तथाऽभावस्त्ववस्तुरूपस्तस्मात्तत्र कार्याधारित्वाघटनात्। १. मुद्गरादिना घटादभिन्नस्याभावस्य करणे। २. घटस्य। ३. साधनम्। ४. तदन्यानपेक्षत्वं साधनं स्वयं सिद्धं सत् विनाशत्व स्वभावत्व-नित्यत्वं सति अनित्यत्वं साधयत्येव। ५. विशेषाणां परमाणूनाम्। ६. विनाश। ७. विवादापन्नानाम्। ८. घटादिविशेषदृष्टान्तात्। ९. सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वात्। १०. परमार्थरूपेण घटः क्षणिक एव, पृथुबुध्नोदराकारेण दृश्यमानो घटः कियत्कालस्थायी, न त्वाशु विनाशीति भ्रान्तिरेवाविद्यावशादिति। ११. तस्मात् क्षणिकाः।

[1]अथवा सत्त्वमेव विपक्षे[2] बाधकप्रमाणबलेन[3] दृष्टान्तनिरपेक्षमशेषस्य वस्तुनः क्षणिकत्वमनुमापयति[4]। तथाहि[5]—सत्त्वमर्थक्रियया[6] व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रम-यौगपद्याभ्याम्; [7]ते च नित्यान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते। सापि स्वव्याप्यं [8]सत्त्वमिति नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्[9] सत्त्वासम्भावनं विपक्षे बाधकप्रमाणमिति। न हि नित्यस्य[10] क्रमेण युगपद्वा सा[11] सम्भवति; नित्यस्यैकेनैव[12]

अब अन्तर्व्याप्तिरूप अनुमानसे उक्त अर्थकी सिद्धि करते हैं—) अथवा सत्त्वरूप हेतु ही विपक्षरूप नित्यमें बाधक-प्रमाणके बलसे दृष्टान्तके बिना ही समस्त वस्तुओंके क्षणिकपनेका अनुमान कराता है।

भावार्थ—पदार्थ नित्य नहीं है; क्योंकि उसमें क्रमसे और युगपत् अर्थक्रियाकारिपनेका अभाव है, इस बाधक-प्रमाणके बलसे सत्त्व हेतु सर्व वस्तुओंको क्षणिक सिद्ध करता है।

आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—(जो वस्तु अर्थक्रियाकारी होती है वही परमार्थसत् है। नित्य पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं है, इसलिए वह परमार्थसत् भी नहीं है।) इस नियमके अनुसार सत्त्व अर्थक्रियासे व्याप्त है, और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्यसे व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य दोनों ही नित्य पदार्थसे निवृत्त होते हुए अपने साथ व्याप्त अर्थक्रियाको संग लेकर निवृत्त होते हैं। कहनेका सार यह कि नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं बनती। वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्वको साथमें लेकर निवृत्तिरूप होती है। अर्थात् नित्यमें सत्त्व सम्भव नहीं है। इस प्रकार नित्य पदार्थके साथ क्रम और यौगपद्यसे अर्थक्रियाका विरोध है। इसलिए अर्थक्रियाके बिना सत्त्वकी असम्भावना ही नित्यरूप विपक्षमें बाधक प्रमाण है।

---

१. बहिर्व्याप्तिमुखेनानुमानम्। २. नित्ये। ३. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावादिति विपक्षे बाधकप्रमाणबलेन। ४. साधयति। ५. अन्तर्व्याप्तिमुखेनानुमानं दर्शयति। ६. यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्। नित्यं नार्थक्रियाकारि तन्न तत् परमार्थसत् ॥ १ ॥ ७. क्रम-यौगपद्ये। ८. व्युत्पन्नं प्रतीदमनुमानम्। ९. नित्यः पदार्थो नास्ति, क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्, खरविषाणवत्। १०. नित्यमर्थक्रियाकारि न भवति, क्रम-यौगपद्यरहितत्वात्। ११. अर्थक्रिया। १२. एकस्वभावेनानेकस्वभावेन वेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्वा क्रमेण तावदर्थ-क्रियां निराकुर्वन्नाह।

स्वभावेन पूर्वापरकालभाविकार्यद्वयं कुर्वतः कार्यभेदकत्वात् [1]तस्यैकस्वभावत्वात् [2]तथापि कार्यनानात्वेऽन्यत्र[3] [4]कार्यभेदात्कारणभेदकल्पना विफलैव स्यात् । [5]तादृशमेकमेव किञ्चित् कारणं कल्पनीयं येनैकस्वभावेनैकेनैव चराचरमुत्पद्यत इति ।

अथ[6] स्वभावनानात्वमेव तस्य[7] कार्यभेदादिष्यते[8] इति चेत्तर्हि ते स्वभावास्तस्य सर्वदा[9] सम्भविनस्तदा [10]कार्यसाङ्कर्यम्[11] । नो[12] चेत्[13] तदुत्पत्तिकारणं[14] वाच्यम् ? [15]तस्मादेव [16]तदुत्पत्तौ तत्स्वभावानां सदा सम्भवात्सैव कार्याणां युगपत्प्राप्तिः । [17]सहकारिक्रमापेक्षया तत्स्वभावानां क्रमेण भावान्नोक्त दोष इति चेत्तदपि न साधुसङ्गतम्; समर्थस्य

नित्य वस्तुके क्रमसे अथवा युगपत् वह अर्थक्रिया सम्भव नहीं है; क्योंकि नित्यके एक ही स्वभावसे पूर्वापरकालभावी दो कार्योंको करते हुए वह कार्य का भेदक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि नित्य पदार्थ एक ही स्वभाववाला होता है। तथापि अर्थात् नित्यके एक स्वभाव वाला होने पर भी यदि कार्योंके नानापना मानेंगे, तो अन्यत्र अर्थात् अनित्य पदार्थमें कार्यके भेदसे कारणके भेदकी कल्पना करना विफल ही हो जायगी। इसलिए इस प्रकारके किसी एक ही कारणकी कल्पना करना चाहिए, जिससे कि एक स्वभाववाले एक ही पदार्थसे समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हो जाय।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि यदि नित्यपदार्थके स्वभावका नानापना ही कार्यके भेदसे मानते हैं, तो हम पूछते हैं कि वे स्वभाव उस नित्य पदार्थके सर्वदा सम्भव हैं, अथवा सर्वदा सम्भव नहीं हैं? यदि सर्वदा सम्भव हैं, तो जीवादि द्रव्यसे उत्पन्न होनेवाले नर-नारकादि पर्यायोंकी एक साथ उत्पत्ति का प्रसङ्ग आनेसे कार्योंकी सङ्करता प्राप्त होती है। यदि वे स्वभाव सर्वदा सम्भव नहीं हैं, तो उन स्वभावोंकी उत्पत्तिका कारण कहना चाहिए? उस नित्य पदार्थसे ही उन स्वभावोंकी उत्पत्ति माननेपर उन स्वभावोंके सदा सम्भव होनेसे वही कार्योंकी युगपत् प्राप्तिका प्रसङ्ग आता है। यदि कहें कि सहकारी कारणोंके क्रम-क्रमसे मिलनेकी अपेक्षा नित्य पदार्थके स्वभाव क्रम-

---

१. नित्यस्य । २. नित्यस्यैकस्वभावत्वे सति । ३. एकत्र सामग्र्यनुमाने प्रतिपादितमस्ति कार्यभेदात् कारणभेद इति दूषणमुद्भावितम्, तस्य का गतिस्तदेवान्यत्रोद्भावनीयम् । अनित्यवस्तुनि । ४. कारणभेदात्कार्यभेदस्याङ्गीकारात् । ५. ततश्च । ६. न तु कारणभेदात् । ७. नित्यस्य । ८. यदि । ९. असम्भविनो वेति विकल्पद्वयप्राप्तिः । १०. जीवादिद्रव्यादुत्पद्यमाननर-नारकादिकार्याणां युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः । ११. सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः । तस्य भावः साङ्कर्यम् । १२. यदि कादाचित्कोऽनित्यश्चेत् । १३. ते स्वभावाः सर्वदा सम्भविनो नो चेत् । १४. स्वभावोत्पत्तिकारणम् । १५. नित्यादेव । १६. स्वभावानामुत्पत्तौ । १७. निमित्तकारण-।

नित्यस्य [1]परापेक्षायोगात्। [2]तैः [3]सामर्थ्यकरणे[4] नित्यताहानिः। [5]तस्माद्भिन्नमेव सामर्थ्यं [6]तैर्विधीयत इति न नित्यताहानिरिति चेत्तर्हि नित्यमकिञ्चित्करमेव स्यात्, सहकारि-जनितसामर्थ्यस्यैव कार्यकारित्वात्। [7]तत्सम्बन्धात्तस्यापि[8] कार्यकारित्वे [9]तत्सम्बन्धस्यैकस्व-भावत्वे[10] सामर्थ्यनानात्वाभावान्न कार्यभेदः। [11]अनेकस्वभावत्वेऽक्रमवत्त्वे[12] च कार्यवत्तस्यापि[13] साङ्कर्यमिति सर्वमावर्तत[14] इति चक्रकप्रसङ्गः। तस्मान्न क्रमेण कार्यकारित्वं नित्यस्य।

क्रमसे उत्पन्न होते हैं, अतः उपर्युक्त दोष प्राप्त नहीं होता; तो आपका यह कथन भी साधु सङ्गत नहीं है; क्योंकि समर्थ नित्य पदार्थको परकी अपेक्षा नहीं रहती। सहकारी कारणोंके द्वारा नित्यके भी अभिन्न सामर्थ्यका करना माननेपर उसको नित्यताकी हानि प्राप्त होती है। यदि कहें कि नित्य पदार्थ से भिन्न ही सामर्थ्य सहकारी कारणोंके द्वारा की जाती है, तो फिर नित्य पदार्थ अकिञ्चित्कर ही हो जायगा; क्योंकि वैसी दशामें सहकारी कारणोंसे उत्पन्न हुई सामर्थ्यके ही कार्यकारीपना ठहरता है। यदि कहा जाय कि सह-कारी कारणोंसे उत्पन्न हुई सामर्थ्यके सम्बन्धसे उस नित्यके भी कार्यकारी-पना बन जाता है, तो हम पूछते हैं कि वह सम्बन्ध एक स्वभाववाला है कि अनेक स्वभाववाला है? उस सम्बन्धको एक स्वभाववाला माननेपर सामर्थ्य के नानापनेका अभाव होनेसे कार्योंके भेद नहीं बन सकेगा। यदि इस दोषके भयसे सामर्थ्यके सम्बन्धको नानास्वभाववाला मानेंगे तो हम पूछते हैं कि वह नानास्वभाववाला सम्बन्ध नित्य पदार्थके साथ अक्रमरूपसे अर्थात् युग-पत् सम्बद्ध होगा कि क्रमसे सम्बद्ध होगा? यदि अक्रमरूपसे सम्बद्ध होना मानेंगे तो घटादिकार्योंके समान उस सामर्थ्यके भी सङ्करपना प्राप्त होता है

---

१. निमित्तकारणापेक्षा। २. सहकारिभिः। ३. नित्येन सह सामर्थ्यमविनाभूतं तस्य कारणादेव तदपि क्रियते नित्यताहानिरिति चेन्नैयायिको वदति—तैः सहकारि-भिर्नित्यसामर्थ्यं क्रियते, तर्हि तस्माद् भिन्नमभिन्नं वा? यद्यभिन्नं तदा नित्यताहानिः स्यात्। यदि भिन्नं तदा नित्यस्याकिञ्चित्करत्वं स्यात्। ४. नित्यवादिनि। ५. नित्यात्। ६. सहकारिभिः। ७. सहकारिजनितसामर्थ्यसम्बन्धात्। ८. नित्यस्यापि। ९. तेन सामर्थ्येन सह सम्बन्धो यस्य नित्यस्य स तथा, तस्य। १०. सहकारिभिः कृतं यत् सामर्थ्यं तन्नित्येनैकरूपेण सह सम्बद्ध्यते, अनेकरूपेण वा? यद्येकरूपेण सम्बन्धस्तदा सामर्थ्यनानात्वाभावात् कार्यभेदो न स्यात्। तद्दोषभिया सामर्थ्यसम्बन्धस्तु नानास्वभावः, स नानास्वभावसम्बन्धो यदि नित्येन सह सम्बद्ध्यते तदा युगपत् क्रमेण वा? यदि युगपत् तदा घटादिवत् सामर्थ्यस्यापि साङ्कर्यम्। ११. अनेकस्वभावोऽक्रमेण चेत्। १२. युगपत्त्वे। १३. सामर्थ्यस्यापि। १४. तस्मात् सम्बन्धस्य क्रमवत्त्वं स्वीकर्तव्यम्। क्रमवत्त्वे च तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यमिति सम्बन्धः।

नापि युगपत्; अशेषकार्याणां युगपदुत्पत्तौ द्वितीयक्षणे कार्याकरणादनर्थक्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्। इति नित्यस्य क्रमयौगपद्याभावः सिद्ध एवेति सौगताः प्रतिपेदिरे[1]। तेऽपि न युक्तवादिनः; सजातीयेतरव्यावृत्तात्मनां[2] विशेषाणामनंशानां[3] ग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्। प्रत्यक्षस्य[4] स्थिरस्थूलसाधारणाकारवस्तुग्राहकत्वेन निरंशवस्तुग्रहणायोगात्। न हि परमाणवः परस्परासम्बद्धाश्चक्षुरादिबुद्धौ[5] प्रतिभान्ति[6], तथा सत्यविवादप्रसङ्गात्[7]।

अर्थात् जड़ और चेतन सभी प्रकारके कार्योंके सामर्थ्यकी युगपत् प्राप्तिका प्रसङ्ग आता है। इस प्रकार पुनः पुनः सर्व दोषोंके आवर्तन होनेसे चक्रकदोषका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इस कारण नित्यके क्रमसे कार्यकारीपना नहीं बनता है। और न युगपत् भी कार्योंका करना बनता है; क्योंकि समस्त कार्योंकी एक साथ उत्पत्ति होनेपर द्वितीय क्षणमें कार्यके न करनेसे अर्थक्रियाकारिताका अभाव हो जायेगा और वैसी दशामें उसके अवस्तुपनेका प्रसङ्ग आता है। इस प्रकार नित्यपदार्थके क्रमसे और युगपत् कार्यका अभाव सिद्ध ही है, ऐसा बौद्धमती प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि विशेष ही वस्तुका स्वरूप है, सामान्य वस्तुका स्वरूप नहीं। और वे विशेष परस्परमें सम्बन्ध-रहित हैं, अवयवी नहीं हैं तथा एक क्षण-स्थायी हैं; नित्य नहीं हैं।

इस प्रकार बौद्धोंने सामान्य प्रमाणका विषय नहीं हो सकता, किन्तु विशेष ही प्रमाणका विषय है, यह सिद्ध किया। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले बौद्ध भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय पृथक्-पृथक् स्वरूपवाले अंश-रहित विशेषोंके ग्राहक प्रमाणका अभाव है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो स्थिर, स्थूल और साधारण आकारवाले पदार्थका ग्राहक है, अतः वह निरंश वस्तुको ग्रहण कर नहीं सकता। इसका कारण यह है कि परस्परमें सम्बन्ध-रहित परमाणु चक्षु आदि इन्द्रियोंकी बुद्धिमें प्रतिभासित नहीं होते हैं। यदि प्रतिभासित होते, तो फिर विवादका प्रसङ्ग ही नहीं आता, अर्थात् सभी वैसा ही मानते।

१. विशेषा एव वस्तुस्वरूपं न सामान्यम्। पुनर्विशेषाः परस्परासम्बन्धिन एवावयविनः नैवैकक्षणस्थायिनः। एवं सति सम्बन्धिनः अवयविनो नित्या नैवेति बौद्धाः स्वमतमाहुः। २. भिन्नस्वरूपाणाम्। ३. परमाणूनाम्। ४. क्षणिकत्वव्यवच्छेदार्थं स्थिरपदम्, परमाणुत्वनिरासार्थं स्थूलपदम्, विशेषनिरासार्थं साधारणपदम्, आकारपदं तु प्रत्येकं परिसमाप्यते। ५. प्रत्यक्षज्ञाने। ६. प्रतिभासन्ते चेत्। ७. प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रतीतौ परस्परं सर्वेषां विवादप्रसङ्गो माऽस्तु।

[1]अथानुभूयन्त[2] एव [3]प्रथमं [4]तथाभूताः क्षणाः[5], पश्चात्तु [6]विकल्पवासना-बलादान्तरा[7]दन्तराला[8]नुपलम्भलक्षणाद्[9] [10]बाह्याच्चाविद्यमानोऽपि स्थूलाद्याकारो विकल्प-बुद्धौ चकास्ति[11]। स[12] च [13]तदाकारेणानुरज्यमानः[14] स्वव्यापारं[15] तिरस्कृत्य[16] [17]प्रत्यक्ष-व्यापारपुरःसरत्वेन प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षायत[18] इति। तदप्यतिबालविलसितम्; निर्विकल्पक-[19]बोधस्यानुपलक्षणात्[20]। [21]गृहीते हि [22]निर्विकल्पकेतरयोर्भेदे [23]अन्याकारानुरागस्यान्यत्र[24] कल्पना[25] युक्ता स्फटिकजपाकुसुमयोरिव, [26]नान्यथेति।

इसपर बौद्ध कहते हैं कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होनेपर सर्व-प्रथम निरंश परमाणु ही प्रतिभासित होते हैं; किन्तु पीछे विकल्पकी वासना-रूप अन्तरङ्ग कारणसे और बाहरी अन्तरालके नहीं पाये जानेरूप बहिरङ्ग कारणसे अविद्यमान भी स्थिर-स्थूल आदि आकार विकल्प-बुद्धिमें प्रतिभासित होते हैं। और वह विकल्प उस निर्विकल्प प्रत्यक्षके आकारसे अनुरंजित (सम्मिश्रित) होकर अपने विकल्परूप अस्पष्ट व्यापारको तिरस्कृत कर स्पष्टरूप प्रत्यक्ष-व्यापार-पूर्वक प्रवृत्त होनेसे प्रत्यक्षके समान प्रतिभासित होता है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कथन भी अतिबाल-विलासके समान है; क्योंकि किसीको भी निर्विकल्पज्ञानका अनुभव नहीं होता है। निर्विकल्प और सविकल्पके भेद गृहीत होनेपर ही अन्य निर्विकल्पके आकारकी अन्यत्र (विकल्पमें) कल्पना करना युक्त है जैसे कि स्फटिक और जपाकुसुमके पृथक्-पृथक् गृहीत होनेपर ही स्फटिकमें जपाकुसुमकी कल्पना ठीक कही जाती है, अन्यथा नहीं।

---

१. बौद्धः प्राह। २. निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धाविन्द्रियार्थसम्बन्धानन्तरं प्रतिभासन्त एव। ३. इन्द्रियार्थप्रत्यासत्त्यनन्तरम्। ४. निरंशाः। ५. परमाणवः। ६. स्वज-नित। ७. आभ्यन्तरात्। ८. मध्ये स्थिरस्थूलसाधारणाकारग्रहणमस्ति, तथा अन्यदपि सन्धानात्। ९. परमाणूनां स्फुटं परस्परं व्यवधानानुपलम्भलक्षणात्। अन्तराले ये क्षणाः नष्टास्तेषामनुपलम्भलक्षणात्। १०. अन्तरालाद् बाह्याच्चेति विशेषस्तथाविधानां स्वरूपज्ञाना-भावात्। अर्थात्। ११. शोभते, आशुवृत्त्या अलातचक्रवत्। १२. स च सविकल्पकः। १३. निर्विकल्पप्रत्यक्षाकारेण। १४. आरोप्यमाणः, सम्मिश्रितः। १५. सविकल्पकस्य आत्मव्यापारमविशदमव्यक्तमस्पष्टम्। १६. त्यक्त्वा। १७. निर्विकल्पस्य व्यापारं विशदं स्पष्टम्। १८. इति बौद्धसिद्धान्तः। १९. ज्ञानस्य। २०. अनुपलम्भात्, अननुभवनात्। २१. बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति—बौद्धलोके एवं स्थितिः। २२. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। २३. प्रत्यक्षानुरागस्य। २४. विकल्पे। २५. पूर्वं स्फटिकवस्तुनि निश्चिते सति स्फटिके जपाकुसुमस्य कल्पना युक्ता। २६. निर्विकल्प-सविकल्पकयोर्भेदेऽगृहीते निर्विकल्पाकारस्य सविकल्पेऽनुरागता न युक्ता।

एतेन[1] [2]तयोर्युगपद्[3]-वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा[4] [5]तदेक[6]त्वाध्यवसाय[7] इति निरस्तम्[8]; [9]तस्यापि कोशपानप्रत्येयत्वादिति। केन[10] वा [11]तयोरेकत्वाध्यवसायः[12]? न तावद्विकल्पेन, [13]तस्याविकल्पवार्तानभिज्ञत्वात्। नाप्यनुभवेन[14]; तस्य [15]विकल्पागोचरत्वात्। न च [16]तदुभयविषयं[17] [18]तदेकत्वाध्यवसाये समर्थमतिप्रसङ्गात्[19]। [20]ततो न प्रत्यक्षबुद्धौ [21]तथा-

इसी उपर्युक्त कथनके द्वारा निर्विकल्प और सविकल्पमें युगपद्-वृत्तिसे अथवा लघु अर्थात् शीघ्र वृत्तिसे उस निर्विकल्प और सविकल्पकी एकताका निश्चय होता है, इस कथनका भी निराकरण कर दिया गया समझना चाहिए, क्योंकि उनका यह कथन सौगन्ध (शपथ) खानेके समान ही है।

भावार्थ—सविकल्प और निर्विकल्पमें एकत्वका अध्यवसाय यदि युगपद्-वृत्तिसे माना जाय तो मोटी तिलपापड़ी आदिके खाते समय रूपादि पाँचोंका ज्ञान युगपद् होनेसे उनमें भी अभेदका अध्यवसाय माना जाना चाहिए। और यदि निर्विकल्प और सविकल्पमें शीघ्र वृत्तिसे अभेदका अध्यवसाय माना जाय तो गधेके धीरे-धीरे रेंकने आदिके शब्दोंमें भी अभेदका अध्यवसाय माना जाना चाहिए। परन्तु ये दोनों ही ठीक नहीं है, अतः उनका उक्त कथन समीचीन नहीं है, किन्तु सौगन्ध खाकर जबरन विश्वास दिलाने जैसा है।

अथवा उस निर्विकल्प-सविकल्पके एकत्व-अध्यवसायका निश्चय किस ज्ञानसे होगा? विकल्पज्ञानसे तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह निर्विकल्पकी वार्तासे भी अनभिज्ञ (अनजान) है। तथा अनुभवरूप निर्विकल्प प्रत्यक्षसे भी उन दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय किया नहीं जा सकता; क्योंकि अनुभव विकल्पके अगोचर है, अर्थात् उसका विषय नहीं है। और उन दोनों

१. सविकल्पे निर्विकल्पस्याकारनिराकरणेन। २. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। ३. युगपद्-वृत्तेस्तयोरेकत्वाध्यवसाय इति चेत्तर्हि दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकस्याप्यभेदाध्यवसायः स्यात्। ४. क्रमवत्त्वेऽपि। ५. निर्विकल्प-सविकल्पयोः। ६. लघुवृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये खररटितमित्यादावप्यभेदाध्यवसायः स्यादिति। ७. निश्चयः। ८. भो जैन, कथं निरस्तम्? निर्विकल्पकादेव सविकल्पकं जायते, तस्मादेकत्वाध्यवसायः। भो बौद्ध, तदेकेन निश्चितं किमध्यवस्यति? तदेव वक्तव्यम्। ९. युगपद् वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा तदेकत्वाध्यवसायस्यापि। १०. ज्ञानेन। ११. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। १२. निश्चयः। १३. विकल्पज्ञानस्य। १४. प्रत्यक्षेण निर्विकल्पज्ञानेन। १५ विकल्पोऽगोचरो यस्य सः। १६. तदुभयमविषयो यस्य ज्ञानान्तरस्य। १७. ज्ञानान्तरं निर्विकल्पसविकल्पकविषयम्। १८. निर्विकल्प-सविकल्पकयोः। १९. रसनेन्द्रियस्य रूपग्रहणप्रसङ्गः। २०. केनचिदपि प्रमाणेन तदेकत्वाध्यवसायस्य ग्रहणं न भवति यतः। २१. परस्परासम्बद्धपरमाणूनाम्।

विषविशेषावभासः । नाप्यनुमानबुद्धौ[1]; [2]तदविनाभूतस्वभावकार्यलिङ्गाभावात् । [3]अनुपलम्भोऽसिद्ध एव; अनुवृत्ताकारस्य[4] स्थूलाकारस्य[5] [6]चोपलब्धेरुक्तत्वात् ।

यदपि [7]परमाणूनामेकदेशेन सर्वात्मना वा सम्बन्धो नोपपद्यत [8]इति' [9]तत्रानभ्युपगम एव परिहारः; स्निग्धरूक्षाणां[10] सजातीयानां विजातीयानां च [11]द्व्यधिकगुणानां कथञ्चित्स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य सम्बन्धस्याभ्युपगमात् ।

को ही विषय नहीं करनेवाला ऐसा कोई अन्य ज्ञान उन दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय करनेमें समर्थ नहीं है; अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा। अर्थात् फिर रसनेन्द्रियके द्वारा रूपके जाननेका भी प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इसलिए यह मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष-ज्ञानमें उस प्रकारके परस्पर असम्बद्ध परमाणुरूप विशेष प्रतिभासित नहीं होते। और, न अनुमान-ज्ञानमें भी उनका प्रतिभास होता है; क्योंकि परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंके अविनाभावी स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्गका अभाव है। तीसरा अनुपलम्भरूप हेतु तो असिद्ध ही है। अर्थात् यदि यह कहा जाय कि स्थिर-स्थूल-साधारणाकारवाले पदार्थके नहीं पाये जानेसे परमाणुरूप विशेष ही तत्त्व है, सो यह कथन भी असिद्ध है; क्योंकि अन्वयरूप अनुवृत्त आकारकी और स्थूल आकारकी उपलब्धि प्रत्यक्षसे होती है, यह कहा ही जा चुका है।

और भी जो बौद्धोंने कहा था कि परमाणुओंका एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे सम्बन्ध नहीं बन सकता है, सो इस विषयमें वैसा नहीं मानना ही हमारा परिहार है; क्योंकि हम जैन लोग तो स्निग्ध-रूक्ष, सजातीय और विजातीय दो अधिक गुणवाले परमाणुओंका कथञ्चित् स्कन्धके आकारसे परिणत होनेरूप सम्बन्धको मानते हैं।

भावार्थ—परमाणुओंमें कुछ स्निग्ध गुणवाले परमाणु होते हैं और कुछ

---

१. परस्परासम्बद्धपरमाणूनामवभासः । २. परस्परासम्बद्धपरमाण्वविनाभूत- । ३. विशेषा एव तत्त्वं स्थिरस्थूलसाधारणाद्याकारानुपलब्धेः स्थिरादीनामनुपलब्धिरेवासिद्धा । ४. प्रत्यक्षाकारेण सामान्यादेः । ५. विशेषाकारस्य । ६. यद्यनुवृत्ताकारस्य स्थूलाकारस्यानुपलम्भबलेनानुपलब्धिः स्यात्तदा निरंशपरमाणूनां सिद्धिः स्यात् नान्यथा । प्रत्यक्षेण हि स्थूलाद्याकारस्य प्रतीतेः ।

७. उक्तम् । ८. एकदेशेन सर्वात्मना वा परमाणूनां सम्बन्धानुपपद्यमाने । ९. जैनानामनङ्गीकार एव विकल्पद्वयस्य । स्याद्वादिनां तथा अभ्युपगमो नास्ति । १०. न जघन्यगुणानाम् । ११. णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥१॥ स्निग्धमेकं रूक्षद्वयम् । एकस्य

यच्चावयविनि वृत्तिविकल्पादि बाधकमुक्तम्; 'तत्रावयविनो[1] वृत्तिरेव यदि नोपपद्यते; तदा न वर्तत इत्यभिधातव्यम्। नैकदेशादिविकल्पस्तस्य[3] [4]विशेषान्तरीयकत्वात्[5]। तथाहि—'नैकदेशेन वर्तते, नापि[6] सर्वात्मना' इत्युक्ते [7]प्रकारान्तरेण 'वृत्तिःरित्यभिहितं स्यात्। अन्यथा न[8] वर्तत इत्येव [10]वक्तव्यमिति विशेषप्रतिषेधस्य[11] शेषाभ्य-

रूक्ष गुणवाले। एक रूक्ष गुणवाले परमाणुका एक स्निग्ध गुणवाले या रूक्ष गुणवाले परमाणुके साथ सम्बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार दो स्निग्ध या रूक्ष गुणवाले परमाणुका भी परस्परमें सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु तीन गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका पाँच गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी बन्धका नियम जानना चाहिए। इसलिए बौद्धोंके द्वारा दिये गये षडंश आपत्तिरूप या एक परमाणुमात्रताकी प्राप्तिरूप कोई भी दोष जैनोंकी मान्यतामें नहीं आता है।

और जो बौद्धोंने अवयवीमें अवयवोंके वृत्तिविकल्प आदिके रूपमें बाधक दूषण कहे हैं, सो इस विषयमें अवयवीकी वृत्ति ही यदि अवयवोंमें नहीं बनती है, तो अवयवी अवयवोंमें रहता ही नहीं है, ऐसा कहना चाहिए। एकदेशसे रहता है अथवा सर्वदेशसे रहता है, इत्यादि विकल्प नहीं कहना चाहिए; क्योंकि एकदेशादि विकल्पके तो अन्य विकल्प-विशेषके साथ अविनाभावपना पाया जाता है। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—अवयवी अवयवोंमें न एकदेशसे रहता है और न सर्वदेशसे रहता है, ऐसा कहनेपर अन्य प्रकारसे रहता है, ऐसा कहा गया समझना चाहिए। अर्थात् कथञ्चित् एकदेशसे और कथञ्चित् सर्वदेशसे रहता है। इस प्रकार अवयव और अवयवीमें कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्ध हम जैन लोग मानते हैं। अन्यथा यदि ऐसा न माना जाय, तो अवयवोंमें अवयवी सर्वथा रहता ही नहीं है, ऐसा ही कहना चाहिए; क्योंकि विशेषका प्रतिषेध शेषके अङ्गीकाररूप होता

परमाणोर्गुणाद् द्वितीयस्य गुणो द्विगुणस्तस्मात्तेनैकेन सह तस्यैकस्य सम्बन्धः, द्वयोः परमाण्वोः गुणाभ्यां चतुर्गुणाश्चतुर्गुणास्तयोस्तैः सह संयोगः। द्वौ अधिकौ गुणौ येषां तेषाम्। १. अवयवेषु। २. भो बौद्ध, त्वया प्रकारान्तरेणावयविनो वृत्तिमङ्गीकृत्य एकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पः कर्तव्यः। अथवा नास्तीति विधातव्यः, तथापि वक्तुं न पार्यते, यतः प्रत्यक्षेणावयविनो वृत्तिदर्शनात्। ३. एकदेशादिविकल्पस्य। ४. एकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पद्वयातिरिक्तविशेषः। ५. वृत्तिविशेषाविनाभावरूपत्वात्। ६. एतदेव विवृणोति। ७. तादात्म्येन। कथञ्चिदेकदेशेन कथञ्चित्सर्वात्मना। ८. अवयवेषु अवयवी वर्तते। ९. यद्यवयवेष्ववयविनां सर्वथा वृत्तिर्नास्ति। १०. किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र प्रवर्तते। सर्वविप्रतिपत्तौ तु कश्चिन्नास्ति विचारणा ॥ १ ॥ ११. विकल्पद्वयरूपेण एकदेशेन सर्वात्मना वा तयोः प्रतिषेधस्य।

नुशानरूपत्वात्[१] कथञ्चित्तादात्म्यरूपेण वृत्तिरित्यवसीयते; तत्र[२] [३]यथोक्तदोषाणामनवकाशात्। विरोधादिदोषश्चाग्रे प्रतिषेत्स्यत इति नेह प्रतन्यते।

यच्चैकक्षणस्थायित्वे[४] साधनम्[५]—'यो यद्भावं प्रतीत्यानुक्तम्', तदप्यसाधनम्; असिद्धादिदोषदुष्टत्वात्। [६]तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्,[७] घटाद्यभावस्य मुद्गरादिव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कारणत्वोपपत्तेः[८]। [९]कपालादिपर्यायान्तरभावो[१०] हि घटादेरभावः;[११] तुच्छाभावस्य[१२] सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तरूपत्वात्।

है, इसलिए कथञ्चित् तादात्म्यरूपसे अवयवीकी अवयवोंमें वृत्ति है, ऐसा निश्चय करनेमें आता है। और अवयवीके अवयवोंमें कथञ्चित् तादात्म्यरूपसे रहनेमें आपके द्वारा ऊपर कहे गये दोषोंको अवकाश भी नहीं है। और विरोधादि दोषोंकी जो सम्भावना की जाती है, उसका आगे निषेध किया जायगा; इसलिए उनका यहाँपर विस्तार नहीं करते हैं।

और जो आप बौद्धोंने पदार्थोंके (परमाणुओंके) एक क्षण स्थायी रहनेमें साधन (हेतु) कहा है कि जो जिस भावके प्रति अन्यकी अपेक्षारहित है, वह विनाशस्वभावी है, वह भी असाधन (अहेतु) है; क्योंकि वह असिद्ध आदि दोषोंसे दूषित है। उस अनुमानमें अन्यानपेक्षत्वरूप जो हेतु कहा है, वह असिद्ध है, क्योंकि घट आदिके अभावका मुद्गर आदिके व्यापारके साथ अन्वय-व्यतिरेकपना पाये जानेसे विनाशके प्रति मुद्गरादिके व्यापारकी कारणता बन जाती है। अर्थात् मुद्गरादिके प्रहार-द्वारा घटादिका विनाश देखा जाता है और मुद्गरादिके प्रहारके अभावमें घटादिका विनाश नहीं देखा जाता है, अतः यह सिद्ध होता है कि घटादिके विनाशमें मुद्गरादिके प्रहारका कारणपना है। यदि कहा जाय कि मुद्गरादिका प्रहार तो कपाल आदिकी उत्पत्तिमें कारण है, घटके अभावमें कारण नहीं; सो ऐसा कहनेवालोंसे जैनोंका कहना है कि कपाल आदि अन्य पर्यायका होना ही घट आदिका

---

१. यदवयवेष्ववयविनां सर्वात्मनैकदेशेन वा वृत्तिप्रतिषेधो विधीयते, तेन तदतिरिक्ततादात्म्यरूपा वृत्तिः सिद्धा भवति, तदङ्गीकरणात्। २. तादात्म्यरूपेण वृत्तौ। ३. एकदेशेन संशयत्वमित्यादिदोषाणाम्। ४. साध्ये। ५. विनाशभावित्वं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति साधनम्। ६. अनुमाने। ७. घटविनाशो हि मुद्गरादिना भवति, अतो घटविनाशे मुद्गराद्यपेक्षासम्भवाद्विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षणादिति साधनं स्वरूपासिद्धं स्वरूपेणैवास्य हेतोर्घटविनाशेऽनुपलम्भादिति। ८. तस्य विनाशस्य तत्कारणत्वस्य मुद्गरादिकारणत्वस्योपपत्तेः। ९. ननु कपालादेरुत्पत्तिं प्रति मुद्गरादेर्व्यापारः, न त्वभावं प्रतीत्याशङ्कायाऽऽह। १०. प्राप्तिः। ११. किमर्थम्? १२. अत्यन्ताभावस्य निःस्वभावस्य।

किञ्च[1]—अभावो यदि स्वतन्त्रो[2] भवेत्तदाऽन्यानपेक्षत्वं [3]विशेषणं युक्तम्। न च सौगतमते [4]सोऽस्तीति [5]हेतुप्रयोगानवतार एव। [6]अनैकान्तिकं चेदम्; शालिबीजस्य कोद्रवाङ्कुरजननं प्रति [7]अन्यानपेक्षत्वेऽपि [8]तज्जननस्वभावानियतत्वात्। तत्स्वभावत्वे[9] सतीति विशेषणान्न दोष इति चेन्न; सर्वथा पदार्थानां [10]विनाशस्वभावासिद्धेः। [11]पर्याय-

अभाव कहलाता है; निःस्वभावरूप जो तुच्छाभाव है, वह तो सकल प्रमाणों के विषयसे अतिक्रान्तरूप है, अर्थात् तुच्छाभावरूप अभाव किसी भी प्रमाण-का विषय नहीं है, इसलिए उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि अभाव यदि स्वतन्त्र पदार्थ होता; तब अन्यान-पेक्षत्व यह हेतुका विशेषण देना युक्त था; किन्तु बौद्धमतमें अभाव नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना गया है, इसलिए विनाशके प्रति अन्यकी अन-पेक्षता रूप हेतुके प्रयोगका अवतार ही नहीं हो सकता है, फिर उससे आपके अभीष्ट साध्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है। और, आपका यह हेतु अनैकान्तिक भी है, क्योंकि शालि (धान्य) के बीज यद्यपि कोदोंके अंकुर उत्पन्न करनेके प्रति अन्यकी अपेक्षा-रहित हैं, तथापि कोदोंके अंकुर उत्पन्न करनेके स्वभावमें नियमरूप नहीं हैं, अर्थात् शालि बीज कोदोंके अंकुर उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है, अतः साध्यके अभावमें भी साधनके सद्भाव होनेसे आपका हेतु अनैकान्तिक है। यदि कहा जाय कि 'तत्स्वभावत्वे सति' अर्थात् विनाशस्वभाववाला होनेपर ऐसा विशेषण अन्यानपेक्षत्व हेतुका कर देनेपर कोई उक्त दोष नहीं रहेगा, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थों-का सर्वथा विनाश स्वभाव असिद्ध है। हम जैन लोग पर्यायरूपसे ही पदार्थों

१. प्रकारान्तरेण दूषयति। २. कारणनिरपेक्षः। ३. हेतोः। ४. स्वतन्त्ररूपोऽभावः। ५. विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादस्य हेतोरनवतारः अनुपपत्तिरेव। विनाशस्वभावस्वाभावेऽन्यानपेक्षत्वमपि नोपपद्यते, ततो विनाशस्वभावत्वं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति हेतुरेव न स्यात्तदभावे च कथं साध्यसिद्धिरिति भावः। ६. शालिबीजं हि कोद्रवाङ्कुरजननं प्रत्यन्यानपेक्षम्, परन्तु शालिबीजे कोद्रवाङ्कुरजननसामर्थ्यं नास्ति, अतः साध्याभावेऽपि साधनसद्भावादनैकान्तिकोऽयं हेतुः। ७. न हि शालिबीजं कोद्रवाङ्कुरजननं प्रत्यन्यमपेक्षते, तस्य तज्जननसामर्थ्याभावात्। ८. कोद्रवाङ्कुर। ९. बौद्धः प्राह—सर्वे भावाः विनाशस्वभावनियताः, तत्स्वभावत्वे सति तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादित्यनुमाने कृते नोक्तदोष इति। १०. न हि पदार्थानां सर्वथा विनाशस्वभावत्वं सम्भवति, तदसम्भवे च पूर्वोक्तदोषः तदवस्थ एवेति भावः। ११. पर्यायार्थिकनयेन, पर्यायो विशेषोऽस्तीति मतिरस्यासौ पर्यायार्थिकनयस्तेन।

रूपेणैव हि [1]भावानामुत्पादविनाशावङ्गीक्रियेते, न द्रव्यरूपेण[2] ।

> [3]समुदेति विलयमृच्छति[4] भावो नियमेन पर्ययनयस्य[5] ।
> नोदेति नो विनश्यति [6]भावनयालिङ्गितो नित्यम् ॥३७ ॥

इति वचनात् ।

न हि निरन्वयविनाशे[7] पूर्वक्षणस्य ततो[8] मृताच्छिखिनः केकायितस्यैवोत्तरक्षणस्यो-त्पत्तिर्घटते । द्रव्यरूपेण कथञ्चिदत्यक्तरूपस्यापि[9] सम्भवात्[10] न सर्वथा भावानां विनाश-स्वभावत्वं युक्तम् । न च द्रव्यरूपस्य[11] ग्रहीतुमशक्यत्वादभावः; [12]तद्ग्रहणोपायस्य[13] [14]प्रत्यभिज्ञानस्य [15]बहुलमुपलम्भात् । [16]तत्प्रामाण्यस्य[17] च [18]प्रागेवोक्तत्वात्, उत्तरकार्यो-त्पत्त्यन्यथानुपपत्तेश्च[19] सिद्धत्वात् ।

का उत्पाद और विनाश अङ्गीकार करते हैं, द्रव्यरूपसे नहीं । क्योंकि—

पर्यायार्थिकनयके नियमसे पदार्थ उत्पन्न होता है और विलय (विनाश) को प्राप्त होता है । किन्तु द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है, किन्तु नित्य ही रहता है ॥३७॥

ऐसा आगमका वचन है । पूर्व क्षणका निरन्वय अर्थात् पूर्वापर सम्बन्ध-रहित सर्वथा विनाश माननेपर उससे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, जैसे कि मरे हुए मयूरसे केका अर्थात् उसकी बोली नहीं उत्पन्न हो सकती है । इसलिए पदार्थोंको सर्वथा विनाशस्वभावी मानना ठीक नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपसे कथञ्चित् पूर्वरूपका परित्याग नहीं करना ही वस्तुका स्वरूप सम्भव है और यही मानना युक्तिसङ्गत है । यदि कहा जाय कि नित्य रूप द्रव्यके स्वरूपका ग्रहण करना अशक्य होनेसे उसका अभाव है, सो कह नहीं सकते; क्योंकि द्रव्यके नित्यस्वरूपके ग्रहण करनेका उपायभूत प्रत्यभिज्ञान प्रमाण बहुलतासे पाया जाता है । अर्थात् यह वही घट है, जिसे मैंने वर्षभर पहले देखा था, अथवा यह वही युवा पुरुष है, जिसे मैंने बचपनमें देखा था, इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे द्रव्यकी नित्यता ग्रहण करनेमें आती है । और प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता पहले ही तीसरे अध्यायमें उसके निरूपणके

---

१. पदार्थानाम् । २. द्रव्यार्थिकनयेन, द्रव्यं सामान्यमस्तीति मतिरस्यासौ द्रव्यार्थिकनयस्तेन । ३. उत्पद्यते । ४. विनश्यति । ५. पर्यायार्थिकनयस्य । ६. द्रव्यार्थिकनयेन । वक्तुरभिप्रायो नयः । द्रव्यनयालिङ्गितः ७. निःसन्तानः अत्यन्ताभावः इत्यर्थः । साकल्येन द्रव्यरूपेण पर्यायरूपेण वा । ८. पूर्वक्षणात् । ९. पदार्थस्य । १०. घटादेः कपालादेः । ११. द्रव्यस्य स्थिराद्याकारो गृह्यते । ननु द्रव्यरूपं तदेवमनित्य-मिति चेन्न, इत्याह । १२. बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । १३. द्रव्यरूपग्रहणोपायस्य । १४. स एवायं घटो यं पूर्वमपश्यमित्यादिप्रत्यभिज्ञानस्य । बाल वृद्ध युवेति प्रत्यभिज्ञानेनानुवृत्ताकारं द्रव्यं व्यावृत्ताकारः पर्यायः । १५. तदेवेदं अन्वयं द्रव्यं साम्प्रतम् । १६. प्रत्यभिज्ञान- । १७. तेन ग्रहणं तत्प्रामाण्यं कथमित्युक्ते आह । १८. तृतीयाध्याये दर्शनस्मरणकारणकमित्यादिप्रस्तावे । १९. यदि वस्तु द्रव्यरूपेणान्वितं न

यच्चान्यत्साधनं[1] सत्त्वाख्यं[2] तदपि[3] विपक्षवत्स्वपक्षेऽपि[4] समानत्वान्न साध्यसिद्धिनिबन्धनम्। तथाहि[6]—सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्याम् ते[7] च क्षणिकान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्तेते। सा[8] च निवर्तमाना स्वव्याप्यसत्त्वमिति[9] नित्यस्येव क्षणिकस्यापि खरविषाणवदसत्त्वमिति न तत्र[10] सत्त्वव्यवस्था। न च क्षणिकस्य वस्तुनः क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधोऽसिद्धः; [11]तस्य देशकृतस्य कालकृतस्य वा क्रमस्यासम्भवात्। [12]अवस्थितस्यैकस्य हि नानादेशकालकला[13]-व्यापित्वं देशक्रमः[14] [15]कालक्रमश्चाभिधीयते। न च क्षणिके [16]सोऽस्ति।

स्थलपर कही जा चुकी है। और, यदि वस्तु द्रव्यरूपसे समन्वित न हो, तो उत्तर कार्यकी उत्पत्ति कभी हो नहीं सकती है, इस अन्यथानुपपत्तिसे भी द्रव्यकी नित्यता सिद्ध है।

और जो पदार्थोंके क्षणिकपना सिद्ध करनेके लिए सत्त्व नामका अन्य हेतु कहा है, वह भी विपक्ष जो नित्य उसके समान स्वपक्ष क्षणिकमें भी समान होनेसे साध्यकी सिद्धिमें कारण नहीं है। आगे यही बात स्पष्ट करते हैं—सत्त्व अर्थ क्रियासे व्याप्त है और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्यसे व्याप्त है। वे क्रम और यौगपद्य दोनों ही क्षणिकसे निवृत्त होते हुए स्वव्याप्य अर्थक्रियाको लेकर निवृत्त होते हैं और वह अर्थक्रिया निवृत्त होती हुई स्वव्याप्य सत्त्वको लेकर निवृत्त होती है। इस प्रकार नित्यके समान क्षणिक पदार्थका भी खर-विषाणवत् असत्त्व सिद्ध है, अतएव क्षणिक पक्षमें भी सत्त्वकी व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है। और क्षणिक वस्तुका क्रम तथा यौगपद्यसे अर्थक्रियाका विरोध असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि क्षणिक वस्तुके देशकृत अथवा कालकृत क्रमका होना असम्भव है। अवस्थित एक पदार्थके नाना देशमें व्याप्त होकर रहनेको देशक्रम और नानाकाल कलाओंमें व्याप्त होकर रहनेको कालक्रम कहते हैं। सो ऐसा देशक्रम अथवा कालक्रम क्षणिक पदार्थमें सम्भव नहीं है। क्योंकि—

स्यात्तदोत्तरकार्योत्पत्तिरपि न स्यादित्यन्यथानुपपद्यमानोत्तरकार्योत्पत्तेः द्रव्यरूपस्य सिद्धिः।

१. सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वादित्यत्र। २. साधनम्। ३. नित्यवत्। ४. क्षणिकपक्षेऽपि नास्ति। यथा विपक्षे सत्त्वं नास्ति, तथा स्वपक्षेऽपीत्यर्थः। ५. नित्ये क्रम यौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न सम्भवति, क्रम यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावाच्च तत्सत्त्वाभावः, तत्सत्त्वाभावे च तदभावस्तथाऽनित्येऽपीति समानम्। ६. एतदेव विवृणोति। ७. क्रम-यौगपद्ये च। ८. अर्थक्रिया। ९. आदाय निवर्तते। १०. क्षणिकवस्तुनि। ११. क्रमस्येति सम्बन्धः। १२ अक्षणिकस्य। १३. अंशाः। १४. अवस्थितस्यैकस्य नानादेशव्यापित्वं देशक्रमः। १५. अवस्थितस्यैकस्य कालकलाव्यापित्वं कालक्रमः १६. देशक्रमः कालक्रमो वा।

यो[1] यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावाना[2]मिह[3] विद्यते ॥३८॥

इति[4] स्वयमेवाभिधानात् ।

न च पूर्वोत्तरक्षणानामेकसन्तानापेक्षया क्रमःसम्भवति; सन्तानस्य [5]वास्तवत्वे तस्यापि[6] क्षणिकत्वेन [7]क्रमायोगात् । [8]अक्षणिकत्वेऽपि वास्तवत्वे तेनैव[9] सत्त्वादिसाधनमनैकान्तिकम्[10] । [11]अवास्तवत्वे न तदपेक्षः[12] क्रमो युक्त[13] इति । नापि यौगपद्येन [14]तत्रार्थक्रिया सम्भवति; युगपदेकेन[15] स्वभावेन [16]नानाकार्यकरणे तत्कार्यैकत्वं[17] स्यात् । नानास्व-

जो पदार्थ जिस देशमें उत्पन्न हुआ है, वह वहीं विनष्ट होता है और जो पदार्थ जिस कालमें उत्पन्न हुआ है, वह भी उसी समय विनाशको प्राप्त होता है । इसलिए पदार्थोंकी इस क्षणिक पक्षमें देशक्रम और कालक्रम की अपेक्षा देश और कालकी व्याप्ति नहीं है ॥३८॥

ऐसा स्वयं ही बौद्धोंने कहा है ।

यदि कहें कि पूर्व और उत्तर कालवर्ती क्षणोंका एक सन्तानकी अपेक्षा क्रम सम्भव है, सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह सन्तान वास्तविक है, अथवा अवास्तविक है, ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । सन्तानको वास्तविक माननेपर उसके भी क्षणिक होनेसे क्रम नहीं बनता है । और उसे अक्षणिक (नित्य) मान करके भी वास्तविक माननेपर उस सन्तानके द्वारा ही सत्त्वादि हेतु अनैकान्तिक हो जाते हैं । यदि उस सन्तानको अवास्तविक मानते हैं तो उस सन्तानकी अपेक्षा क्रम युक्ति-युक्त नहीं सिद्ध होता है, अन्यथा खर-विषाणादिके भी क्रम मानना पड़ेगा । और, यौगपद्यसे भी क्षणिक पदार्थमें

१. यो भावो यस्मिन् क्षेत्र उत्पद्यते स तत्रैव विनश्यति, यो यस्मिन् काले समुत्पद्यते स तस्मिन्नेव काले विनाशं याति । तस्माद् भावानामिह देश-कालक्रमापेक्षया देशकालयोर्व्याप्तिर्नास्ति । २. पदार्थानाम् । ३. जगति । ४. सौगतैः ।

५. वस्तुत्वे । कार्यकारणभावप्रबन्धेन प्रवर्तमानाः पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशरारवः प्रतिक्षणं विनश्यमानाः अपरामृष्टभेदाभेदसहितास्तथाप्यभेदे दृश्यमानाः सन्तानशब्दवाच्याः । सन्तानस्य वास्तवत्वमवास्तवत्वं चेति विकल्पद्वयम् । वास्तवत्वं सन्तानस्यापि क्षणिकत्वमक्षणिकत्वं वेति विकल्पद्वयम् । तत्र प्रथमपक्षे क्रियमाणे दूषयति । ६. सन्तानस्यापि । ७. यो यत्रैव स तत्रैवेत्यादि वचनात् । ८. सन्तानस्य नित्यत्वेऽपि । ९. सन्तानेनैव ।

१०. व्यभिचारी, अक्षणिकेऽपि विद्यमानत्वात् । सत्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षे सत्त्वेऽपि साध्यविरुद्धविपक्षनित्यसन्ताने वर्तमानात्तेन सन्तानेन व्यभिचारः । ११. सन्तानस्य । १२. सन्तानापेक्षः । १३. खरविषाणादेरपि प्रसङ्गात् । १४. क्षणिके । १५. एकेन स्वभावेन युगपत् क्रियां करोति, अनेकेन वा स्वभावेनेति विकल्पद्वयम् । १६. क्षणिकस्य । १७. क्षणिकस्य कार्यस्यैकत्वं तस्य दीपक्षणवत्साङ्कर्यम् ।

भावकल्पनायां ते स्वभावास्तेन[1] व्यापनीयाः। तत्रैकेन[2] स्वभावेन[3] [4]तद्व्याप्तौ [5]तेषामेकरूपता[6]। नानास्वभावेन चेदनवस्था[7]। [8]अथैकत्रै[9][10]कस्योपादानभाव एवान्यत्र[11] सहकारिभाव इति न [12]स्वभावभेद इष्यते, [13]तर्हि नित्यस्यैकस्यापि वस्तुनः क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं[14] वा माभूत्। [15]अक्रमात्[16] [17]क्रमिणामनुत्पत्तेर्नैवमिति[18] चेदेकानंश[19]कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरोधादक्रमिणोऽपि[20] न क्षणिकस्य कार्यकारित्वमिति।

अर्थक्रिया सम्भव नहीं है; क्योंकि इस विषयमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—युगपत् एक स्वभावसे क्रिया करता है कि नानास्वभावसे क्रिया करता है? युगपत् एक स्वभावसे नाना कार्य करनेपर उन कार्योंके एकपना सिद्ध होता है। नाना स्वभावसे क्रिया करता है ऐसी कल्पना करनेपर वे स्वभाव उस क्षणिक वस्तुके साथ व्याप्त होकर रहने चाहिए। सो इसमें भी पुनः दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—कि वे एक स्वभावसे क्षणिक वस्तुमें व्याप्त होकर रहते हैं, अथवा नाना स्वभावसे व्याप्त होकर रहते हैं? उनमें एक स्वभावसे क्षणिक पदार्थके साथ नाना स्वभावोंकी व्याप्ति माननेपर उन नाना स्वभावोंके एकरूपताकी आपत्ति प्राप्त होती है। और यदि नाना स्वभावसे क्षणिक पदार्थके साथ नाना स्वभावोंकी व्याप्ति मानते हैं, तो उनकी भी अन्य नाना स्वभावोंसे व्याप्ति माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यदि कहें कि एक पूर्व-रूप क्षणमें एक उत्तर क्षणका उपादानभाव ही अन्य रसक्षणादिमें सहकारि भाव है, इसलिए हम बौद्ध लोग क्षणिक वस्तुमें स्वभाव-भेद नहीं मानते हैं; तो फिर नित्य भी एक ही वस्तुके क्रमसे नाना कार्य करनेपर स्वभाव-भेद या युगपत् अनेक कार्यकी प्राप्तिरूप कार्यसाङ्कर्य भी नहीं मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि अक्रमरूप नित्यपदार्थसे क्रमवाले कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो

---

१. क्षणिकेन वस्तुना कर्त्रा। २. क्षणिकैकान्तेन स्वभावेनानेकस्वभावैर्वा व्याप्नोति। ३. क्षणिकेन नानास्वभावानाम्। ४. क्षणिकेन। ५. नानास्वभावानाम्। ६. स्वभावानामेकस्वभावतया कार्याणां साङ्कर्यम्। ७. नानास्वभावेन नानास्वभावानां व्याप्तिश्चेत्तेऽपि नानास्वभावाः केन व्यापनीयाः? अपरनानास्वभाववेन चेदनवस्था, अपरापरनानास्वभावपरिकल्पनात्। ८. बौद्धः प्राह। ९. रूपक्षणादौ। १०. रूपक्षणादेः। ११. रसक्षणादौ। १२. क्षणिकवस्तुनि। १३. एकस्य क्षणस्यैकत्रोपादानभावेऽन्यत्र सहकारिभावे सत्यपि स्वभावभेदाभावात्। १४. युगपदनेककार्याणां सम्प्राप्तिः कार्यसाङ्कर्यम्। १५. बौद्धोद्भावितं दूषणं माऽस्तु। १६. नित्यात्। १७. कार्याणाम्। १८. न दोषाभावोऽपि तु दोषा एवेति भावः। १९. क्षणिकात्। २०. युगपदपि।

किञ्च—[1]भवत्पक्षे सतोऽसतो[2] वा कार्यकारित्वम्? सतः[3] कार्यकर्तृत्वे सकलकाल-कलाव्यापि[4]क्षणानामेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गः[5]। द्वितीयपक्षे खरविषाणादेरपि कार्यकारित्वम्, असत्त्वाविशेषात्। सत्त्वलक्षणस्य[6] व्यभिचारश्च[7]। [8]तस्मान्न विशेषैकान्तपक्षः श्रेयान्।

नापि सामान्यविशेषौ [9]परस्परानपेक्षाविति यौगमतमपि युक्तियुक्तमवभाति, [10]तयोरन्योन्य[11]भेदे [12]द्वयोरन्यतरस्यापि[13] व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तथाहि—[14]विशेषास्तावद्

सकती है, इसलिए दोषका अभाव नहीं होता, अपितु दोष बना ही रहता है, तो हम भी कहते हैं कि एक निरंश क्षणिकरूप कारणसे युगपत् अनेक कारण-साध्य अनेक कार्योंके होनेका विरोध है, अतः अक्रमसे भी क्षणिक पदार्थके कार्यकारीपना नहीं बनता है, यह सिद्ध हुआ।

दूसरी विशेष बात हम आप बौद्धोंसे पूछते हैं कि आपके क्षणिक-पक्षमें सत्के कार्यकारीपना माना है, अथवा असत्के। सत्के कार्यकारीपना माननेपर कालकी समस्त कलाओंमें व्याप्त होकर रहनेवाले अनेक क्षणरूप कार्योंके एक क्षणवर्तीपनेका प्रसङ्ग आता है। असत् रूप द्वितीय पक्षके मानने पर खरविषाणादिके भी कार्यकारीपना प्राप्त होता है; क्योंकि असत्‌पना उसमें भी समान है। और जब आप बौद्धोंने सत्त्वका लक्षण अर्थक्रियाकारी-पना माना है, तब असत्के कार्यकारीपना माननेपर उसमें व्यभिचार दोष आता है। इसलिए अनित्य, निरंश और परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंके कार्य-कारीपना न बननेसे विशेषैकान्त पक्ष भी श्रेष्ठ नहीं है। इस प्रकार केवल विशेषको ही प्रमाणका विषय माननेवाले बौद्धोंके विशेषैकान्तपक्षका निरा-करण किया।

यौगलोग परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषको ही प्रमाणका विषय मानते हैं, सो यह यौगमत भी युक्ति-सङ्गत नहीं प्रतिभासित होता है; क्योंकि सामान्य और विशेषके परस्पर भेद माननेपर उन दोनोंमेंसे किसी एककी भी व्यवस्था नहीं की जा सकती है। आगे इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

१. बौद्धपक्षे—क्षणिकपक्षे। २. क्षणिकस्य पदार्थस्य। ३. सतः कार्यस्य। ४. कार्याणाम्। ५. एककार्यवृत्तिप्रसङ्गः। ६. यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्। ७ सत्त्वस्य यदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं तस्यासत्त्वेऽपि सम्भवात् सत्त्वलक्षणं व्यभिचारीति भावः। असत्त्वेऽपि अर्थक्रियाया घटनात्। ८. अनित्यनिरंशपरस्परासम्बद्धपरमाणूनां कार्यकारित्वाभावात्। ९. परस्परनिरपेक्षौ। १०. निरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोः। ११. परस्परम्। १२. मध्ये। १३. केवलं सामान्यस्य विशेषस्य वा। १४. सामान्या-धारभूता व्यक्तयोऽत्र विशेषशब्देन गृह्यन्ते, न तु नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्यविशेषाः।

द्रव्यगुणकर्मात्मानः,[1] सामान्यं तु [2]परापरभेदाद् द्विविधम्। तत्र [3]परसामान्यात्सत्ता-लक्षणाद्विशेषाणां[4] भेदे[5]ऽसत्त्वापत्तिरिति। तथा च प्रयोगः—द्रव्यगुणकर्माण्यसद्रूपाणि, सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वात्[6] प्रागभावादिवदिति। न सामान्यविशेषसमवायैर्व्यभिचारः[8] तत्र[9] स्वरूपसत्त्वस्याभिन्नस्य [10]परैरभ्युपगमात्।

विशेष तो द्रव्य, गुण और कर्मस्वरूप हैं और सामान्य पर और अपरके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे सत्तालक्षणवाले पर-सामान्यसे विशेषोंके सर्वथा भेद माननेपर उनके असत्त्वकी आपत्ति आती है। इसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ असद्-रूप हैं; क्योंकि वे सत्त्वसे अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे कि प्रागभाव आदिक सत्त्वसे अत्यन्त भिन्न हैं। 'सत्त्वसे अत्यन्त भिन्न हैं' इस हेतुमें सामान्य, विशेष और समवायसे व्यभिचार नहीं आता है; क्योंकि उनमें अभिन्न-स्वरूप सत्त्वको यौगोंने माना है।

---

१. द्रव्यं गुणः कर्म चात्मा स्वरूपं येषां ते द्रव्यगुणकर्मात्मानः। द्रव्यत्वस्वभावसामान्यसम्बन्धाद् द्रव्यम्। नवविधं द्रव्यम्। चतुर्विंशतिः गुणाः। पञ्चविधं कर्म। २. नित्यत्वे सत्येकसमवेतत्वं सामान्यम्। अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्ति, अत उक्तं नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगन-परिमाणादीनामप्यस्ति, अत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽ-प्यस्ति, अतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्। ३. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च। द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ १ ॥ परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते। द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ २ ॥ व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च। महद्देशव्यापित्वं परत्वम्। अल्पदेशव्यापित्वमपरत्वमिति। ४. द्वयोर्मध्ये। ५. द्रव्यगुणकर्मात्मनाम्। ६. सर्वथा भेदेऽङ्गीक्रियमाणे। ७. प्रागभावः प्रध्वंसाभावः इतरेतराभावः। अत्यन्ताभावः। क्षीरे दध्यादिकं नास्ति प्रागभावः स उच्यते। नास्ति तथा पयो दध्नि प्रध्वंसस्य तु लक्षणम्। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रति-योगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथेह भूतले घटो नास्तीति। ८. सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादिति हेतोः। सामान्यादित्रयं निःसामान्यं तथापि सद्रूपं तेन सह व्यभिचार इति शङ्का माऽस्तु, इत्यग्रे परिहारे। सामान्यादित्रयस्य सत्तासम्बन्धरहितस्यापि सत्त्वसम्भवात्। ९. सामान्यविशेषसमवायेषु। मया जैनेन सत्त्वमङ्गीकृत्य प्रयोगः कृतः, तथा सत्ताभ्युपगमो भवन्मते वर्तते, तथा सति व्यभिचारो नास्ति। १०. यौगैः।

ननु[1] [2]द्रव्यादीनां [3]प्रमाणोपपन्नत्वे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितो[4] [5]हेतुर्येन हि प्रमाणेन द्रव्यादयो निश्चीयन्ते तेन[6] [7]तत्सत्त्वमपीति[8]। [9]अथ [2]न प्रमाणप्रतिपन्ना द्रव्यादयस्तर्हि[10] हेतो[11]राश्रयासिद्धिरिति' तदयुक्तम्; [12]प्रसङ्गसाधनात्। [13]प्रागभावादौ हि [14]सत्त्वाद् भेदोऽसत्त्वेन [15]व्याप्त उपलभ्यते, ततश्च व्याप्यस्य[16] द्रव्यादावभ्युपगमो [17]व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयक इति प्रसङ्गसाधनेऽस्य[18] दोषस्याभावात्।

यहाँपर यौग कहते हैं कि द्रव्यादिक पदार्थ प्रमाणसे परिगृहीत हैं, अथवा अपरिगृहीत हैं ? यदि द्रव्यादिक प्रमाणसे परिगृहीत हैं तो 'सत्त्वसे अत्यन्त भिन्न है' यह हेतु धर्मीको ग्रहण करनेवाले प्रमाणसे बाधित है, अतः वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि जिस प्रमाणसे द्रव्यादिक निश्चय किये जाते हैं, उसी प्रमाणसे उन द्रव्यादिकोंका सत्त्व भी निश्चय करना चाहिए। यदि दूसरा पक्ष मानें कि द्रव्यादिक प्रमाणसे परिगृहीत नहीं हैं, तो उक्त हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यौगोंका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि यहाँपर हमने प्रसङ्गसाधन किया है। साध्य और साधनमें व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होनेपर व्याप्यकी स्वीकारता व्यापककी स्वीकृतके साथ अविनाभाविनी कही जाय, वहां पर प्रसङ्गसाधन माना जाता है। प्रकृतमें प्रागभाव आदिमें सत्त्वसे जो भेद है, वह असत्त्व से व्याप्त पाया जाता है। इसलिए सत्त्वसे भेदरूप व्याप्यका द्रव्यादिकमें

---

१. यौगः प्राह। २. द्रव्यादयः प्रमाणोपपन्नाः प्रमाणानुपपन्ना वेति विकल्पद्वयमाश्रित्य दूषयति। द्रव्यादीनि प्रमाणेन परिगृहीतानि अपरिगृहीतानि वेति विकल्पद्वयम्। प्रमाणेन परिगृहीतानि चेत्सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादित्ययं हेतुः प्रमाणबाधितः। ३. प्रमाणेन परिगृहीते सति। ४. प्रत्यक्षादिप्रमाणावधृतसाध्याभावो हेतुः कालात्ययापदिष्टः, यतः प्रमाणेन परिगृहीतानि ततः सत्त्वादत्यन्तं भिन्नानि। ५. सत्त्वादत्यन्तं भिन्नत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः। अयं भावः—यतो येन प्रमाणेन द्रव्यादयो गृह्यन्ते तेनैव प्रमाणेन द्रव्यादिसत्त्वमपि गृह्यतामिति प्रमाणबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वाद्धेतोः कालात्ययापदिष्टत्वमिति। ६. प्रमाणेन। ७. द्रव्यादि। ८. निश्चीयतामिति शेषः। ९. यदि। १०. द्रव्यादीनां प्रमाणाप्रतिपन्नत्वात्। ११. पक्षत्वाभावाद् द्रव्याणामभावाद् हेतोरप्रवृत्तिः। १२. परेष्टयाऽनिष्टापादनं प्रसङ्गसाधनम्। साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीयको यत्र कथ्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। १३. दृष्टान्ते। १४. परसत्तातः। १५. यथा कृतकत्वशिंशपात्वयोः अन्वयेन व्यतिरेकोदाहरणार्थं प्रदर्शिता। १६. सत्त्वाद्भेदस्य। १७. असत्त्वं व्यापकः, सत्त्वाद्भेदो व्याप्यः, स च सत्त्वाद्भेदः प्रागभावादावसत्त्वेन व्याप्त उपलब्धः सन् द्रव्यादावसत्त्वं साधयत्येव; व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमानान्तरीयकमिति नियमात्। १८. पूर्वोक्तस्य।

एतेन[1] द्रव्यादीनामप्यद्रव्यादित्वं[2] [3]द्रव्यत्वादेर्भेदे चिन्तितं[4] बोद्धव्यम्। कथं वा षण्णां पदार्थानां परस्परं[5] भेदे [6]प्रतिनियतस्वरूपव्यवस्था[7]? द्रव्यस्य हि द्रव्यमिति व्यपदेशस्य[8] द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्विधाने[9] ततः[10] पूर्वं द्रव्यस्वरूपं किञ्चिद्वाच्यम्[11]; येन[12] सह द्रव्यत्वाभिसम्बन्धः स्यात्? द्रव्यमेव स्वरूपमिति चेन्न; [13]तद्व्यपदेशस्य द्रव्यत्वाभिसम्बन्धनिबन्धनतया स्वरूपत्वायोगात्। सत्त्वं निजं [14]रूपमिति चेन्न; [15]तस्यापि सत्तासम्बन्धा-

जो अङ्गीकार है, वह व्यापक जो असत्त्व उसके अङ्गीकारके साथ अविनाभावी है, इस प्रकार प्रसङ्गसाधन करनेपर आपके द्वारा दिया गया प्रमाणबाधित आदि दोषोंका अभाव है, अर्थात् वह दोष हमें प्राप्त नहीं होता।

इसी कथनसे अर्थात् पर-सामान्यसे विशेषोंके भिन्न माननेपर उनके असत्त्व-समर्थनसे द्रव्य आदिकके भी अद्रव्यत्व आदिपना द्रव्यत्व आदिसे भेद माननेपर विचार कर लिए गये जानना चाहिए। कहनेका भाव यह है कि जब द्रव्यत्व-सामान्यसे द्रव्य सर्वथा भिन्न है, तब उसके अद्रव्यपना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। और जब आप यौग लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छहों पदार्थोंके परस्पर भेद मानते हैं, तब यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, इस प्रकारकी प्रतिनियत स्वरूपवाली व्यवस्था कैसे हो सकेगी। अर्थात् द्रव्यत्वका सम्बन्ध द्रव्योंमें ही हो और गुणादिकमें न हो, ऐसा नियम नहीं बन सकेगा। यदि कहें कि द्रव्यके 'द्रव्य' ऐसा निर्देश द्रव्यत्वके सम्बन्धसे करेंगे तो हम पूछते हैं कि द्रव्यत्वके सम्बन्धसे पहले द्रव्यका क्या स्वरूप था, वह कुछ कहना चाहिए, जिसके कि साथ द्रव्यत्वका सम्बन्ध हो सके। यदि कहें कि द्रव्यका द्रव्य ही स्वरूप है, सो ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि उसका 'द्रव्य' ऐसा नाम तो द्रव्यत्व-सामान्यके सम्बन्धके

१. परसामान्याद्विशेषाणां भेदेऽसत्त्वापत्तिसमर्थनेन। २. द्रव्यसामान्याद् द्रव्यं भिन्नं तर्हि तस्याद्रव्यत्वापत्तिः। ३. द्रव्यत्वाद् गुणत्वात् कर्मत्वात्। ४. अद्रव्यत्वं चिन्तितम्। ५. द्रव्यत्वादिभ्यः। ६. इदं द्रव्यम्, अयं गुणः, इदं कर्मेति नियतिः कथम्? ७. द्रव्येभ्यो द्रव्यत्वं भिन्नं गुणाश्च भिन्नाः, तथा सति द्रव्यत्वस्य द्रव्य एव सम्बन्धः, न गुणादिष्विति प्रतिनियमाभावात् प्रतिनियतपदार्थव्यवस्था कथं स्यादिति भावः। इदं द्रव्यं अयं गुणः इदं कर्मेति व्यपदेशः कथमपि न घटत इत्यर्थः। ८. निर्देशस्य, अभिधानस्य। ९. करणे, द्रव्यमित्यभिधानाङ्गीकारे सति। १०. द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्। ११. सम्बन्धादेव सत्वं वाच्यम्। १२. द्रव्यस्वरूपेण। १३. द्रव्यव्यपदेशस्य। १४. द्रव्यस्य सत्त्वमेव द्रव्यस्वरूपम्। १५. सत्त्वस्यापि।

देव[1] [2]तद्व्यपदेशकरणात् । [3]एवं गुणादिष्वपि वाच्यम् । केवलं सामान्यविशेषसमवायानामेव स्वरूपसत्त्वेन[4] [5]तथाव्यपदेशोपपत्तेस्तत्त्रय[6]व्यवस्थैव स्यात् ।

ननु[7] जीवादिपदार्थानां[8] सामान्यविशेषात्मकत्वं स्याद्वादिभिरभिधीयते, [9]तयोश्च वस्तुनो[10]भेदाभेदाविति[11] तौ[12] च [13]विरोधादिदोषोपनिपातान्नैकत्र[14] सम्भविनाविति ।

निमित्तसे होता है, अतः वह द्रव्यका स्वरूप नहीं हो सकता है। यदि कहें कि द्रव्यका सत्त्व ही उसका निजी स्वरूप है, सो भी नहीं कह सकते; क्योंकि द्रव्यगत सत्त्वके भी सत्ताके सम्बन्धसे ही 'सत्त्व' ऐसे नामका व्यवहार किया जाता है अतः वह द्रव्यका निज स्वरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार गुणादिकमें भी कहना चाहिए।

भावार्थ—गुणत्वके सम्बन्धसे पूर्व गुणका क्या स्वरूप था, कर्मत्वके सम्बन्धसे पूर्व कर्मका क्या स्वरूप था, आदि जितने प्रश्न ऊपर द्रव्यके विषयमें उठाये गये हैं, वे सब गुणादिके विषयमें भी लागू होते हैं। और जिस प्रकार द्रव्यत्वके योगसे द्रव्यकी सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकारसे गुणत्वादिके योगसे गुणादि पदार्थोंकी भी सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार यौगाभिमत द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ सिद्ध नहीं होते, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

केवल सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थोंके ही स्वरूप सत्त्वसे अर्थात् स्वतः सत्-रूप होनेसे सत् नामका व्यवहार बन जाता है, अतः सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थोंकी ही व्यवस्था सिद्ध होती है; छह पदार्थोंकी नहीं।

शङ्का—यहाँ पर यौगोंका कहना है कि स्याद्वादी जैन लोग जीवादि पदार्थोंको सामान्य-विशेषात्मक कहते हैं और उस सामान्य और विशेषका वस्तुसे भेद भी कहते हैं और अभेद भी कहते हैं; इस कारण वे दोनों विरोध आदि दोषोंके आनेसे एक वस्तुमें सम्भव नहीं हैं। आगे उन्हीं विरोधादि

---

१. द्रव्ये सत्सम्बन्धादेव सत्त्वम् । २. सत्त्वव्यपदेश । ३. द्रव्यवत् । ४. एकैकस्वरूपत्वेन वा पाठः । ५. सत्त्वव्यपदेशोपपत्तेः । ६. सामान्यविशेषसमवायानाम् ।

७. यौगो जल्पति । ८. जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालादीनाम् । ९. सामान्यविशेषयोः । १०. पर्यायभेदाद्भेदः, द्रव्यभेदादभेदः । ११. यदि अङ्गीक्रियेते । १२. भेदाभेदौ । १३. विरोधवैयधिकरण्यानवस्थासङ्करव्यतिकरसंशयाप्रतिपत्त्यभावा इत्यष्टौ दूषणानि । १४. एकस्मिन् वस्तुनि ।

'तथाहि—भेदाभेदयोर्विधिनिषेधयो[2]रेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसम्भवः[3] शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति[4] १। भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम्[5] २। यमात्मानं[6] पुरोधाय[7] भेदो यं च समाश्रित्याभेदः, तावात्मानौ भिन्नौ चाभिन्नौ च। [9]तत्रापि तथापरिकल्पनादनवस्था[10] ३। येन रूपेण[11] भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सङ्करः[12] ४। येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः[13] ५। भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण[14] निश्चेतुमशक्तेः[15] संशयः[16] ६। [17]ततश्चाप्रतिपत्तिः[18] ७। [19]ततोऽभावः ८। इत्यनेकान्तात्मकमपि न सौस्थ्यमाभजतीति केचित्[20]।

दोषोंका स्पष्टीकरण करते हैं—भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिए उनका एक अभिन्न वस्तुमें रहना असम्भव है; जैसे कि शीत और उष्ण स्पर्शका एक साथ वस्तुमें रहना असम्भव है। इस प्रकार जीवादि पदार्थोंको सामान्य-विशेषात्मक माननेपर विरोध दोष आता है १। भेदका आधार अन्य है और अभेदका आधार अन्य है, इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी आता है २। जिस स्वरूपको मुख्य करके भेद कहा जाता है और जिस स्वरूपका आश्रय लेकर अभेद कहा जाता है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। पुनः उनमें भी भेद और अभेदकी कल्पनासे अनवस्था दोष प्राप्त होता है ३। जिस रूपसे भेद है, उस रूपसे भेद भी है, अतः सङ्करदोष प्राप्त होता है ४। जिस अपेक्षासे भेद है, उसी अपेक्षासे अभेद है और जिस अपेक्षासे अभेद है उसी अपेक्षासे भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ५। वस्तुको भेदाभेदात्मक माननेपर उसका असाधारण

१. तदेवाष्टदोषोपनिपातित्वं दर्शयति। २. विधिरस्तित्वं नास्तित्वं प्रतिषेधः भेदाभेदयोः। ३. यथा शीतोष्णयोरेकत्राभिन्नवस्तुन्यसम्भवः, तथा भिन्नाभिन्नयोः। तस्माद्भिन्नाभिन्नयोरेकत्र विरोधः। एकावच्छेदेनैकाधिकरणत्वाभावो विरोधः। ४. इवार्थे वा शब्दः। ५. भिन्नं विषयम्। ६. स्वरूपम्। ७. पुरस्कृत्य। ८. द्वयोरात्मनोरपि। ९. भिन्नाभिन्नपरिकल्पनात्, तौ भिन्नौ अभिन्नौ वा, कौ वाऽऽश्रित्य जातौ भेदाभेदौ, तावपि भिन्नाभिन्नावित्यादि। १०. भेदाभेदोत्पादकयोः स्वरूपयोः प्रत्येकं भेदाभेदात्मकत्वे तत्रापि प्रत्येकं स्वरूपद्वयं तत्रापि तथा चेदनवस्था। अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था। ११. स्वरूपेण। १२. सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः सङ्करः। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः। १३. परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। १४. असाधारणस्वरूपेण। सजातीयविजातीयव्यावृत्ताकारेण। १५. इदं भेदरूपं वा, अभेदरूपं वेति निश्चयाभावात्। १६. शुक्तिकेयं रजतं वेति चलितप्रतिपत्तिः संशयः। १७. संशयाच्च। १८. वस्तुनः। १९. प्रतिपत्त्यभावाच्च। २०. यौगादयः।

तेऽपि न प्रातीतिकवादिनः;[1] विरोधस्य [2]प्रतीयमानयोरसम्भवात्। अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः, [3]तत्रोपलभ्यमानयो:[4] को विरोधः। यच्च शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति[5] दृष्टान्ततयोक्तम्, [6]तच्च [7]धूपदहनाद्येकावयविनः शीतोष्णस्पर्शस्वभावस्योपलब्धेरयुक्तमेव; [8]एकस्य चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धधर्माणां युगपदुपलब्धेश्च [9]प्रकृतयोरपि न विरोध[10] इति। एतेन[11] वैयधिकरण्यमप्यपास्तम्; [12]तयोरेकाधिकरणत्वेन[13] प्रतीतेः। [14]अत्रापि प्रागुक्तनिदर्शनान्येव[15] बोद्धव्यानि। यच्चानवस्थानं दूषणं

आकारसे निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः संशय दोष आता है ६। और संशय होनेसे उसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, अतः अप्रतिपत्ति नामक दोष आता है ७। और ठीक प्रतिपत्तिके न होनेसे अभाव नामका दोष भी आता है ८। इस प्रकार वस्तुको अनेकान्तात्मक मानना भी स्वस्थताको प्राप्त नहीं होता है, ऐसा यौगादि कितने ही अन्य मतावलम्बियोंका जैनोंके अनेकान्तवादपर आपेक्ष है।

समाधान—आचार्य उपर्युक्त दोषोंका परिहार करते हुए कहते हैं कि ऐसे विरोधादि दोषोंका उद्भावन करनेवाले भी यथार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि यथार्थ स्वरूपसे प्रतीत होनेवाले सामान्य-विशेष या भेद-अभेदमें विरोधका होना असम्भव है। विरोध तो अनुपलम्भ-साध्य होता है अर्थात् जो वस्तु जैसी दिखाई न देवे, उसे वैसी माननेपर होता है। जब एक वस्तुमें भेद और अभेद पाये जाते हैं, तब उनमें विरोध कैसा? और जो आपने विरोध सिद्ध करनेके लिए शीत और उष्णस्पर्शको दृष्टान्तरूपसे कहा है सो वह कथन धूपदहनवाले घट आदि एक अवयवीके शीत और उष्णस्पर्श रूप दोनों स्वभावकी उपलब्धि होनेसे अयुक्त ही है; क्योंकि एक ही वस्तुके चल-अचल, रक्त-अरक्त, आवृत-अनावृत आदि विरोधी धर्मोंकी युगपत् उपलब्धि होती है, अतः प्रकृत में विवक्षित सामान्य-विशेष या भेद-अभेदका भी एक पदार्थमें पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है। एक वस्तुमें इसी भेद और अभेदके विरोध परिहारसे वैयधिकरण्य दोष भी निराकरण किया गया समझना चाहिए;

१. प्रतीत्यनुसारिणो यथार्थवादिनः। २. सामान्य-विशेषयोः भेदाभेदयोः। ३. एकस्मिन् वस्तुनि। ४. भेदाभेदयोः। ५. इवार्थे वाशब्दः। ६. शीतोष्णस्पर्शयोर्दृष्टान्ततया कथनम्। ७. धूपदहनादौ प्रतिपन्ने आदिशब्देन सन्ध्यायां तेजस्तिमिरयोः सहावस्था। ८. वस्तुनः। ९. प्रारब्धयोः सामान्यविशेषयोः भेदाभेदयोरपि। १०. एकत्रोपलब्धौ। ११. एकत्र वस्तुनि भेदाभेदयोः विरोधपरिहारेण। १२. भेदाभेदयोः। १३. धूपघटाधिकरणत्वेन शीतोष्णस्पर्शयोरधिकरणमप्यस्ति। १४. वैयधिकरण्यनिराकरणप्रकरणेऽपि। १५. एकस्य चलाचलादिनिदर्शनानि योज्यानि।

तदपि स्याद्वादिमतानभिज्ञैरेवापादितम्[1]। तन्मतं[2] हि सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यविशेषावेव भेदः; 'भेदध्वनिना'[3] तयोरेवाभिधानात्[4]। 'द्रव्यरूपेणाभेद इति द्रव्यमेवाभेदः; 'एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः। यदि[7] वा भेदनयप्राधान्येन[8] वस्तुधर्माणामानन्त्यान्नानवस्था। [9]तथा हि—यत्सामान्यं यश्च विशेषस्तयो[10]रनुवृत्त[11]-व्यावृत्ताकारेण[12] भेदः; [13]तयोस्त्वार्थक्रियाभेदात्, तद्भेदश्च शक्तिभेदात्[14] [15]सोऽपि सहकारिभेदादित्यनन्तधर्माणामङ्गीकरणात् कुतोऽनवस्था? तथा चोक्तम्—

क्योंकि उन भेद और अभेदकी एकाधिकरण रूपसे प्रतीति होती है। यहाँ पर भी पहले कहा गया चल-अचल आदि दृष्टान्त समझना चाहिए। और जो अनवस्था नामक दूषण कहा है, वह भी स्याद्वादियोंके मतको नहीं जाननेवाले लोगोंके द्वारा प्रतिपादित जानना चाहिए। स्याद्वादियोंका यह मत है कि सामान्य-विशेषात्मक, अभिन्न वस्तुमें सामान्य और विशेष ही भेद है; क्योंकि भेदरूप ध्वनि (शब्द) के द्वारा उन दोनों सामान्य-विशेषोंका कथन किया जाता है। किन्तु द्रव्यरूपसे अभेद है; वस्तुतः द्रव्य ऐसा कथन ही अभेदरूप है। इस प्रकार वस्तु एकानेकात्मक है। अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे वस्तु अखण्ड अभेद या एकरूप है और पर्यायदृष्टिसे वह भेद या अनेकरूप है। अभेदको सामान्य और भेदको विशेष कहते हैं। अथवा भेदरूप नयकी प्रधानतासे वस्तुके धर्म अनन्त हैं, इसलिए अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता। आगे इसे ही स्पष्ट करते हैं—जो सामान्य है और जो विशेष है, उन दोनोंका अनुवृत्त और व्यावृत्त आकारसे भेद है और अनुवृत्त-व्यावृत्ताकारका भेद अर्थक्रियाके भेदसे है। अर्थक्रियाका भेद उन दोनोंकी शक्तियोंके भेदसे है और वह शक्तिभेद भी सहकारी कारणोंके भेदसे है। इस प्रकार वस्तुमें अनन्त धर्मोंके स्वीकार करनेसे अनवस्था दोष कैसे प्राप्त हो सकता है? जैसा कि कहा है—

१. स्वरूपेणाविद्यमानस्य दूषणस्य एकान्तयुक्तिबलादेव प्रतिपादितम्। २. स्याद्वादिनां मतम्। ३. भेदशब्देन, न त्वर्थेन। भेद इत्युक्ते विशेषोऽभेद इत्युक्ते सामान्यम्। ४. सामान्यविशेषयोरेव। ५. द्रव्यार्थिकनयप्राधान्येन। ६. द्रव्यदृष्ट्या वस्त्वेकरूपम्, पर्यायदृष्ट्याऽनेकरूपमिति भावः। द्रव्यरूपेण सामान्यं विशेषः पर्यायरूपेण च। ७ अथवा। ८. विवक्षया। ९. वस्तुधर्मानन्त्यप्रकारमेव प्रदर्शयति। १०. सामान्य-विशेषयोः। ११. गौर्गौरित्यनुवृत्ताकारः। १२. श्यामः शबलो न भवतीति व्यावृत्ताकारः। १३. अनुवृत्ताकार-व्यावृत्ताकारयोः। १४. अर्थक्रियायां च शक्तिभेदाद्भेदः। १५. शक्तिभेदोऽपि।

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ[1] च नानवस्था[2] विचार्यते ॥३८॥ इति

यौ च सङ्कर-व्यतिकरौ[3] तावपि मेचक[4]ज्ञाननिदर्शनेन[5] सामान्यविशेषदृष्टान्तेन[6] च

मूलका विनाश करनेवाली अनवस्थाको विद्वज्जन दूषण कहते हैं। किन्तु वस्तुके अनन्तपना होनेपर अथवा विचार करनेकी असमर्थता होनेपर अनवस्था दोषका विचार नहीं किया जाता है अर्थात् अनवस्था होनेपर भी उसे दोष नहीं माना जाता ॥ ३८ ॥

और जो सङ्कर व्यतिकर दोष कहे हैं वे भी मेचकज्ञानके दृष्टान्तसे तथा सामान्य-विशेषके दृष्टान्तसे परिहार कर दिये गये समझना चाहिए।

भावार्थ—वस्तुमें अनेक धर्मोंकी युगपत् प्राप्तिको सङ्कर दोष कहते हैं। सो इस दोषका परिहार मेचकरत्नके दृष्टान्तसे किया है। पाँचों वर्णवाले रत्न-को मेचक कहते हैं। जैसे मेचक रत्नमें नील-पीतादि अनेक वर्णोंके प्रतिभास होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जिसरूपसे पीतवर्णका प्रतिभास हो रहा है, उसी रूपसे पीतवर्णका भी प्रतिभास हो रहा है और नीलवर्णका भी प्रतिभास हो रहा है। किन्तु भिन्न आकारसे सभीका प्रतिभास हो रहा है। इसी प्रकार एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे भेद और अभेदकी व्यवस्था बन जाती है। अतः सङ्कर दोष नहीं आता। परस्पर विषयकी प्राप्ति-को व्यतिकर दोष कहते हैं। इसके परिहारके लिए सामान्य-विशेषका दृष्टान्त दिया है। जैसे गोत्व खण्डी, मुण्डी आदि गायोंकी अपेक्षा सामान्यरूप है, वही भैंसा, घोड़ा आदिकी अपेक्षा विशेषरूप है। इसी प्रकार पर्यायकी

---

१. विचारयितुमिति शेषः। वस्तुविकल्पपरिसमाप्तौ। २. अवस्थितेरभावो-ऽनवस्था। सा विद्यमानापि दूषणं नेति भावः। ३. सङ्करो मेचकज्ञाननिदर्शनेन, व्यतिकरः सामान्य-विशेषदृष्टान्तेन परिहृतः। ४. पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यम्। ५. दृष्टान्तेन। यथा मेचके नीलाद्यनेकप्रतिभासे सति न हि शक्यं वक्तुं यद्येन रूपेण पीतप्रतिभासस्तेन रूपेण पीतप्रतिभासश्च नीलप्रतिभासश्च। भिन्नाकारेण प्रतिभासश्चास्ति। तथैकस्मिन् वस्तुनि भेदाभेदव्यवस्था सुघटा। ६. न हि येन रूपेण विशेषस्तेन रूपेण सामान्यम्, येन रूपेण सामान्यं तेन रूपेण वा विशेषः पर्यायदृष्ट्या सामान्यं तथैव भेदाभेदयोरपि योज्य-मिति न व्यतिकरदोषावकाशः। सामान्यमेव विशेषो यथा गोत्वं खण्डाद्यपेक्षया सामान्यं हि महिषाद्यपेक्षया विशेष इति व्यतिकरनिरासः। द्रव्यत्वाद्यपरसामान्यं व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेषाख्यामभिलभते। विशेषस्य कथं गोत्वसामान्याद्विशेषः खण्डमुण्डादिषु वर्तमानत्वात् सामान्यं विशेषो भवति खण्डखण्डेयमिति।

परिहृतौ। [1]अथ [2]तत्र [3]तथा प्रतिभासनं परस्यापि[4] वस्तुनि[5] तथैव[6] प्रतिभासोऽस्तु; तस्य[7] पक्षपाताभावात्। निर्णीते[8] संशयोऽपि न युक्तः, तस्य[9] [10]चलितप्रतिपत्तिरूपत्वादचलित-प्रतिभासे[11] दुर्घटत्वात्[12]। [13]प्रतिपन्ने वस्तुन्यप्रतिपत्तिरित्यतिसाहसम्। उपलब्ध्यभिधाना[14]दनुपलम्भोऽपि न सिद्धस्ततो[15] नाभाव इति [16]दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनं सिद्धम्। [17]एतेनावयवावयविनो[18]र्गुणगुणिनोः[19] [20]कर्मतद्वतोश्च कथञ्चिद् भेदाभेदौ प्रतिपादितौ बोद्धव्यौ।

दृष्टिसे वस्तुमें भेदकी और द्रव्यदृष्टिसे अभेदकी प्रतीति होती है। अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा भेद भी अभेद कहलाने लगता है। अतः स्याद्वाद मतावलम्बियोंके द्वारा मानी गई वस्तु-व्यवस्थामें व्यतिकर दोष भी नहीं आता।

यहाँ यौग कहते हैं कि मेचकरत्नमें जैसे अनेक वर्णोंका आकार पाया जाता है, उसी प्रकार उनका प्रतिभास (ज्ञान) होता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि हम स्याद्वादियोंके यहाँ भी वस्तुमें जिस प्रकारसे अनेक धर्म पाये जाते हैं, उसी प्रकारसे उनका प्रतिभास भी स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि, उस प्रतिभासके पक्षपातका अभाव है। और प्रतिभासके बलसे निर्णीत वस्तुमें संशय दोषका कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि संशय तो चलित प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप होता है, उसका अचलित अर्थात् स्थिर प्रतिभासमें होना दुर्घट है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुमें अप्रतिपत्ति अर्थात् अजानकारीकी बात कहना अतिसाहस है। इस प्रकार अप्रतिपत्ति नामका दोष भी नहीं आता। तथा अनेक धर्मात्मक वस्तुकी उपलब्धि होनेसे अनुपलम्भ भी सिद्ध नहीं है, अतः अभाव नामक दोष भी नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेकान्तरूप जैन शासन प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध और विरोधादि दोषोंसे रहित सिद्ध है। इसी उपर्युक्त विवेचनसे अवयव-अवयवीमें, गुण-गुणीमें और कर्म-कर्मवान्‌में कथञ्चिद् भेद और कथञ्चिद् अभेदका भी प्रतिपादन किया गया समझना चाहिए।

---

१. यौगः। २. मेचके चित्रज्ञानादौ सामान्यविशेषयोर्वा। ३. चित्राकारेण सामान्य-विशेषरूपेण च। ४. स्याद्वादिनोऽपि। ५. अनेकान्तात्मके। ६. भेदाभेदरूपेणैव। ७. प्रतिभासस्य। ८. मेचकादौ प्रतिभासबलेन। ९. संशयस्य। १०. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। ११. स्थिरप्रतिभासे वस्तुनि। १२. संशयस्य। १३. प्रमाणेन। १४. कथनात्। १५. अनुपलम्भाभावात्। १६. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविरुद्धम्। १७. विरोधादिदोषपरि-हारेण, सामान्य-विशेषयोः कथञ्चिद् भेदाभेदसाधनेन। १८. कपाल-घटयोः। १९. ज्ञाना-त्मनोः। २०. क्रिया-तद्वतोः।

[1]अथ [2]समवायवशाद्भि[3]न्नेष्वप्यभेदप्रतीतिरनुपन्न[4]ब्रह्मतुल्याख्यज्ञानस्येति[5] चेन्न; [6]तस्यापि ततो[7] भिन्नस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तथाहि—[8]समवायवृत्तिः [9]स्वसमवायिषु वृत्तिमती[10] स्यादवृत्तिमती वा ? वृत्तिमत्त्वे स्वेनैव[11] वृत्त्यन्तरेण[12] वा ? तावदाद्यः[13] पक्षः, समवाये समवायानभ्युपगमात्[14]; पञ्चानां समवायित्वमिति वचनात्। वृत्त्यन्तरकल्पनायां[15] तदपि[16] स्वसम्बन्धिषु वर्तते न वेति कल्पनायां[17] वृत्त्यन्तरपरम्पराप्राप्तेरन-

यहाँपर यौग कहते हैं कि जिसे ब्रह्मतुल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे अल्पज्ञ पुरूषके समवायसम्बन्धके वशसे भिन्न पदार्थोंमें भी अभेदकी प्रतीति होती है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि पदार्थोंसे भिन्न समवायकी व्यवस्था करना अशक्य है। आगे इसीको सिद्ध करते हैं—समवायसम्बन्ध अपने समवायी पदार्थोंमें सम्बन्धवाला है, अथवा असम्बन्धवाला है ? यदि सम्बन्धवाला है तो स्वसे ही सम्बन्धवाला है, अथवा अन्य सम्बन्धसे सम्बधवाला है ? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि समवायमें समवाय रहता है, ऐसा आप लोगोंने माना नहीं है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें ही समवाय सम्बन्ध होता है, ऐसा आपके शास्त्रका वचन है। अन्य सम्बन्धसे सम्बन्धवाला है, इस दूसरे पक्षकी कल्पना करनेपर वह अन्य सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियोंमें रहता है, अथवा नहीं; इस प्रकारकी और भी कल्पना करना पड़ेगी, तब अन्य-अन्य सम्बन्धोंकी परम्परा प्राप्त होनेसे अनवस्था

१. यौगो भाषते। २. घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः ॥१॥ अवयवावयविनोर्जाति-व्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवाय इति समवायवशात्। ३. वस्तुषु। ४. अनुत्पन्नं ब्रह्मतुल्याख्यं ब्रह्मसदृशं ज्ञानं यस्य तस्य किञ्चिज्ज्ञस्येति भावः। एकस्मिन्नणौ षट्पदार्थभेदज्ञानम्। ५. अनुत्पन्नातीन्द्रियज्ञानपुरुषस्य। ६. समवायस्यापि। ७. पदार्थेभ्यः। ८. समवायसम्बन्धः। ९. द्रव्यादिषु पञ्चसु गुणगुण्यादिषु। १०. सम्बन्धवती। ११. समवायेनैव स्वसमवायिषु वृत्तिमती। १२. सम्बन्धान्तरेण वा स्वसमवायिषु वृत्तिमती। १३. समवायेन समवायः समवायिषु वर्तते चेद् द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिन इति ग्रन्थविरोधः स्यात्। न हि परैः समवाये समवायः स्वीकृतः। १४. द्वितीयपक्षमवलम्ब्य दूषयति। १५. विशेषण-विशेष्यभावेन समवायः समवायिषु वर्तते च। १६. वृत्त्यन्तरमपि। १७. वृत्त्यन्तरं स्वसम्बन्धिषु वर्तते न वा ? वर्तते चेत्स्वेनैव वृत्त्यन्तरेण वा ? स्वेनैव स्वसम्बन्धिषु वर्तते चेत्समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं मा भूत्। वृत्त्यन्तरेण वर्तते चेत् तदपि वृत्त्यन्तरं स्वेनैव वृत्त्यन्तरेण वा स्वसमवायिषु

वस्था। वृत्त्यन्तरस्य[1] स्वसम्बन्धिषु[2] वृत्त्यन्तरानभ्युपगमान्नानवस्थेति चेत्तर्हि समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं[3] माभूत्। अथ[4] समवायो न [5]स्वाश्रयवृत्तिरङ्गीक्रियते तर्हि [6]षण्णामाश्रितत्व-मिति [7]ग्रन्थो विरुध्यते। अथ समवायिषु सत्स्वेव[8] समवायप्रतीतेस्तस्या[9]श्रितत्वमुप-लभ्यते[10], तर्हि मूर्त्तद्रव्येषु सत्स्वेव [11]दिग्लिङ्गस्येदमतः[12] पूर्वेण इत्यादिज्ञानस्य, काललिङ्गस्य च [13]परापरादिप्रत्ययस्य सद्भावात्तयोरपि[14] [15]तदाश्रितत्वं स्यात्। तथा[16] चायुक्त[17]मेतद-न्यत्र[18] नित्यद्रव्येभ्य इति[19]। किञ्च समवायस्यानाश्रितत्वे[20] सम्बन्धरूपतैव न घटते।

दोष आता है। यदि कहें कि अपने सम्बन्धियोंमें अन्य सम्बन्धका सम्बन्धा-न्तर नहीं स्वीकार किया गया है, अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, तो हम उनसे कहते हैं कि समवायमें भी सम्बन्धान्तर नहीं रहे। यदि आप लोग कहें कि हम समवायको स्वाश्रयवृत्ति अङ्गीकार नहीं करते हैं तो आकाशादि नित्य द्रव्योंको छोड़कर छह पदार्थोंके आश्रितपना है, यह आपका ग्रन्थ विरोधको प्राप्त होता है। यदि कहें कि समवायियोंके होनेपर ही समवायकी प्रतीति होती है, अतः समवायके आश्रितपनेकी कल्पना की जाती है; तो हम कहते हैं कि मूर्त्त द्रव्योंके होनेपर ही दिशारूप द्रव्यका लिङ्ग जो यह इससे पूर्वमें है, इत्यादि ज्ञान है; और कालद्रव्यका लिङ्ग जो पर (ज्येष्ठ) अपर (लघु) प्रत्यय (ज्ञान) का सद्भाव है, उसके पाये जानेसे दिशा और कालको भी मूर्त्त द्रव्योंके आश्रित मानना चाहिए। और ऐसी दशामें 'नित्य-द्रव्योंको छोड़कर' ऐसा सूत्र कहना अयुक्त ही है। दूसरी बात यह है कि समवायके अनाश्रितपना माननेपर सम्बन्धरूपता ही घटित नहीं होती है।

वर्तते? प्रथमपक्षे समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं मा भूत्। द्वितीयपक्षे परापरवृत्त्यन्तरपरिकल्प-नायामनवस्था। १. विशेषणविशेष्यभावस्य। २. दण्ड-दण्डिषु। ३. समवायसम्बन्धा-न्तरम्। ४. नैयायिकः प्राह। ५. तन्तुपटाश्रय-। ६. पदार्थानाम्। ७. षण्णामाश्रि-तत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति सूत्रविरोधः। ८. द्व्यणुकादिकं परमाण्वाश्रितं गुणो गुण्याश्रितः कर्म कर्मवत आश्रितं सामान्यं सामान्यवतो विशेषो विशेषवतो द्रव्यस्य सम-वायः समवायवतः परमाण्वादिनित्यद्रव्याणि न भवन्त्याश्रितानि। ९. समवायस्य। १०. उपचर्यते। ११. दिशो लिङ्गं ज्ञापकं तस्य। १२. एतस्मादिदं पूर्वेण पूर्वदिशोदाहरणम्। इदमस्माद्दूरं दिशोदाहरणम्। १३. वृद्ध-युवादि। १४. दिक्कालयोः। १५. मूर्त्तद्रव्या-श्रितत्वं स्यादिति। १६. एवं सति। १७. नानाश्रितत्वमस्त्विति चेत्। १८. नित्य-द्रव्याणि विहायान्यत्राऽऽश्रितत्वम्। १९. योगसूत्रम्। २०. यदि समवायः स्वाश्रयवृत्तिर्न

तथा च प्रयोगः[1]—समवायो न सम्बन्धः; अनाश्रितत्वाद्दिगादिवदिति। अत्र[2] समवायस्य [3]धर्मिणः [4]कथञ्चित्तादात्म्यरूपस्यानेकस्य च परैः[5] [6]प्रतिपन्नत्वाद्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा[7] [8]आश्रयासिद्धिश्च न वाच्येति। [9]तस्याऽऽश्रितत्वे[10]ऽप्येतदभिधीयते न समवाय एकः सम्बन्धात्मकत्वे[11] सत्याश्रितत्वात् संयोगवत् सत्तयाऽनेकान्त इति [12]सम्बन्धविशेषणम्।

उसका अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—समवाय सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह अनाश्रित है। जैसे दिशा आदि द्रव्य अनाश्रित हैं, अतः सम्बन्धरूप नहीं हैं। इस प्रयोगमें समवाय धर्मी कथञ्चित् तादात्म्यरूप और अनेक है, ऐसा हम जैन स्वीकार करते हैं, अतः धर्मीको ग्रहण करनेवाले प्रमाणसे बाधा और आश्रयासिद्धि नहीं कहना चाहिए। उस समवायके आश्रितपना अङ्गीकार करनेपर भी यह दूषण कहा जा सकता है कि समवाय एक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धात्मकपना होनेपर उसके आश्रितपना है जैसे कि संयोगके सम्बन्धात्मकपना होनेपर भी आश्रितपना पाया जाता है। सत्ताके द्वारा व्यभिचार दोष आता है, अतः उसके निवारणार्थ सम्बन्धात्मकपना होनेपर ऐसा विशेषण दिया है।

स्यात्तदा सम्बन्ध एव न स्यात्। १. वचनात्मकमनुमानं प्रयोगः। २. समवायः प्रमाणप्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा ? प्रथमपक्षे धर्मिग्राहकप्रमाणानन्तरहेतोः प्रयोगात् कालात्ययापदिष्टत्वमनाश्रितत्वादिति हेतोः। द्वितीयपक्षे हेतोराश्रयासिद्धिरिति यौगशङ्कां मनसि कृत्वा परिहरति जैनः। अत्र अनुमाने। ३. साध्य-साधनधर्माक्रान्तत्वाद्धर्मी समवायः। ननु समवायो धर्मी प्रमाणसिद्धो न वा ? प्रमाणसिद्धश्चेत्तेनैव धर्मिग्राहकप्रमाणेनैव पक्षस्य बाधनात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः। यदि न प्रसिद्धः, तर्हि आश्रयासिद्ध इत्याशङ्क्याऽऽह। ४. भो यौग, त्वया प्रतिपादितस्य समवायस्यानङ्गीकारात् कथञ्चित्तादात्म्यरूपेणाङ्गीकाराच्च दोषः। ५. जैनैः। ६. अभ्युपगमात्। ७. समवायोऽस्ति, समवायिषु सत्स्वेव समवायप्रतीतेः, अनेन प्रमाणेन या बाधा तया। ८. जैनमते समवायस्य धर्मिणोऽनङ्गीकारात आश्रयासिद्धिरिति न वाच्या, भवदुक्तलक्षणसमवायस्यानङ्गीकारात्। कथञ्चित्तादात्म्यरूपस्याङ्गीकारान्नाश्रयासिद्धिः। ९. समवायस्य। १०. प्रसङ्गसाधनकथनलक्षणोत्तरत्वात्। दूषणभयादाश्रितत्वाङ्गीकारे तदेव दूषणमभिधीयमानं च पूर्वोक्तं समनन्तरोच्यमानम्। ११. सत्ताऽप्याश्रिताऽनेका च तस्मात्तद्वारणाय सम्बन्धात्मकत्वे सतीति विशेषणम्। १२. द्वितीयपक्षे दूषणं दर्शयति—सत्ता नाम सामान्यं विशेषण-विशेष्यसम्बन्धः एतत्त्रितयमस्ति पृथग्रूपमेव, एवं सति सत्ता सम्बन्धरूपा न भवति, एका च, तया सहानेकान्तदोषनिवारणार्थं विशेषणम्।

अथ संयोगे निबिड-शिथिलादिप्रत्ययनानात्वान्नानात्वं नान्यत्र[1] [2]विपर्ययादिति चेन्न, समवायेऽ[3]प्युत्पत्तिमत्त्वनश्वरत्वप्रत्ययनानात्वस्य[4] सुलभत्वात्। सम्बन्धिभेदाद्-भेदोऽन्यत्रापि[5] समान इति नैकत्रैव[6] [7]पर्यनुयोगो युक्तः[8]। तस्मात्समवायस्य [9]परपरि-कल्पितस्य विचारासहत्वान्न [10]तद्वशाद् गुणगुण्यादिष्वभेदप्रतीतिः। अथ[11] भिन्नप्रतिभासाद-वयवावयव्यादीनां भेद एवेति चेन्न; भेदप्रतिभासस्या[12]भेदाविरोधात्। घटपटादीनामपि कथञ्चिदभेदोपपत्तेः[13], सर्वथा [14]प्रतिभासभेदस्यासिद्धेश्च; [15]इदमित्यभेदप्रतिभासस्यापि

यहाँपर यौग कहते हैं कि संयोगमें यह सघन संयोग है, यह शिथिल संयोग है, इत्यादि नानाप्रकारकी प्रतीति होनेसे नानापना पाया जाता है। किन्तु समवायमें ऐसा नानापना नहीं पाया जाता; क्योंकि वह संयोगसे विपरीत है, अर्थात् समवायमें संयोगके समान सघन समवाय, शिथिल समवाय आदिकी प्रतीति नहीं होती। अतः वह नाना नहीं है किन्तु एक ही है। आचार्य कहते हैं कि आप लोगोंका यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि समवायमें भी उत्पत्तिमत्त्व, विनश्वरत्व आदि नाना प्रकारके धर्मोंकी प्रतीति सुलभ है। यदि कहें कि सम्बन्धीके भेदसे समवायमें नानापनेका भेद प्रतीत होता है, तो संयोगके विषयमें भी यह नानापना समान है, इसलिए एक ही संयोगमें प्रश्न करना युक्त नहीं है। इस प्रकार यौगोंके द्वारा परि-कल्पित समवाय तर्कके विचारको सहन नहीं करता। अतः उस समवायके वशसे गुण-गुणी आदिमें अभेदकी प्रतीति नहीं मानी जा सकती है। यदि कहें कि भिन्न प्रतिभास होनेसे अवयव-अवयवी आदिके भेद ही सिद्ध है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेदरूप प्रतिभासका अभेदरूप

१. समवाये। २. निबिडशिथिलादिप्रत्ययनानात्वाभावात्। ३. उत्पत्त्या सह नश्वरेण समवायो व्यवहारः। ४. यथा संयोगे समवाये नानात्वम्। ५. असम-वायेऽपि। ६. संयोग एव। ७. प्रश्नानुपलम्भो दूषणम्। ८. यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ १ ॥ ९. यौग-। १०. समवाय-। ११. यौगः प्राह। १२. द्रव्यार्थिकं गुणं कृत्वा पर्यायार्थिकप्राधान्येनान्यो गुणोऽ-न्यद् द्रव्यमन्यः पर्याय इति। पर्यायार्थिकं गुणं कृत्वा द्रव्यार्थिकप्राधान्येन एकमेव सन्मात्रं तत्त्वं यतोऽनादिपारिणामिकद्रव्यस्यैव घटाद्यनेके पर्यायाः प्रतीयन्ते। न हि तद्व्यतिरिक्ताः घटादिपर्यायाः गुणा वा सन्ति। १३. कथञ्चिद्भेदप्रतिभासो न सर्वथा। १४. द्रव्यत्वेन पार्थिवत्वेन च घटप्रतिभासः पटप्रतिभासः। न हि रूपादिगुणाः पुद्गलद्रव्यात्सर्वथा भिन्ना प्रतीयन्ते रूपादिगुणानां प्रतीतिस्त्वस्ति, तस्मात्कथञ्चिद्भेदोऽवसेयः, सर्वथा भेदेऽभेदे च प्रमाणविरोधात्। १५. इदं सदिति।

भावात्। ततः कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकं च तत्त्वं [1]तीरादर्शिशकुनिन्यायेनाऽऽयातमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

इदानीमनेकान्तात्मकवस्तुसमर्थनार्थमेव हेतुद्वयमाह—

[2]अनुवृत्त[3]व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार[4]परिहारावाप्तिस्थिति-[5]लक्षणपरिणामेनार्थ[6]क्रियोपपत्ते[7]श्च ॥ २ ॥

प्रतिभासके साथ कोई विरोध नहीं है। घट-पट आदिके अपनी पर्यायोंकी अपेक्षा भेद होते हुए भी जड़द्रव्यकी अपेक्षा कथञ्चित् अभेद बन ही जाता है और सर्वथा प्रतिभास-भेदकी असिद्ध भी है, क्योंकि 'यह सत् है' इत्यादि रूप अभेद प्रतिभासका भी सद्भाव पाया जाता है। इसलिए कथञ्चित् भेदा-भेदात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक और सामान्य-विशेषात्मक तत्त्व है यह बात तीरादर्शी पुरुषके शकुनि (पक्षी) दृष्टिगोचर होनेके न्यायसे स्वयं ही सिद्धिको प्राप्त हो जाती है, अतएव इस प्रसङ्गमें अधिक कहनेसे विराम लेते हैं।

भावार्थ—जैसे समुद्रमें डूबता उभरता कोई पुरुष तीर पानेकी इच्छाको लिए हुए देख रहा था कि उसे तीर न दिखकर कोई उड़ता पक्षी दिखाई दिया। इससे उसे समुद्रके तीर-सामीप्यका बोध स्वयं ही हो जाता है। इसी प्रकार यौगोंके भी जिन युक्तियोंसे वे अपना मत सिद्ध करना चाहते थे, उन्हीं युक्तियोंसे नहीं चाहते हुए भी वस्तुतत्त्वकी अनेकधर्मात्मकरूप या सामान्यविशेषात्मकरूप सिद्धि स्वयं हो जाती है।

अब आचार्य अनेकान्तात्मक वस्तुके समर्थनके लिए दो हेतु कहते हैं—

सूत्रार्थ—वस्तु सामान्य-विशेषादि अनेक धर्मवाली है, क्योंकि वह अनुवृत्तप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्ययकी विषय है। तथा पूर्व आकारका परिहार, उत्तर आकारकी प्राप्ति और स्थितिलक्षण परिणामके साथ उसमें अर्थक्रिया पाई जाती है ॥ २ ॥

१. यथा तीरादर्शिनः पुरुषस्य पक्षी दृष्टिगोचरो जातस्तथा। तीरमेव तस्याश्रयो यौगस्य तथा। २. अनुवृत्ताकारप्रत्ययेन तिर्यक्सामान्यं साधितम्। ३. व्यावृत्ताकारप्रत्ययेन व्यतिरेकविशेषः साधितः। ४. पूर्वोत्तराकारौ पर्यायौ। पर्यायो विशेषः। ५ स्थितिलक्षणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यम्। ६. प्रमाणविषयः सामान्य-विशेषात्मा अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्यय-गोचरत्वात्। यो यदाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरः स तदात्मको दृष्टो यथा नीलाकारोल्लेखि-प्रत्ययगोचरो नीलस्वभावोऽर्थः। सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चा-खिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः। तस्मात् सामान्यविशेषात्मेति। तथा पूर्वोत्तराकारपरि-हारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च प्रमाणविषयः सामान्य-विशेषात्मा सिद्धय-तीति भावः। ७. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय इति पूर्वसूत्रेण सह सम्बन्धः।

अनुवृत्ताकारो हि गौर्गौरित्यादिप्रत्ययः। व्यावृत्ताकारः श्यामः शबल इत्यादिप्रत्ययः। तयोर्गोचरस्तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्। एतेन[1] तिर्यक्सामान्य[2]व्यतिरेकलक्षण[3]विशेषद्वयात्मकं वस्तु साधितम्। पूर्वोत्तराकारयोर्यथासङ्ख्येन परिहारावाप्ती,[4] ताभ्यां[5] स्थितिः सैव लक्षणं यस्य[6], स चासौ परिणामश्च, तेनार्थक्रियोपपत्तेश्चेत्यनेन तूर्ध्वतासामान्यपर्यायाख्यं विशेषद्वयरूपं[7] वस्तु समर्थितं भवति।

अथ प्रथमोद्दिष्टसामान्यभेदं दर्शयन्नाह—

पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक है, इसे सिद्ध करनेके लिए आचार्यने इस सूत्रमें दो हेतु दिये हैं। उनमें पहला हेतु है कि पदार्थ-अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्ययका विषय है। यह गौ है, यह भी गौ है, यह भी गौ है, इस प्रकारकी सदृश आकारवाली प्रतीतिको अनुवृत्तप्रत्यय कहते हैं। यह गाय काली है, यह चितकबरी है, इस प्रकारकी विशेष आकारवाली प्रतीतिको व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं। इन दोनों प्रकारके प्रत्ययोंका गोचर कहिये विषय होना, उसके भावको अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्व कहते हैं। उससे पदार्थ अनेकान्तात्मक सिद्ध होता है। इस प्रथम हेतुके द्वारा तिर्यक्सामान्य और व्यतिरेकलक्षण विशेष इन दोनों धर्मवाली वस्तुकी सिद्धि की। (यहाँपर अनुवृत्तप्रत्ययसे तिर्यक्सामान्य और व्यावृत्तप्रत्ययसे व्यतिरेकविशेषका अभिप्राय है। इनका स्वरूप आचार्य स्वयं आगे कह रहे हैं।) पूर्वाकार और उत्तराकार इन दोनों पदोंका यथाक्रमसे परिहार और अवाप्ति इन दोनों पदोंके साथ सम्बन्ध करना चाहिए। अर्थात् पूर्व आकारके परिहारको व्यय कहते हैं और उत्तर आकारकी प्राप्तिको उत्पाद कहते हैं। इन दोनों उत्पाद और व्ययके साथ वस्तुकी जो स्थिति है उसे ध्रौव्य कहते हैं। वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परिणाम है, उससे अर्थक्रिया बन जाती है। इस दूसरे हेतुके द्वारा ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायनामक विशेष इन दोनों धर्मवाली वस्तु है, यह समर्थन किया गया। (इस ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेषका स्वरूप आगे कहा जा रहा है।)

अब प्रथम कहे गये सामान्यके भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

---

१. व्याख्यानेन। २. तिर्यक् सामान्यं च व्यतिरेकलक्षणविशेषश्च तयोर्द्वयोः। ३. खण्डमुण्डादिः विशेषः। ४. उत्पादव्ययध्रौव्यत्वं सूचितं वर्तते। ५. सह। ६. परिणामस्य। ७. सुख-दुःखादि।

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥

प्रथमभेदं सोदाहरणमाह—

[1]सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥

[2]नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, प्रत्येकं परिसमाप्त्या[3] व्यक्तिषु[4] [5]वृत्त्ययोगाच्चानेकं [6]सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम् ।

द्वितीयभेदमपि सदृष्टान्तमुपदर्शयति—

सूत्रार्थ—तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्यके भेदसे सामान्य दो प्रकारका है ॥ ३ ॥

इनमेंसे प्रथम भेद जो तिर्यक्सामान्य है उसे आचार्य उदाहरण-सहित कहते हैं—

सूत्रार्थ—सदृश अर्थात् सामान्य परिणामको तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे खण्डी मुण्डी आदि गायोंमें गोपना सामानरूपसे रहता है ॥ ४ ॥

नित्य और एकरूप गोत्व आदि सामान्यके क्रम और यौगपद्यसे अर्थ-क्रियाका विरोध है, तथा एक सामान्यके एक व्यक्तिमें साकल्यरूपसे रहनेपर अन्य व्यक्तियोंमें रहना सम्भव नहीं है, अतः अनेक और सदृशपरिणाम-स्वरूप ही सामान्य है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार तिर्यक् सामान्यका स्वरूप कहा।

भावार्थ—यौगोंने सामान्यको नित्य और एक ही माना है। आचार्य-ने सामान्यके नित्य माननेमें यह दूषण दिया है कि नित्यपदार्थमें क्रमसे या युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती है, अतः उसे सर्वथा नित्य नहीं, किन्तु कथञ्चित् नित्य मानना चाहिए। तथा सामान्यके एक माननेमें यह दूषण दिया है कि वह गोत्वादिरूप सामान्य जब एक काली या धवली गायमें पूर्णरूपसे रहेगा, तब अन्य गायोंमें उसका रहना असम्भव होनेसे अभाव मानना पड़ेगा। किन्तु काली धवली आदि सभी गायोंमें गोपनेकी प्रतीति समानरूपसे होती है, अतः वह एक नहीं; किन्तु अनेक है और सदृशपरि-णाम ही उसका स्वरूप है। इसे ही तिर्यक् सामान्य कहते हैं।

अब आचार्य सामान्यके दूसरे भेदको दृष्टान्तके साथ दिखलाते हैं—

---

१. सास्नादिमत्त्वेन। २. सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवायीति यौगमतम्। ३. साकल्येन। ४. प्रत्येकं गोव्यक्तिषु खण्ड-मुण्डादिषु। ५. नित्यैकरूपस्य सामान्यस्य गोत्वादेः। ६. प्रत्येकगोव्यक्तिभिन्नं सदृशपरिणामात्मकं गोत्वाद्यनेकमिति।

परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ५ ॥

सामान्यमिति वर्तते । तेनायमर्थः—ऊर्ध्वतासामान्यं भवति । किं तत् ? द्रव्यम् । तदेव विशिष्यते परापरविवर्तव्यापीति पूर्वापरकालवर्ति त्रिकालानुयायीत्यर्थः । चित्रज्ञानस्यैकस्य युगपद्भाव्यनेकस्वगतनीलाद्याकारव्याप्तिवदेकस्य क्रमभाविपरिणामव्यापित्वमित्यर्थः ।

विशेषस्यापि द्वैविध्यमुपदर्शयति—

विशेषश्च ॥ ६ ॥

द्वेधेत्यधिक्रियमाणेनाभिसम्बन्धः ।

सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे स्थास, कोश, कुशूल आदि घटकी पर्यायोंमें मिट्टी रहती है ॥ ५ ॥

यहाँपर सामान्य पदकी अनुवृत्ति होती है । उससे यह अर्थ होता है कि यह ऊर्ध्वतासामान्य है । यह क्या वस्तु है ? द्रव्य है । वह द्रव्य 'परापर-विवर्तव्यापि' इस विशेषणसे विशिष्ट है । परापर-विवर्तव्यापि इस पदका अर्थ है पूर्वापरकालवर्ती या त्रिकाल-अनुयायी । अर्थात् जो त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंमें व्याप्त होकर साथ रहता है, ऐसे द्रव्यको ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे एक चित्रज्ञान एक साथ होनेवाले अपने अन्तर्गत अनेक नील-पीतादि आकारोंमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वतासामान्यरूप जो द्रव्य है, वह काल-क्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है ।

अब आचार्य विशेषके भी दो भेद हैं, यह दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—विशेष भी दो प्रकारका है ॥ ६ ॥

यहाँपर 'द्वेधा' इस पदका अधिकारसे सम्बन्ध किया गया है । अब आचार्य उन दोनों भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

---

१. पर्यायरूपविशेषव्यापित्वाद् व्यक्तिनिष्ठत्वमूर्ध्वतासामान्यं सिद्धम् । २. पर्यायेषु । ३. तदेव जैनैरुपादानकारणं प्रोक्तं नैयायिकादिभिश्च समवायिकारणमुक्तमित्यर्थः । ४. पर्याय- । ५. एकरूपम् । ६ द्रव्यस्य । ७. ऊर्ध्वताख्यं द्रव्यं क्रमभावा हर्षादिपरिणामाः पर्यायाः, तं तदात्मकं तिर्यग्रूपं सामान्यं विसदृशपरिणामरूपविशेषस्तदात्मकं भेदाभेदात्मकं इत्येनेन वाक्यस्य द्रव्य-पर्यायात्मकं सामान्य-विशेषात्मकमिति वाक्यद्वयं व्याख्यातम् । ८ यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृद् (युगपत्) । तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥ इति भट्टाकलङ्कदेवैरलङ्कृतत्वात् । ९. चित्रज्ञानं युगपद् व्याप्नोति, ऊर्ध्वतासामान्यं क्रमेण व्याप्नोतीति युगपद्भेदो नान्यः । १०. यथा द्वेधा सामान्यं तथा विशेषश्चेत्यभिसम्बन्धः । ११. चकारोऽपिशब्दार्थे ।

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥

तदेव[1] प्रतिपादयति—

प्रथमविशेषभेदमाह—

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः[2] पर्याया[3] आत्मनि हर्ष-विषादादिवत् ॥ ८ ॥

अत्रात्मद्रव्यं [4]स्वदेहप्रमितिमात्रमेव, न व्यापकम् , नापि[5] वटकणिकामात्रम् । न च कायाकारपरिणतभूतकदम्बकमिति[6] ।

सूत्रार्थ—पर्याय और व्यतिरेकके भेदसे विशेष दो प्रकारका है ॥ ७ ॥

अब अचार्य विशेषके प्रथम भेदको कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक द्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं। जैसे आत्मामें हर्ष-विषाद आदि परिणाम क्रमसे होते हैं, वे ही पर्याय हैं ॥८॥

यहाँपर आचार्य आत्मद्रव्यके विषयमें विशेष ऊहापोह करते हुए कहते हैं कि यह आत्मद्रव्य अपने शरीरके प्रमाणमात्र ही है; न व्यापक है, न वटकणिकामात्र भी है और न शरीराकारसे परिणत पृथिव्यादि भूतोंके समुदायरूप है।

भावार्थ—यौगादि कितने ही मतावलम्बी आत्माको सर्वव्यापक मानते हैं। कितने ही मतवाले आत्माको वट-बीजके समान अत्यन्त छोटा मानते हैं और नास्तिकमती चार्वाक आत्मद्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व हो नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंके सम्मिलन-से एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह भूत-समुदायके विघट जाने-पर विनष्ट हो जाती है, अतः आत्मा नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आचार्य आगे इन ही तीनों मान्यताओंका क्रमसे खण्डन कर रहे हैं।

१. द्वैविध्यमेव। २. ज्ञानसुखवीर्यादयः। ३. ज्ञानसुखवीर्यदर्शनादय आत्मनः सहभावित्वाद् गुणाः स्युः, क्रमभावित्वाच्च ते पर्यायाश्च भवन्ति। कुतो वस्तुनोऽनेकधर्मात्मकत्वात्। ४. अहं सुखी, अहं दुःखी, घटादिकमहं वेद्मीत्यहमहमिकया स्वदेह एव सुखादिस्वभावतया आत्मा प्रतीयते, परसम्बन्धिनि देहान्तरेऽन्तराले वा न प्रतीयते। तथापि व्यापकत्वपरिकल्पनायां तस्य सर्वदर्शित्वं भोजनादिव्यवहारसङ्करश्च स्यात् , तस्य सर्वगात्मभिः सम्बन्धादिति। ५. बौद्धः। सर्वशरीरे सुखादिप्रतीतेर्विरोधान्नापि वटकणिकामात्रमिति। ६. चार्वाकः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपभूतकदम्बकमिति। अचेतनैः भूतकदम्बकैश्चेतनात्मन उत्पत्तिविरोधात्।

तत्र[1] व्यापकत्वे [2]परेषामनुमानम्—आत्मा व्यापकः, [3]द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वा[4]दाकाशवदिति । तत्र[5] यदि रूपादिलक्षणं [6]मूर्त्तत्वं तत्प्रतिषेधो[7]ऽमूर्त्तत्वम्; तदा [8]मनसाऽनेकान्तः । अथासर्वगत[9]द्रव्यपरिमाणं[10] मूर्त्तत्वम्, तन्निषेधस्तया[11] चेत्परम्प्रति[12] साध्यसमो[13] हेतुः । यच्चापरमनुमानम्—आत्मा व्यापकः, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे[14] सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवदिति ।

उन तीनों मान्यताओंमेंसे पहली मान्यतावाले आत्माके व्यापक होनेमें इस प्रकार अनुमानका प्रयोग करते हैं—आत्मा व्यापक है; क्योंकि उसमें द्रव्यपना होते हुए अमूर्त्तपना पाया जाता है। जैसे आकाश द्रव्य होते हुए अमूर्त्त है अतः व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा भी व्यापक है। आचार्य ऐसा अनुमान-प्रयोग करनेवालोंसे पूछते हैं कि यदि आप लोग रूपादि-लक्षणवाले मूर्त्तत्वके प्रतिषेधको अमूर्त्तत्व कहते हैं, तो आपके हेतुमें मनसे व्यभिचार आता है; क्योंकि आप लोगोंने मनको द्रव्य मान करके भी अमूर्त्त माना है, परन्तु उसे व्यापक नहीं माना है। यदि कहें कि असर्वगत अर्थात् अव्यापक या सीमित द्रव्यपरिमाणका नाम मूर्त्तत्व है और उसके निषेधको अमूर्त्तत्व कहते हैं, तो आपका हेतु पर जो हम जैन हैं उनके प्रति साध्यसम हो जाता है। अर्थात् फिर व्यापकपनेमें और अमूर्त्तपनेमें कोई भेद नहीं रहता और जैसे साध्य असिद्ध होता है, उसी प्रकार आपका हेतु भी असिद्ध हो जाता है और असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि होती नहीं है। आत्माको व्यापक सिद्ध करनेके लिए आपका दूसरा अनुमान यह है—आत्मा व्यापक है; क्योंकि वह अणुपरिमाण-अधिकरणवाला न होकर नित्य द्रव्य है; जैसे आकाश।

१. त्रिषु मध्ये । २. यौगानाम् । ३. हर्षविषादादिभावव्यवच्छेदार्थम् । ४. अमूर्त्तत्वादित्युक्ते क्रियासु व्यभिचारोऽत उक्त द्रव्यत्वे सतीति । ५. द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादिति साधने । ६. रूपरसगन्धस्पर्शमयी मूर्त्तिः । इदं लक्षणं मूर्तस्य । ७. रूपादिलक्षणप्रतिषेधोऽमूर्तत्त्वम् । ८. मनसि द्रव्यत्वे सति रूपादिलक्षणप्रतिषेधरूपामूर्त्तत्वं वर्तते, परन्तु व्यापकत्वं नास्ति । तस्माद् द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादिति हेतोः पक्षसपक्षविपक्षवृत्तित्वादनैकान्तिकत्वमिति । ९. अव्यापकम् । १०. अवच्छिन्नपरिमाणं मूर्त्तमिति जैनैरभ्युपगमात् । ११. अमूर्तत्वम् । १२. जैनं प्रति । १३. यद्यसर्वगतद्रव्यपरिमाणनिषेधोऽमूर्तत्वं तर्हि व्यापकत्वामूर्तत्त्वयोर्न कश्चिद्विशेषः स्यात् । एवं सत्यात्मा व्यापको व्यापकत्वादित्यायातमिति साध्यसमोऽयं हेतुः । यथा साध्ये विवादस्तथा हेतावपीत्यर्थः । आत्मनो व्यापकत्वं साध्यते, अमूर्तत्वादस्यापि व्यापकत्वं जातम् । कुतोऽव्यापकद्रव्यपरिमाणं मूर्त्तत्वं । तन्निषेधोऽमूर्तत्वं यतः । अप्रसिद्धत्वात् असर्वगतद्रव्यपरिमाणरहितत्वादित्ययं हेतुः साध्यसमः । १४. परमाणुभिरनेकान्तपरिहारार्थमणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति विशेषणं यतः परमाणुषु

तदपि न साधु साधनम् । अणुपरिमाणानधिकरणत्वमित्यत्र[1] किमयं नञर्थः पर्युदासः[2] प्रसज्यो[3] वा भवेत् ? तत्राद्यपक्षे[4] अणुपरिमाणप्रतिषेधेन महापरिमाणमवान्तरपरिमाणं[5] परिमाणमात्रं वा[6] । महापरिमाणं चेत्साध्यसमो[7] हेतुः । अवान्तरपरिमाणं चेद् विरुद्धो[8] हेतुः, अवान्तरपरिमाणाधिकरणत्वं ह्यव्यापकत्वमेव[9] साधयतीति । परिमाण-

विशेषार्थ—इस अनुमानमें 'नित्य है' यदि इतना ही हेतु कहते, तो परमाणुओंके रूपादि गुणोंमें भी नित्यता पाई जाती है, अतः उनसे व्यभिचार दोष प्राप्त होता, उसके परिहारके लिए द्रव्य ऐसा कहा है। यदि 'द्रव्य' इतना ही हेतु कहते, तो घट भी द्रव्य है, उससे व्यभिचार आता, अतः उसके परिहारके लिए नित्य विशेषण दिया है। यदि 'नित्य द्रव्य' ऐसा हेतु कहते तो मनसे व्यभिचार आता, अतः उसके परिहारके लिए अणुपरिमाणानधिकरणत्व ऐसा हेतुका विशेषण दिया है।

आचार्य कहते हैं कि आपका यह अनुमान भी साधु नहीं है; क्योंकि अणुपरिमाणानधिकरणत्व इस हेतुके विशेषणमें जो यह निषेधरूप नञर्थ है, वह पर्युदासरूप है कि प्रसज्यरूप है? उनमेंसे पर्युदासरूप आद्य पक्षके माननेपर अणुपरिमाणके प्रतिषेधसे महापरिमाण अभीष्ट है, अथवा अवान्तर अर्थात् मध्य परिमाण अभीष्ट है, अथवा परिमाणमात्र अभीष्ट है? यदि महापरिमाण कहें, तो हेतु साध्यसम है, क्योंकि महापरिमाण और व्यापकपनेमें कोई भेद नहीं है। यदि अवान्तरपरिमाण कहें, तो हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है; क्योंकि अवान्तर-परिमाणका अधि-

नित्यत्वमस्ति, व्यापकत्वं नास्ति । अणुपरिमाणाधिकरणादन्यत्वं वा, अणुपरिमाणाधिकरणाभावो वा इति । नित्यत्वादित्युक्ते परमाणुगतरूपेण व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं द्रव्यत्वादिति । द्रव्यत्वादित्युक्ते घटादिभिर्व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं नित्यमिति । तावत्युक्ते मनसाऽनेकान्तः व्याप्यकं मनो यतः, अत उक्तं अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति ।
१. साधने । २. भावान्तरस्वभावः । ३. तुच्छाभावरूपो वा । तदुक्तम्—
पर्युदासः प्रसज्यश्च द्वौ नञौ गदिताविह । पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकः ॥१॥
४. पर्युदासपक्षे । ५. मध्यपरिमाणम् । ६. इति विकल्पत्रयम् । ७. महापरिमाणस्यार्थो हि व्यापकत्वं तर्हि आत्मा व्यापकः, व्यापकत्वादित्यायातमिति । यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादित्यत्र हेतोः साध्यसमत्वं तथा प्रकृतेऽपीति भावः । महापरिमाणव्यापकत्वयोः समानार्थत्वात् । ८. व्यापकत्वविरुद्धाव्यापकत्वेनावान्तरपरिमाणस्य हेतोर्व्याप्तत्वाद्विरुद्धत्वमणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादिति हेतोः ।
९. घटादिकम् ।

मात्र चेत् तत्परिमाणसामान्यमङ्गीकर्तव्यम् । तथा[1] चाणुपरिमाणप्रतिषेधेन परिमाणसामान्याधिकरणत्वमात्मन[2] इत्युक्तम्[3] । [4]तच्चानुपपन्नम् ;[5] [6]व्यधिकरणासिद्धिप्रसङ्गात् । न हि परिमाणसामान्यमात्मनि व्यवस्थितम् ; किन्तु [7]परिमाणव्यक्तिष्वेवेति । [8]न चावान्तरमहापरिमाणद्वयाधारतयाऽऽत्मन्यप्रतिपन्ने परिमाणमात्राधिकरणता [9]तत्र निश्चेतुं शक्या[10] ।

दृष्टान्तश्च[11] साधनविकलः; आकाशस्य महापरिमाणाधिकरणस्य[12] परिमाणमात्राधिकरणत्वायोगात् । [13]नित्यद्रव्यत्वं च सर्वथाऽसिद्धम् ;[14] नित्यस्य क्रमाक्रमा[15]भ्यामर्थक्रिया-

---

करणपना तो अव्यापकपनेको ही सिद्ध करता है। यदि परिमाणमात्ररूप तीसरा विकल्प कहें, तो वह परिमाणसामान्य ही अङ्गीकार करना चाहिए। और इस प्रकारसे अणुपरिमाणके प्रतिषेध द्वारा आत्माके परिमाणसामान्यका अधिकरणपना है, ऐसा कहना सिद्ध होता है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वैसा माननेमें व्यधिकरणासिद्धिका प्रसङ्ग आता है। अर्थात् जैसे आप लोग द्रव्यत्वका द्रव्यमें ही समवाय मानते हैं और गुणत्वका गुणमें ही समवाय मानते हैं; उसी प्रकार परिमाणत्व-सामान्यका परिमाणमें ही समवाय होगा, न कि आत्मामें। इस प्रकारसे भिन्न अधिकरणताकी सिद्धि होती है। पर परिमाणसामान्य आत्मामें व्यवस्थित नहीं है; किन्तु परिमाणविशेषोंमें ही व्यवस्थित है; क्योंकि सामान्य अपने विशेषोंमें ही रहता है। और अवान्तर-परिमाण तथा महापरिमाण इन दोनोंके आधाररूपसे आत्माके अनिश्चित रहनेपर परिमाणमात्रकी अधिकरणता भी आत्मामें निश्चित नहीं की जा सकती है।

तथा आपने उक्त अनुमानमें आकाशका जो दृष्टान्त दिया है, वह साधन-विकल है; क्योंकि आकाश तो महापरिमाणका अधिकरण है, इसलिए वह परिमाणमात्रका अधिकरण हो नहीं सकता। उसी अनुमानमें नित्य द्रव्यत्व-रूप जो विशेष्य पद दिया है सो वह नित्यद्रव्यत्व सर्वथा असिद्ध है; क्योंकि

---

१. परिमाणसामान्याङ्गीकारे। २. आत्मा व्यापकः परिमाणसामान्याधिकरणत्वादाकाशवत्। ३. भवतीति शेषः। ४. परिमाणसामान्याधिकरणम्। ५. आत्मनः। ६. यथा द्रव्यत्वस्य द्रव्य एव समवायः, गुणत्वस्य गुण एव, तथा परिमाणसामान्यस्य (परिमाणत्वस्य) परिमाण एव समवायः, नात्मनीति व्यधिकरणासिद्धिरिति। आत्मनः सामान्याधिकरणत्वे सति विशेषाधिकरणस्यासिद्धिप्रसङ्गो भवति। ७. विशेषेषु। ८. दूषणान्तरं दीयते। ९. आत्मनि। १०. आत्मनि परिमाणविशेषाधिकरणासिद्धे न हि परिमाणसामान्याधिकरणकल्पना युज्यते, सामान्यस्याशेषविशेषनिष्ठत्वात्। ११. पूर्वमात्मन एव निश्चयात्। १२. प्रतिपन्नत्वात्। १३. हेतोर्विशेष्यासिद्धिमुद्भावयति। १४. आत्मनः। १५. युगपत्।

विरोधादिति[१]। [२]प्रसज्यपक्षेऽपि तुच्छाभावस्य[३] ग्रहणोपायासम्भवात्[४] न विशेषणत्वम्[५]। न चागृहीतविशेषणं[६] नाम; 'न चागृहीतविशेषणा[७] विशेष्ये[८] बुद्धिः' इति वचनात्। न प्रत्यक्षं [९]तद्ग्रहणोपायः, [१०]सम्बन्धाभावात्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं[११] हि प्रत्यक्षं तन्मते[१२] प्रसिद्धम्। [१३]विशेषण-विशेष्यभावकल्पनायामभावस्य नागृहीतस्य विशेषणत्वमिति तदेव[१४] दूषणम्। [१५]तस्मान्न [१६]व्यापकमात्मद्रव्यम्।

नित्य पदार्थके क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया होनेका विरोध है। इस प्रकार पर्युदासरूप प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है। दूसरे प्रसज्य पक्षको माननेपर भी तुच्छाभावके ग्रहण करनेका उपाय सम्भव न होनेसे विशेषणपना नहीं बन सकता है। क्योंकि जो अगृहीत हैं वह विशेषण नहीं हो सकता है। जैसे दण्डके ग्रहण नहीं करनेपर 'दण्डी' ऐसी विशेष्य बुद्धि नहीं उत्पन्न हो सकती है। विशेषणके नहीं ग्रहण करनेपर विशेष्यमें बुद्धि नहीं होती है, ऐसा न्याय-का वचन है। कहनेका भाव यह कि विशेषणके ग्रहण करनेपर ही यह विशेष्य है, ऐसी बुद्धि होती है। तथा, प्रत्यक्षप्रमाणसे उस तुच्छाभावके ग्रहण करनेका उपाय नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षके और तुच्छाभावके सम्बन्धका अभाव है। प्रत्यक्षज्ञान तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, ऐसा उन यौगोंके मतमें प्रसिद्ध है। यदि कहा जाय कि 'यह भूतल घटके अभाववाला है' इस प्रकारसे विशेषण-विशेष्यकी कल्पना करनेपर तुच्छाभावका ग्रहण किया जा सकता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव जब तक ग्रहण न कर लिया जाय, तब तक उसके विशेषणपना नहीं हो सकता।

१. कार्यकर्तृत्वायोगात्। २. प्रसज्य एव तुच्छाभावः। ३. अत्यन्ताभावस्य। ४. सर्वथाऽभावस्य ग्राहकं प्रमाणं नास्तीति भावः। नैयायिकस्यैतन्मतम्—इह भूतले घटो नास्ति, तत्र घटस्य भूतलेऽत्यन्ताभावः। तत्प्रत्यक्षेऽपि विशेषणविशेष्यरूपसन्निकर्षः, तत्रापि जैनः प्राह—एतदयुक्तम्, न तत्र भूतलविशेषणं सद्रूपम्। अत्राणुपरमाणो-रत्यन्ताभावविशेषणं असद्रूपमिति हेतोः। ५. अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सतीति हेतो-र्विशेषणं यदि तुच्छाभावरूपं तर्हि तद्ग्रहणोपायाभावाद्धेतोर्विशेषणासिद्धिर्नागृहीतविशेषणं नामेति नियमात्। तदसिद्धौ च नित्यद्रव्यत्वादिति विशेष्यासिद्धिश्च 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' इति नियमात्। न हि दण्डाग्रहणे दण्डिनि बुद्धिर्युज्यते। ६. अगृहीतं न भवतीति भावः। ७. अगृहीतं विशेषणं यथा सा। ८. दण्डिनि। ९. तुच्छाभाव-। १०. सम्बन्धाभावे प्रत्यक्षं कुतो न भवतीत्याह। ११. सम्बन्धजम्। १२. यौगमते। १३. विशेषण विशेष्यभावेन तुच्छाभावं गृह्णातीति चेत्। १४. पूर्वोक्तमेव। अभावरूपं विशेषणं केन प्रमाणेन गृहीतम्? न केनापि गृह्यते। १५. आत्मनो व्यापककल्पनाया-मनेकदोषसम्भवात्। १६. सर्वथा।

नापि वटकणिकामात्रम्; कमनीयकान्ताकुचजघनसंस्पर्शकाले [1]प्रतिलोमकूपमाल्हादनाकारस्य सुखस्यानुभवात्। अन्यथा[2] सर्वाङ्गीणरोमाञ्चादिकार्योदयायोगात्। [3]आशुवृत्त्याऽऽ[4]लातचक्रवत्क्रमेणैव तत्सुखमित्यनुपपन्नम्;[5] परापरान्तःकरणसम्बन्धस्य[6] तत्कारणस्य[7] परिकल्पनायां व्यवधानप्रसङ्गात्। अन्यथा[8] सुखस्य मानसप्रत्यक्षत्वायोगादिति।

इस प्रकार वे ही पूर्वोक्त दूषण यहांपर भी प्राप्त होते हैं। इसलिए आत्मा नामका द्रव्य व्यापक नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

आत्मा वटकणिकामात्र भी नहीं है; क्योंकि सुन्दर स्त्रीके स्तन और जघनके स्पर्श करनेके समय रोम-रोममें अर्थात् सर्वाङ्गमें आल्हाद आकारवाले सुखका अनुभव होता है। अन्यथा अर्थात् यदि आत्मा वट-कणिका मात्र होता और सर्व शरीरमें व्याप्त न होता, तो स्त्रीके सुन्दर सर्व अवयवोंके स्पर्शकालमें पुरुषको सर्वाङ्गमें रोमाञ्च आदि कार्य नहीं उत्पन्न होना चाहिए। यदि कहें कि आत्मा तो वटकणिकामात्र ही है, किन्तु आशुवृत्ति अर्थात् शीघ्रतासे अलातचक्रके समान सर्वाङ्गमें परिभ्रमण करता है, अतः सर्वाङ्गमें रोमाञ्च आदि कार्य देखे जाते हैं, वस्तुतः तो क्रमसे ही उस सुखकी अनुभूति होती है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सुखके कारणभूत अन्तःकरणके नये-नये सम्बन्धकी कल्पना करनेपर सुखके व्यवधानका प्रसङ्ग आता है। अन्यथा सुखके मानस-प्रत्यक्षता नहीं ठहरती है।

भावार्थ—यदि आत्माको वटबीजके समान मानकर शीघ्रतासे उसका सारे शरीरमें सञ्चार माना जाय, तब ऐसे माननेवालोंकी मान्यताके अनुसार मनके माध्यमसे सुखका अनुभव होगा। अतः शरीरके जिस-जिस प्रदेशमें आत्माका सञ्चार होगा, उस समय उस प्रदेशमें मनका नया-नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तब ऐसी दशामें एक प्रदेशसे सम्बन्ध छूट कर नवीन प्रदेशके साथ सम्बन्ध होनेके अन्तरालमें सुखका विच्छेद भी होना चाहिए। पर ऐसा अनुभवमें नहीं आता। और यदि मनके सम्बन्धके विना ही सुख-

---

१. सर्वाङ्गीणम्। २ यदि कमनीयकान्ताकुचजघनसंस्पर्शकाले प्रतिलोमकूपमाल्हादनाकारं सुखं न भवति चेत्। ३. शीघ्रवृत्त्या। ४. काष्ठाग्निभ्रमणवत्।

५. प्रदेशं प्रति सुखमनुक्रमेण चेत्तर्हि तत्रानुक्रमेणान्तःकरणसम्बन्धः पृथगस्तु, तदाऽन्यत्र प्रदेशे सम्बन्धो व्यवहितो भवति, तदा युगपत्सम्बन्धाभावाद् दूषणम्। ६. अन्योन्यं परापरान्तःकरणेन सह सम्बन्धः आत्मनस्तस्य। ७. सुखादिकारणस्य। ८. तत्सुखं मानसं नेति शङ्कायामाह तत्सुखस्य मानसत्वाकल्पेन। अन्तःकारणसम्बन्धेन विना चेत्सुखं, व्यवधानदूषणभियाऽन्तःकारणसम्बन्धो माऽस्तु।

नापि पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वमात्मनः सम्भाव्यते; अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगात् [1]धारणे[2]रण[3]द्रवो[4]ष्णता लक्षणान्वयाभावाच्च[5]। [6]तदहर्जातबालकस्य स्तनादावभिलाषाभावप्रसङ्गाच्च[7]। अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, [8]तच्च स्मरणे, स्मरणं चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः[9] सिद्धः। [10]मध्यदशायां तथैव [11]व्याप्तेः। मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात्, केषाञ्चिद्, भवस्मृतेरुपलम्भाच्चानादिश्चेतनः सिद्ध एव। तथा चोक्तम्—

का अनुभव माना जायगा, तो सुखको जो आप लोगोंने मानस प्रत्यक्षका विषय कहा है, वह नहीं बनेगा। अतः आत्मा घटकणिका मात्र है, यह मान्यता भी ठीक नहीं है।

अब आचार्य तीसरी मान्यताका निराकरण करते हैं—आत्माके पृथिवी आदि चार भूतोंसे उत्पन्न होनेकी सम्भावना भी नहीं है; क्योंकि अचेतन भूतोंसे चेतन आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और भूत-चतुष्टय का जो क्रमशः धारण, ईरण, द्रव और उष्णता-लक्षण स्वभाव है, उसका चैतन्यके अन्वय नहीं पाया जाता है।

भावार्थ—अन्य मतावलम्बियोंने पृथिवीका धारण, वायुका प्रेरण, जलका द्रवता और अग्निका उष्णता स्वभाव माना है। यदि आत्मा इन पृथिवी आदि चार भूतोंसे उत्पन्न होता है, तो उसमें उन चारों भूतोंके धारण आदि स्वभाव अवश्य पाये जाना चाहिए। पर पाये नहीं जाते, इससे ज्ञात होता है कि आत्मा पृथिवी आदि भूतचतुष्टयसे उत्पन्न नहीं होता।

और यदि आत्मा भूतचतुष्टयसे उत्पन्न होता, तो तत्काल उत्पन्न हुए बालकके स्तन-पानादिमें अभिलाषाके अभावका प्रसङ्ग आता है। अभिलाषा तो प्रत्यभिज्ञानके होनेपर होती है और प्रत्यभिज्ञान स्मरणके होनेपर होता है, तथा स्मरण धारणारूप अनुभवके होनेपर होता है। इस प्रकार पूर्वकालीन अनुभवका होना सिद्ध है। युवारूप मध्यवर्ती दशामें भी उसी प्रकारसे अभिलाषा आदिकी व्याप्ति सिद्ध है। तथा मरे हुए कितने ही जीव यक्ष-

१. धारणलक्षणा पृथिवी। २. ईरणलक्षणो वायुः। ३. द्रवलक्षणं जलम्। ४. उष्णतालक्षणोऽग्निः। ५. यथा घटे मृदन्वयः मृद् घटे परिणता प्रत्यक्षेण दृश्यते, तथा नास्ति। ६. तत्कालीनसमुत्पन्नशिशोः। ७. अस्ति चाभिलाषा। ८. प्रत्यभिज्ञानं च। ९. पूर्वमनुभवनं चेदभिलाषः। इत्यनेनाऽऽत्मनोऽनादित्वं साधितम्। १०. तर्हि मध्यमदशायां (युवावस्थायां) कथमित्याशङ्कायामाह। ११. चैतन्यस्याभिलाषायाः कारणं प्रत्यभिज्ञानं तच्च सति स्मरणे, स्मरणं च सति पूर्वानुभवे, इति व्याप्तेः।

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
[1]भूतानन्वयनात्सिद्धः [2]प्रकृतिज्ञः सनातनः[3] ॥४०॥ इति

न च स्वदेहप्रमितिरात्मेत्यत्रापि प्रमाणाभावात् सर्वत्र[4] संशय इति वक्तव्यम्; [5]तत्रानुमानस्य सद्भावात्। तथाहि—देवदत्तात्मा तद्देह[6] एव; तत्र सर्वत्रैव च विद्यते, तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलम्भात्[7]। यो यत्रैव-यत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते; यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुणः प्रदीपः। तथा[8] चायम्। तस्मा-

---

राक्षस आदि व्यन्तरदेवोंके कुलोंमें उत्पन्न होकर 'मैं अमुक हूँ' इस प्रकारसे कहते हुए देखे जाते हैं, कितने ही जीवोंको पूर्व भवका स्मरण पाया जाता है, इन सब प्रमाणोंसे आत्मा एक अनादि-कालीन चेतन पदार्थ है, यह सिद्ध ही है। जैसा कि कहा है—

तत्काल जात बालकके स्तन-पानकी इच्छासे, व्यन्तरादिकके देखनेसे, पूर्वभवके स्मरणसे और पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके गुण-धर्म-स्वभाव आदिका अन्वयपना नहीं पाये जानेसे स्वभावतः ज्ञाता द्रष्टा और सनातन अर्थात् द्रव्यरूपसे नित्य आत्मा स्वयं सिद्ध है ॥४०॥

आत्मा स्वदेह-प्रमाण है, इस विषयमें प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वत्र संशय है, ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि इस विषयमें अनुमानप्रमाणका सद्भाव है। आगे उसे ही कहते हैं—देवदत्तका आत्मा उसके देहमें ही है और उसके सर्व प्रदेशोंमें ही विद्यमान है; क्योंकि वह उसके शरीरमें और सर्व प्रदेशोंमें ही ज्ञान-दर्शनादि अपने असाधारण गुणोंके आधाररूपसे उपलब्ध होता है। जो जहाँपर और यत्र सर्वत्र ही अपने असाधारण गुणोंके आधार-रूपसे पाया जाता है, वह वहाँपर और वहाँके सर्व प्रदेशोंमें ही विद्यमान है। जैसे कि देवदत्तके घरमें और उसके सर्व भागमें अपने असाधारण भासुरत्व आदि गुणवाला प्रदीप पाया जाता है। उसी प्रकार देहमें और उसके सर्व प्रदेशोंमें अपने असाधारण गुणोंके आधारवाला देवदत्तका आत्मा है, इसलिए

---

१. भूतसंघातस्यान्वयाभावात्। २. स्वभावेन ज्ञाता। ३. द्रव्यरूपतया नित्यः। ४. स्वदेहप्रमितौ व्यापके वटकणिकामात्रे च। ५. आत्मा स्वदेहप्रमितिरित्यत्र ६. तद्देह एवेति व्यापकवादिनं प्रति। ७. अस्मिन्ननुमाने साध्यसाधनयोरात्मनो वटकणिकापरिमाणप्रतिषेधार्थं तत्र सर्वत्रैवेति पदं दत्तम्। व्यापकत्वनिरासार्थं तद्देह एवेति पदं दत्तमिति। सर्वत्र सर्वेषु प्रदेशेषु। ८. तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधार-

सर्थेति[1]। तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते[3] च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव[4] चोपलभ्यन्ते।

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥४१॥

इति वचनात्[5]। तस्मादात्मा देहप्रमितिरेव स्थितः।

द्वितीयं विशेषभेदमाह—

अर्थान्तरगतो[6] विसदृशपरिणामो[7] व्यतिरेको[8] गोमहिषादिवत्[9] ॥८॥

वह उसके देह-प्रमाण ही है। आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य लक्षणवाले असाधारण गुण हैं और वे आत्मामें ही सर्वाङ्ग व्याप्त पाये जाते हैं। यहाँ पर देहमें ही आत्मा है, ऐसा कहनेसे आत्माके व्यापकपनेका निषेध किया गया है और वह उसके सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त है, ऐसा कहनेसे वटकणिकामात्र होने-का निषेध किया गया है, ऐसा विशेष जानना चाहिए।

युवा पुरुषके कान्ताके साथ समागम करनेपर आल्हाद या आनन्दरूप आकारवाले सुखका, ज्ञेय पदार्थोंके जाननेरूप विज्ञानका और रमणरूप क्रियासे शक्तिका अनुमान किया जाता है ॥ ४१ ॥ ऐसा वचन है।

भावार्थ— स्त्री समागमके समय आनन्द, विज्ञान और सामर्थ्य इन तीनों ही आत्मगुणोंकी प्रतीति होती है।

इसलिए आत्मा देह-प्रमाण ही है, यह स्थित हुआ।

अब आचार्य विशेषके दूसरे भेदको कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक पदार्थकी अपेक्षा अन्य पदार्थमें रहनेवाले, विसदृश परिणामको व्यतिरेक कहते हैं। जैसे गाय-भैंस आदिमें विलक्षणपना पाया जाता है ॥८॥

वांश्च देवदत्तात्मा। १. तस्मात्तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यमानः। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। २. आत्माऽसाधारणगुणाः। ३. गुणाः। ४. आत्मन्येव। ५. अनुमान-सामर्थ्यात्। ६. एकस्मादर्थात्सजातीयो विजातीयो वाऽर्थोऽर्थान्तरम्। तं गतोऽर्थान्तर गतः। ७. खण्डलक्षणाद्गोः सजातीयो मुण्डलक्षणो गौः, विजातीयो महिषः, खण्डापेक्षया मुण्डो विसदृशाकारो महिषापेक्षया च विसदृशाकार इत्यर्थः। ८. विशेष इति सम्बन्धः। ९. यथा गोषु खण्डमुण्डादिलक्षणो महिषेषु विशालविसंकटत्वलक्षणो गोमहिषेषु च परस्परमसाधारणस्वरूपलक्षणो विसदृशपरिणामोऽस्ति।

[1]वैसादृश्यं हि [2]प्रतियोगिग्रहणे सत्येव भवति । न[3] चापेक्षिक[4]त्वाद[5]स्यावस्तुत्वम्; [6]अवस्तुन्यापेक्षिकत्वायोगात् । अपेक्षाया [7]वस्तु-निष्ठत्वात् ।

[8]स्यात्कारलाञ्छितमबाध्यमनन्तधर्म—
सन्दोह[9]र्मितमशेषमपि प्रमेयम् ।
[10]देवैः प्रमाणबलतो निरचायि[11] यच्च[12]
संक्षिप्तमेव[13] मुनिभिर्विवृतं [14]मयैतत् ॥१०॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ विषयसमुद्देशश्चतुर्थः ।

विसदृशता प्रतियोगी अर्थात् प्रतिपक्षीके ग्रहण करनेपर ही प्रतीत होती है। आपेक्षिक होनेसे इस विसदृशताको अवस्तु नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अवस्तुमें आपेक्षिकपना नहीं बन सकता है। किन्तु अपेक्षाके वस्तुनिष्ठपना है, अर्थात् अपेक्षा वस्तुमें ही पाई जाती है, अवस्तुमें अपेक्षा नहीं होती है।

इस प्रकार प्रमाणके विषयका निरूपण किया।

स्यात् पदसे लाञ्छित, अबाध्य, अनन्त धर्मोंके समूहसे संयुक्त ऐसे समस्त ही जिस प्रमेयतत्त्वको अकलङ्कदेवने प्रमाणके बलसे कहा, और जिसे माणिक्यनन्दिदेवने संक्षेपसे सूत्ररूपमें रचा, उसे ही मैंने (अनन्तवीर्यने) यहांपर वृत्तिरूपसे विवरण किया है ॥१०॥

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें प्रमाणके विषयका प्रतिपादन करनेवाला चतुर्थ समुद्देश समाप्त हुआ।

***

१. कुतः ? २. प्रतिपक्षे । ३. अनेन बौद्धमतं निराकृतम् । ४. अपेक्षा अवस्तु न भवति, किन्तु सत्यं भवति । ५. वैसादृश्यस्य । ६. सर्वथाऽभावे । ७. द्रव्य- । ८. अप्रयुक्तो हि स्यात्कारोऽर्थात्सर्वत्र प्रतीयते । विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥१॥ ९. संयुक्तम् । १०. अकलङ्कदेवैः । ११. विरचितम् । १२. प्रमेयम् । १३. माणिक्यनन्दिभिर्देवैः । १४. वृत्तिरूपेणाभ्यधायि । १५. अनन्तवीर्येण ।

पञ्चमः समुद्देशः

अथेदानीं फलविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥

द्विविधं हि फलं साक्षात्पारम्पर्येणेति । साक्षादज्ञाननिवृत्तिः पारम्पर्येण हानादिकमिति; प्रमेयनिश्चयोत्तरकालभावित्वात्तस्येति ।

अब आचार्य प्रमाणके फलकी विप्रतिपत्तिके निराकरणके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—अज्ञानकी निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा[1] ये प्रमाणके फल हैं ॥ १ ॥

फल दो प्रकारका होता है—साक्षात्फल और पारम्पर्यफल । वस्तु-सम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति होना यह प्रमाणका साक्षात्फल है । हान आदिक परम्पराफल है; क्योंकि वह प्रमेयके निश्चय करनेके उत्तरकालमें होता है ।

भावार्थ—वस्तुके जाननेके साथ ही तत्काल होनेवाले फलको साक्षात् फल कहते हैं । जब हम किसी अज्ञात वस्तुको प्रमाणसे जानते हैं, तब तत्सम्बन्धी अज्ञान तत्काल दूर हो जाता है । यही अज्ञानकी निवृत्ति प्रमाणका साक्षात्फल है । वस्तुके जाननेके पश्चात् परम्परासे प्राप्त होनेवाले फलको पारम्पर्यफल कहते है । वह हान, उपादान और उपेक्षाके भेदसे तीन प्रकारका है—जाननेके पश्चात् अनिष्ट या अहितकर वस्तुके परित्याग करनेको हान कहते हैं । इष्ट या हितकर वस्तुके ग्रहण करनेको उपादान कहते हैं । जब तक मनुष्य के राग-द्वेष लगा रहता है, तब तक वह पर पदार्थोंमें कभी इष्टकी और कभी अनिष्टकी कल्पना किया करता है । किन्तु जब वह राग-द्वेषसे रहित वीत-राग दशाको प्राप्त कर लेता है, तब उसके किसी भी पदार्थमें इष्ट-अनिष्टकी

---

१. उदासीनता । २. प्रमाणमेव प्रमेयनिश्चयकाले अज्ञाननिवृत्तिः । अज्ञानमज्ञप्तिः स्व-पररूपव्यामोहस्तस्य निवृत्तिर्यथावत्तद्व्यज्ञप्तिः ।

तद्द्विविधमपि फलं प्रमाणाद्भिन्नमेवेति यौगाः। अभिन्नमेवेति सौगताः। तन्मत-द्वयनिरासेन स्वमतं व्यवस्थापयितुमाह—

प्रमाणादभिन्नं[1] भिन्नं[2] च[3] ॥५॥

कथञ्चिदभेदसमर्थनार्थं हेतुमाह—

यः[4] प्रमिमीते[5] स एव[6] निवृत्ताज्ञानो[7] जहात्यादत्त[8] उपेक्षते[9] चेति प्रतीतेः[10] ॥३॥

कल्पना नहीं रहती है। उस वीतराग दशामें किसी भी पदार्थको जाननेके पश्चात् उसमें हेय-उपादेयकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु उपेक्षा या उदासीनतारूप माध्यस्थ्य भाव पैदा होता है, यह भी प्रमाणका पारम्पर्यफल है। राग-द्वेष दूर होनेके पहले भी मनुष्य जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं समझता, ऐसे ज्ञेय पदार्थोंमें उपेक्षाभाव रखता है।

यह दोनों ही प्रकारका फल प्रमाणसे भिन्न ही है, ऐसा यौग लोग कहते हैं। प्रमाणसे फल अभिन्न ही है, ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। इन दोनों मतोंके निराकरणके साथ अपने मतकी व्यवस्था करनेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह फल प्रमाणसे कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है ॥२॥

अब आचार्य कथञ्चित् अभेदके समर्थनके लिए हेतुरूप उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जो प्रमाणसे पदार्थको जानता है, उसीका अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट वस्तुका त्याग करता है, इष्ट वस्तुको ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्टरूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे सिद्ध है कि प्रमाणसे फल अभिन्न है ॥ ३ ॥

---

१. अज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणस्याभिन्नं फलम्। अत्र कथञ्चिदभेदो द्रष्टव्यः, कारणकार्यभेदादिति। २. हानोपादानोपेक्षाश्च प्रमाणस्य भिन्नं फलम्। अत्रापि कथञ्चिद्भेदौ द्रष्टव्यौ, सर्वथा भेदे प्रमाणफलव्यवहारविरोधादिति। ३. भिन्नाभिन्नात्मकमित्यर्थः। ४. यः प्रतिपत्ता। ५. निश्चिनुते, स्वार्थग्रहणपरिणामेन परिणमते। ६. स्वविषये व्यामोहरहितः। ७. अभिप्रेतप्रयोजनाप्रसाधकमर्थं जहाति। ८. अभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधकमर्थमादत्ते। ९. उभयप्रयोजनाप्रसाधकं तूपेक्षणीयमुपेक्षते। १०. प्रमाणफलयोः कथञ्चिद्भेदाभेदव्यवस्था प्रतिपत्तव्येति सम्बन्धः।

अयमर्थः—यस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण[1] परिणतिस्तस्यैव [2]फलरूपतया परिणाम इत्येक[3]प्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः। [4]करण[5]क्रिया[6]परिणाम[7]भेदाद् भेद इत्यस्य[8] सामर्थ्यसिद्धत्वान्नोक्तम्[8]।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽभिधायि यत्।
[9]देवैर्भिन्नमभिन्नं च प्रमाणात्तदिहोदितम्[10] ॥११॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ फलसमुद्देशः पञ्चमः।

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस ही आत्माकी प्रमाणके आकारसे परिणत होती है, उसके ही फलरूपसे परिणाम देखा जाता है; इसलिए एक प्रमाताकी अपेक्षासे प्रमाण और फलमें अभेद है। प्रमाण करण-रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है; इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणामके भेदसे प्रमाण और फलमें भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्यसे सिद्ध होनेके कारण सूत्रकारने पृथक् नहीं कहा है।

आचार्य अकलङ्कदेवने और माणिक्यनन्दिने प्रमाणके जिस फलको साक्षात् और पारम्पर्यके भेदसे दो प्रकारका कहा है, वह प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्न भी है और अभिन्न भो है, वही यहाँपर मैंने कहा है॥ ११॥

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें प्रमाणके फलका वर्णन करनेवाला
पञ्चम समुद्देश समाप्त हुआ

---

१. करणाकारेण। २. प्रमितिरूपतया। ३. आत्मा। ४. प्रमाणम्। ५. जानाति। ६. आत्मा कर्ता करणेन ज्ञानेन जानाति इति सैव वा फलम्। ७. भेदस्य। ८. भेदरूपफलं सूत्रेण न निबद्धम्। ९. अकलङ्कदेवैर्माणिक्यनन्दिदेवैश्च। १०. अनन्तवीर्येण।

षष्ठः समुद्देशः

अथेदानीमुक्त[1]प्रमाणस्वरूपादिचतुष्टयाभासमाह—

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥१॥

तत उक्तात् प्रमाणस्वरूपसङ्ख्याविषयफलभेदादन्यद्विपरीतं तदाभासमिति ।

तत्र क्रमप्राप्तं स्वरूपाभासं दर्शयति—

[2]अस्वसंविदितगृहीतार्थ[3]दर्शन[4]संशयादयः[5] प्रमाणाभासाः ॥२॥

अब आचार्य ऊपर कहे गये प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फल इन चारोंके आभासोंको कहनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनसे भिन्न तदाभास हैं ॥ १ ॥

उनसे अर्थात् ऊपर जिनका वर्णन किया गया है ऐसे प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फलसे अन्य यानी विपरीत स्वरूप, संख्या, विषय और फलको तदाभास कहते हैं ।

भावार्थ—यथार्थ स्वरूपसे रहित होनेपर भी उन जैसे प्रतिभासित होनेवाले स्वरूपादिको तदाभास कहते हैं । प्रमाणके स्वरूपसे रहित विपरीत आभासको स्वरूपाभास कहते हैं । प्रमाणकी यथार्थ संख्यासे विपरीत अयथार्थ संख्याको संख्याभास कहते हैं । प्रमाणके वास्तविक विषयसे विपरीत विषयको विषयाभास कहते हैं और प्रमाणके वास्तविक फलसे रहित फलको फलाभास कहते हैं । इस समुद्देशमें आचार्य अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार इन ही चारों प्रकारके आभासोंका स्वरूप कहेंगे ।

अब आचार्य उनमेंसे क्रम-प्राप्त स्वरूपाभासको दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशयादिक प्रमाणाभास हैं ॥ २ ॥

---

१. प्रमाणशब्दः प्रत्येकं सम्बन्धनीयः । २. अस्वसंविदितस्य स्वग्राहकत्वाभावेनार्थप्रतिपत्त्ययोगात् प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावः । ३. निर्विकल्पकं दर्शनं तस्य प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावस्तज्जनितविकल्पस्यैव तदुपदर्शकत्वात् । ४. आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसायौ ग्राह्यौ ।

अस्वसंविदितश्च गृहीतार्थश्च दर्शनञ्च संशय आदिर्येषां ते संशयादयश्चेति सर्वेषां द्वन्द्वः। आदिशब्देन विपर्ययानध्यवसाययोरपि ग्रहणम्।

तत्रास्वसंविदितं ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वादिति नैयायिकाः। तथाहि—ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यम्[1]; वेद्यत्वात्[2], घटवदिति। तदसङ्गतम्; धर्मिज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे साध्यान्तःपातित्वेन धर्मित्वायोगात्[3]। [4]स्वसंविदितत्वे तेनैव[5] [6]हेतोरनेकान्तात्[7]। महेश्वर-

सूत्र-पठित अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशय हैं आदिमें जिनके ऐसे संशयादि इन सभी पदोंका द्वन्द्वसमास करना चाहिए। आदि शब्दसे विपर्यय और अनध्यवसायका भी ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ—सूत्रमें जिन अस्वसंविदित आदि ज्ञानोंको प्रमाणाभास कहा गया है, उनका खुलासा इस प्रकार है—जो ज्ञान अपने आपके द्वारा अपने स्वरूपको नहीं जानता है, उसे अस्वसंविदित ज्ञान कहते हैं। किसी यथार्थ ज्ञानके द्वारा पहले जाने हुए पदार्थके पुनः जाननेवाले ज्ञानको गृहीतार्थ ज्ञान कहते हैं। यह घट है, यह पट है, इत्यादि विकल्पसे रहित निर्विकल्परूप ज्ञानको दर्शन कहते हैं। परस्पर विरोधी दो पक्षोंके विषय करनेवाले ज्ञानको संशय कहते हैं। वस्तुके अन्यथा जाननेको विपर्यय कहते हैं। वस्तुका यथार्थ निश्चय न होकर कुछ है, इस प्रकारके अनिश्चित ज्ञानको अनध्यवसाय कहते हैं। ये सभी प्रमाणके स्वरूपाभास हैं, क्योंकि वे प्रमाणके यथार्थ स्वरूपसे रहित हैं।

नैयायिकोंका कहना है कि कोई भी ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, किन्तु अन्य ज्ञानसे ही उसका प्रत्यक्ष होता है। आगे इसी बातको वे स्पष्ट करते हैं—ज्ञान अपनेसे अतिरिक्त अन्य ज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य है; क्योंकि वह ज्ञेय है; जैसे घट। आचार्य कहते हैं कि नैयायिकोंका यह कथन असङ्गत है; क्योंकि धर्मी अर्थात् पक्षरूपसे आपके द्वारा प्रतिपादित जो ज्ञान है, उसके अन्य ज्ञानसे वेद्यपना माननेपर उसके भी साध्यके अन्तर्गत हो जानेसे धर्मीपना नहीं रह सकेगा। कारण कि धर्मी तो प्रसिद्ध होता है और साध्य असिद्ध। अतः धर्मी ज्ञानके असिद्ध हो जानेसे वेद्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध

१. ज्ञानान्तरवेद्यमित्यर्थः। २. प्रमेयत्वात्। ३. प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धो हि धर्मी भवति। न चात्रानुमाने धर्मिज्ञानं प्रमाणप्रसिद्धमस्ति। ततस्तस्य साध्यान्तःपातित्वेन धर्मित्वायोगात्, धर्मिणो ज्ञानस्यासिद्धेश्च वेद्यत्वादिति हेतुराश्रयासिद्ध इति भावः। ४. धर्मिज्ञानं स्वसंविदितं ततो न यथोक्तदोषानुषङ्ग इति शङ्कायामाह। ५. धर्मिज्ञानेनैव। ६. वेद्यत्वादिति हेतोः। ७. धर्मिज्ञाने हि वेद्यत्वमस्ति, परन्तु स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यत्वं

[2]ज्ञानेन च व्यभिचाराद्[3], [4]व्याप्तिज्ञानेनाप्यनेकान्तादर्थप्रतिपत्त्ययोगाच्च[5]। न हि [6]ज्ञापक-मप्रत्यक्षं ज्ञाप्यं[7] गमयति[8]; [9]शब्दलिङ्गादीनामपि तथैव[10] गमकत्वप्रसङ्गात्।

हो जाता है। यदि धर्मी जो ज्ञान है, उसके स्वसंविदितपना कहें, अर्थात् अपने आपको जाननेवाला मानें, तो उस धर्मी ज्ञानके द्वारा ही वेद्यत्व हेतुके अनेकान्तपना प्राप्त होता है; क्योंकि धर्मी ज्ञानमें वेद्यत्व तो है, परन्तु स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यत्व नहीं है, इसलिए साध्यके अभाववाले विपक्षमें भी हेतुके सद्भावसे व्यभिचार दोष आता है। तथा महेश्वरके ज्ञानसे भी व्यभिचार आता है। आप लोग महेश्वरके ज्ञानको अस्वसंविदित कहेंगे तो अपने आपको न जाननेसे उसके सर्वज्ञता नहीं रहती है। और यदि उसके ज्ञानको स्वसंविदित कहेंगे, तो प्रथम तो आपके मतकी हानि होती है। दूसरे महेश्वरज्ञानमें ज्ञानान्तर-वेद्यत्व तो नहीं है, किन्तु वेद्यत्व पाया जाता है, इसलिए उससे व्यभिचार आता है। तथा व्याप्तिके ज्ञानसे भी व्यभिचार आता है; क्योंकि व्याप्ति-ज्ञानमें अन्य ज्ञानसे व्यवधान नहीं है। तथा अस्वसंविदित ज्ञानसे पदार्थकी प्रतिपत्ति अर्थात् जानकारी भी नहीं हो सकती है; क्योंकि ज्ञापक अर्थात् जानकारी करानेवाला ज्ञान ही यदि अप्रत्यक्ष हो—अपने आपको न जाने—तो वह जनानेके योग्य जो ज्ञाप्य वस्तु है, उसे नहीं जना सकता है; अन्यथा शब्द और लिङ्ग आदिके भी तथैव अर्थात् स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए भी गमकपनेका प्रसङ्ग आता है।

भावार्थ—यदि यह माना जाय कि ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष रहते हुए भी ज्ञेयका ज्ञान कराता है, तो शब्द कानसे सुने विना ही अर्थका ज्ञान करानेवाला ठहरता है, तथा धूमादिक लिङ्ग (हेतु) आँखोंसे देखे विना ही अग्नि

नास्ति। ततः साध्याभाववति विपक्षेऽपि हेतोः सद्भावाद् व्यभिचारित्वमिति। यद्वेद्यं तद्वेदनान्तरवेद्यमिति व्याप्तिस्तेन व्यभिचारः। १. महेश्वरज्ञानं अस्वसंविदितं तत्सर्वज्ञतारूपं न भवति। स्वसंविदितं चेन्मतहानिः। २. महेश्वरज्ञाने ज्ञानान्तरवेद्यत्वं नास्ति, वेद्यत्वमस्ति, ततस्तेन व्यभिचारः। ३. ज्ञानान्तरेण व्याप्तिज्ञाने व्यवधानाभावात्। ४. ज्ञानं स्वपरप्रकाशकं ज्ञानत्वान्महेश्वरज्ञानवत्, अव्यवधानेनार्थप्रकाशकत्वाद्वाऽर्थग्रहणात्मकत्वाद्वा महेश्वरज्ञानवत्। यत्पुनः स्वपरप्रकाशकं न भवति न तज्ज्ञानव्यवधानेनार्थप्रकाशकं अर्थग्रहणात्मकं वा, यथा चक्षुरादिः। ५. ज्ञानम्। ६. ज्ञेयमर्थम्। ७. मया अप्रत्यक्षं ज्ञानं न गमयति, इत्युक्तम्। त्वया गमयति इत्युच्यते चेत् श्रवणाप्रत्यक्षः शब्दोऽर्थं गमयतु दृष्टेरप्रत्यक्षो धूमोऽग्निं गमयेत्। ८. अन्यथा। ९. यत्र धूमस्तत्राग्निः। १०. स्वयमप्रत्यक्षत्वेनैव।

[1]अनन्तरभाविज्ञानग्राह्यत्वे [2]तस्याप्यगृहीतस्य[3] [4]पराज्ञापकत्वात्तदनन्तरं[5] कल्पनीयम् । तत्रापि[6] तदनन्तरमित्यनवस्था । तस्मान्नायं पक्षः[7] श्रेयान् ।

[8]एतेन [9]करणज्ञानस्य[10] परोक्षत्वेनास्वसंविदितत्वं ब्रुवन्नपि मीमांसकः[11] प्रत्युक्तः; [12]तस्यापि [13]ततोऽर्थप्रत्यक्षत्वायोगात् । [14]अथ [15]कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादप्रत्यक्षत्वे[16] [17]तर्हि [18]फलज्ञानस्याप्रत्यक्षता तत[19] एव स्यात् । अथ[20] [21]फलत्वेन [22]प्रतिभासनात् नो चेत्

आदिके ज्ञान करानेवाले सिद्ध होते हैं। पर ऐसा होता नहीं है, अतः ज्ञानको स्व-पर-संवेदी मानना चाहिए।

यदि कहा जाय कि पूर्व ज्ञानके अनन्तर-भावी ज्ञानके द्वारा ग्राह्यता बन जाती है, तो उस अनन्तर-भावी अगृहीत ज्ञानके भी परकी अज्ञापकता रहनेसे तदनन्तर-भावी अन्य ज्ञानकी कल्पना करनी चाहिए और उसके लिए भी अन्य तदनन्तरभावी ज्ञानकी कल्पना करनी चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, किन्तु अन्य ज्ञानसे जाना जाता है, यह नैयायिकका पक्ष ठीक नहीं है।

इसी कथनसे अर्थात् ज्ञानकी ज्ञानान्तरवेद्यताके निराकरणसे करण-ज्ञानको परोक्ष होनेसे अस्वसंविदितपना कहनेवाले मीमांसक भी निराकृत कर दिये गये; क्योंकि उनके भी उस करणज्ञानसे अर्थकी प्रत्यक्षता नहीं बनती है। यदि कहा जाय कि कर्मरूपसे प्रतीत न होनेके कारण करणज्ञानके अप्रत्यक्षता है, तो हम कहते हैं कि इसीलिए ही अर्थात् कर्मरूपसे प्रतीत न

---

१. प्रथमज्ञानस्य । एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानम् । तदपि ज्ञानान्तरेण गृहीतं विलोक्यते । २. अनन्तरभाविज्ञानस्यापि । ३. अपर-ज्ञानेनागृहीतस्य पूर्वज्ञानेन गृहीतुं न पार्यते । ४. प्रथमज्ञानस्य । ५. ज्ञानान्तरम् । ६. तदनन्तरज्ञानेऽपि । ७. ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वादिति पक्षः ।

८. ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वनिराकरणेन । परिच्छित्तिसाधनं ज्ञानम् । ९. मीमांसकेन करणज्ञानं ज्ञानान्तरेणानुमेयम् । १०. करणप्रमाणरूपस्य । ११. भाट्टः प्रभा-करश्च । भाट्टमते आत्मा प्रत्यक्षम्, प्रभाकरमते तु फलज्ञानं प्रत्यक्षम् । १२. मीमांस-कस्यापि । करणज्ञानात् अगृहीताद् इति प्रतिपादनानन्तरम् । १३. करणज्ञानतः । १४. प्रभाकर आह । १५. करणज्ञानस्य । १६. यथा घटः कर्मत्वेन प्रतीयते तथा करणज्ञानं कर्मत्वेन न प्रतीयते । अतोऽप्रत्यक्षता करणज्ञानस्य । यत्कर्मत्वेन प्रतीयते तत्प्रत्यक्षम् । १७. यदि कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानस्य परोक्षता, तर्हि । १८. प्रमितिक्रियायाः । १९. कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादेव । २०. भाट्टस्य तु कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वादात्मनोऽप्यप्रत्य-क्षता स्यादिति । २१. क्रियात्वेन फलज्ञानस्य । २२. अतः परोक्षता नो चेदिति सम्बन्धः ।

[1]करणज्ञानस्यापि[2] करणत्वेनावभासनात् प्रत्यक्षत्वमस्तु। [3]तस्मादर्थप्रति[4]पत्त्यन्यथाऽनुपपत्तेः[5] [6]करणज्ञानकल्पनावदर्थप्रत्यक्षत्वान्यथाऽ[7]नुपपत्तेर्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु[8]। अथ करणस्य[9] चक्षुरादेरप्रत्यक्षत्वेऽपि रूपप्राकट्याद् व्यभिचार[10] इति चेन्न, भिन्नकर्तृकरणस्यैव[11] [12]तद्व्यभिचारात्। अभिन्नकर्तृके [13]करणे सति [14]कर्तृप्रत्यक्षतायां तदभिन्नस्यापि[15] करणस्य कथञ्चित्[16] प्रत्यक्षत्वेनाप्रत्यक्षतैकान्तविरोधात्, [17]प्रकाशात्मनोऽ[18]प्रत्यक्षत्वे[19]

होनेके कारण ही फलज्ञानके भी अप्रत्यक्षता मानी जाय। यदि कहा जाय कि फलरूपसे प्रतिभासित होनेके कारण फलज्ञानके परोक्षता नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षता है, तो हम भी कहते हैं कि करणज्ञानके भी करणरूपसे प्रतिभासित होनेके कारण प्रत्यक्षता मानी जाय। इसलिए अर्थका ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकनेसे जैसे करणज्ञानकी कल्पना की जाती है, उसीके समान अर्थकी प्रत्यक्षता अन्यथा नहीं हो सकनेसे ज्ञानके भी प्रत्यक्षता रही आवे, अर्थात् ज्ञानके भी प्रत्यक्षता मानी जाय। यदि कहा जाय कि करण चक्षु आदि इन्द्रियके अप्रत्यक्षपना होनेपर भी रूपकी प्रकटतासे व्यभिचार आता है, सो भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भिन्न कर्त्तावाले करणके ही वह व्यभिचार दोष प्राप्त होता है। किन्तु अभिन्नकर्त्तावाले करणके होनेपर कर्त्ताके प्रत्यक्ष होनेकी दशामें उससे अभिन्न करणके भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष होनेसे अप्रत्यक्षता

---

१. तर्हि। २. करणज्ञानमस्ति यथा तथा करणज्ञानस्यापि प्रत्यक्षता साध्यते। ३. अनेन हेतुना अस्तित्वकल्पना करणज्ञानस्य तथा प्रत्यक्षम्। ४. समः समाधिः प्रदर्श्यते—अर्थप्रत्यक्षत्वात् अन्यथानुपपत्तेर्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु। ५. स्वसंविदितमन्तरेण। ६. मयि करणज्ञानमस्ति, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेन वेद्यत्वादप्रत्यक्षत्वमिति चेत्। ७. स्वसंविदितमन्तरेण। ८. करणज्ञानं प्रत्यक्षं भवितुमर्हति, अर्थप्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्तेः। करणज्ञानमस्ति, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरिति चेत् करणज्ञानं प्रत्यक्षमर्थप्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्तेरित्यपि भवत्विति भावः। ९. इन्द्रियस्य। १०. करणभूते चक्षुरादौ रूपादिप्राकट्यमस्ति, प्रत्यक्षत्वं नास्ति। ततः साध्याभाववति हेतोः सद्भावाद् व्यभिचार इति। ११. करणं द्वेधा विभक्ताविभक्तकर्तृकभेदात्। कर्तुरन्यद्विभक्तकर्तृककरणम्, यथा परशुना छिनत्ति देवदत्तः। कर्तुरनन्यदविभक्तकम्, यथाऽग्निर्दहत्यौष्ण्येनेति। इह त्वविभक्तकर्तृककरणं विवक्षितं तस्माद्विभक्तकर्तृककरणेन व्यभिचारोऽपि न दोषायेति भावः। १२. हेतोः। १३. लब्धिलक्षणे भावेन्द्रिये। १४. तन्मते आत्मा प्रत्यक्षः। १५. कर्तुरभिन्नस्यापि। १६. आत्मापेक्षया। १७. प्रकाशरूपस्य। १८. अप्रत्यक्षमात्मानं वदन्तं प्राभाकरं प्रतीदम्। १९. प्राभाकरमतानुसारेणोक्ते सतीदम्।

[1]प्रदीपप्रत्यक्षत्वविरोधवदिति।

[2]गृहीतग्राहिधारावाहि[3] ज्ञानं गृहीतार्थम्, [4]दर्शनं सौगताभिमतं निर्विकल्पकम्; तच्च[5] [6]स्वविषयानुपदर्शकत्वादप्रमाणम्; [7]व्यवसायस्यैव [8]तज्जनितस्य तदुपदर्शकत्वात्[9]।

रूप एकान्तका विरोध है; जैसे प्रकाशात्मकताके अप्रत्यक्ष रहनेपर प्रदीपकी प्रत्यक्षताका विरोध है।

विशेषार्थ—किसी भी पदार्थके जाननेके समय कर्त्ता, कर्म, करण और क्रियाकी प्रतीति होती है, यह बात आचार्य प्रथम समुद्देशमें बतला आये हैं। इनके विषयमें जो विवाद है, उसकी चर्चा भी वहीं की जा चुकी है। प्रकृतमें मीमांसकोंका यह कहना है कि 'मैं घटको आंखसे देखता हूँ' इस प्रतीतिमें कर्मरूप घट तो प्रत्यक्ष है, देखनेरूप जो क्रिया है और जिसे कि फलज्ञान कहते हैं, वह भी प्रत्यक्ष है। किन्तु आँख जो करण है, अर्थात् देखनेमें साधकतम कारण है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि कोई भी आँख अपने आपको नहीं देख सकती है, अतः करणज्ञान परोक्ष है। इस विषयमें उत्पन्न होनेवाली शङ्काओंका समाधान और आक्षेपोंका उत्तर देते हुए आचार्यने अन्तमें यह बतलाया है कि करण दो प्रकारके होते हैं—१ भिन्नकर्तृक और २ अभिन्नकर्तृक। देवदत्त फरसेसे काठ काटता है, यह भिन्नकर्तृक करणका उदाहरण है और अग्नि अपनी उष्णतासे काठको जलाती है, यह अभिन्नकर्तृक करणका उदाहरण है। प्रकृतमें अभिन्नकर्तृक करण विवक्षित है, इसलिए मीमांसकोंने जो व्यभिचार दोष दिया है, वह लागू नहीं होता। जैसे दीपक अपने भासुराकार प्रकाशसे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, यहाँ पर करण जो भासुराकार प्रकाश है, वह परोक्ष नहीं, अपि तु प्रत्यक्ष ही है। यदि उसे भी परोक्ष माना जायगा, तो फिर दीपककी प्रत्यक्षता भी नहीं बन सकेगी, अर्थात् उसे भी परोक्ष ही मानना पड़ेगा।

गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान गृहीतार्थप्रमाणाभास है; क्योंकि इसमें अज्ञानकी निवृत्तिरूप कोई फल नहीं पाया जाता। बौद्धोंके द्वारा माना गया

---

१. करणज्ञान प्रत्यक्षं अभिन्नकर्तृके सति प्रत्यक्षकार्यकरणत्वात् प्रदीपभासुराकारवत्। २. गृहीतगृहीतमिति गृह्णाति। ३. तदपि न प्रमाणम्। कुतः? अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलाभावात्। यत्प्रमाणं तत्फलवदिति वचनात्। ४. प्रत्यक्षम्। ५. दर्शनम्। ६. स्वविषयानुपदर्शकत्वात् प्रवर्तकाप्रवर्तकत्वादविसंवादकमिति तन्मतम्। निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य अनिश्चायकत्वादिति। ७. सविकल्पकज्ञानस्य। ८. दर्शन-। ९. प्रत्यक्षविषयोपदर्शकत्वात्।

अथ व्यवसायस्य[1] प्रत्यक्षाकारेणानुरक्तत्वात्[2] ततः प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यम्; व्यवसायस्तु [3]गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमिति। तन्न सुभाषितम्; दर्शनस्याविकल्प[4]कस्यानुपलक्षणात्[5] तत्सद्भावायोगात्। [6]सद्भावे वा नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रसङ्गात्[7]। तत्र[8] [9]विपरीतसमारोपान्नेति चेत्तर्हि सिद्धं नीलादौ समारोपविरोधिग्रहणलक्षणो निश्चय[10] इति तदात्मकमेव[11] प्रमाणम्[12], [13]इतरत्तदाभासमिति।

संशयादयश्च प्रसिद्धा[14] एव। तत्र संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थाणुर्वा पुरुषो वेति

जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह दर्शननामका प्रमाणभास है, वह भी अपने विषयका उपदर्शक अर्थात् निश्चय करनेवाला न होनेसे अप्रमाण है; किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्षके पश्चात् अपने विषयभूत पदार्थसे उत्पन्न हुआ व्यवसाय (निश्चय) रूप जो सविकल्पक ज्ञान है, वही अपने विषयका उपदर्शक है, अतः उसीके प्रमाणता है। यहाँपर बौद्ध कहते हैं कि व्यवसायरूप सविकल्पक ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्षके आकारसे अनुरक्त है अर्थात् प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होता है। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्षके ही प्रमाणता है। व्यवसायरूप ज्ञान तो गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कथन भी सुभाषित नहीं है; क्योंकि विकल्प-रहित दर्शनकी उपलब्धि न होनेसे उसका सद्भाव नहीं माना जा सकता। अथवा किसी प्रकार यदि उसका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो नील आदिके समान क्षणक्षयादिमें भी उसके उपदर्शकपनेका प्रसङ्ग आता है। यदि कहा जाय कि क्षणक्षयादिमें क्षणिकसे विपरीत अक्षणिकका संशयादिरूप समारोप हो जानेसे वह उसका उपदर्शक नहीं हो सकता। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो आपके द्वारा नीलादिमें समारोपके विरोधी ग्रहण लक्षणवाला निश्चय स्वीकार कर लेनेसे यह सिद्ध हुआ कि तदात्मक अर्थात् पदार्थका निश्चय करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है और जो निश्चयात्मक नहीं, ऐसा निर्विकल्परूप दर्शन प्रमाणाभास है।

संशयादिक प्रमाणाभास प्रसिद्ध ही हैं। यह स्थाणु है, या पुरुष है;

---

१. सविकल्पज्ञानस्य। २. साक्षात्प्रत्यक्षप्रमाणत्वाभावादित्यर्थः। ३. प्रत्यक्षगृहीतविषयस्यैव ग्राहकत्वाद् व्यवसायस्येति भावः। ४. ज्ञानरूपस्य। ५. अनुपलम्भात्। ६. किञ्च। ७. अक्षणिकत्वात्। ८. क्षणक्षयादौ। ९. न क्षणिकं नित्यमिति विपरीतसमारोपात्, संशयावतारात्। १०. ज्ञानम्। ११. निश्चयात्मकमेव। सविकल्पास्तित्वं निर्विकल्पकस्य नास्तित्वमिति। १२. व्यवसायात्मकं दर्शनम्। १३. निर्विकल्पात्मकम्। १४. तदाभासाः।

परामर्शः[1]। विपर्ययः पुनरतस्मिंस्तदिति विकल्पः[2]। [3]विशेषानवधारणमनध्यवसायः।

कथमेषामस्वसंविदितादीनां तदाभासतेत्यत्राऽऽह—

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्[4] ॥ ३ ॥

गतार्थमेतत्।

अत्र दृष्टान्तं यथाक्रममाह—

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्[5] ॥ ४ ॥

इस प्रकार उभय कोटिके स्पर्श करनेवाले परामर्शको संशय कहते हैं। अन्य वस्तुमें किसी अन्य वस्तुका विकल्प करना विपर्यय है। जैसे सीपको चाँदी समझ लेना। नाम, जाति आदि विशेषके निश्चय नहीं होनेको अनध्यवसाय कहते हैं। ये तीनों ही प्रमाणाभास हैं; क्योंकि इनसे यथार्थ अर्थका निश्चय नहीं होता।

इन उपर्युक्त अस्वसंविदित ज्ञानादिकके प्रमाणाभासता क्यों है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि वे अपने विषयका निश्चय नहीं कराते हैं ॥ ३ ॥

इस सूत्रका अर्थ ऊपर ही कहा जा चुका है।

अब आचार्य ऊपर कहे हुए प्रमाणाभासोंके यथाक्रमसे दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह अपने विषयका निश्चय नहीं करता है, जैसे दूसरे पुरुषका ज्ञान। गृहीतार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी अपने विषय-विशेषका ज्ञान नहीं कराता; जैसे पूर्वमें जाने हुए पदार्थका ज्ञान। निर्विकल्पक दर्शन प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी अपने विषयका निश्चय नहीं करता; जैसे चलते हुए पुरुषके तृणस्पर्शादिका ज्ञान। और संशयादिक भी प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि वे भी अपने विषयका निश्चय नहीं कराते; जैसे कि यह स्थाणु है, या पुरुष है, इत्यादिक ज्ञान ॥ ४ ॥

---

१. विचारः। २. भेदः। ३. नामजातियोजनाद्यनवधारणम्। ४. प्रवृत्ति विषयोपदर्शकत्वाभावात्। ५. अस्वसंविदितं ज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् पुरुषान्तरज्ञानवत्। गृहीतार्थज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, पूर्वार्थज्ञानवत्। निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत्। संशयादिज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, स्थाणु-पुरुषादिज्ञानवत्।

पुरुषान्तरश्च पूर्वार्थश्च गच्छत्तृणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम्, तद्वत् ।
अपरं च सन्निकर्षवादिनं प्रति दृष्टान्तमाह—

[1]चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च[2] ॥ ५ ॥

अयमर्थो यथा चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायः सन्नपि न प्रमाणम्[3], तथा चक्षूरूपयोरपि[4] । तस्मादयमपि प्रमाणाभास एवेति । [5]उपलक्षणमेतत् [6]अतिव्याप्तिकथनमव्याप्तिश्च[7]; सन्निकर्षप्रत्यक्षवादिनां चक्षुषि सन्निकर्षस्याभावात्[8] ।

सूत्रोक्त पुरुषान्तर, पूर्वार्थ, गच्छत्तृणस्पर्श और स्थाणुपुरुषादि इन पदोंका पहले द्वन्द्व समास करना चाहिए। पीछे ज्ञानपदके साथ उनका षष्ठी तत्पुरुषसमास करना चाहिए।

अब आचार्य सन्निकर्षको प्रमाण माननेवाले नैयायिकादिके प्रति दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—द्रव्यमें चक्षु और रसके संयुक्तसमवायके समान ॥ ५ ॥

सूत्रका यह अर्थ है कि जिस प्रकार द्रव्यमें चक्षु और रसका संयुक्त समवाय होता हुआ भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानरूप फलको उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार द्रव्यमें चक्षु और रूपका संयुक्तसमवाय भी प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह भी ज्ञानरूप फलको पैदा नहीं करता इसलिए यह सन्निकर्ष भी प्रमाणाभास ही है। यह अतिव्याप्तिका कथन उपलक्षणरूप है, अतः इससे अव्याप्तिदोषका भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहनेवाले यौगोंके मतसे आँखमें सन्निकर्षका अभाव है।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और पदार्थके संयोगको सन्निकर्ष कहते हैं। नैया-

---

१. चक्षुषा सह रूपं संयुक्तम्, संयुक्तेन रूपेण सह रसस्य समवायः। रसेन सह सन्निकर्षत्वादतिव्याप्तिः, रूपयुक्तस्य चक्षुषो लक्ष्यरूपस्य स्वरूपपरिज्ञानाभावादव्याप्तिः। २. सन्निकर्षज्ञानं प्रमाणं न भवति, स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्, चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवत्। ३. सन्निकर्षः। ४. संयुक्तसमवायः प्रमाणं न भवति। ५. कदाचित् असम्बद्धमुपलक्षणं काकोपलक्षितगृहवत्। ६. सन्निकर्षः प्रमाणमिति लक्षणे सति चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायसन्निकर्षोऽस्ति, परन्तु तत्र चक्षुषा रसप्रतिपत्तिर्नास्ति। तस्मात्प्रमित्यभावेऽपि लक्षणसद्भावादतिव्याप्तिरिति। ७. चक्षुर्मनसोः प्रमित्युत्पादकत्वमस्ति, सन्निकर्षत्वं नास्ति। तस्माल्लक्ष्यमात्राव्यापकत्वाल्लक्षणस्याव्याप्तिरिति। अयमाशयः—यदा सन्निकर्षस्य प्रमाणत्वं क्रियते तदा चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायस्यापि प्रमाणत्वप्रसङ्गो भवतु, इत्यतिव्याप्तिः। लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्याप्तिः। चक्षुर्विना इतरेन्द्रियाणां सन्निकर्षसम्बन्धोऽस्ति, तस्मादव्याप्तिः। लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्तिरिति। ८. अनेनासम्भवितत्वदूषणं च दर्शितम्। अप्राप्य-

अथ चक्षुः प्राप्तार्थपरिच्छेदकम्[1], व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति [2]तत्सिद्धि-रिति मतम्, तदपि न साधीयः; काचाभ्रपटलादिव्यवहितार्थानामपि चक्षुषा प्रतिभास-नाद्धेतोरसिद्धेः। शाखाचन्द्रमसोरेककालदर्शनानुपपत्तिप्रसक्तेश्च। न च [3]तत्र क्रमेऽपि यौगपद्याभिमान इति वक्तव्यम्; [4]कालव्यवधानानुपलब्धेः। किञ्च—क्रमप्रतिपत्तिः प्राप्ति-

यिकलोग सन्निकर्षके छह भेद मानते हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त-वेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। आँखसे घड़ेको जानना संयोग सन्निकर्ष है। घड़ेके रूपको जानना संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष है; क्योंकि आँखके साथ घड़ेका संयोगसम्बन्ध है और घड़ेके साथ रूपका समवायसम्बन्ध है। प्रकृतमें इसीसे प्रयोजन है। आचार्य कहते हैं कि जैसे घड़े और रूपका समवायसम्बन्ध है, उसीप्रकार रसका भी समवाय-सम्बन्ध है इसलिए जैसे आँखसे घड़ेके रूपका ज्ञान होता है, उसी प्रकार उसमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले रसका भी आँखसे ज्ञान होना चाहिए। परन्तु होता नहीं है। इसलिए प्रमितिके अभावमें भी लक्षणके पाये जानेसे अति-व्याप्ति दोष आता है। इसी प्रकार इन्द्रियपदार्थके सम्बन्धरूप सन्निकर्षको प्रमाण माननेपर अव्याप्तिदोष भी आता है; क्योंकि शेष इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होने पर भी आँखके साथ पदार्थका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उसे प्रमाण माना गया है। और आँख पदार्थके साथ स्पृष्ट होकर अर्थात् उससे भिड़कर पदार्थको नहीं जानती है, मनके समान उससे अस्पृष्ट रहकर ही अपने विषयको ग्रहण करती है, इसलिए चक्षुरिन्द्रियजनित प्रत्यक्षमें सन्निकर्षलक्षणके सम्भव न होनेसे असम्भव दोष भी आता है। अतएव सन्निकर्षको प्रमाण नहीं माना जा सकता, किन्तु वह प्रमाणाभास ही है।

यदि कहा जाय कि चक्षु प्राप्त अर्थको जाननेवाली है, किन्तु बीचमें अन्य पदार्थके व्यवधान आनेसे वह अपने विषयभूत अर्थकी अप्रकाशक रहती है। जैसे दीपक भीति आदिसे व्यवधानको प्राप्त पदार्थका प्रकाशक नहीं होता। इसलिए चक्षुरिन्द्रियके प्राप्तार्थ प्रकाशकता सिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा भी आपका मत समीचीन नहीं है; क्योंकि काच और अभ्रकपटल आदिसे व्यवधानको प्राप्त भी पदार्थोंका चक्षुरिन्द्रियसे परिज्ञान होता है, इसलिए आपका हेतु असिद्ध है। यदि आँखसे व्यवहित पदार्थका ज्ञान न माना जावे, तो वृक्षकी शाखा और चन्द्रमाके एक ही समयमें दर्शन नहीं होनेका प्रसङ्ग आता है। यदि कहें कि वृक्षकी शाखा और चन्द्रमा इन

कारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि चक्षुः, त्वगिन्द्रियवत्स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्। न च गृह्णाति, अतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम्। १. निश्चायकम्। २. चक्षुषि सन्नि-कर्षादिसिद्धिः, प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिरिति। ३. शाखाचन्द्रमसोरेककालग्रहणे। ४. शाखाचन्द्रमसोरेककालग्रहणे कालव्यवधानो नोपलभ्यत इति भावः।

निश्चये[1] सति भवति। न च क्रमप्राप्तौ प्रमाणान्तरमस्ति। [2]तैजसत्वमस्तीति चेन्न; [3]तस्यासिद्धेः। अथ चक्षुस्तैजसम्; रूपादीनां[4] मध्ये [5]रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवदिति। तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्; मण्यञ्जनादेः पार्थिवत्वेऽपि [6]रूपप्रकाशकत्वदर्शनात्। पृथिव्यादिरूपप्रकाशकत्वे [7]पृथिव्याद्यारब्धत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मात्सन्निकर्षस्याव्याप-

---

दोनोंके दर्शनमें क्रम होनेपर भी पुरुषको यौगपद्यका अभिमान होता है कि मैं शाखा और चन्द्रमाको एक साथ देख रहा हूँ, सो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि शाखा और चन्द्रमाके एक साथ देखनेमें कालका व्यवधान नहीं पाया जाता। दूसरी बात यह है कि क्रमका ज्ञान तो क्रमकी प्राप्तिका निश्चय होनेपर ही हो सकता है। किन्तु क्रमकी प्राप्तिमें कोई अन्य प्रमाण नहीं पाया जाता है। यदि कहें कि तैजसत्व प्रमाण है, अर्थात् चक्षु क्रमसे प्राप्त अर्थकी प्रकाशक है, क्योंकि उसमें तैजसपना पाया जाता है। चक्षुके तेजोद्रव्य होनेसे शाखा और चन्द्रमाकी क्रमशः प्राप्ति सिद्ध है। सो आपका यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आँखके तैजसपना असिद्ध है, अर्थात् आँखके तेजोद्रव्यके समान भासुरपना नहीं पाया जाता। यदि कहें कि चक्षु तैजस है; क्योंकि वह रूप-रसादिके मध्यमेंसे केवल रूपकी ही प्रकाशक है; जैसे दीपक घट-पटादि पदार्थोंमें रूप-रसादिके रहनेपर भी केवल रूपका ही प्रकाशक है। आचार्य कहते हैं कि आपका यह अनुमान-प्रयोग भी विना विचारे कहा हुआ है; क्योंकि मणि और अञ्जन आदिके पार्थिवपना होनेपर भी रूपका प्रकाशकपना देखा जाता है, इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है। यदि तेजोद्रव्यके रूपको प्रकाशित करनेसे चक्षुके तैजसपना माना जाय, तो पृथिवी आदिके रूपका प्रकाशक होनेपर उसके पृथिवी आदिसे आरब्ध होने अर्थात् रचे जानेका भी प्रसङ्ग आता है, तब चक्षुको भी पार्थिव मानना पड़ेगा। इसलिए सन्निकर्षके अव्यापकता होनेसे प्रमाणता नहीं है। दूसरे,

---

१. क्रमस्योपलब्धिनिश्चये। २. क्रमप्राप्तिनिश्चये तैजसत्वं प्रमाणमस्ति, चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं तैजसत्वात्। चक्षुषः तेजोद्रव्यत्वात्क्रमेणैव शाखाचन्द्रमसोः प्राप्तिरिति भावः। ३. अतैजसं चक्षुर्भासुरत्वानुपलब्धेरित्यनेन चक्षुषः तैजसत्वमसिद्धमिति। ४. आदिपदेन रसगन्धस्पर्शाश्च गृह्यन्ते। ५. चक्षुस्तैजसं रूपस्यैव प्रकाशकत्वादित्युच्यमाने येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैव तज्जातिस्तदभावश्च गृह्यते, इति नियमाद्धेतुः स्वरूपासिद्धः स्यादतस्तद्वारणाय 'रूपादीनां मध्ये' इति विशेषणं दत्तमिति। प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽतिव्याप्तिवारणाय परकीयरसाद्यव्यञ्जकत्व इति विशेषणम् तथा घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद् व्यभिचारवारणाय परकीयरूपव्यञ्जकत्वादिति विशेष्यम्, चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्, तथा सति चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे सति परकीयरसाद्यव्यञ्जकत्वे सति च परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानं भवति। ६. मण्यञ्जनादौ तैजसत्वं नास्ति, रूपस्य प्रकाशकत्वमस्ति, तस्मात्साध्याभाववति मण्यञ्जनादौ हेतोः सद्भावाद् व्यभिचारित्वं तस्येति भावः। ७. यदि चक्षुषस्तेजोरूप-

कत्वाच्च प्रमाणत्वम्; [3]करणज्ञानेन [4]व्यवधानाच्चेति।

[4]प्रत्यक्षाभासमाह—

[5]अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्[6] [7]धूमदर्शनाद्वह्नि-विज्ञानवत्[8] ॥ ६ ॥

परोक्षाभासमाह—

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं[9] मीमांसकस्य [10]करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

करणज्ञानसे व्यवधान भी है। अर्थात् इन्द्रियका पदार्थके साथ सन्निकर्ष होनेपर भी जाननेमें साधकतम कारण तो इन्द्रियज्ञान ही है; सन्निकर्ष नहीं। अतः सन्निकर्ष प्रमाणाभास ही है।

इस प्रकार सामान्यसे प्रमाणाभासका स्वरूप कहकर अब आचार्य प्रमाणके भेदोंके आभास कहते हुए पहले प्रत्यक्षाभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—बौद्धका अविशदरूप निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना प्रत्य[illegible]ास है, जैसे क अकस्मात् धूमके देखनेसे उत्पन्न हुआ अग्निका ज्ञान अनुमानाभास है; क्योंकि ये दोनों ही अपने विषयभूत पदार्थका निश्चय नहीं कराते हैं ॥६॥

अब परोक्षाभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशद ज्ञानको भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञानको परोक्ष मानते हैं। उनका ऐसा मानना परोक्षाभास है ॥७॥

प्रकाशकत्वात्तेजः कार्यत्वं द्रव्यं तर्हि पृथिव्याः समवायिरूपप्रकाशकत्वात् पृथिव्याः कार्यत्व-प्रसङ्ग इत्याह—तैजसत्वं हि तेजोद्रव्यनिर्वर्त्यत्वं तस्य च तेजोद्रव्यं समवायिरूप-प्रकाशकत्वेन सिद्धौ पृथिव्यपद्रव्यरूपव्यञ्जकत्वेन पृथिव्यपद्रव्यनिर्वर्त्यत्वं चक्षुषः सिद्ध्ये-दित्यर्थः। चक्षुषस्तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात्तेजः कार्यत्ववत् पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसङ्ग इति भावः।
१. यतश्चक्षुर्मनसश्चाप्राप्तमर्थमुपलभ्यते। २. तथाहि—अर्थसंवेदनं भावेन्द्रियकारकं तदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधानेऽपि अर्थसंवेदनाभावात्। अतिशायितं साधकं प्रकृष्टं कारणं करणमित्यर्थः। ३. प्रमाणोत्पत्तौ सन्निकर्षस्य करणज्ञानेन व्यवधानमस्ति, 'साधकतमं करणं' इति नियमात्तत्र साधकतमं करणं ज्ञानमेव, न सन्निकर्ष इति भावः। ४. एतावत्पर्यन्तं प्रमाणसामान्याभासं प्रतिपाद्य विशेषप्रमाणाभासं प्रतिपादयति। ५. यथा बौद्धपरिकल्पितं निर्विकल्पप्रत्यक्षं अविशदं वर्तते तथापि बौद्धः विशदं भाषते। ६. व्याप्तिस्मरणादिकं विना। ७. अकस्माद् धूमदर्शनाद् यथा वह्निविज्ञानं न भवति। ८. यथा धूमबाष्पादिविवेकनिश्चयाभावाद् व्याप्तिग्रहणाभावादकस्माद्धूमाज्जातं यद्वह्निविज्ञानं तत्तदाभासं भवति कस्मादनिश्चयात्। तथा बौद्धपरिकल्पितं यन्निर्विकल्पकप्रत्यक्षं तत्प्रत्यक्षाभासं कस्मादनिश्चयात्। ९. परोक्षाभासम्। १०. मीमांसकमते

प्राक् प्रपञ्चितमेतत् ।

परोक्षभेदाभासमुपदर्शयन् प्रथमं क्रमप्राप्तं स्मरणाभासमाह—

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥

अतस्मिन्ननुभूत इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ।

प्रत्यभिज्ञानाभासमाह—

सदृशे[1] तदेवेदं[2] तस्मिन्नेव[3] तेन सदृशं[4] यमलकवदित्यादि[5] प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

द्विविधं प्रत्यभिज्ञानाभासमुपदर्शितम्—एकत्वनिबन्धनं सादृश्यनिबन्धनं चेति । तत्रैकत्वे सादृश्यावभासः सादृश्ये चैकत्वावभासस्तदाभासमिति[6] ।

करणज्ञानका पहले विस्तारसे विवेचन किया जा चुका है ।

अब आचार्य परोक्ष प्रमाणके भेदोंके आभास बतलाते हुए पहले क्रम-प्राप्त स्मरणाभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिसका पहले कभी धारणारूपसे अनुभव नहीं किया, उसमें 'वह है' इस प्रकारके ज्ञानको स्मरणाभास कहते हैं । जैसे जिनदत्तमें वह देवदत्त है, ऐसा स्मरण करना ॥८॥

अतस्मिन् अर्थात् पहले अनुभव नहीं किये गये पदार्थमें । शेष शब्दों का अर्थ सुगम है ।

अब प्रत्यभिज्ञानाभासका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—सदृश पदार्थमें 'यह वही है' ऐसा कहना, उसी पदार्थमें 'यह उसके सदृश है' ऐसा कहना । जैसे एक साथ जन्मे हुए दो बालकोंमें विपरीत ज्ञान हो जाता है, इत्यादि प्रकारके अन्यथा प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं ॥९॥

सूत्रमें दो प्रकारके प्रत्यभिज्ञानाभासको बतलाया गया है—पहला एकत्वनिमित्तक और दूसरा सादृशनिमित्तक । एकत्वमें सादृश्यका ज्ञान होना और सादृश्यमें एकत्वका ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञानाभास है ।

करणज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यमिति । परन्तु न हि करणज्ञानेऽव्यवधानेन प्रतिभासलक्षणं वैशद्य-मसिद्धं स्वार्थयोः प्रतीत्यन्तरनिरपेक्षतया तत्र प्रतिभासनादिति । १. देवदत्तसदृशे देवदत्त एव । २. एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभासम् । ३. देवदत्ते देवदत्तसदृशो यमलकवद् दृश्यते । ४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभासम् । स्वयं स्वेन सदृशमित्यर्थः । ५. युगलोत्प-न्नवत् । ६. प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।

तर्काभासमाह—

असम्बद्धे[1] तज्ज्ञानं[2] तर्काभासम् ॥ १० ॥

यावाँस्तत्पुत्रः स श्याम इति यथा । तज्ज्ञानमिति व्याप्तिलक्षणसम्बन्धज्ञानमित्यर्थः ।

इदानीमनुमानाभासमाह—

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

इदं वक्ष्यमाणमिति भावः ।

तत्र तदवयवाभासोपदर्शनेन समुदायरूपानुमानाभासमुपदर्शयितुकामः प्रथमावयवाभासमाह—

तत्रानिष्टादिः[4] पक्षाभासः[5] ॥ १२ ॥

इष्टमबाधितमित्यादि तल्लक्षणमुक्तम् । इदानीं तद्विपरीतं तदाभासमिति कथयति—

अब तर्काभासका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभाव-सम्बन्धसे रहित पदार्थमें अविनाभाव-सम्बन्धका ज्ञान करना तर्काभास है ॥१०॥

जैसे किसी पुरुषविशेषके पुत्रोंकी श्यामपनेके साथ व्याप्ति नहीं है, फिर भी कहना कि जो भी उसका पुत्र होगा, वह श्याम होगा। सूत्रोक्त तज्ज्ञान इस पदका अर्थ व्याप्ति लक्षणवाले अविनाभाव-सम्बन्धका ज्ञान है।

अब अनुमानाभासका स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—यह अनुमानाभास है जो आगे कहा जा रहा है ॥११॥

इदं अर्थात् वक्ष्यमाण पक्षाभासादि अनुमानाभासके ही अन्तर्गत हैं, यह भाव समझना चाहिए।

उस अनुमानाभासके अवयवाभासोंको बतलानेसे ही समुदायरूप अनुमानाभासका ज्ञान हो जाता है, यह दिखलाते हुए आचार्य पहले उसके प्रथम अवयवभूत पक्षाभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्धको पक्ष कहना पक्षाभास है ॥१२॥

पहले पक्ष या साध्यका लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध कह आये हैं। उनसे विपरीतको पक्षाभास कहते हैं।

अब आचार्य उन विपरीतस्वरूपवाले तदाभासोंको कहते हैं—

---

१. अविनाभावरहितेऽव्याप्तौ । २. व्याप्तिज्ञानम् । ३. अनुमानाभासे । ४. आदिनोऽनभिप्रेतादिः । ५. धर्मधर्मिसमुदायः पक्षः । पक्षवचनं प्रतिज्ञा । एतल्लक्षणरहितः पक्षाभासः ।

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः[1] शब्दः ॥ १३ ॥

असिद्धाद्विपरीतं तदाभासमाह—

सिद्धः[2] श्रावणः शब्द[3] इति ॥ १४ ॥

अबाधिताद्विपरीतं [4]तदाभासमावेदयन् स[5] च प्रत्यक्षादिबाधित एवेति दर्शयन्नाह—

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥ १५ ॥

[6]एतेषां क्रमेणोदाहरणमाह—

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

स्पार्शनप्रत्यक्षेण ह्युष्णस्पर्शात्मकोऽग्निरनुभूयते ।

अनुमानबाधितमाह—

सूत्रार्थ—मीमांसकका ऐसा कहना कि शब्द अनित्य है अनिष्ट पक्षाभास है; क्योंकि उसके मतानुसार शब्द नित्य है ॥१३॥

अब असिद्धसे विपरीत सिद्ध पक्षाभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवणेन्द्रियसे सुना जाता है, यह सिद्धपक्षाभास है; क्योंकि जब शब्द कानसे सुना ही जाता है, तब सिद्ध वस्तुको साधन करना व्यर्थ ही है ॥१४॥

अब अबाधितसे विपरीत बाधिताभासको दिखलाते हुए आचार्य वह बाधिताभास प्रत्यक्ष-बाधित आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनोंसे बाधित होनेके कारण पांच प्रकारका है ॥१५॥

अब आचार्य इनके क्रमसे उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—उनमेंसे प्रत्यक्षबाधित पक्षाभासका उदाहरण—जैसे अग्नि उष्णता-रहित अर्थात् शीतल है; क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है, वह शीतल होता है, जैसे जल ॥१६॥

किन्तु स्पार्शन-प्रत्यक्षसे अग्नि उष्णस्पर्शवाली ही अनुभव की जाती है, अतः यह प्रत्यक्षबाधितपक्षाभासका उदाहरण है।

अब अनुमानबाधित पक्षाभास कहते हैं—

---

१. स हि प्रतिवादिसभ्यसभापतिदर्शनात् कदाचिदाकुलितबुद्धिः स्वाभिप्रेतं 'नित्यः शब्दः' इति पक्षं विस्मरन्ननभिप्रेतमपि पक्षं स्वीकरोति। २. पक्षाभासः। ३. वादिप्रतिवादिनोः सिद्धेऽर्थेऽविप्रतिपत्तेः। ४. बाधिताभासम्। ५. बाधितपक्षाभासः। ६. प्रत्यक्षादिबाधितपक्षाभासानाम्।

[1]अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ॥ १७ ॥

अत्र पक्षोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादित्यनेन[2] बाध्यते।

आगमबाधितमाह—

[3]प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥ १८ ॥

आगमे हि पुरुषाश्रितत्वाविशेषेऽपि परलोके धर्मस्य सुखहेतुत्वमुक्तम्।

लोकबाधितमाह—

[4]शुचि नरशिरःकपालं [5]प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥ १९ ॥

लोके हि प्राण्यङ्गत्वेऽपि कस्यचिच्छुचित्वमशुचित्वं च। तत्र नरकपालादीनामशुचित्वमेवेति लोकबाधितत्वम्।

सूत्रार्थ—शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है। जो दूसरेके द्वारा किया जाता है, वह अपरिणामी होता है; जैसे घट ॥१७॥

यहाँपर 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष कृतक इस हेतुसे बाधित है; क्योंकि कृतक हेतुसे तो परिणामीपनेकी ही सिद्धि होती है।

अब आगमबाधित पक्षाभासका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्म परलोकमें दुःखका देनेवाला है; क्योंकि वह पुरुषके आश्रित है। जो पुरुषके आश्रयसे होता है, वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म ॥१८॥

पुरुषका आश्रितपना समान होनेपर भी आगममें धर्मको परलोकमें सुखका कारण कहा गया है, अतः यह आगमबाधितपक्षाभासका उदाहरण है।

अब लोकबाधितपक्षाभासका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनुष्यके शिरका कपाल पवित्र है; क्योंकि वह प्राणीका अङ्ग है। जो प्राणीका अङ्ग होता है, वह पवित्र होता है जैसे शंख-सीप आदिक ॥१९॥

लोकमें प्राणीका अङ्ग समान होनेपर भी किसी वस्तुको पवित्र माना गया है और किसीको अपवित्र। किन्तु नर-कपाल आदिको तो अपवित्र ही माना गया है, अतः यह लोकबाधितपक्षाभासका उदाहरण है।

---

१. नित्यः। २. परिणामी शब्दोऽर्थक्रियाकारित्वात् कृतकत्वाद् घटवदित्यनुमानेनापरिणामी शब्दः इति पक्षो बाध्यते। ३. परलोके। ४. यथा गोपिण्डत्वाविशेषेऽपि किञ्चिद् दुग्धादि शुद्धं न गोमांसमिति। तथा प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि नरशिरःकपालस्याशुचित्वं शङ्ख-शुक्त्यादेः शुचित्वमिति। ५. मृगमद-मौक्तिक रोचन चमरीरुह-शङ्ख-पिच्छ-कौशेयाः। श्लाघ्याः गुणाश्रयत्वान्नोत्पत्तिर्गण्यते तज्ज्ञैः ॥ १ ॥

स्ववचनबाधितमाह—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥२०॥

इदानीं हेत्वाभासान् क्रमापन्नानाह—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥२१॥

एषां यथाक्रमं लक्षणं सोदाहरणमाह—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥२२॥

सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ । असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स भवत्यसत्सत्ता-निश्चयः ।

तत्र प्रथमभेदमाह—

अब स्ववचनबाधितपक्षाभासका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—मेरी माता बन्ध्या है, क्योंकि पुरुषका संयोग होनेपर भी उसके गर्भ नहीं रहता है। जिसके पुरुषका संयोग होनेपर भी गर्भ नहीं रहता, वह बन्ध्या कहलाती है, जैसे कि प्रसिद्ध बन्ध्या स्त्री। यह स्ववचन-बाधित पक्षाभासका उदाहरण है, क्योंकि उसका कथन उसीके वचनोंसे बाधित है ॥२०॥

अब आचार्य क्रम-प्राप्त हेत्वाभासोंको कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभासके भेद हैं ॥२१॥

आचार्य इन हेत्वाभासोंका यथाक्रमसे लक्षण उदाहरण-सहित कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिस हेतुकी सत्ताका अभाव हो, अथवा निश्चय न हो, उसे असिद्ध-हेत्वाभास कहते हैं ॥२२॥

सत्ता और निश्चयका द्वन्द्व समास करनेपर 'सत्तानिश्चयौ' यह पद बना। नहीं है सत्तानिश्चय जिसके, ऐसा बहुव्रीहि समास करनेपर असत्सत्ता-निश्चय यह पद सिद्ध हुआ।

भावार्थ—असिद्ध हेत्वाभासके दो भेद हैं—स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धा-सिद्ध। जिस हेतुका स्वरूपसे ही अभाव हो, उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिस हेतुके रहनेका निश्चय न हो—सन्देह हो—उसे सन्दिग्धासिद्ध कहते हैं। सूत्रकारने इस एक ही सूत्रमें दोनोंका स्वरूप कहा है।

अब असिद्धहेत्वाभासके प्रथम भेद स्वरूपासिद्धको कहते हैं—

[1]अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥२३॥

कथमस्यासिद्धत्वमित्याह—

[2]स्वरूपेणासत्त्वात् ॥२४॥

द्वितीयासिद्धभेदमुपदर्शयति—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है; क्योंकि वह चाक्षुष है, अर्थात् चक्षुसे जाना जाता है, यह अविद्यमान सत्तावाले स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभासका उदाहरण है ॥२३॥

उक्त हेतुके असिद्धता कैसे है ? आचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि शब्दके चाक्षुषपना स्वरूपसे ही असिद्ध है ॥२४॥

भावार्थ—शब्द स्वरूपसे श्रावण है अर्थात् कर्णेन्द्रियसे सुना जाता है, उसे चाक्षुष कहना स्वरूपसे ही असिद्ध है, अतः यह स्वरूपासिद्धका उदाहरण है।

अब आचार्य असिद्ध हेत्वाभासके दूसरे भेदको बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मुग्धबुद्धि पुरुषके प्रति कहना कि यहाँ अग्नि है; क्योंकि धूम है, यह अविद्यमान निश्चयवाले सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभासका उदाहरण है ॥२५॥

---

१. अविद्यमाना साध्येन असाध्येन (दृष्टान्तेन) उभयेन वाऽविनाभाविनी सत्ता यस्यासावसिद्धः। २. चाक्षुषत्वस्वरूपेण। चक्षुर्ज्ञानग्राह्यत्वं हि चाक्षुषत्वम्, तच्च शब्दे स्वरूपेणैवासत्त्वात्स्वरूपासिद्धम्। ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकाराः परैर्नैयायिकादिभिरिष्टास्तेऽसत्सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरं तल्लक्षणभेदाभावात्। तत्र विशेष्यासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्। विशेषणासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। आश्रयासिद्धो यथा—अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात्। वस्तुतः प्रधानं नास्तीति भावः। आश्रयैकदेशासिद्धो यथा—नित्याः परमाणुप्रधानात्मेश्वराः अकृतकत्वात्। व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा—अनित्याः परमाणवः कृतकत्वे सति सामान्यवत्वात्। व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा—अनित्याः परमाणवः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात्। व्यधिकरणासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दः परस्य कृतकत्वात्। भागासिद्धो तथा—नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। व्यधिकरणासिद्धत्वं च परप्रक्रियाप्रदर्शनमात्रं न वस्तुतो हेतुदोषो व्यधिकरणस्यापि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादेर्गमकत्वप्रतीतेः। भागासिद्धस्यापि अविनाभावसद्भावाद् गमकत्वमेव। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वमन्तरेण क्वापि दृश्यते, यावति शब्दे तत्प्रवर्तते तावतः शब्दस्यानित्यत्वं ततः सिद्ध्यति, अन्यस्य त्वन्यतः कृतकत्वादेः।

अस्याप्यसिद्धता कथमित्याशंकायामाह—

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते[1] सन्देहात्[2] ॥२६॥

तस्येति मुग्धबुद्धि प्रतीत्यर्थः ।

अपरमसिद्धभेदमाह—

सांख्यम्प्रति परिणामी[3] शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥

अस्य सिद्धतायां कारणमाह—

तेनाज्ञातत्वात्[4] ॥२८॥

तेन सांख्येनाज्ञातत्वात् । तन्मते ह्याविर्भाव[5]तिरोभावावेव प्रसिद्धौ, नोत्पत्त्यादि-

---

इस हेतुके भी असिद्धता कैसे है, ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि उसे भूतसंघातमें वाष्प आदिके रूपसे सन्देह हो सकता है ॥२६॥

उसे अर्थात् मुग्ध बुद्धि पुरुषको । जिसने अग्नि और धूमके सम्बन्धको यथावत् जाना ही नहीं है, ऐसे भोले-भाले व्यक्तिको भूतसंघातसे निकलती हुई भापको देखकर वहाँपर भी अग्निके होनेका सन्देह हो सकता है । यहाँ भूतसंघातसे अभिप्राय चूल्हेसे तत्काल उतारे हुए दाल-भात आदिके पात्रसे है, जिसमेंसे कि भाप निकल रही हो ।

आगे आचार्य असिद्ध हेत्वाभासके और भी भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—सांख्यके प्रति कहना कि शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक है । यह हेतु सांख्यके लिए असिद्ध है ॥२७॥

आचार्य इस हेतुकी असिद्धतामें कारण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि उसने कृतकपना जाना ही नहीं है ॥२८॥

उसने अर्थात् सांख्यने । सांख्यके मतमें पदार्थोंका आविर्भाव और

---

१. पृथिव्यादिलक्षणानां भूतानां सङ्घातो धूमः, तस्मिन् धूमे । २. मुग्धबुद्धि-र्विद्यमाने धूमेऽपि वाष्पादित्वेन सन्देहं करोति, निश्चेतुं शक्त्यभावात् । ३. अनित्यः । ४. सांख्यस्य मते शब्दस्य कृतकत्वमस्ति वा नवेति परिज्ञानाभावात् । किञ्च—सन्दिग्ध-विशेष्यादयोऽप्यविद्यमाननिश्चयतालक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम् । तत्र सन्दिग्धविशे-ष्यासिद्धो यथा—अद्यापि रागादियुक्तः कपिलमुनिः पुरुषत्वे सत्यप्यस्य नुत्पन्नतत्त्वज्ञान-त्वात् । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा—अद्यापि रागादियुक्तः कपिलमुनिः सर्वदा तत्त्वज्ञान-रहितत्वे सति पुरुषत्वात् । ५. सांख्यमते शब्दस्य व्यञ्जनत्वमाविर्भावः प्रकटितमिति यावत् । आच्छादनत्वं तिरोभाव इति । इति द्वावेव प्रसिद्धौ ।

रिति । अस्याप्यनिश्चयादसिद्धत्वमित्यर्थः ।

विरुद्धं हेत्वाभासमुपदर्शयन्नाह—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो[1] विरुद्धोऽपरिणामी[2] शब्दः कृतकत्वात्[3] ॥२९॥

कृतकत्वं ह्यपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति ।

अनैकान्तिकं हेत्वाभासमाह—

तिरोभाव ही प्रसिद्ध हैं, उत्पत्ति आदिक नहीं; क्योंकि वह नित्यैकान्तवादी है। इसलिए सांख्यको किसी पदार्थके किसीके द्वारा उत्पन्न किये जानेका निश्चय ही नहीं है, उसे कृतकता सर्वथा अज्ञात है, अतः उसे हेतुरूपसे उसके लिए प्रयुक्त करना भी असिद्ध हेत्वाभास है।

अब विरुद्ध हेत्वाभासको बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्यसे विपरीत पदार्थके साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है ॥२९॥

इस अनुमानमें कृतकत्व हेतु अपरिणामके विरोधी परिणामके साथ व्याप्त है, इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अब अनैकान्तिक हेत्वाभासको कहते हैं—

---

१. विपरीतेन सह निश्चितोऽविनाभावो यस्य । साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्धः । २. एकरूपभावी अक्षणिकलक्षणो नित्यैकलक्षणः । ३. ये चाष्टौ विरुद्धभेदाः परैरिष्टास्तेऽप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्ति । सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिर्यथा-नित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् । विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिश्च यथा—नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिश्च यथा—सामान्यविशेषवती अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे वाग्मनसी नित्यत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा—नित्ये वाग्मनसे उत्पत्ति धर्मकत्वात् । तथाऽसति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा—आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा—सत्तासम्बन्धिनः षट् पदार्थाः उत्पत्तिमत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा—आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा—नित्ये वाङ्मनसी कार्यत्वात् ।

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः[1] ॥३०॥

[2]अपिशब्दान्न केवलं पक्ष-सपक्षयोरिति द्रष्टव्यम्। स च द्विविधो विपक्षे निश्चित-वृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति। तत्राद्यं[3] दर्शयन्नाह—

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्[4] घटवत् ॥३१॥

सूत्रार्थ—जिसका विपक्षमें भी रहना अविरुद्ध है अर्थात् जो हेतु पक्ष-सपक्षके समान विपक्षमें भी विना किसी विरोधके रहता है, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते है ॥३०॥

सूत्र-पठित अपिशब्दसे न केवल पक्ष-सपक्षमें रहनेवाला हेतु लेना, किन्तु विपक्षमें भी रहनेवाले हेतुका ग्रहण करना चाहिए। वह अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकारका है—एक विपक्षमें निश्चितवृत्तिवाला और दूसरा शङ्कितवृत्तिवाला।

भावार्थ—सन्दिग्ध साध्यवाले धर्मीको पक्ष कहते हैं। साध्यके समान धर्मवाले धर्मीको सपक्ष कहते हैं और साध्यसे विरुद्ध धर्मवाले धर्मीको विपक्ष कहते हैं। हेतुका पक्ष और सपक्षमें रहना तो गुण है, परन्तु विपक्षमें रहना दोष है। जो हेतु पक्ष-सपक्षके समान विपक्षमें भी रहे, उसे अनैकान्तिक या व्यभिचारी हेतु कहते हे। इसके दो भेद हैं—एक निश्चितविपक्षवृत्ति और दूसरा शङ्कितविपक्षवृत्ति।

इनमेंसे आचार्य पहले निश्चितविपक्षवृत्तिका स्वरूप दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द अनित्य है; क्योंकि वह प्रमेय है, अर्थात् प्रमाणका

---

१. एकस्मिन् अन्ते नियतो हि ऐकान्तिकः, तद्विपरीतोऽनैकान्तिकः। पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिक इत्यर्थः। पराभ्युपगतश्च पक्षत्रयव्यापकाद्यनैकान्तिकप्रपञ्च एतल्लक्षणलक्षिताविशेषान्नातोऽर्थान्तरम्। पक्षत्रयव्यापको यथा—अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्। पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—गौरयं विषाणित्वात्। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—अगौरयं विषाणित्वात्। पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा—अनित्ये वाङ्मनसो अमूर्तत्वात्। पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा—द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापको यथा—अद्रव्याणि दिक्कालमनांसि, अमूर्तत्वात्। सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाऽऽकाशानि अनित्यानि, अगन्धवत्त्वात्। २. पक्षसपक्षवृत्तिरनैकान्तिको न भवत्येवेत्यपिशब्देन सूचितं भवति। ३. भेदम्। ४. ज्ञेयत्वात्।

कथमस्य[1] विपक्षे[2] निश्चिता वृत्तिरित्याशङ्कयाऽऽह—

आकाशे नित्येऽप्यस्य[3] निश्चयात् ॥३२॥

शङ्कितवृत्तिमुदाहरति—

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥३३॥

अस्यापि कथं विपक्षे[4] वृत्तिराशङ्क्यत इत्यत्राह—

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥३४॥

अविरोधश्च ज्ञानोत्कर्षे[5] वचनानामपकर्षा[6]दर्शनादिति निरूपितप्रायम् ।

विषय है। जो प्रमेय होता है, वह अनित्य होता है; जैसे घट। यह निश्चित-विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभासका उदाहरण है ॥ ३१ ॥

इस प्रमेयत्व हेतुकी विपक्षमें वृत्ति कैसे निश्चित है, ऐसी आशङ्काके होनेपर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि नित्य आकाशमें भी इस प्रमेयत्व हेतुके रहनेका निश्चय है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्दमें और सपक्ष घटमें रहता हुआ अनित्यके विपक्षी नित्य आकाशमें भी रहता है; क्योंकि आकाश भी निश्चित-रूपसे प्रमाणका विषय है।

अब शङ्कितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभासका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह वक्ता है अर्थात् बोलनेवाला है। यह शङ्कितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिकहेत्वाभासका उदाहरण है ॥ ३३ ॥

इस वक्तृत्वहेतुका भी विपक्षमें रहना कैसे शङ्कित है, ऐसी आशङ्का होनेपर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि सर्वज्ञत्वके साथ वक्तापनेका कोई विरोध नहीं है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—किसी पुरुष-विशेषमें वक्तापना भी रह जाय और सर्वज्ञपना भी रह जाय, इन दोनों बातोंमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए इस वक्तृत्व-हेतुको शङ्कितविपक्षवृत्ति हेत्वभास कहा गया है; क्योंकि सर्वज्ञके सद्भावरूप विपक्षमें उसके रहनेकी शङ्का है।

सर्वज्ञताके साथ वक्तापनेका अविरोध इसलिए है कि ज्ञानके उत्कर्षमें

---

१. हेतोः । २. नित्ये । ३. प्रमेयत्वस्य । ४. सर्वज्ञे । ५. यत्र ज्ञानस्य क्षणं क्षणं प्रत्यधिकत्वं तत्र वचनस्याप्यधिकत्वमित्यविरोध इति । ६. हानि-।

[1]अकिञ्चित्करस्वरूपं निरूपयति—

सिद्धे[2] प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः[3] ॥३५॥

तत्र सिद्धे साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर इत्युदाहरति—

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्[4] ॥३६॥

कथमस्या[5] किञ्चित्करत्वमित्याह—

किञ्चिदकरणात् ॥३७॥

'अपरं च भेदं प्रथमस्य[6] दृष्टान्तीकरणद्वारेणोदाहरति—

वचनोंका अपकर्ष नहीं देखा जाता है, प्रत्युत प्रकर्षता ही देखी जाती है। यह बात प्रायः पहले निरूपण की जा चुकी है।

अब अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—साध्यके सिद्ध होनेपर और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित होनेपर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जब साध्य सिद्ध हो, या प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे बाधित हो, तब उसकी सिद्धिके लिए जो भी हेतु दिया जाय, वह साध्यको कुछ भी सिद्धि नहीं करता है, इसलिए उसे अकिञ्चित्कर कहते हैं।

इनमेंसे साध्यके सिद्ध होनेपर दिया गया हेतु अकिञ्चित्कर है, इसका उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवण इन्द्रियका विषय है; क्योंकि वह शब्द है ॥ ३६ ॥

इस शब्दत्वहेतुके अकिञ्चित्करता कैसे है, आचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि इस शब्दत्वहेतुने कुछ भी नहीं किया है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—शब्दका कानसे सुना जाना रूप साध्य तो पहलेसे ही सिद्ध है, फिर भी उसे सिद्ध करनेके लिए जो शब्दत्व हेतु दिया गया है, वह व्यर्थ है; क्योंकि उससे साध्यको कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। अतः यह अकिञ्चित्करहेत्वाभास है।

अब साध्यका दूसरा भेद जो प्रत्यक्षादिबाधित है, उसे प्रथम भेदके दृष्टान्त करनेके द्वारा ही उदाहरण रूपसे कहते हैं—

---

१. प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टयोरत्रैवान्तर्भावः २. प्रमाणान्तरात्साध्ये निर्णीते। ३. न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करः। ४. न ह्यसौ स्वसाध्यं साधयति, तत्साध्यक्षादेव सिद्धः। ५. शब्दत्वादित्यस्य हेतोः यथा द्रव्यत्वादिति हेतुरकिञ्चित्करः, तथा सोऽपीत्यर्थः। ६. प्रत्यक्षादिबाधितं च दर्शयति। ७. साध्यस्य।

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥३८॥

अकिञ्चित्करत्वमिति शेषः।

अयं च दोषो हेतुलक्षणविचारावसर एव, न वादकाल इति व्यक्तीकुर्वन्नाह—

लक्षण[1] एवासौ[2] दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य [3]पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थ—जैसे अग्नि उष्ण नहीं है; क्योंकि वह द्रव्य है; इत्यादि अनुमानमें प्रयुक्त यह हेतु साध्यकी कुछ भी सिद्धि करनेके लिए शक्य नहीं है ॥३८॥

अतएव यह अकिञ्चित्करहेत्वाभास है, इतना पद सूत्रमें शेष है।

भावार्थ—अग्नि उष्ण नहीं है, यह बात प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधित है, फिर भी उस प्रत्यक्षबाधित साध्यको सिद्ध करनेके लिए जो द्रव्यत्व हेतु दिया गया है, वह अग्निको उष्णता-रहित सिद्ध नहीं कर सकता है, अतः उसे अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहा गया है। इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाण-बाधित साध्योंके सिद्ध करनेके लिए दिये गये सभी हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास जानना चाहिए।

यह अकिञ्चित्कर दोष हेतुके लक्षणका विचार करनेके समय ही है; वादकाल अर्थात् शास्त्रार्थके समय नहीं; यह प्रकट करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभासरूप दोष हेतुके लक्षण-व्युत्पादन कालमें ही है; वादकालमें नहीं; क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषका प्रयोग तो पक्षके दोषसे ही दूषित हो जाता है ॥ ३९ ॥

भावार्थ—शिष्योंको शास्त्रके पठन-पठान कालमें ही अकिञ्चित्कर हेत्वाभासको दोषरूप कहा गया है; शास्त्रार्थ करनेके समय नहीं। इसका कारण यह है कि शास्त्रार्थके समय विद्वान् लोगोंका ही अधिकार होता है। सो विद्वान् लोग पहले तो ऐसा प्रयोग करते ही नहीं हैं। यदि कदाचित् करें भी, तो वह पक्षाभास ही कहा जायगा। अर्थात् साध्यके सिद्ध होते हुए ऐसे पक्षका प्रयोग सिद्ध पक्षाभास कहलायगा और बाधित साध्यके होनेपर बाधित पक्षाभास कहलायगा। यहाँ इतना और विशेष जानना चाहिए कि नैयायिकादि अन्य मत वालोंने प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट नामक और भी हेत्वाभास कहे हैं, उनका इसी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें अन्तर्भाव हो जाता है, अतः आचार्यने उन्हें पृथक् नहीं कहा।

इस प्रकार हेत्वाभासोंका वर्णन समाप्त हुआ।

---

१. लक्षणव्युत्पादनशास्त्रे। २. अकिञ्चित्करलक्षणो दोषः। ३. पक्षाभासलक्षणेनैव।

दृष्टान्तोऽन्वयव्यतिरेकभेदाद् द्विविध इत्युक्तम् । तत्रान्वयदृष्टान्ताभासमाह—

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥४०॥

साध्यं च साधनं च उभयं च साध्यसाधनोभयानि, असिद्धानि तानि येष्विति विग्रहः ।

एतानेकत्रैवानुमाने दर्शयति—

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥४१॥

इन्द्रियसुखमसिद्धसाध्यम्; तस्य पौरुषेयत्वात् । परमाणुरसिद्धसाधनम्; तस्य मूर्त्तत्वात् । घटश्चासिद्धोभयः; पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्च ।

अन्वय और व्यतिरेकके भेदसे दृष्टान्त दो प्रकारका है, यह पहले कहा जा चुका है । उनमेंसे पहले अन्वयदृष्टान्ताभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्वयदृष्टान्ताभासके तीन भेद हैं—असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय । इन्हें ही क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल, और उभयविकल कहते हैं ॥४०॥

साध्य, साधन और उभय इन तीनों पदोंका पहले द्वन्द्व समास करना । पीछे असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभय जिनमें, ऐसा बहुव्रीहि समास करना चाहिए ।

अब आचार्य इन तीनों ही अन्वयदृष्टान्ताभासोंको एक ही अनुमानमें दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द अपौरुषेय है; क्योंकि वह अमूर्त्त है । जैसे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट ॥४१॥

इस अनुमानमें इन्द्रियसुख यह दृष्टान्त असिद्धसाध्य या साध्यविकल दृष्टान्ताभास है; क्योंकि वह पौरुषेय है । अर्थात् इन्द्रिसुख दृष्टान्तमें अपौरुषेयरूप साध्यका अभाव है । परमाणु यह दृष्टान्त असिद्ध साधन या साधनविकल दृष्टान्ताभास है; क्योंकि परमाणु मूर्त्त है । अर्थात् उसमें अमूर्त्तरूप साधन नहीं पाया जाता । घट यह दृष्टान्त असिद्धोभय या उभयविकल दृष्टान्ताभास है; क्योंकि घट पौरुषेय भी है और मूर्त्त भी है । अर्थात् घट दृष्टान्तमें अपौरुषेयरूप साध्य और अमूर्त्तरूप साधन ये दोनों ही नहीं पाये जाते हैं ।

---

१. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः । तद्विपरीतोऽन्वयदृष्टान्ताभासः । २. इन्द्रियसुखे साधनत्वमस्ति, साध्यत्वं नास्ति । तस्मात्साध्यविकलोऽयं दृष्टान्तः ३. परमाणुषु साध्यत्वमस्ति साधनत्वं नास्ति, तस्मात्साधनविकलोऽयं दृष्टान्तः । ४. घटे तूभयमपि नास्ति तस्मादुभयविकलोऽयं दृष्टान्तः । ५. साध्ये असिद्धम् ।

साध्यव्याप्तं साधनं दर्शनीयमिति दृष्टान्तावसरे प्रतिपादितम्, तद्विपरीतदर्शनमपि तदाभासमित्याह—

[1]विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥४२॥

कुतोऽस्य तदाभासतेत्याह—

[2]विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥४३॥

तस्याप्यमूर्तताप्राप्तेरित्यर्थः।

व्यतिरेकोदाहरणाभासमाह—

व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः[3] परमाण्विन्द्रियसुखाऽऽकाशवत् ॥४४॥

साध्यसे व्याप्त साधनको दिखलाना चाहिए, यह बात अन्वयदृष्टान्तके अवसरमें प्रतिपादन की गई है, उससे विपरीत व्याप्तिको दिखलाना भी अन्वयदृष्टान्ताभास है, आचार्य यह बात कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त अनुमानमें 'जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त्त होता है' इस प्रकारकी विपरीत अन्वय व्याप्तिको दिखलाना विपरीतान्वय नामका दृष्टान्ताभास है ॥४२॥

भावार्थ—साधनके सद्भावमें साध्यके सद्भावके बतलानेको अन्वयव्याप्ति कहते हैं। किन्तु यहाँ पर अपौरुषेयरूप साध्यके सद्भावमें अमूर्त्तरूप हेतुका सद्भाव बतलाया गया है, अतः इसे विपरीतान्वय नामका दृष्टान्ताभास कहा गया है।

इसे दृष्टान्ताभासपना कैसे है, आचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि उसमें विद्युत् आदिसे अतिप्रसङ्ग दोष आता है ॥४३॥

'जो अपौरुषेय हो, वह अमूर्त्त हो' ऐसी विपरीत अन्वयव्याप्तिके माननेपर विद्युत्के भी अमूर्त्तताकी प्राप्ति होती है, अर्थात् बिजलीको भी अमूर्त्त मानना चाहिए। पर वह अपौरुषेय होती हुई भी अमूर्त्त नहीं, किन्तु मूर्त्त है।

अब आचार्य व्यतिरेक उदाहरणभासको कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्यतिरेक दृष्टान्ताभासमें भी तीन भेद हैं—असिद्धसाध्य व्यतिरेक, असिद्धसाधन व्यतिरेक और असिद्धोभय व्यतिरेक। इनके उदाहरण क्रमसे परमाणु, इन्द्रिय-सुख और आकाश हैं ॥४४॥

---

१. विपरीतान्वयो व्याप्तिप्रदर्शनं यस्मिन्निति यथा—योऽग्निमान् स धूमवान् इति यथा। २. विद्युद्वनकुसुमादौ अपौरुषेयत्वेऽप्यमूर्त्तत्वं नास्ति। ३. असिद्धस्तेषां साध्यसाधनोभयानां व्यतिरेको येषु ते। ४. योऽपौरुषेयो न भवति सोऽमूर्त्तोऽपि न भवति, यथा परमाणुरिति।

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्यत्रैवासिद्धाः साध्यसाधनोभयव्यतिरेका यत्रेति विग्रहः। तत्रासिद्धसाध्यव्यतिरेकः परमाणुस्तस्यापौरुषेयत्वात्। इन्द्रियसुखमसिद्धसाधनव्यतिरेकम्। आकाशं त्वसिद्धोभयव्यतिरेकमिति।

साध्याभावे साधनव्यावृत्तिरिति व्यतिरेकोदाहरणप्रघट्टके स्थापितम्, तत्र तद्विपरीतमपि तदाभासमित्युपदर्शयति—

विपरीतव्यतिरेकश्च[1] यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम्[2] ॥४५॥

शब्द अपौरुषेय है; क्योंकि वह अमूर्त्त है। इस ही अनुमानमें असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभयव्यतिरेक जिस दृष्टान्तमें, ऐसा विग्रह करना चाहिए। उनमें असिद्धसाध्यव्यतिरेकका दृष्टान्त परमाणु है; क्योंकि उसके अपौरुषेयपना पाया जाता है। असिद्ध साधन-व्यतिरेक या साधन-विकलव्यतिरेकदृष्टान्ताभासका उदाहरण इन्द्रियसुख है; क्योंकि वह मूर्त्त नहीं है, किन्तु अमूर्त्त है। आकाश असिद्धोभयव्यतिरेक या उभयविकलव्यतिरेक दृष्टान्ताभासका उदाहरण है; क्योंकि उसमें अपौरुषेयपना और अमूर्त्तपना दोनोंका ही अभाव नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है।

भावार्थ—जो दृष्टान्त व्यतिरेक-व्याप्ति अर्थात् साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखाकर दिया जाता है, उसे व्यतिरेकदृष्टान्त कहते हैं। उस व्यतिरेकव्याप्तिमें दो वस्तुएँ होती हैं। एक साध्याभाव और दूसरा साधनाभाव। जिस दृष्टान्तमें साध्यका अभाव नहीं होगा वह साध्यसे, जिसमें साधनका अभाव नहीं होगा, वह साधनसे और जिसमें दोनों नहीं होंगे वह उभयसे विकल अर्थात् रहित कहा जायगा।

साध्यके अभावमें साधनकी व्यावृत्तिको व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं, यह बात व्यतिरेकोदाहरणके प्रकरणमें सिद्ध की जा चुकी है। उससे विपरीत व्याप्ति भी जहाँ बतलाई जावे, वह भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, यह बात आचार्य बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त अनुमानमें 'जो अमूर्त्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है, इस प्रकारसे विपरीत व्यतिरेक-व्याप्तिको दिखाना भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है ॥४५॥

---

१. दृष्टान्ते। २. यत्र धूमवान् तत्राग्निमानिति। ३. कुतोऽस्य तदाभासतेत्याह विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्।

बालव्युत्पत्त्यर्थं[1]तत्त्रयोपगम इत्युक्तम्। इदानीं तान्[2] प्रत्येव कियद्धीनतायां प्रयोगाभासमाह—

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता[3] ॥४६॥

तदेवोदाहरति—

अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ॥४७॥

इत्यवयवत्रयप्रयोगे सतीत्यर्थः।

चतुरवयवप्रयोगे तदाभासत्वमाह—

भावार्थ—व्यतिरेक-व्याप्तिमें सर्वत्र साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखाया जाता है। यहाँ पर वह विपरीत दिखाई गई है अर्थात् साधनके अभावमें साध्यका अभाव बतलाया गया है। अतः इसे व्यतिरेकदृष्टान्ताभास कहा गया है; क्योंकि इस प्रकारकी व्याप्तिमें भी विद्युत् आदिसे अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

बालव्युत्पत्तिके लिए उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों को स्वीकार किया गया है, यह पहले कह आये हैं। अब उन ही बालजनोंके प्रति उनमेंसे कुछ अवयवोंके कम प्रयोग करनेपर वे प्रयोगाभास कहलाते हैं यह बात आचार्य बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवोंमेंसे कितने ही कम अवयवोंका प्रयोग करना बाल प्रयोगाभास है ॥४६॥

भावार्थ—अल्पज्ञानी पुरुषोंको उक्त पाँच अवयवोंमेंसे तीन या चार अवयवोंके प्रयोग करनेपर प्रकृत वस्तुका यथार्थज्ञान नहीं होता है, अतः कम अवयवोंके प्रयोगको बालप्रयोगाभास कहते हैं।

अब आचार्य इसी बालप्रयोगाभासका उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्निवाला है; क्योंकि धूमवाला है। जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला भी होता है; जैसे रसोईघर ॥४७॥

यहाँ पर अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन ही अवयवों का प्रयोग किया गया है, अतः इसे बालप्रयोगाभास कहा है।

अब चार अवयवोंके प्रयोग करनेपर तदाभासता बतलाते हैं—

---

१. उदाहरणोपनयनिगमनानां त्रयस्योपगमः। २. येषामव्युत्पन्नानां पञ्चावयवैः परिज्ञानं न भवति तान् प्रति। ३. यो ह्यव्युत्पन्नप्रज्ञोऽनुमानप्रयोगे पञ्चावयवे गृहीतसङ्केत, स उपनय-निगमनरहितस्य निगमनरहितस्य वाऽनुमानप्रयोगस्य तदाभासतां मन्यते। सूत्रद्वयेन क्रमेण तदेव दर्शयति।

धूमवांश्चायमिति वा ॥४८॥

अवयवविपर्ययेऽपि [1]तत्त्वमाह—

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम् ॥४९॥

कथमवयवविपर्यये प्रयोगाभास इत्याशङ्कायामाह—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥५०॥

इदानीमागमाभासमाह—

सूत्रार्थ—अथवा उपनयका भी प्रयोग करना कि यह भी धूम-वाला है ॥४८॥

भावार्थ—ऊपर कहे गये तीन अवयवोंके साथ उपनयका प्रयोग करना और निगमनका प्रयोग नहीं करना भी बालप्रयोगाभास है।

अवयवोंके विपरीत प्रयोग करनेपर भी प्रयोगाभासपना होता है, आचार्य यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—इसलिए यह अग्निवाला है, और यह भी धूमवाला है ॥४९॥

भावार्थ—उदाहरणका प्रयोगकर उपनयका प्रयोग करना चाहिए कि 'उसीके समान यह भी धूमवाला है'। तत्पश्चात् निगमनका प्रयोग करना चाहिए कि 'इसलिए यह अग्निवाला है। परन्तु यहाँ पर पहले निगमनका प्रयोग किया गया है। और पीछे उपनयका। अतः क्रम-भङ्ग होनेसे यह बाल-प्रयोगाभास है।

अवयवके विपरीत प्रयोग करनेपर प्रयोगाभास कैसे कहा? ऐसी आशङ्का होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि विपरीत अवयव-प्रयोग करनेपर स्पष्टरूपसे प्रकृत पदार्थका ज्ञान नहीं होता ॥५०॥

भावार्थ—पाँच अवयवोंमेंसे हीन प्रयोग या विपरीत प्रयोग करनेपर शिष्यादिकको प्रकृत वस्तुका यथार्थ बोध नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें बाल-प्रयोगाभास कहा गया है।

अब आचार्य आगमाभासका स्वरूप कहते हैं—

---

१. न केवलं कियद्धीनतैव बालप्रयोगाभासः, किन्तु तद्विपर्ययश्चेति प्रदर्श्यते। २. बालप्रयोगाभासत्वम्। ३. केवलं बालव्युत्पत्त्यर्थमयं प्रयोगाभासो न पुनः व्युत्पन्न-प्रज्ञं प्रति। सर्वप्रकारेण वाक्प्रयोगे व्युत्पन्नप्रज्ञस्य केनापि प्रकारेणानुमानप्रयोगस्य ग्रहण-सम्भवात्।

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥५१॥

उदाहरणमाह—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः ॥५२॥

कश्चिन्माणवकैराकुलीकृतचेतास्तत्सङ्गपरिजिहीर्षया प्रतारणवाक्येन नद्या देशं तान् प्रस्थापयतीत्याप्तोक्तेरन्यत्वादागमाभासत्वम् ।

प्रथमोदाहरणमात्रेणातुष्यन्नुदाहरणान्तरमाह—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ॥५३॥

अत्रापि साङ्ख्यः स्वदुरागमजनितवासनाहितचेता[2] दृष्टेष्टविरुद्धं सर्वं सर्वत्र विद्यत इति मन्यमानस्तथोपदिशतीत्यनाप्तवचनत्वादिदमपि[3] तथेत्यर्थः ।

कथमनन्तरयोर्वाक्ययोस्तदाभासत्वमित्याशङ्कायामाह—

सूत्रार्थ—राग, द्वेष और मोहसे आक्रान्त (व्याप्त) पुरुषके वचनोंसे उत्पन्न हुए पदार्थके ज्ञानको आगमाभास कहते हैं ॥५१॥

अब आगमाभासका उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे—बालको दौड़ो, नदीके किनारे मोदकोंकी राशियां पड़ी हुई हैं ॥५२॥

कोई पुरुष बालकोंसे व्याकुलित चित्त था उसने उनका संग छुड़ानेकी इच्छासे छलपूर्ण वाक्य कहकर उन्हें नदीके तट-प्रदेशपर भेजा। वस्तुतः नदीके किनारेपर मोदक नहीं थे। इसलिए यह कथन आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुषके कथनसे विपरीत है, अतः यह आगमाभासका उदाहरण है।

केवल इस एक प्रथम उदाहरणसे सन्तुष्ट नहीं होते हुए आचार्य आगमाभासका दूसरा उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—अंगुलीके अग्रभागपर हाथियोंके सैकड़ों समुदाय विद्यमान हैं, यह कहना भी आगमाभास है ॥५३॥

इस उदाहरणमें भी सांख्य अपने मिथ्याआगम-जनित वासनासे आक्रान्त चित्त होकर प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध सभी वस्तुएँ सर्वत्र विद्यमान हैं, ऐसा प्रमाण मानते हुए उक्त प्रकारसे उपदेश देते हैं किन्तु उनका वह कथन भी अनाप्त पुरुषके वचनरूप होनेसे आगमाभास ही है।

इन ऊपर कहे गये दोनों वाक्योंके आगमाभासपना कैसे है, ऐसी आशङ्का होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

---

१. अर्थज्ञानमिति यावत् । २. संस्कृतचेताः । ३. नद्यास्तीरे इत्यादिवत् । अङ्गुल्यग्र इत्यादिवाक्यवत् । ४. आगमाभासमिति ।

विसंवादात्[1] ॥ ५४ ॥

अविसंवादरूपप्रमाणलक्षणाभावान्न [2]तद्विशेषरूपमपीत्यर्थः[3] ।

इदानीं संख्याभासमाह—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम् ॥५५॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्वैविध्यमुक्तम् । तद्वैपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एवेत्यवधारणं सङ्ख्याभासम् ।

प्रत्यक्षमेवैकमिति कथं सङ्ख्याभासमित्याह—

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः [4]परलोकादिनिषेधस्य [5]परबुद्ध्यादे[6]श्चासिद्धेरतद्विषयत्वात्[7] ॥५६॥

सूत्रार्थ—विसंवाद होनेसे उनके आगमाभासपना है॥५४॥

प्रमाणका जो अविसंवादरूप लक्षण माना गया है उसके अभाव होनेसे जब उन वाक्योंमें प्रमाणपना ही नहीं है, तब उन्हें आगमसूत्र प्रमाण-विशेष कैसे माना जा सकता है

भावार्थ—जिन पुरुषोंके वचनोंमें विसंवाद, विवाद, पूर्वापर विरोध या विपरीत अर्थ-प्रतिपादकपना पाया जाता है, उन्हें आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। सांख्यादिके उपर्युक्त वचन इसी प्रकारके हैं, अतः वे आगमाभास हैं।

इस प्रकार प्रमाणके स्वरूपाभासोंका वर्णन हुआ।

अब प्रमाणके संख्याभासका वर्णन करते हैं—

सूत्रार्थ-प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इत्यादि कहना संख्याभास है ॥५५॥

प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है, यह पहले कहा जा चुका है। उससे विपरीत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, अन्य नहीं, ऐसा अवधारण (नियम या निश्चय) करना सो संख्याभास है।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, यह कहना कैसे संख्याभास है ? आचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

सूत्रार्थ—लौकायतिक अर्थात् नास्तिकमती चार्वाकका केवल एक

---

१. अलीकत्वात् । प्रतिपन्नार्थविचलनं हि विसंवादो विपरीतार्थोपस्थापकप्रमाणावसेयः । २. तद्विशेषोऽपीति पाठान्तरम् । नद्यास्तीरे इत्यादिवाक्यद्वयज्ञानमागमस्वभावान्न भवति, किन्तु आगमाभासमेवेति । ३. प्रमाणविशेषरूपमागमत्वमित्यर्थः । ४. आगमस्य । ५. आत्मा । ६. अनुमानस्य । ७. प्रत्यक्षाविषयत्वात् ।

अतद्विषयत्वादप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः। शेषं सुगमम्। प्रपञ्चितमेवैतत्सङ्ख्या-विप्रतिपत्तिनिराकरण इति नेह पुनरुच्यते।

[1]इतरवादिप्रमाणेयत्तावधारणमपि विघटत इति लौकायतिक[2]दृष्टान्तद्वारेण [3]तन्मतेऽपि सङ्ख्याभासमिति दर्शयति—

सौगतसाङ्ख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां[4]प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्[5] ॥५७॥

यथा प्रत्यक्षादिभिरेकैकाधिकैर्व्याप्तिः प्रतिपत्तुं न शक्यते[6] सौगतादिभिस्तथा प्रत्यक्षेण लौकायतिकैः परबुद्ध्यादिरपीत्यर्थः।

प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानना इसलिए संख्याभास है कि प्रत्यक्षसे परलोक आदिका निषेध और परकी बुद्धि आदिकी सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वे उसके विषय नहीं हैं ॥५६॥

उसके विषय नहीं हैं अर्थात् प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं; किन्तु उससे भिन्न अनुमानादि प्रमाणोंके विषय हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। शेष सूत्रार्थ सुगम है; क्योंकि इसका पहले, संख्या-विप्रतिपत्तिके निराकरणके समय विस्तारसे निरूपण किया जा चुका है, इसलिए यहाँ पर पुनः नहीं कहते हैं।

इसी प्रकार बौद्धादि अन्य वादियोंके द्वारा मानी गई प्रमाणकी संख्या-का नियम भी विघटित होता है, अतः चार्वाकके दृष्टान्त-द्वारा बौद्धादिके मत-में भी संख्याभासपना है, यह दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—जिस प्रकार सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयोंके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव; इन एक-एक अधिक प्रमाणोंके द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जाती है ॥ ५७ ॥

जैसे सौगतादिके द्वारा माने गये एक-एक अधिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्याप्ति नहीं जानी जा सकती है, उसी प्रकार एक प्रत्यक्षप्रमाणसे चार्वाकों के द्वारा अन्य मनुष्यकी बुद्धि आदिक भी नहीं जाने जा सकते हैं, यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ—चार्वाक प्रमाणकी प्रत्यक्षरूप एक ही संख्या मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को; सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन को; यौग प्रत्यक्ष अनुमान, आगम और उपमान इन चार को;

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्च कुतोऽसिद्धिरित्याह। १. सौगतादि। २. चार्वाकस्य। ३. सौगतमते। ४. मते। ५. व्याप्तिर्न सिद्ध्यति पूर्वोक्तप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वात्तथा प्रकृतमपि। ६. तर्कं विना।

अथ 'परबुद्ध्या'दिप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षेण माभूदन्यस्माद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥५८॥

तच्छब्देन परबुद्ध्यादिरभिधीयते। अनुमानादेः परबुद्ध्यादिविषयत्वे प्रत्यक्षैकप्रमाणवादो हीयत इत्यर्थः।

'अत्रोदाहरणमाह—

तर्कस्येव' 'व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ॥५९॥

प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति इन पाँचको तथा जैमिनीय उक्त पाँच सहित अभावको अर्थात् छहको प्रमाण मानते हैं। किन्तु इन सभीके द्वारा माने गये प्रमाणोंसे व्याप्ति अर्थात् अविनाभावका ग्रहण नहीं होता है, अतः उसे ग्रहण करनेवाले तर्कप्रमाणका मानना आवश्यक हो जाता है। और उसे प्रमाण माननेपर सभीकी प्रमाण-संख्या विघटित हो जाती हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सौगतादि अन्य मतावलम्बियोंके द्वारा मानी गई प्रमाण-संख्या यथार्थ नहीं, किन्तु अयथार्थ है; अर्थात् संख्याभास है।

यहाँपर चार्वाकका कहना है कि पराई बुद्धि आदिकका ज्ञान यदि प्रत्यक्षसे नहीं होता, तो न होवे; अन्य अनुमानादिसे हो जायगा? ऐसी आशङ्कापर आचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—अनुमानादिके पर-बुद्धि आदिकका विषयपना माननेपर अन्य प्रमाणोंके माननेका प्रसङ्ग आता है॥ ५८॥

सूत्रोक्त 'तत्' शब्दसे पर-बुद्धि आदिक कहे गये हैं। अनुमानादिको पर-बुद्धि आदिका विषय करनेवाला माननेपर एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह कथन विघटित हो जाता है, यह सूत्रका समुच्चय अर्थ है।

आचार्य इसी विषयमें उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे कि तर्कको व्याप्तिका विषय करनेवाला माननेपर सौगतादिकको उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ता है; क्योंकि अप्रमाणज्ञान पदार्थकी व्यवस्था नहीं कर सकता है॥ ५९॥

---

१. चार्वाकस्य शङ्कां निराकरोति। २. आत्मा। ३. सौगतादिमतनिराकरणद्वारेण। ४. यथा। ५. अप्रमाणभूतस्यापि तर्कस्य व्याप्तिगोचरत्वं कुतो न भवतीत्याशङ्कायामाह—व्याप्तेः।

सौगतादीनामिति शेषः। किञ्च प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिना[1] प्रत्यक्षाद्येकैकाधिकप्रमाणवादिभिश्च[2] स्वसंवेदनेन्द्रियप्रत्यक्षभेदोऽनुमानादिभेदश्च प्रतिभासभेदेनैव[3] वक्तव्यो गत्यन्तराभावात्। स च तद्भेदो[4] लौकायतिकं प्रति प्रत्यक्षानुमानयोरितरेषां[5] व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षादिप्रमाणेष्विति सर्वेषां प्रमाणसङ्ख्या विघटते। तदेव दर्शयति—

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्[6] ॥६०॥

इदानीं विषयाभासमुपदर्शयितुमाह—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्[8] ॥६१॥

सूत्रमें 'सौगतादीनाम्' यह पद शेष है, उसे ऊपरसे अध्याहार किया गया है।

यहाँ विशेष यह है कि एक प्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाकको, तथा प्रत्यक्षादि एक-एक अधिक प्रमाणवादी सौगतादिकको प्रत्यक्षके स्वसंवेदन और इन्द्रियप्रत्यक्षरूप भेद, तथा प्रमाणोंके अनुमानादि भेद प्रतिभासके भेदसे अर्थात् उनकी सामग्री और स्वरूपके भेदसे कहना ही पड़ते हैं; क्योंकि उनके माने विना और कोई गति नहीं है। वह प्रतिभासका भेद चार्वाकके प्रति प्रत्यक्ष और अनुमानमें, तथा सौगतादि अन्य मतवालोंके व्याप्तिज्ञान और प्रत्याक्षादि प्रमाणोंमें अनुभवगोचर है, इसलिए उन सभीकी प्रमाणसंख्या बिघटित हो जाती है। आचार्य यही बात उत्तर सूत्रके द्वारा दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—प्रतिभासका भेद ही प्रमाणोंका भेदक होता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—पदार्थके स्वरूपका प्रतिभास अर्थात् विभिन्न प्रतीतिरूप ज्ञान जितने प्रकारका होगा, उतने ही प्रकारके प्रमाण मानना पड़ते हैं। यही कारण है कि अनुमानकी भिन्न प्रतीतिसे चार्वाकको और तर्कज्ञानकी भिन्न प्रतीतिसे सौगतादिककी प्रमाण-संख्या विघटित हो जाती है।

इस प्रकार संख्याभासका वर्णन हुआ।

अब प्रमाणके विषयाभासको दिखलानेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—केवल सामान्यको, अथवा केवल विशेषको, अथवा स्वतन्त्र दोनोंको प्रमाणका विषय मानना विषयाभास है ॥ ६१ ॥

---

१. चार्वाकेण। २. सौगतादिभिः। ३. सामग्रीस्वरूपभेदेन। ४. प्रतिभासभेदश्च। ५. सौगतादीनाम्। ६. अस्तु प्रामाण्यमनुमानस्य। किन्तु तत्प्रत्यक्ष एवान्तर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याऽऽह। ७. ततः प्रत्यक्षेऽनुमानस्यान्तर्भावाभावः। ८. अन्योन्यनिरपेक्षम्।

कथमेषां तदाभासतेत्याह—

[1]तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ॥६२॥

किञ्च—तदेकान्तात्मकं तत्त्वं स्वयं समर्थमसमर्थं वा कार्यकारि स्यात्? प्रथमपक्षे दूषणमाह—

समर्थस्य[1] करणे[2] सर्वदोत्पत्ति[3]रनपेक्षत्वात्[4] ॥६३॥

सहकारिसान्निध्यात्[5] तत्करणान्नेति चेदत्राह[6]—

भावार्थ—सांख्य सामान्यरूप केवल द्रव्यको ही प्रमाणका विषय मानते हैं। बौद्ध विशेषरूप केवल पर्यायको ही प्रमाणका विषय कहते हैं। नैयायिक और वैशेषिक सामान्य और विशेषको स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उन्हें प्रमाणका विषय मनते हैं। परन्तु प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है, अतः ये सब विषयाभास हैं।

इन सांख्यादिकोंकी मान्यताएँ विषयाभास कैसे हैं, आचार्य इस आशङ्काके निराकरण करनेके लिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्योंकि केवल सामान्य रूपसे, अथवा विशेषरूपसे वस्तुका प्रतिभास नहीं होता; तथा केवल सामान्य या केवल विशेषरूप पदार्थ अपना कार्य नहीं कर सकता। इसलिए वे विषयाभास हैं ॥ ६२ ॥

यदि कोई कहे कि वे एकान्तरूप पदार्थ अपना कार्य कर सकते हैं, तो आचार्य उनसे पूछते हैं कि वह एकान्तात्मक तत्त्व स्वयं समर्थ होते हुए अपना कार्य करेगा, अथवा असमर्थ रहते हुए करेगा? आचार्य इनमेंसे प्रथम पक्षमें दूषण कहते हैं—

सूत्रार्थ—यदि वह एकान्तात्मक तत्त्व समर्थ होता हुआ कार्य करेगा, तो कार्यकी सर्वदा ही उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि वह किसी दूसरेकी अपेक्षा ही नहीं रखता, जिससे कि सर्वदा कार्यकी उत्पत्ति न हो सके ॥६३॥

यदि कहा जाय कि वह पदार्थ सहकारी कारणोंके सान्निध्यसे अर्थात् मिल जानेसे उस कार्यको करता है, इसलिए कार्यकी सर्वदा उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

---

१. केवलसामान्यतया केवलविशेषतया द्वयस्य स्वतन्त्रतया वा। २. कार्यस्य। ३. प्रसङ्गादिति शेषः। ४. परानपेक्षत्वात्। ५. कार्यकरणात्। ६. सर्वदोक्तलक्षणं दूषणं न भवतीत्यर्थः।

[1]परापेक्षणे [2]परिणामित्वमन्यथा[3] तदभावात् ॥६४॥

[4]वियुक्तावस्थायामकुर्वतः सहकारिसमवधानवेलायां कार्यकारिणः पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामोपपत्तेरित्यर्थः[5]। अन्यथा कार्यकरणाभावात्। [6]प्रागभावावस्थाया[7]मेवेत्यर्थः।

अथ [8]द्वितीयपक्षे दोषमाह—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत्[9] ॥६५॥

सूत्रार्थ—दूसरे सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखनेपर पदार्थके परिणामीपना प्राप्त होता है; अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा॥ ६४॥

सहकारी कारणोंकी वियुक्त अवस्थामें कार्य नहीं करनेवाले और सहकारी कारणोंके सन्निधानके समय कार्य करनेवाले पदार्थके पूर्व आकारका परित्याग उत्तर आकारका उपादान और स्थिति-लक्षण परिणामके सम्भव होनेसे परिणामीपना सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो कार्य करनेका अभाव रहेगा, जैसे कि प्रागभावदशामें कार्यका अभाव था।

भावार्थ—जैसे मृत्पिण्डकी दशामें घड़ेका अभाव था (इसीको प्रागभाव कहते हैं) और कुम्भकार, चक्र आदि सहकारी कारणोंके मिल जानेपर वह मृत्पिण्ड घटरूप कार्यसे परिणत हो गया; तब यही कहा जायगा कि घट परिणामी है; क्योंकि उसने अपनी मृत्पिण्डरूप दशाको छोड़कर तथा घटरूप दशाको प्राप्त करके भी अपना मृत्तिकापन स्थिर रखा है और यही परिणामीपनेका अर्थ है। यदि ऐसा न मानें तो जैसे प्रागभावदशामें घटके जल-धारणादि कार्य करनेका अभाव था, वह उत्तर अवस्थामें भी रहना चाहिए। इससे सिद्ध है कि सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखनेपर पदार्थ परिणामी है।

अब आचार्य असमर्थरूप दूसरे पक्षमें दोष कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्यका करनेवाला नहीं हो सकता। जैसे कि वह सहकारी कारणोंसे रहित अवस्थामें अपना कार्य करनेके लिए

---

१. परिणामित्वाभावे परापेक्षणं व्यर्थं स्यात्। २. अनपेक्षाकारपरित्यागेनापेक्षाकारेण परिणमनात्। ३. परानपेक्षे, परिणामित्वाभावे। ४. सहकारिरहितावस्थायाम्। ५. अनेन परिणामित्वं सूचितम्। ६. यथा मृत्पिण्डे प्राग् घटाभावः। कार्योत्पत्त्यभावात्सर्वं वस्तुजातं प्रागभावावस्थायामेव विद्यमानं स्यात्। ७. वियुक्तावस्थायामित्यर्थः। ८. असमर्थपक्षे। ९. सहकारिरहितावस्थायामिति अपरिणामी असमर्थो यथा।

अथ फलाभासं प्रकाशयन्नाह—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं[1] भिन्नमेव[2] वा ॥६६॥

कुतः पक्षद्वयेऽपि तदाभासतेत्याशङ्कायमाद्यपक्षे[3] तदाभासत्वे हेतुमाह—

[4]अभेदे [5]तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥६७॥

फलमेव प्रमाणमेव वा भवेदिति भावः।

[6]व्यावृत्या [7]संवृत्यपरनामधेयया [8]तत्कल्पनाऽस्त्वित्याह—

व्यावृत्यापि न [9]तत्कल्पना फलान्तराद्[10] व्यावृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात्[11]।

असमर्थ था, उसी प्रकार सहकारी कारणोंके मिल जानेपर भी अपना कार्य करनेमें असमर्थ रहेगा ॥६५॥

इस प्रकार प्रमाणके विषयाभासका वर्णन हुआ।

अब प्रमाणके फलाभासको प्रकाशित करते हुए अचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाणसे उसके फलको सर्वथा अभिन्न ही, अथवा भिन्न ही मानना फलाभास है ॥ ६६ ॥

इन दोनों ही पक्षोंमें फलाभासता कैसे है, ऐसी आशङ्का होनेपर पहले सर्वथा अभिन्न पक्षमें फलाभासता बतलानेके लिए आचार्य हेतु देते हैं—

सूत्रार्थ—यदि प्रमाणसे फल सर्वथा अभिन्न माना जाय, तो यह प्रमाण है और यह उसका फल है ऐसा भेद-व्यवहार नहीं बन सकेगा ॥६७॥

कहनेका भाव यह कि या तो फल ही रहेगा, अथवा प्रमाण ही रहेगा ? दोनों नहीं रह सकेंगे।

यदि प्रमाणसे फलको अभिन्न माननेवाले बौद्ध कहें कि संवृति इस अपर नामवाली व्यावृत्ति अर्थात् निवृत्ति की कल्पनासे प्रमाण और फलकी कल्पना कर ली जायगी, सो भी सम्भव नहीं है, यह बतलानेके लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—अफलकी व्यावृत्तिसे भी फलकी कल्पना नहीं की जा सकती है अन्यथा फलान्तरकी व्यावृत्तिसे अफलपनेकी कल्पनाका प्रसङ्ग आयगा ॥६८॥

---

१. बौद्धः। २. यौगः। ३. सर्वथाऽभेदपक्षे। ४. सर्वथा। ५. तयोः प्रमाणफलयोः। ६. व्यावृत्तिर्निरूपा अवस्तु। ७. अविद्या। ८. फल। ९. फल। फलाद् व्यावृत्तिरफलम्, अफलाद् व्यावृत्तिः फलम्। १०. अफलाद् व्यावृत्तिः कथं यथा तथा फलान्तराद् व्यावृत्त्या भाव्यम्। तथा सति फलान्तराद् व्यावृत्तिः फलविशेषाद् व्यावृत्तिरित्यर्थः। ११. अफलत्वप्रसङ्गः। गोव्यावृत्त्याऽगोत्वं भवति यथा

अयमर्थः—यथाऽफलाद्विजातीयात्फलस्य व्यावृत्त्या फलव्यवहारस्तथा [1]फलान्तरादपि सजातीयाद् व्यावृत्तिरप्यस्तीत्यफलत्वम् ।

अत्रैवाभेदपक्षे दृष्टान्तमाह—

प्रमाणान्तराद् [2]व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ॥६९॥

[3]अत्रापि प्राक्तन्येव प्रक्रिया योजनीया ।

सूत्रका यह अभिप्राय है कि जैसे फलका विजातीय जो अफल उसकी व्यावृत्तिसे आप बौद्ध लोग फलका व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार फलान्तर अर्थात् अन्य प्रमितिरूप जो सजातीय फल है उसकी व्यावृत्तिसे अफलपनेका प्रसङ्ग आता है ।

भावार्थ—बौद्ध लोग जैसे अगोकी व्यावृत्तिसे गोपदार्थका ज्ञान मानते हैं, उसी प्रकार वे यहाँपर भी कहते हैं कि हम अफलकी व्यावृत्तिसे फलका व्यवहार कर लेंगे । आचार्यने उन्हें यह उत्तर दिया है कि तब तो अन्य सजातीय फलकी व्यावृत्तिसे अफलकी कल्पना क्यों न की जावे ? कहनेका सारांश यह है कि अन्यकी व्यावृत्तिसे फलका व्यवहार नहीं हो सकता । अतः प्रमाणसे फलको सर्वथा अभिन्न मानना ठीक नहीं है ।

आचार्य दूसरे अभेदपक्षमें दृष्टान्त कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणकी व्यावृत्तिसे अप्रमाणपनेका प्रसङ्ग आता है ॥ ६९ ॥

यहाँ पर भी पहले वाली ही प्रक्रिया लगानी चाहिए ।

विशेषार्थ—बौद्ध लोग प्रमाण और फलमें अभेद मानते हैं, उनके मतानुसार एक ही ज्ञान प्रमाण और फल दोनों रूप होता है । उनके यहाँ प्रत्येक ज्ञान अर्थाकार और बोधरूप होता है । यतः घटका ज्ञान घटाकार और घट-बोधरूप है, अतः वे अर्थाकारको व्यवस्थापन-हेतु होनेसे प्रमाण और अर्थबोधको व्यवस्थाप्य होनेसे फल कहते हैं । यहाँ प्रश्न यह होता है कि एक ही ज्ञानमें प्रमाण और फल इन दो बातोंकी व्यवस्था कैसे सम्भव है ? बौद्ध इसका उत्तर यह देते हैं कि व्यावृत्तिके द्वारा दोनोंकी व्यवस्था होनेमें

---

१. प्रमित्यन्तरादपि । २. प्रमाणमियुक्ते अप्रमाणव्यावृत्तिरिति चेत्तर्हि प्रमाणान्तराद् व्यावृत्तमप्रमाणं स्यात् । न हि भवन्मते प्रमाणं नास्ति, तथा प्रकृतम् । अप्रमाणाद् विजातीयात् प्रमाणस्य व्यावृत्त्या प्रमाणव्यवहारस्तथा अप्रमाणं तदपि सजातीयाद् व्यावृत्तिरस्तीत्यप्रमाणत्वं यथा तथा प्रकृतम् । ३. प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्या प्रमाणस्याप्रमाणत्वं यथा तथा प्रकृतेऽपि ।

अभेदपक्षं निराकृत्य आचार्य उपसंहरति—

तस्माद्वास्तवो भेदः[1] ॥७०॥

[2]भेदपक्षं दूषयन्नाह—

[3]भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः[4] ॥७१॥

कोई विरोध नहीं है। घट-ज्ञानमें अघटाकारकी व्यावृत्ति होनेसे प्रमाणकी और अघट-बोधकी व्यावृत्ति होनेसे फलकी व्यवस्था हो जाती है। यहाँ आचार्य बौद्धोंकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रमाणसे फलको अभिन्न माननेपर व्यावृत्तिके द्वारा भी फलकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। जिस प्रकार आप अफल (अघट-बोध) की व्यावृत्तिसे उसे फल कहते हैं, उसी प्रकार सजातीय फल (अन्य घट-बोध) की व्यावृत्तिसे उसे अफल भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार आप लोग अप्रमाणकी व्यावृत्तिसे प्रमाणकी भी व्यवस्था नहीं कर सकते; क्योंकि जिस प्रकार अप्रमाणकी व्यावृत्तिसे उसे प्रमाण कहते हैं, उसी प्रकार प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) की व्यावृत्तिसे उसे अप्रमाण भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार अभेदपक्षका निराकरण करके आचार्य अब उपर्युक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

सूत्रार्थ—इसलिए प्रमाण और फलमें वास्तविक भेद है ॥७०॥

भावार्थ—कल्पनासे प्रमाण और फलका भेद नहीं मानना चाहिए, किन्तु वास्तविक भेद ही मानना चाहिए; अन्यथा प्रमाण और फलका व्यवहार नहीं बन सकता।

अब आचार्य नैयायिकोंके द्वारा माने गये सर्वथा भेद पक्षमें दूषण देते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—भेद माननेपर तो अन्य आत्माके समान यह इस प्रमाणका फल है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा ॥७१॥

भावार्थ—नैयायिक लोग प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। आचार्यने उनकी इस मान्यतामें यह दोष दिया है कि जिस प्रकार दूसरी आत्माके प्रमाणका फल हमारी आत्माके प्रमाणका फल नहीं कहला सकता

१. फलस्य परमार्थतो भेदो न तु कल्पितः। वास्तवभेदाभावे प्रमाणफलव्यवहारानुपपत्तेरिति। २. तर्हि सर्वथा भेदोऽस्त्विति शङ्कापनोदार्थमाह। ३. अन्यत्र भेदे आत्मान्तरस्येदं फलमिति वक्तुं न याति, तथा स्वात्मनोऽपि। ४. प्रमाणफल-व्यवहारानुपपत्तेः। इदं फलमस्येति व्यवहाराभावात् फलानुपपत्तेः।

अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं[1] फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति, नात्मान्तरे [2]तत्प्रसङ्ग इति चेत्तदपि न सूक्तमित्याह—

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥७२॥

समवायस्य नित्यत्वाद् [3]व्यापकत्वाच्च [4]सर्वात्मनामपि समवायसमानधर्मिकत्वान्न ततः प्रतिनियम[5] इत्यर्थः[6]।

है, उसी प्रकार प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न माननेपर हमारी आत्माके प्रमाणका फल भी हमारा नहीं कहला सकेगा। इसलिए प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न ही मानना ठीक नहीं है।

यहां पर नैयायिक कहते हैं कि जिस ही आत्मामें प्रमाण समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध है, उस ही आत्मामें फल भी समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध है, इसलिए समवाय-स्वरूप प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्धसे इस प्रमाणका यह फल है, ऐसी व्यवस्था बन जायगी और तब अन्य आत्मामें भी फलके माननेका प्रसङ्ग नहीं आयगा। आचार्य कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है—

सूत्रार्थ—क्योंकि समवायके माननेपर अतिप्रसङ्ग दोष आता है॥७२॥

समवायके नित्य, एक और व्यापक होनेसे वह सभी आत्माओंके भीतर समान धर्मरूपसे रहेगा, तब यह फल इसी प्रमाणका है, अन्यका नहीं, ऐसा प्रतिनियम नहीं बन सकेगा।

भावार्थ—आप नैयायिकोंने जब समवायको नित्य, एक और व्यापक माना है, तब उसका सम्बन्ध सभी आत्माओंमें समानरूपसे होगा। ऐसी दशामें यह नियम कैसे बन सकता है कि यह फल इसी अमुक आत्माके प्रमाणका है और अन्य आत्माके प्रमाणका नहीं। फिर इस प्रतिनियमके अभावमें यह अव्यवस्थारूप अतिप्रसङ्ग दोष आता है कि जिस किसी भी आत्माके प्रमाणका फल हर जिस किसी भी आत्माके प्रमाणका फल कहलाने लगेगा। इसलिए प्रमाणसे फलको सर्वथा भिन्न ही मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार सर्वथा भेद और अभेद पक्षके निराकरण कर देनेपर यह अर्थ फलित हुआ कि प्रमाणसे फलको कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न ही मानना युक्ति-संगत है।

इस प्रकार प्रमाणके फलाभासका वर्णन हुआ।

---

१. सम्बद्धम्। २. फलप्रसङ्गः। ३. एकत्वात्। ४. नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च। ५. इदं फलमस्यैव नान्यस्येति प्रतिनियमाभावः। ६. एकस्मिन्नात्मनि अन्यः प्रमाण-

इदानीं स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थामुपदर्शयति—

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥७३॥

वादिना प्रमाणमुपन्यस्तम्, तच्च प्रतिवादिना दुष्टतयोद्भावितम्। पुनर्वादिना परिहृतम्, तदेव तस्य[1] साधनं भवति; प्रतिवादिनश्च दूषणमिति। यदा तु वादिना प्रमाणाभासमुक्तम्, प्रतिवादिना तथैवोद्भावितम्, वादिना चापरिहृतम्; तदा तद्वादिनः साधनाभासो भवति, प्रतिवादिनश्च भूषणमिति।

अब आचार्य वाद अर्थात् शास्त्रार्थके समय अपने पक्षके साधनकी और परपक्षमें दूषण देनेकी व्यवस्थाको बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—वादीके द्वारा प्रयुक्त प्रमाण और प्रमाणाभास प्रतिवादीके द्वारा दोषरूपसे उद्भावित किये जानेपर वादीसे परिहृत दोषवाले रहते हैं, तो वे वादीके लिए साधन और साधनाभास हैं और प्रतिवादीके लिए दूषण और भूषण हैं ॥७३॥

इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि वादके समय वादीने पहले प्रमाणको उपस्थित किया, प्रतिवादीने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। पुनः वादीने उस दोषका परिहार कर दिया तो वादीके लिए वह साधन हो जायगा और प्रतिवादीके लिए दूषण हो जायगा। इसी प्रकार जब वादीने प्रमाणाभास कहा, प्रतिवादीने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। तब यदि वादीने उसका परिहार नहीं कर पाया, तो वह वादीके लिए साधनाभास हो जायगा और प्रतिवादीके लिए भूषण हो जायगा।

भावार्थ—शास्त्रार्थके समय जो पहले अपने पक्षको स्थापित करता है वह वादी कहलाता है और जो उसका प्रतिवाद करता है, वह प्रतिवादी कहलाता है। इनमेंसे जो अपने पक्षपर आये हुए दूषणोंका परिहार करके अपने पक्षको सिद्ध कर देता है, शास्त्रार्थमें उसकी जीत होती है और जो वैसा नहीं कर पाता उसकी हार होती है। कहनेका प्रकृतमें भाव यह है कि अपने पक्षको सिद्ध कर लेना और पर पक्षमें दूषण दे देना यही प्रमाण और प्रमाणाभासके जाननेका फल है।

फलयोः सम्बन्ध इत्यन्यस्मिन्नपि भवति, समवायस्य समानधर्मत्वात् विशेषाभावात् कथमेतस्येदं फलमेतस्येदं न भवतीति प्रतिनियमः कथं भवन्ति? १. तस्य वादिनः।

अथोक्तप्रकारेणाशेषविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण प्रमाणतत्त्वं स्वप्रतिज्ञातं परीक्ष्य नयादि-तत्त्वमन्यत्रोक्त[1]मिति [2]दर्शयन्नाह—

सम्भवदन्यद्[3] विचारणीयम्[4] ॥७४॥

सम्भवद्विद्यमानमन्यत्प्रमाणतत्त्वान्नय[5]स्वरूपं शास्त्रान्तरप्रसिद्धं विचारणीयमिह[6] युक्त्या प्रतिपत्तव्यम्। तत्र मूल नयौ द्वौ[7]द्रव्यार्थिक-[8]पर्यायार्थिकभेदात्। तत्र द्रव्यार्थिक-स्त्रेधा—नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्। पर्यायार्थिकश्चतुर्धा—ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूत-भेदात्।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रमाणके स्वरूप-संख्यादिसम्बन्धी समस्त विप्रति-पत्तियोंके निराकरण द्वारा अपने प्रतिज्ञात प्रमाणतत्त्वकी परीक्षा करके नय, निक्षेपादि तत्त्व अन्य ग्रन्थोंमें कहे गये हैं, उन्हें वहींसे जान लेना चाहिए, यह बतलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वस्तुतत्त्वकी सिद्धिके लिए सम्भव अन्य नय-निक्षेपादि भी विचारणीय हैं ॥ ७४ ॥

प्रमाणतत्त्वसे भिन्न अन्य सम्भव अर्थात् विद्यमान जो नयचक्रादि अन्य शास्त्रोंमें प्रसिद्ध नयोंका स्वरूप है, वह भी यहाँपर विचारणीय है, अर्थात् युक्तिसे ज्ञातव्य है। वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे किसी एक अंशके ग्रहण करने-वाले ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। अयथार्थ या मिथ्या नयको नया-भास कहते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे मूल नय दो हैं। द्रव्यकी ही प्रधानतासे विवक्षा करनेवाले नयको द्रव्यार्थिक और पर्यायकी ही प्रधान-तासे विषय करनेवाले नयको पर्यायार्थिक कहते हैं। उनमें नैगम, संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का है। ऋजुसूत्र, शब्द, सम-भिरूढ और एवम्भूतके भेदसे पर्यायार्थिक नय चार प्रकारका है।

---

१. ग्रन्थान्तरे नयचक्रादौ। २. अध्यारोपयन्। ३. कथितात्प्रमाणतदाभास-लक्षणादन्यन्नय-नयाभासयोर्लक्षणम्। ४. नयनिष्ठैः। ५. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय इति नयसामान्यलक्षणम्। तदुक्तम्—नयो वक्तृविवक्षा स्याद् वस्त्वंशे स हि वर्तते। द्विधाऽसौ भिद्यते मूलाद् द्रव्य-पर्यायभेदतः ॥ १ ॥ ६. अस्मिन् शास्त्रे। ७. द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः। ८. पर्याय एवार्थो यस्यासौ पर्याया-र्थिकः। तदुक्तं—घट पटयोरभेदः प्रमेयत्वादभिधेयत्वाद्वस्तुत्वात्तयोर्भेदः—आतानवितानाकार-त्वात् पृथुबुध्नोदराकारत्वात्। नैगमः संग्रहश्चेतिव्यवहारर्जुसूत्रको। शब्दः समभिरूढैवंभूतौ सप्त नयाः स्मृताः ॥ २ ॥ नैगमः संग्रहश्चेति व्यवहारस्त्रयो नयाः। द्रव्यार्थिकस्य भेदास्युरन्ये पर्यायभेदकाः ॥३॥

'अन्योन्यगुण[1]-प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः[2]। नैकं गमो नैगम इति निरुक्तेः। सर्वथा भेदवादस्तदाभासः।

वस्तुगत धर्मोंके भेद और अभेदको परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगमनय है। यह नय एक ही धर्मको ग्रहण नहीं करता, किन्तु विधि-प्रतिषेधरूप अनेक धर्मोंको मुख्यता और गौणतासे ग्रहण करता है, अतः 'नैकं गमः नैगमः' इस प्रकारकी इसकी निरुक्ति सार्थक है। सर्वथा भेदवादको ही कहना नैगमाभास है।

विशेषार्थ—निगम नाम सङ्कल्पका है। सङ्कल्पको प्रधानरूपसे ग्रहण करनेवाले नयको नैगमनय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटनेके लिए वन जा रहा है। किसीने पूछा—तुम कहाँ जा रहे हो? वह कहता है—हल लेने जा रहा हूँ। यहाँपर अभी हलरूप पर्याय नहीं है, पर लाई जानेवाली लकड़ीमें हल बनानेका सङ्कल्प होनेसे वह हलका व्यवहार करता है। कुछ आचार्य धर्म और धर्मी इन दोनोंको गौण और प्रधान भावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य कहते हैं। जैसे सुख जीवका गुण है। यहाँपर सुख प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य है और जीव गौण है; क्योंकि वह विशेषण है। 'जीव सुखी है' इस प्रकारके प्रयोगमें जीव प्रधान है, क्योंकि वह विशेष्य पद है और सुखी यह विशेषण है अतः वह गौण है। इस प्रकार नैगम नय न केवल धर्मको ही विषय करता है और न केवल धर्मीको। किन्तु विवक्षाके अनुसार यह दोनोंको विषय करता है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें एककी प्रधानतासे विवक्षा करनेपर यह

---

१. धर्मधर्मिणोः। २. गौणमुख्यभावेन। ३. यथा जीवगुणः सुखमित्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्सुखस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्। सुखी जीव इत्यत्र तु जीवस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्, सुखस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्। अथवाऽनिष्पन्नार्थ-सङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। निगमो हि सङ्कल्पस्तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः। यथा कश्चित्पुरुषो गृहीतकुठारो गच्छन् किमर्थं भवान् गच्छतीति पृष्टः सन्नाह—प्रस्थमाने-तुमिति। न चासौ प्रस्थपर्यायः सन्निहितः, किन्तु तन्निष्पत्तये सङ्कल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारात्। भूत-भावि-वर्तमानकालभेदान्नैगमस्त्रेधा। अतीतं साम्प्रतं कृत्वा निर्माय तद्योगिनः। एवं वदत्यभिप्रायो नैगमोऽभेदको नयः ॥ ४ ॥ अनिष्पन्नं क्रियारूपं निष्पन्नं वदति स्फुटम्। नैगमो वर्तमानं स्यादोदनं भुज्यते यथा ॥५॥ चिकीर्षितं यदि निर्वृत्तमप्रस्थे प्रस्थकं यथा। भाविनं भूतवद् ब्रूते नैगमस्त्वागमो मतः ॥६॥

प्रतिपक्षसव्यपेक्षः[1] सन्मात्रग्राही संग्रहः[2] । ब्रह्मवादस्तदाभासः[3] ।

नैगमनय दूसरेको गौणरूपसे ग्रहण करता है। यह नय गुण और गुणीमें भेद और अभेद दोनोंको ही विषय करता है। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमनयाभास है; क्योंकि गुणीसे गुण और अवयवीसे अवयव अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते। इसी प्रकार गुण या अवयवकी उपेक्षा करके गुणी या अवयवी भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते हैं। वैशेषिक नैयायिकोंका गुणीसे गुणको सर्वथा भिन्न मानना और सांख्योंका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास ही है; क्योंकि गुणी और अवयवीको छोड़कर गुण और अवयव भिन्न नहीं पाये जाते।

प्रतिपक्षकी अपेक्षासहित सत्तामात्र सामान्यतत्त्व को ग्रहण करना संग्रहनय है। केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है, ऐसा कहना संग्रहाभास है।

विशेषार्थ—संसारके समस्त पदार्थोंको 'सत्' रूपसे संग्रह करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं। जैसे सत् रूपकी अपेक्षा यह चराचर विश्व या चेतनाचेतनात्मक जगत् एकरूप है; क्योंकि सत् रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। संग्रह दो प्रकारका है—सामान्य या पर संग्रह और विशेष या अपरसंग्रह। जो परस्परके अविरोधसे सबके सत्त्वको कहे वह सामान्य या परसंग्रह कहलाता है। अपर या विशेष संग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका पर्यायरूपसे समस्त पर्यायोंका, और मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका संग्रह किया जाता है। नैगमनय विधि और निषेध दोनोंको मुख्य और गौणतासे ग्रहण करता है। किन्तु संग्रहनय केवल विधिको ही विषय करता है। केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है इस प्रकार ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य सबका निराकरण करना संग्रहाभास है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, किन्तु गौणरूपसे उसकी विवक्षा रहती है।

---

१. प्रतिपक्षसापेक्षः। २. संग्रहोऽपि द्विधा-सामान्यसंग्रहो विशेषसंग्रहश्चेति। यदन्योन्याविरोधेन सत्त्वं सर्वस्य वक्ति यः। सामान्यसंग्रहः प्रोक्तश्चैकजीवो विशेषकः ॥ ७ ॥ सामान्यसंग्रहस्यार्थं जीवाजीवादिभेदतः। भिनत्ति व्यवहारोऽयं शुद्धसंग्रहभेदकः ॥ ८ ॥ ३. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनेत्यादि संग्रहाभासः।

सङ्ग्रहगृहीतभेदको व्यवहारः[1]। काल्पनिको भेदस्तदाभासः[2]। [3]शुद्धपर्यायग्राही [4]प्रतिपक्षसापेक्ष ऋजुसूत्रः[5]। क्षणिकैकान्तनयस्तदाभासः[6]।

संग्रहनयसे गृहीत तत्त्वका भेद करनेवाला व्यवहार नय है। भेद-व्यवहार काल्पनिक है, ऐसा कहना व्यवहाराभास है।

विशेषार्थ—संग्रहनयसे संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक भेद करनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। जैसे—जो सत् है, वह द्रव्यरूप है, अथवा पर्यायरूप है। जो द्रव्य है वह चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकार है। चेतनद्रव्य भी संसारी और मुक्तके भेदसे दो प्रकार है। संसारी जीव भी त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारका है। इस प्रकारसे यह नय जहाँ तक भेद सम्भव है, वहाँ तक भेद करता ही जाता है। अपेक्षाके विना भेद-व्यवहारको काल्पनिक कहना व्यवहाराभास है। दो स्वतंत्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है जब कि एक द्रव्यकी गुण और पर्यायमें वास्तविक अभेद है। उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषण कर समझनेके लिए कल्पित होता है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या है और इसीलिए वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध सत्तासे द्रव्यादि भेदकी कल्पना भी व्यवहाराभास ही है।

प्रतिपक्षकी अपेक्षारहित शुद्ध पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्रनय है। क्षणिक एकान्तरूप तत्त्वको मानना ऋजुसूत्राभास है।

विशेषार्थ—प्रतिपक्षकी अपेक्षारहित वर्तमान क्षणवर्ती शुद्ध पर्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्र नयका विषय है। जैसे इस समय सुखरूप पर्याय है। इस नयकी दृष्टिमें चूंकि अतीत विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्यायका व्यवहार हो नहीं सकता। यह नय भी सूक्ष्म और स्थूलके भेदसे दो प्रकारका है। एक समय वर्ती पर्यायको विषय करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है और अनेक समयवर्ती स्थूल पर्यायको विषय करना स्थूल ऋजुसूत्र नय है। बौद्धोंके द्वारा माना गया सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्राभास है। क्योंकि उसमें विभिन्न क्षणोंमें अनुगामी कोई द्रव्य नहीं माना गया है।

१. संग्रहनयगृहीतानां विधिपूर्वको भेदको व्यवहारः। यथा सद्द्रव्यं पर्यायो वेत्यादि। विशेषसंग्रहस्यार्थं व्यवहारो भिनत्त्यलम्। संसारिमुक्तभेदेन संग्रहार्थप्रभेदकः ॥ ९ ॥ सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारः, विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारश्चेति व्यवहारोऽपि द्विधा। २. अपेक्षामन्तरेण सर्वथा भेदः काल्पनिको व्यवहारनयाभासः। ३. वर्तमानमात्र-। ४. भूतभविष्यत्पर्याय-। ५. ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रमिति निरुक्तेः। यथा सुखपर्यायः सम्प्रत्यस्ति। सूक्ष्मऋजुसूत्रः स्थूलऋजुसूत्रश्चेति ऋजुसूत्रोऽपि द्विधा। एकस्मिन् समये संस्थं पर्यायं यः स पश्यति। ऋजुसूत्रो भवेत्सूक्ष्मः स्थूलः स्थूलार्थगोचरः ॥ १० ॥ ६. बौद्धाभिमतः सर्वथा क्षणिकवादस्तदाभासः।

काल-[1]कारक[2]लिङ्गानां[3] भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः[4]। अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः। पर्यायभेदात्पदार्थ[5]नानात्वनिरूपकः

काल, कारक, लिङ्ग आदिके भेदसे शब्दके कथञ्चित् अर्थ-भेदका कथन करना शब्दनय है। अर्थभेदके बिना शब्दोंकी एकान्तरूपसे विभिन्नताको कहना शब्दनयाभास है।

विशेषार्थ—यह नय एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका लिङ्गादिके भेदसे भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। जैसे पुष्य, नक्षत्र और तारा ये तीनों शब्द नक्षत्रके पर्यायवाची होते हुए भी लिङ्गके भेदसे भिन्न-भिन्न अर्थके ही वाचक हैं। पुष्य शब्द पुलिङ्ग होनेसे उसके पुरुषत्वको, नक्षत्र शब्द नपुंसकलिङ्ग होनेसे उसके नपुंसकत्वको और तारा शब्द स्त्रीलिङ्ग होनेसे उसके स्त्रीत्वको प्रगट करता है इसी प्रकार कालके भेदसे, कारकके भेदसे और संख्याके भेदसे भी भिन्न-भिन्न शब्द भिन्न भिन्न अर्थके वाचक होते हैं। लिङ्गादिका भेद होनेपर भी उन शब्दोंमें अर्थगत भेदको नहीं मानना शब्दनयाभास है। जैसे पुष्य, नक्षत्र और तारा इन शब्दोंमें लिङ्ग-भेद होनेपर भी इनका वाच्य एक ही अर्थ मानना।

पर्यायके भेदसे पदार्थके नानापनेका निरूपण करनेवाला समभि-

---

१. चित्रभानुः रात्रौ भाति, तदाऽग्निः दिवसे भाति। २. घटः घटौ घटा एकस्य बहूनामर्थभेदः। अथवा षट्कारकभेदेन च। ३. मित्रः मित्रं सूर्यसुहृदौ। लक्षणं यस्य प्रवृत्तौ च स्वस्य वादिद्वलिङ्गिनः। शब्दो लिङ्गं स्वसंख्यां च न परित्यज्य वर्तते ॥ ११ ॥ शब्दोऽथवा प्रसिद्धेन शब्देनार्थं प्रतीत्यय। यथा मनुजपर्याये स्थितो मनुज एव सः ॥ १२ ॥ शब्दभेदेनचार्थस्य भेदं तथ्यं करोति यः। ४. लिङ्गसंख्यासाधनकालोपग्रहकारकभेदेन भिन्नमर्थं पश्यति प्रतिपादयत्यनेनेति शब्दः। यथा पुष्यस्तारका नक्षत्रमित्यत्र लिङ्गभेदेन, सलिलमाप इत्यत्र सङ्ख्याभेदेन भिन्नार्थत्वं मन्यते। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, यातस्ते पिता इत्यत्र साधनभेदेनार्थभेदः। विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रोऽजनि, वा भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेनार्थान्तरत्वं मन्यते। सन्तिष्ठते तिष्ठति, विरमति विरमते इत्यत्रोपग्रहभेदेन भिन्नार्थताभिमननम्, अनेन क्रियते, अयं करोति इत्यत्र कारकभेदेन भिन्नार्थत्वम्, मन्यते इत्यत्र लिङ्गादिभेदेऽपि यद्येकत्वं स्यात्तदा सर्वशब्दानामेकार्थत्वप्रसङ्गः स्यात्। ५. शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थभेदमभिप्रैति, कालादिभेदत एवार्थभेदा-

समभिरूढः[1]। [2]पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः। क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावः[3]। क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु[4] काल्पनिको व्यवहार-स्तदाभास इति।

रूढनय है। पर्यायकी विभिन्नताके विना ही इन्द्र-शक्रादिके भेदका कथन करना समभिरूढनयाभास है।

विशेषार्थ—शब्दनय काल, कारक, लिङ्ग तथा संख्याके भेदसे शब्दोंमें अर्थ-भेद स्वीकार करता है, किन्तु समभिरूढ नय एक कालवाचक, एकलिङ्ग-वाले, और एक संख्यावाले अनेक पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द एकलिङ्ग (पुल्लिङ्ग) वाले हैं। इस नयकी दृष्टिसे इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न भिन्न है। देवोंका राजा शासन करनेसे शक्र, इन्दन, (ऐश्वर्य-भोग) करनेसे इन्द्र तथा पुरोंका दारण (विनाश) करनेसे पुरन्दर कहलाता है। समभिरूढनयकी दृष्टिसे एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता है और एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता है। यद्यपि शब्दनयकी दृष्टिसे एक ही गो शब्द गाय, पृथिवी आदि ग्यारह अर्थोंका वाचक है किन्तु इस नयकी दृष्टिसे गाय, पृथिवी आदिके वाचक गो शब्द भिन्न भिन्न ही हैं। शब्दोंमें पर्यायभेद मान-कर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढाभास है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुर-न्दर इन तीनों शब्दोंका वाच्य एक ही अर्थ मानना।

क्रियाके आश्रयसे भेदका निरूपण करना इत्थम्भाव अर्थात् एवम्भूत नय है। क्रियाकी अपेक्षासे रहित होकर क्रियावाचक शब्दोंमें काल्पनिक व्यवहार मानना एवम्भूताभास है।

विशेषार्थ—समभिरूढनयकी दृष्टिसे एक ही समयमें देवोंके राजाके लिए इन्द्र, शक्र, और पुरन्दर इन तीनों शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु यह नय जिस समय उस अर्थमें जो क्रिया हो रही हो उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय वह शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, दूसरे समय नहीं। इसी प्रकार जब गाय

भिप्रायादिति। अत्र तु भेदः पर्यायभेदादिति यथा शक्र इन्द्रः पुरन्दरः। १. पर्याय-शब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्। नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥ १३॥ शब्दभेदादर्थभेदकः समभिरूढः। २. एकस्यैवाऽऽत्मनः रागादिपरिणामत्वाद् रागी द्वेषी-त्यादि। ३. यस्मिन् काले क्रियायां च वस्तुजातं प्रवर्तते। तया तन्नाम वाच्यं स्यादे-वम्भूतो नयो मतः॥ १४॥ यथा शकनक्रियायां सत्यामेव शक्रः। समभिरूढनये तु तस्यां सत्यामसत्यां वा तच्छब्दव्यवहारात्तथा रूढेः सद्भावात्। एतेषु ऋजुसूत्रान्ताश्च-त्वारोऽर्थप्रधानादर्थनयाः। शेषास्तु त्रयः शब्दप्रधानाच्छब्दनयाः। ४. शक्रादिशब्देषु।

इति [1]नय-तदाभासलक्षणं सङ्क्षेपेणोक्तम्, विस्तरेण[2] नयचक्रात्प्रतिपत्तव्यम् ।

चल रही है तभी उसे गाय कहेंगे, बैठे या सोते हुए नहीं। उस क्रियाके कालमें उस शब्दका प्रयोग नहीं करना अथवा अन्य क्रियाके कालमें उस शब्द का प्रयोग करना एवम्भूताभास है। जैसे किसी व्यक्तिको देव-पूजन करते समय अध्यापक कहना, अथवा अध्यापन करते समय उसे पुजारी कहना।

इस प्रकार नय और नयाभासका संक्षेपसे लक्षण कहा। विस्तारसे नयों और नयाभासोंके लक्षण नयचक्र नामक ग्रन्थसे जानना चाहिए।

विशेषार्थ—नयोंके विषयमें इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्प विषयवाले हैं। नैगम नयसे व्यवहार नय सूक्ष्म है। तथा उसका विषय भी अल्प है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। ये ही नय अन्तसे पूर्व-पूर्वमें स्थूल और महा विषयवाले हैं। अर्थात् एवम्भूत नय सबसे सूक्ष्म है और उसका विषय भी अल्पतम है। उसकी अपेक्षा समभिरूढनय स्थूल और महा विषयवाला है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व नयोंमें स्थूलता और महाविषयता जानना चाहिए। इन सात नयोंमेंसे प्रथम चार नय अर्थग्राही होने से अर्थनय हैं, और शेष तीन नय शब्द-प्रधान होने शब्दनय कहलाते हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को विषय करनेके कारण द्रव्यार्थिक और शेष चार नय पर्यायको विषय करनेके कारण पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं। टिप्पणकारने इन सातों नयोंकी उत्तरोत्तर अल्पविषयताका प्रदर्शक एक सुन्दर उदाहरण दिया है। यथा—कहींपर किसी पक्षीके शब्दको सुनकर नैगमनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि गाँवमें पक्षी बोल रहा है, संग्रहनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि वृक्षपर पक्षी

१. अथ नयस्य व्युत्पत्तिः का? प्रमाणेन गृहीतवस्तुनोंऽशग्राही नयः। श्रुतविकल्पो वा नयः। ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेन यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तुनः प्रतिपत्ताऽस्तीति वा नयः। नयाः सप्तोक्ताः। तेषां विषयो यथा—ग्रामे वृक्षे विटपे शाखायां तत्प्रदेशके काये। कण्ठे च रौति शकुनिर्यथाक्रमो नैगमादीनाम् ॥१॥ इति नयानां विषयः। विशेषेण स्वरूपं जैनेन्द्रैः प्रतिपादितम्। नैकं गच्छतीति निगमः। निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः। यथाऽयं पुरुषः स्तम्भो वा। अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः। संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः। ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानकालवर्त्ति वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः। शब्दाद् व्याकरणात् प्रकृतिः प्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः। सं परस्परेण अभिरूढः समभिरूढः। यथा शब्दभेदेऽर्थभेदो नास्ति। यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादि। एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयते एवम्भूतः। अत्र मूलनयौ द्वौ निश्चय व्यवहारभेदात्। तत्र निश्चयोऽभेदविषयः। व्यवहारो भेदविषयः। एवं जैनसिद्धान्तात् नव नयाः ज्ञातव्याः।

२. एतेषु सर्वनयेषु पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च। परः परोऽल्पविषयः कार्यभूतश्चेति। संग्रहनयान्नैगमो बहुविषयो भावाभावविषयत्वात्। यथैव हि सति सङ्कल्प-

अथवा सम्भवद्विद्यमानमन्यद्वादलक्षणं[1] [2]पत्रलक्षणं वाऽन्यत्रोक्तमिह द्रष्टव्यम्। तथा चाह—समर्थवचनं वाद इति।

बोल रहा है, व्यवहार नय की दृष्टिसे कहा जायगा कि विटप (तना) पर पक्षी बोल रहा है, ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि शाखापर पक्षी बोल रहा है, शब्दनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि घोंसलेमें पक्षी बोल रहा है, समभिरूढनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि वह अपने शरीरमें बोल रहा है और एवम्भूतनयकी दृष्टिसे कहा जायगा कि वह अपने कण्ठमें बोल रहा है। जिस प्रकार यहाँ पक्षीके बोलनेके प्रदेशको लेकर उत्तरोत्तर क्षेत्र-विषयक सूक्ष्मता है, उसी प्रकार सातों नयोंके विषयमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयता जानना चाहिए।

अथवा वस्तुतत्त्वके निर्णयके लिए शास्त्रार्थमें सम्भव अर्थात् विद्यमान ऐसा अन्य जो वादका लक्षण है; अथवा पत्रका लक्षण है, जो कि पत्रपरीक्षा-आदि अन्य ग्रन्थोंमें वर्णित है, वह भी यहाँपर द्रष्टव्य है। समर्थ वचनको वाद कहते हैं। अर्थात् जहाँपर वस्तुतत्त्वके निर्णयके लिए गुरु-शिष्यमें, या वादी प्रतिवादीमें पक्ष-प्रतिपक्षके रूपसे हेतु, दृष्टान्त आदिके रूपमें अबाधित समर्थ वचनोंका प्रयोग किया जाता है, उसे वाद कहते हैं।

पत्रका लक्षण इस प्रकार कहा गया है

स्तथाऽसत्यपि। संग्रहनयस्तु ततोऽल्पविषयः, सन्मात्रगोचरत्वात्, नैगमपूर्वकत्वञ्च तत्कार्यः। संग्रहाद् व्यवहारोऽपि तत्पूर्वकः, सद्विशेषावबोधकत्वादल्पविषय एव। कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचराद् व्यवहाराद् ऋजुसूत्रोऽपि तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचरतयाऽल्पविषय एव। कारकादिभेदेनाभिन्नार्थं प्रतिपद्यमानाद् ऋजुसूत्रस्तत्पूर्वकः शब्दनयोऽप्यल्पविषय एव, तद्विपरीतार्थगोचरत्वात्। शब्दनयात्पर्यायभेदेनार्थभेदं प्रतिपद्यमानात्तद्विपर्ययात्तत्पूर्वकः समभिरूढोऽप्यल्पविषय एव। समभिरूढतश्च क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रकटयतस्तद्विपर्ययात्तत्पूर्वक एवम्भूतोऽप्यल्पविषय एव। यत्रोत्तरोत्तरो नयोऽर्थांशे प्रवर्तते तत्र पूर्वः पूर्वो नयो वर्तत एव। सहस्रे सप्तशती, तस्यां वा पञ्चशती।

१. आचार्य-शिष्ययोः पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहात्। अभ्यासो यः कथायाः स्यादसौ वाद उदाहृतः ॥१॥ वादस्य चत्वार्यङ्गानि—सभ्य-सभापति-वादि-प्रतिवादिनः। २. पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः (प्रतिवादिभ्यः) स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत्पत्रमिति पत्रस्य व्युत्पत्त्यर्थः। ३. पत्रपरीक्षादौ।

प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् ।
साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्[1] ॥४२॥ इति

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ २ ॥

व्यधामकृतवानस्मि । किमर्थम् ? संविदे । कस्य ? मादृशः । अहं च कथम्भूत इत्याह—बालो मन्दमतिः । अनौद्धत्यसूचकं वचनमेतत् । तत्त्वज्ञत्वञ्च प्रारब्धनिर्वहणादेवाव-सीयते । किं तत् ? परीक्षामुखम् । तदेव निरूपयति आदर्शमिति । कयोः ? हेयोपादेय-तत्त्वयोः यथैवाऽऽदर्श आत्मनोऽलङ्कारमण्डितस्य सौरूप्यं वैरूप्यं वा प्रतिबिम्बोपदर्शनद्वारेण सूचयति, तथेदमपि हेयोपादेयतत्त्वं साधनदूषणोपदर्शनद्वारेण निश्चाययतीत्यादर्शत्वेन

जिसमें अनुमानके प्रसिद्ध पांचों अवयव पाये जावें, जो अपने अभीष्ट अर्थका साधक हो और जो निर्दोष गूढ़ रहस्यवाले पदांसे प्रायः भरपूर हो, ऐसे अनाकुल अर्थात् अबाधित वाक्यको पत्र कहते हैं ॥४२॥

भावार्थ—जब शास्त्रार्थ मौखिकरूपसे न होकर लिखितरूपसे होता है, तब वादी प्रतिवादी अपने मन्तव्योंको पत्रमें लिखकर परस्पर भेजते हैं। उन पत्रोंका कैसा स्वरूप होना चाहिए यह ऊपरके श्लोकमें बतलाया गया है।

अब सूत्रकार आचार्य अपने कथनका उपसंहार करते हुए अपनी लघुता प्रदर्शित करते हैं--

हेय और उपादेय तत्त्वके ज्ञानके लिए आदर्श (दर्पण) के सदृश इस परीक्षामुख ग्रन्थको मेरे जैसे बालकने परीक्षा-दक्ष पुरुषके समान रचा ॥२॥

'व्यधाम्' अर्थात् किया है रचा है। किसलिए? ज्ञानके लिए। किसके ज्ञानके लिए? मुझ जैसे मन्दबुद्धिजनोंके ज्ञानके लिए। और मैं कैसा हूं? मन्दबुद्धि बालक हूं। आचार्यका यह वचन अपनी अनुद्धतताका सूचक है। किन्तु उनकी तत्त्वज्ञता तो प्रारम्भ किये हुए कार्यका निर्वाह करनेसे ही जानी जाती है। वह प्रारम्भ कार्य क्या है? यह परीक्षामुख ग्रन्थ। उसे ही आचार्य आदर्शके समान निरूपण कर रहे है। किनका? हेय और उपादेय तत्त्वोंका। जिस प्रकार आदर्श अर्थात् दर्पण अलङ्कारोंसे मण्डित अपनी सुन्दरता या विरूपताको प्रतिबिम्ब दिखलानेके द्वारा सूचित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी हेय-उपादेय तत्वका उनके साधन और दूषण दिखलानेके द्वारसे उनका निश्चय कराता है, इसलिए उसे आदर्शरूप कहा गया है।

1. अबाधितम्, निर्दोषम्।

निरूप्यते। क इव? परीक्षादक्षवत् परीक्षादक्ष इव। यथा परीक्षादक्षः स्वप्रारब्धशास्त्रं निरूढवाँस्तथाऽहमपीत्यर्थः।

अकलङ्कशशाङ्कैर्यत्प्रकटीकृतमखिलमाननिभनिकरम्।
तत्सङ्क्षिप्तं सूरिभिरुरुमतिभिर्व्यक्तमेतेन॥१२॥

इति परीक्षामुखलघुवृत्तौ प्रमाणाद्याभाससमुद्देशः षष्ठः[१]।

किसके समान? परीक्षामें दक्ष पुरुषके समान। जैसे तत्त्वकी परीक्षामें निपुण विद्वान् अपने प्रारम्भ किये हुये शास्त्रको पूरा करके उसका निर्वाह करता है, उसी प्रकार मैंने भी इस शास्त्रको पूरा करके अपने कर्त्तव्यका निर्वाह किया है।

अकलङ्क देवरूपी चन्द्रमाके द्वारा जो प्रमाण और प्रमाणाभासका समूह प्रकट किया गया, उसे विशालबुद्धि आचार्य माणिक्यनन्दीने संक्षेपसे कहा, उसे ही इस अनन्तवीर्यने इस टीकाके द्वारा व्यक्त किया है॥१२॥

इस प्रकार परीक्षामुखकी लघुवृत्तिमें प्रमाणाभास आदिका वर्णन करनेवाला यह छठा समुद्देश सम्पूर्ण हुआ।

***

---

१. सर्वेषां वादिनां प्रमाणसंख्या पृथक् पृथक् लिख्यते। तथाहि—प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः। प्रत्यक्षमनुमानं चेति बौद्धाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दं चेति सांख्याः। प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दं चेति नैयायिकाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानं अर्थापत्तिश्चेति भाट्टाः। प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमुपमानं अर्थापत्तिरभावश्चेति मीमांसकाः। प्रत्यक्षं परोक्षं चेति जैनाः। जैनं मीमांसकं बौद्धं सांख्यं शैवं च नास्तिकाः। स्वस्वतर्कविभेदेन जानीयाद् दर्शनानि षट्॥१॥ शिवदर्शने जटाधारी, सांख्यदर्शने गोभितः, भट्टदर्शने ब्राह्मणः, बौद्धदर्शनं प्रसिद्धम्। चार्वाकदर्शने योगी।

२. परीक्षामुखनामप्रकरणकर्त्ता माणिक्यनन्दिदेवः। अस्य बृहद्वृत्तिः प्रमेयकमलमार्तण्डः। तत्कर्त्ता प्रभाचन्द्रदेवः। अस्य लघुवृत्तिः पञ्जिका। तत्कर्त्ता अनन्तवीर्यदेवः।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमान् वैजेयनामाभूदग्रणीर्गुणशालिनाम् ।
बदरीपालवंशालिव्योमद्युमणिरूर्जितः ॥ १ ॥

तदीयपत्नी भुवि विश्रुताऽऽसीन्नाणाम्बनाम्ना गुणशीलसीमा ।
यां रेवतीति प्रथिताम्बिकेति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः ॥ २ ॥

तस्यामभूद्विश्वजनीनवृत्ति[1] र्दानाम्बुवाहो भुवि हीरपाख्यः ।
स्वगोत्रविस्तारनभोंऽशुमाली[2] सम्यक्त्वरत्नाभरणार्चिताङ्गः ॥ ३ ॥

[3]तस्योपरोधवशतो[4] [5]विशदोरुकीर्त्ते[6]र्माणिक्यनन्दिकृतशास्त्र[7]मगाधबोधम् ।
स्पष्टीकृतं [8]कतिपयैर्वचनैरुदारै[9]र्बालप्रबोधकरमेत[10]दनन्तवीर्यैः ॥ ४ ॥

इति प्रमेयरत्नमालाऽपरनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता ।

बदरीपाल वंशावली रूप आकाशमें सूर्यके समान ओजस्वी और गुण-शालियोंमें अग्रणी श्रीमान् वैजेयनामक महापुरुष हुए ॥१॥

गुण और शीलकी सीमावाली, नाणाम्ब इस नामसे संसारमें प्रसिद्ध उस वैजेयकी पत्नी हुई । जिसे सज्जन पुरुष रेवती, अम्बिका और प्रभावती इस नामसे पुकारते थे ॥२॥

वैजेयकी उस स्त्रीके विश्वका कल्याण करनेकी मनोवृत्तिवाला, दान देनेके लिए मेघके सदृश, अपने गोत्रके विस्ताररूप आकाशका अंशुमाली (सूर्य) और सम्यक्त्वरूप रत्नाभरणसे शोभित अङ्गवाला संसारमें हीरप नामसे प्रसिद्ध पुत्र हुआ ॥३॥

निर्मल और विशाल कीर्त्तिवाले उस हीरपके आग्रहके वशसे इस अनन्तवीर्यने माणिक्यनन्दिकृत अगाधबोधवाले इस शास्त्रको कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार (गम्भीर) वचनोंके द्वारा बालकोंको प्रबोध करनेवाले इस विव-रणके रूपमें स्पष्ट किया है ॥४॥

इस प्रकार प्रमेयरत्नमाला है दूसरा नाम जिसका ऐसी यह
परीक्षामुखकी लघुवृत्तिरूप टीका समाप्त हुई ।

:०:

---

१. विश्वजनेभ्यो हिता विश्वजनीना । सा वृत्तिर्यस्यासौ विश्वजनीनवृत्तिः । २. सूर्यः । ३. हीरपस्य । ४. आग्रहवशेन । ५. उज्ज्वलबृहद्यशसः । ६. परीक्षामुखं नाम । ७. संक्षेपैः । ८. गभीरैश्चोत्कटैः । ९. बालानामनादिमिथ्यात्वेनाश्रद्धानलक्षणेन हेयोपा-देयानभिज्ञानां प्रबोधं सम्यक्त्वोद्द्योतं यथार्थश्रद्धानलक्षणं हेयोपादेयपरिज्ञानरूपं करोतीति तत् । १०. एतच्छास्त्रं सुखेन ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः ।

परिशिष्टम्

परीक्षामुख-सूत्रपाठः

सूत्राङ्काः　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठाङ्काः

प्रथमः समुद्देशः　　　　　　　　　　　　　　　　**१-४१**

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥　　　६

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।　　　१३
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।　　　१८
३. तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्।　　　१९
४. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः।　　　२२
५. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।　　　२३
६. स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।　　　२४
७. अर्थस्येव तदुन्मुखतया।　　　,,
८. घटमहमात्मना वेद्मि।　　　२५
९. कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः।　　　,,
१०. शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्।　　　२७
११. को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्।　　　,,
१२. प्रदीपवत्।　　　२८
१३. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।　　　३०

द्वितीयः समुद्देशः　　　　　　　　　　　　　　　　**४२-१३२**

१. तद् द्वेधा।　　　४२
२. प्रत्यक्षेतरभेदात्।　　　४३
३. विशदं प्रत्यक्षम्।　　　६३
४. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्　　　६८
५. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्।　　　७०
६. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्।　　　७४

सूत्राङ्काः	पृष्ठाङ्काः
१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ।	३१८
१८. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।	,,
१९. शुचिनरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।	,,
२० माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्	३१९
२१. हेत्वाभासा असिद्धाविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।	,,
२२. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।	,,
२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।	३२०
२४. स्वरूपेणासत्त्वात् ।	,,
२५. अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।	,,
२६. तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।	३२१
२७. सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।	,,
२८. तेनाज्ञातत्वात् ।	,,
२९. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दःकृतकत्वात् ।	३२२
३०. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।	३२३
३१. निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत् ।	,,
३२. आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।	३२४
३३. शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।	,,
३४. सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।	,,
३५. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।	३२५
३६. सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।	,,
३७. किञ्चिदकरणात् ।	,,
३८. यथानुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।	३२६
३९. लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।	,,
४०. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाधनोभयाः ।	३२३
४१. अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।	३२७
४२. विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।	३२८
४३. विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्	,,
४४. व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।	,,
४५. विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ।	३२९
४६. बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।	३३०
४७. अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति	३३०
४८. धूमवांश्चायमिति वा ।	३३१

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥ २ ॥

२ परीक्षामुखसूत्राणां तुलना[1]

परीक्षामुख

१।१	:	प्रमाणनय० १।२ प्रमाणमी० १।१।२
१।२	:	लघी० पृ० २१ पं० ६ प्रमाणनय० १।३
१।३	:	प्रमाणनय० १।१६
१।६, ७, ८	:	प्रमाणनय० १।१६
१।११	:	प्रमाणनय० १।१७
१।१३	:	प्रमाणनय० १।२० प्रमाणमी० १।१।८
२।१,२	:	लघी० का० ३ प्रमाणनय० २।१ प्रमाणमी० १।१।९,१०
२।२	:	न्याया० का० ४ लघी० का० ३ प्रमाणनय० २।३ प्रमाणमी० १।१।१३
२।४	:	लघी० का० ४ प्रमाणनय० २।२ प्रमाणमी० १।१।१४
२।५	:	लघी० स्ववृ० का० ६१ प्रमाणमी० १।१।२०
२।६	:	लघी० स्ववृ० का० ५५ प्रमाणमी० १।१।२४
२।७	:	लघी० का० ५५
२।११	:	न्याया० का० २७ लघी० स्ववृ० का० ४ प्रमाणनय० २।२४ प्रमाणमी० १।१।१५

---

१ तुलनागत संकेत-सूची—

न्यायप्र०	:	न्यायप्रवेशः।
न्यायबि०	:	न्यायबिन्दुः।
न्यायविनि०	:	न्यायविनिश्चयः।
न्यायसा०	:	न्यायसारः।
न्याया०	:	न्यायावतारः।
प्रमाणनय०	:	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः।
प्रमाणप०	:	प्रमाणपरीक्षा।
प्रमाणमी०	:	प्रमाणमीमांसा।
प्रमाणसं०	:	प्रमाणसंग्रहः।
लघी० स्ववृ०	:	लघीयस्त्रयं स्ववृत्तियुतम्।

परीक्षामुख

३।१	:	न्याया० का० ३१ लघी० का० ३ प्रमाणनय० ३।१ प्रमाणमी० १।२।१
३।२	:	लघी० का० १० प्रमाणनय० ३।१ प्रमाणमी० १।२।२
३।३, ४	:	प्रमाणप० पृ० ६९ प्रमाणनय० ३।१।२ प्रमाणमी० १।२।३
३।५–१०	:	प्रमाणप० पृ० ६९ प्रमाणनय० ३।४ प्रमाणमी० १।२।४
३।११,१२,१३	:	प्रमाणसं० का० १२ प्रमाणप० पृ० ७० प्रमाणनय० ३।५, ६ प्रमाणमी० १।२।५
३।१४	:	न्याया० का० ५ लघी० का० १२ न्यायविनि० का० १७० प्रमाणप० पृ० ७० प्रमाणमी० १।२।७
३।१५	:	न्यायविनि० का० २६९ प्रमाणसं० का० २१ प्रयाणप० पृ० ७० प्रमाणनय० ३।९
३।१६	:	प्रमाणमी० १।२।१०
३।१९	:	न्यायविनि० का० ३२९ प्रमाणमी० १।२।११
३।२०	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० ७ न्यायवि० पृ० ७९ पं० ३।१२ न्यायविनि० का० १७२ प्रमाणसं० का० २० प्रमाणनय० ३।१२ प्रमाणमी० १।२।१३
३।२१	:	प्रमाणनय० ३।१३
३।२२	:	प्रमाणनय० ३।१४, १५
३।२५	:	प्रमाणमी० १।२।१५
३।२७	:	न्यायप्र० पृ० १ पं० ६, प्रमाणनय० ३।१८ प्रमाणमी० १।२।१६
३।२८–३०	:	प्रमाणनय० ३।१९,२० प्रमाणमी० १।२।१७
३।३२	:	प्रमाणनय० ३।१६
३।३४,३५	:	प्रमाणनय० ३।२२ प्रमाणमी० २।१।८
३।३६	:	प्रमाणनय० ३।२३
३।३७	:	न्यायवि० पृ० ११७ पं० ११ प्रमाणनय० ३।२६ प्रमाणमी० १।२।१८
३।३८	:	प्रमाणनय० ३।३१
३।३९	:	प्रमाणनय० ३।३२

परीक्षामुख

३।४० : प्रमाणनय० ३।३३

३।४१ : प्रमाणनय० ३।३४

३।४४ : प्रमाणनय० ३।३७

३।४५ : प्रमाणनय० ३।३८

३।४६ : प्रमाणनय० ३।३९ प्रमाणमी० २।१।१०

३।४७ : न्यायप्र० पृ० १ पं० १५, प्रमाणनय० ३।४१ प्रमाणमी० १।२।२१

३।४८ : न्यायप्र० पृ० १ पं० १६ न्याया० का० १८ प्रमाणनय० ३।४२,४३ प्रमाणमी० १।२।२२

३।४९ : न्यायप्र० पृ० २ पं० २ न्याया० का० १९ प्रमाणनय० ३।४४,४५ प्रमाणमी० १।२।२३

३।५० : प्रमाणनय० ३।४६,४७ प्रमाणमी० २।१।१४

३।५१ : प्रमाणनय० ३।४८,४९ प्रमाणमी० २।१।१५

३।५२,५३ : न्यायबि० २।१,२ न्याया० का० १० न्यायसा० पृ० ५ पं० १० प्रमाणनय० ३।७ प्रमाणमी० १।२।८

३।५४ : न्यायबि० २।३ प्रमाणनय० ३।८ प्रमाणमी० १।२।९

३।५५,५६ : न्यायबि० ३।१,२ न्याया० का० १०,१३ प्रमाणनय० ३।२१ प्रमाणमी० २।१।१,२

३।५७ : प्रमाणनय० ३।५१

३।५८ : प्रमाणनय० ३।५२

३।५९ : प्रमाणनय० ३।५४,५५

३।६० : प्रमाणनय० ३।६६

३।६१ : प्रमाणनय० ३।६७

३।६२ : प्रमाणनय० ३।६८

३।६३ : प्रमाणनय० ३।६९,७०

३।६४ : प्रमाणनय० ३।७२

३।६५ : प्रमाणनय० ३।७३

३।६७ : प्रमाणप० पृ० ७२

३।६८ : लघी० का० १४ प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३।७६

३।६९ : प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३।७७

परीक्षामुख

३।७०	:	प्रमाणनय० ३।७८
३।७१	:	प्रमाणनय० ३।८२
३।७२, ७३	:	न्यायबि० पृ० ४९,५० प्रमाणप० पृ० ७३
३।७५	:	प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३।८६
३।७६	:	प्रमाणप० पृ० ७३ प्रमाणनय० ३।८७
३।७८	:	प्रमाणनय० ३।९०,९१
३।७९	:	प्रमाणनय० ३।९२
३।८०	:	न्यायबि० पृ० ४९ प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३।९३
३।८१	:	न्यायबि० पृ० ४८ प्रमाणनय० ३।९४
३।८३	:	न्यायबि० पृ० ५३ प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३।९६
३।८४	:	प्रमाणप० पृ० ७४ प्रमाणनय० ३।९७
३।८७	:	प्रमाणनय० ३।१०१
३।८८	:	प्रमाणनय० ३।१०२
३।८९	:	प्रमाणनय० ३।१०३
३।९४,९५	:	न्यायबि० पृ० ६२,६३ न्याया० का० १७ प्रमाणनय० ३।२७-३० प्रमाणमी० २।१।३-६
३।९८	:	न्याया० का० १४ प्रमाणमी० २।१।७
३।९९	:	प्रमाणनय० ४।१
३।१००	:	प्रमाणनय० ४।११
३।१०१	:	प्रमाणनय० ४।३
४।१	:	न्याया० का० २९ लघी० का० ७ प्रमाणप० पृ० ७९ प्रमाणनय० ५।१ प्रमाणमी० १।१।३०
४।२	:	प्रमाणनय० ५।२ प्रमाणमी० १।१।३३
४।३	:	प्रमाणनय० ५।३
४।४	:	प्रमाणनय० ५।४
४।५	:	प्रमाणनय० ५।५
४।८	:	प्रमाणनय० ५।८
४।९	:	लघी० स्ववृ० का० ६७

परीक्षामुख

५।१	:	आप्तमीमांसा का० १०२ न्याया० का० २८ न्यायविनि० का० ४७६ प्रमाणप० पृ० ७९ प्रमाणनय० ६।३–५ प्रमाणमी० १।१।३८,४०
५।३	:	प्रमाणनय० ६।१० प्रमाणमी० १।१।४१
६।१	:	प्रमाणनय० ६।२३
६।२	:	प्रमाणनय० ६।२४
६।३,४	:	प्रमाणनय० ६।२५,२६
६।६	:	प्रमाणनय० ६।२७,२९
६।८	:	प्रमाणनय० ६।३१
६।९	:	प्रमाणनय० ६।३३,३४
६।१०	:	प्रमाणनय० ६।३५
६।११	:	प्रमाणनय० ६।३६
६।१२	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १३ प्रमाणनय० ६।३८
६।१३	:	प्रमाणनय० ६।४०
६।१४	:	न्यायप्र० पृ० ३ पं० ४
६।१५	:	न्यायप्र० पृ० २ न्यायबि० पृ० ८४,८५ प्रमाणनय० ६।४० प्रमाणमी० १।२।१४
६।१६	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १७ न्यायबि० पृ० ८४ प्रमाणनय० ६।४१
६।१७	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १८ न्यायबि० पृ० ८४ प्रमाणनय० ६।४२
६।१८	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० १९ प्रमाणनय० ६।४३
६।१९	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० २० प्रमाणनय० ६।४४
६।२०	:	न्यायप्र० पृ० २ पं० २१ प्रमाणनय० ६।४५
६।२१	:	न्यायप्र० पृ० ३ पं० ८ न्याया० का० २२ न्यायविनि० का० २६८ प्रमाणनय० ६।४७ प्रमाणमी० २।१।१६
६।२२	:	न्याया० का० २३ प्रमाणनय० ६।४८ प्रमाणमी० २।१।१७
६।२३	:	न्यायप्र० पृ० ३ पं० १२ न्यायबि० पृ० ८९ न्यायविनि० का० ३६५ प्रमाणनय० ६।५०

परीक्षामुख

६।२५ : न्यायप्र० पृ० ३ पं० १४ न्यायबि० पृ० ९१

६।२९ : न्यायप्र० पृ० ५ पं० ६ न्याया० का० २३ प्रमाणनय० ६।५२ प्रमाणमी० २।१।२०

६।३० : न्यायबि० पृ० १०५ न्याया० का० २३ प्रमाणनय० ६।५४ प्रमाणमी० २।१।२१

६।३१ : प्रमाणनय० ६।५६

६।३३ : प्रमाणनय० ६।५७

६।३५ : न्यायविनि० का० ३७०

६।४० : न्यायप्र० पृ० ५ पं० २० न्यायबि० पृ० ११९ न्याया० का० २४ न्यायविनि० का० ३८० प्रमाणनय० ६।५८ प्रमाणमी० २।१।२२

६।४१ : न्यायप्र० पृ० ६ पं० १ न्यायबि० पृ० १२२ प्रमाणनय० ६।६०–६२ प्रमाणमी० २।१।२३

६।४२ : न्यायप्र० पृ० ६ पं० १२ न्यायबि० पृ० १२४ प्रमाणनय० ६।६८ प्रमाणमी० २।१।२३

६।४४ : न्यायप्र० पृ० ६ पं० १४ न्यायबि० पृ० १२५ न्याया० का० २५ प्रमाणनय० ६।६९ प्रमाणमी २।१।२४

६।४५ : न्यायप्र० पृ० ६ पं० ७ न्यायबि० पृ० १३० प्रमाणनय० ६।७९ प्रमाणमी० २।१।२६

६।५१ : प्रमाणनय० ६।८३

६।५२ : प्रमाणनय० ६।८४

६।५५ : प्रमाणनय० ६।८५

६।६१ : प्रमाणनय० ६।८६

६।६६ : प्रमाणनय० ६।८७

३. परीक्षामुखसूत्रगत पारिभाषिक शब्द-सूची

४. प्रमेयरत्नमालागत गद्यावतरण-सूची

५. प्रमेयरत्नमालागत पद्यावतरण-सूची

	पृष्ठाङ्क
पुरुष एवेदं यद्भूतं (ऋक् संहिता, मण्डल १०, सू० ९० ऋचा २)	१२३
प्रकृतेर्महांस्ततो (ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका श्लो० २२)	२४८
प्रमाणपञ्चकं यत्र (कुमारिल, मीमांसा श्लो० अभा० श्लो०)	२२९
प्रमाणेतरसामान्य- (दिग्नाग, प्रमाणसमुच्चय श्लो०)	१८
प्रसिद्धावयवं वाक्यं (विद्यानन्दी, पत्रपरीक्षा)	३
भारताध्ययनं सर्वं (प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, उद्धृत)	२२६
भिन्नकालं कथं ग्राह्यं (धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, ३,२४७)	७७
मूलप्रकृतिरविकृतिः (ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, श्लो० ३)	२४०
मूलक्षतिकरीमाहु	२८०
यत्राप्यतिशयो दृष्टः (कुमारिल, मीमांसा श्लो० चो० सू० २, श्लो० ११४)	५५
यो यत्रैव स तत्रैव	२५०
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३,३)	९९
वेदस्याध्ययनं सर्वं (कुमारिल, मीमांसा श्लो० २०७ श्लो० ३६७)	२११
शब्दे दोषोद्भवस्तावद् (,, ,, सू० २, श्लो० ६२)	२३१
शरभोऽप्यष्टभिः पादैः	१३८
सजन्ममरणर्षि (पात्रकेसरी, पञ्चनय० स्तो० श्लो० ४)	२३०
समुदेति विलयमृच्छति (पत्रपरीक्षा उद्धृत पृ० ६)	२६८
सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म (बृहदारण्यक ४, ३,१४)	१२३
सुखमाह्लादनाकारं	२९८
संसर्गादविभागश्चेत्	२४८
हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु (धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक श्लो० ३,१४)	१४२

६. प्रमेयरत्नमालाकाररचित श्लोक-सूची

७. प्रमेयरत्नमालागत पारिभाषिक शब्द-सूची

८. प्रमेयरत्नमालागत दार्शनिक नाम-सूची

९. प्रमेयरत्नमालागत ग्रन्थमाला-सूची

१०. प्रमेयरत्नमालागत विशिष्टनाम-सूची

११. टिप्पणगत श्लोक-सूची

—❧—

१२. टिप्पणगत पारिभाषिक शब्द-सूची

१३. टिप्पणगत दार्शनिक नाम-सूची

१४. टिप्पणगत ग्रन्थनाम-सूची

१५. टिप्पणगत आचार्यनाम-सूची

१६. टिप्पणगत नगरी-देश-नाम-सूची